Registered No. A. 860

मासिक पत्र।

पुस्तक २ } कार्तिक सं० १९७७ नोवेम्बर १९२० { अङ्क १

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी॥

जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

सम्पादक, पं० शंकरलाल कौशल्य
बेलनगंज
आगरा।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी मास के आदि में निकलता है।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।
(४) एक अंक का मूल्य।-) लिया जायगा। नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उन को १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

सूचना।

... ... मू

पुस्तक सजिल्द ... ...

" ... ... ग्राहक को देना पड़ेगा।

॥ ॐ ॥

वेदान्त केसरी ।

पुस्तक ३ सम्वत् १९७७—७८ ।

विषयानुक्रमणिका पुस्तक ३ ।

में मोह का चश्मा लगा है वे भौतिक पदार्थों को श्रेयकर मानते हैं, कुछ देखते भालते नहीं, इस लिये सच्चे फल की आशा नहीं है, मात्र परिश्रम उठाकर नाश को प्राप्त होते हैं। यह अधोगति का ही मार्ग समझो। जैसे सुवर्ण की पूर्ण परीक्षा ऊपर से नहीं होती किंतु भीतर से ही होती है इसी प्रकार उन्नति का मार्ग भीतर से होना सुवर्ण रूप है। शरीर की उन्नति उन्नति नहीं है, अच्छे २ पदार्थ खाना उन्नति नहीं है, अच्छे २ वस्त्र पहनना उन्नति नहीं है, गाड़ी, घोड़ा, मोटर में घूमना उन्नति नहीं है, मनुष्यों के समूह में यद्वा तद्वा बकना उन्नति नहीं है, बड़े २ मकान, महल, नौकर, चाकर, दास, दासियों का होना उन्नति नहीं है, ये सब ऊपर की टीप टाप, दिखाव और फसावट ही है। ये सब तभी शोभा देते हैं जब आत्मा दृढ़ और शान्तिवान् हो। जिस प्रकार मरे हुये मनुष्य को वस्त्रालंकार पहना कर बैठाया जाय, वैसे ही ये सब ऊपर की उन्नति जीव रहित हैं। थोड़े ही दिनों में दुर्गंधि देने वाली है। इसी प्रकार की मोहक नामना और स्वार्थ सिद्धि के लिये फेलाये हुये जाल में समझदार मनुष्यों को न फंसना चाहिये किंतु प्रथम अपनी आत्मा को शुद्ध और बलिष्ट बनाना चाहिये, पश्चात् जो बन सके वह करना ठीक होता है। आत्मिक बल रहित छोड़े हुये तोप क गोले मात्र शब्द ही करते हैं, निशाने पर लगने की सामर्थ्य उन में नहीं होती। इन से अपनी और अनुयाइयों की हानि ही होती है इस लिये अनेक प्रयत्न कर के आत्मा को सुदृढ़ बनाना चाहिये।

जो उन्नति, उन्नति के बाद चिन्ता से मुक्त न करे वह उन्नति नहीं है। जिस उन्नति के पश्चात् और करना शेष रहे वह उन्नति नहीं है। जो उन्नति आत्म स्वरूप से न हो वह उन्नति नहीं है। जो सर्व प्रकार के कष्टों को निवृत्त न करे वह उन्नति नहीं है। इसलिये एक आत्मोन्नति ही उन्नति है और सब उन्नति सर्प में छुपे हुये विष के समान हैं। जब आत्म भाव से – आर्य कर्तव्य से – नीति विचार आदि से दूर होने से आत्मा निर्बल हो जाता है तब उस के साथ भौतिक भाव में भी औरों से गिर जाता है। जिस कारण से वह गिर जाता है उस कारण को दूर करने से कार्य ठीक होता है, कारण रहित कार्य सुधर नहीं सक्ता। दूसरों की उन्नति करने के लिये चिल्लाने वाले सैकड़ों, हजारों की संख्या में मिलते हैं परन्तु अपने आत्मा की उन्नति करने वाला कोई नहीं दीखता, यह ही शोक है! जो मौज मजे को ही उन्नति मानते हो तो मुगल बादशाह हुमायूं का दृष्टान्त इतिहास में प्रसिद्ध है :–

हुमायूं के राज्य काल में शेरशाह उस को बहुत त्रास दिया करता था। शेरशाह गौड़ में स्थिर हो गया था और गौड़ के बाहर हुमायूं को कई बार पराजित कर चुका था। उस समय शेरशाह आस पास से जवाहर आदिक लेने को समर्थ हो गया था और गौड़ में अथवा गौड़ के बाहर राज्य की स्थापना करने के विचार में था किंतु उस के पास मुगल के समान सैन्य न थी। जो कुछ मनुष्य उस के पास थे, सब दृढ़ और युद्ध में प्रवीण थे। उस ने मुगलों के सामने इस समय युद्ध करना ठीक न समझ कर गौड़ राज महल को बहुत मोहक और सुन्दर वस्तुओं से शोभित किया, सब प्रकार की राजसी चमक दमक और शोभा में किसी प्रकार की कमी न रक्खी। प्राचीन कारीगरों के हाथ के चित्र, नकशी काम, आराम और आनन्द के साधनों की व्यवस्था में कुछ भी बाकी न रक्खा। कितनीक अत्यंत रूप वाली अभिनय में प्रवीण नायका भी राज महल के आस पास मकानों में बसाई गईं। पश्चात् शेरशाह ने अपने दो अमलदारों को सौदागरों के वेश में हुमायूं के पास भेजा और उन के मुख से गौड़ की बहुत ही प्रशंसा करवाई। सौदागरों ने उच्च जाति के गरम गलीचे, मोती, माणिक्य, उच्च प्रकार की शराब आदिक हुमायूं के चरणों में समर्पित की और कहा "जहांपनाह! गौड़ में इस प्रकार की ही सब वस्तुयें घर २ देखने में आती हैं! इस जमाने में गौड़ बहिश्त ही हो रहा है!" इसी समय हुमायूं को खबर हुई कि शेरशाह गौड़ से रोहतास चला गया है, हुमायूं अपनी सैन्य सहित गौड़ में आया और

खाली गौड़ को अपने कबजे में कर लिया। रंग रंग की शराबों के लिये जवानी की बहार में बहुत धन खर्च होने लगा। जहाँ देखो वहाँ मौज मजे हो रहे थे। शौक़, आनन्द विलास ही वर्त रहा था, बादशाह को देख कर सैन्यिक भी आनन्द उड़ाने लगे, कवायद बन्द हो गई, दरबारी पोशाक पहनना भी बन्द हो गया, सैन्यिक विना पोशाक ही शहर में घूमने लगे और स्त्रियों से अनेक प्रकार के दुष्टाचार करने लगे। हुमायूं को गौड़ का अर्थ कब्र (गोर) मालूम हुआ। उस ने उस का नाम बदल कर जिन्नताबाद रक्खा। शेरशाह प्रथम से ही समझता था कि विलासप्रिय हुमायूं मोह जाल में फँस कर कर्तव्य भ्रष्ट हो जायगा। ऐसा ही हुआ। इस अंतर में शेरशाह ने अपनी सैन्य की वृद्धि की और मुगल सम्राट को पराजित कर के भगा दिया। हुमायूं बुरी दशा में ईरान को भाग गया। यदि मौज मजे ही उन्नति होती तो हुमायूं को इस प्रकार भ्रष्ट हो कर भागना न पड़ता। इस प्रकार की उन्नति का फल भ्रष्ट होने के सिवाय और कुछ नहीं है।

आत्म बल हीन मनुष्यों को आत्म प्राप्ति नहीं होती। आत्म प्राप्ति से ही सब की प्राप्ति होती है। आत्म-प्राप्ति अंतःकरण की शुद्धि से होती है। अंतः करण की शुद्धि कर्म करने से होती है। कर्म करना, रूठ कर बैठे रहने से नहीं होता। जब तक अपना वश अपने ऊपर नहीं होता तब तक दूसरे पर किया हुआ वश निर्जीव होता है। ऐसों से कुछ भी नहीं होता, धन का मोह जाल में फँस कर जैसे हुमायूं का नाश हुआ था ऐसे ही नाश होता है।

अन्य देश वासियों की उन्नति ऊपर की है, आर्यों की उन्नति जिस समय में थी ऐसी न थी किंतु दृढ़ थी, आत्म बल सहित थी इसी लिये गिरी हुई दशा में भी वे अपना गौरव रखते हैं। जब दर्शन शास्त्र सूक्ष्मता के शिखर पर पहुँच थे तब जहां देखा जाय वहां आश्रम, धर्म और निश्रेयस्-कल्याण की पूर्ण खोज होती थी, आत्मिक, मानसिक और भौतिक उन्नति भी थी। उन्नति का सच्चा मार्ग तो प्रथम आत्मिक उन्नति ही है। आश्रमादिक जो छिन्न भिन्न हुये हैं, और बाल्यावस्था में शास्त्रादिक का पठन और ब्रह्मचर्य लुप्त हुआ है वह ही अवनति का हेतु है। पूर्व में किसी २ ऋषि को ऐसा सुना गया है कि जब वह वृद्ध हुआ और उस से किसी से शत्रुता हो गई तो उस ने बदला लेने को जब उस ने अपने को असमर्थ जाना तब संकल्प के साथ उस कार्य करने को पुत्र उत्पन्न किया और पुत्र ने उस कार्य को किया जिस के निमित्त ऋषि ने उसे उत्पन्न किया था। विचारो संकल्प बल और आत्म श्रद्धा कितनी बलिष्ठ थी।

जंगली मनुष्य जंगली उन्नति को भले ही उन्नति के नाम से पुकारें, जो सच्चे आर्य हैं वे तो ऐसी पशुवत् उन्नति की तरफ़ थूकते भी नहीं है। थुअर की वृद्धि में जल तथा माली की आवश्यकता नहीं होती, उसकी वृद्धि यों हीं होती है परंतु वह वृद्धि कांटों वाली, मिष्ठ फल रहित होती है। केले की वृद्धि अनेक प्रकार के संयोग से होती है। सच्ची उन्नति केले के समान और झूंठी उन्नति थुअर के समान है।

एक राजा अपुत्र था वृद्ध होने पर भी संतान न होने से वह अत्यंत दुखी था। प्रधानादिक की सम्मति से वह एकांत स्थान में तपश्चर्या करने चला गया और एक शिवालय में जाकर बिना अन्न जल तपश्चर्या करने लगा। राजा का सुकोमल शरीर और कठिन तपश्चर्या! महा कष्ट हुआ परंतु वह अपने निश्चय से न डिगा। उस का निश्चय पक्का था। उस की दृढ़ भावना थी कि या तो शंकर से वरदान लेकर, राजधानी में जाकर पुत्र सुख प्राप्त करना, नहीं तो शरीर को जंगल में ही नाश करना। करुणा सागर भोलानाथ भक्ति से प्रसन्न हो गये थे तो भी प्रगट हो कर दर्शन देने में कुछ विलम्ब था। जिस स्थान पर राजा तपश्चर्या करता था वहाँ रात्रि को दो चोर आये। राजा को जंगल में देख कर प्रथम तो वे चौंके परंतु उसे अकेला देख कर उन्हें कुछ धीरज आया, वे राजा से बातचीत करने लगे। प्रथम चोर :- राजा! आप ऐसे घोर अरण्य में किस कारण पड़े हैं? आप के साथ कोई मनुष्य क्यों नहीं है? राजा :- मैं राजा हूँ, परंतु मेरे पुत्र नहीं है,

इस लिये पुत्र की इच्छा से शंकर की तपश्चर्या कर रहा हूं। जब वे पुत्र के निमित्त वरदान देंगे तब मैं राजधानी में चला जाऊंगा। तुम दोनों कौन हो? प्रथम चोरः—महाराज! आप पूछते हैं तो कहते हैं, हम चोर हैं, आप के पास के राज के ग्राम में रहते हैं, चोरी के विचार से निकले हैं, आप के पास लेने योग्य तो कुछ है नहीं, क्या लें? दूसरा चोरः—हैं! क्या यह शंकर पुत्र भी देते हैं? ऐसा हो तो मैं भी एक पुत्र मांगूंगा, मैं भी अपुत्र हूं! प्रथम चोरः—वाह! तू राजा की समान तपश्चर्या नहीं कर सक्ता! पुत्र किस प्रकार मिलेगा? (राजा से) महाराज! आप को अन्न पानी लिये बिना कितने दिन हुये? राजाः—मुझे आज छठा दिन है! प्रथम चोरः—(दूसरे चोर से) देख! तुझ में सात दिन तक ऐसी तपश्चर्या करने की सामर्थ्य कहां है? दूसरा चोरः—चोरों का काम राजा की समान ढील से नहीं होता! तुरत घाव और तुरत फल! इस प्रकार हमारा काम होता है! तू देख, मैं अभी पुत्र लेता हूं! ऐसा कह कर चोर शंकर के पास गया। शिवालय के मध्य में एक कड़ी थी, उस में अपना पैर बांधा और गरदन में छुरी से दो तीन लकीरें कर के शंकर की पिंडी पर रक्त बहा कर कहने लगा "शंकर! मुझे पुत्र दे, विलम्ब न कर, नहीं तो मैं अपने रक्त से तुझे स्नान कराऊंगा!" थोड़ी देर में एक भारी शब्द के साथ प्रकाश हुआ। टंगा हुआ चोर प्रसन्न हो नीचे उतर आया! राजा :—क्यों! शंकर के दर्शन हुये? दूसरा चोरः—हां! उस ने मुझे पुत्र होने का वरदान भी दिया है! हम लोगों को अब रात्रि होती है, हम को जाकर नगर सेठ के मकान में चोरी करना है! ऐसा कह कर दोनों चोर वहां से चले गये।

राजा मन में विचार करने लगा "कैसा आश्चर्य है? बदमाश चोर से शंकर भी डरते हैं! ऐसा दीखता है, मैं धर्मात्मा हूँ, वह अधर्मी है, मैंने कई उपवास कर के तपश्चर्या की है, मुझ से अभी तक शंकर प्रसन्न नहीं हुये! चोर पाव घन्टे में पुत्र का वरदान लेकर चला गया! बड़ा आश्चर्य है!!! मैं भी इसी प्रकार करूं जिस से शंकर प्रसन्न हो कर वरदान दें!" यह विचार कर राजा उठा और रस्सी से पैर बाँधने जाने लगा। उसी समय एक शब्द हुआ और चमक के साथ उसे शंकर के दर्शन हुये। शंकर :—हे राजा तू पुत्र की इच्छा से तपश्चर्या कर रहा है, मैं तुझे पुत्र देने को आही रहा था, तूने चोर की देखा देखी जल्दी की और चोर के समान उग्र कार्य करने को तैयार हो गया, यह तूने ठीक नहीं किया, तेरे पुत्र होगा! राजाः—(प्रसन्न हो कर) बोला! महाराज! मेरी प्रार्थना सुनिये और मेरी एक शंका निवृत्त करते जाइये, मैं अधर्मी नहीं हूँ, जहाँ तक मुझ से बना है, वहाँ तक मैं दया धर्म से वर्तता रहा हूं, चोर अधर्मी है, उस पर आप जल्दी प्रसन्न हो गये और मुझ पर विलम्ब से, यह क्यों? महादेवः—सुन, अधर्मी की तपश्चर्या उग्र थी, इस लिये उसे सत्वर फल मिला, परन्तु उस का पुत्र जन्मते ही मर जायगा, तू धर्मात्मा है इस लिये तेरा पुत्र विशेष उमर का होगा, तूने भी जो चोर की समान उग्रता का विचार न किया होता, तो पूर्ण आयु का पुत्र तुझे प्राप्त होता।

अनीति से प्राप्त किया हुआ फल क्षणिक होता है और नीति से प्राप्त किया हुआ विशेष टिकता है। आत्म बल वाला फल दृढ़ होता है। क्रूरता का फल क्षुद्र होता है। ऐश्वर्य प्राप्ति में भी यही नियम समझो। जो कोई अपना ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण चाहे उस को आत्म शुद्धि के साथ ही कल्याण चाहना चाहिये, बल्कि ऐहिक फल का लक्ष छोड़ कर ही पारमार्थिक उन्नति का प्रयत्न करना चाहिये, पारमार्थिक उन्नति के साथ ऐहिक उन्नति बिना बुलाये चली आती है, जिस प्रकार मनुष्य की छाया मनुष्य के पीछे २ चली आती है ऐसे ही आत्मिक उन्नति की छाया रूप भौतिक उन्नति भी उस के साथ साथ चली आती है। आत्मा समग्र व्यापक है, जब उसके बल से दृढ़ संकल्प होता है तब सब आत्मा में उस की हिलोर उठ कर कार्य की सिद्धि होती है। विशेषता आत्मिक बल में ही है, कामना में अल्पता है और प्रयत्न भी निष्फल होता है।

जब कामनाओं सहित कार्य किया जाता है तब कार्य बिगड़ जाता है और जब आत्म भाव में स्थित

होते हैं तब सब कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। प्रेम से वर्तने वाले को फल रूप प्रेम ही मिलता है और द्वेष करने वाले के कपाल में द्वेष का पाषाण ही लगता है। दूसरों के प्रति तुम्हारी जैसी कामना होगी उसी भाव के अनुसार तुम्हें फल प्राप्त होगा। बाह्य कीर्ति, धन, सम्पत्ति, जमीन, जागीर और ऐश्वर्य के ऊपर विश्वास रखना, उन के निमित्त आत्म भाव छोड़ कर परिश्रम करना यह ही आत्म हिंसा है। वे पदार्थ व्यवहारिक दृष्टि से उपयोगी दीखते हैं किंतु भारी पाषाण की समान डुबाने वाले हैं, तारने वाले नहीं हैं। जो उपयोगता मालूम होती है, नरक द्वार में ले जाने वाली है। लोभ देने वाले आस पास के लोगों के जादू में फंसना न चाहिये। ऐहिक सम्बंध की लालसा ही दुःख देने वाली है। जिस ने स्वयं स्वार्थ को नहीं छोड़ा है, उस से तुम को फल प्राप्त होना असंभवित है। शारीरिक आवश्यकताओं को ईश्वरेच्छा-प्रारब्धानुसार होने दो, जो कुछ कतर्व्य है आत्मोन्नति ही है। तुम्हारी भावना ने ही तुम्हारे दरिद्र को निर्माण किया है। यदि दरिद्र के निवृत्त करने में भी दारिद्रिक भाव ही बलिष्ठ होगा तो तुम्हें दारिद्रता ही भोगनी पड़ेगी। जितनी २ बाह्य ऐश्वर्य की कामना करोगे, उतने ही आत्मा से दूर होते चले जाओगे। जो आत्मा से विमुख न होगे तो आत्मा तुम्हारा सब प्रकार से सन्मान करने को तैयार है।

मनुष्य दुःख निवृत्ति की भावना करता है, उस के निमित्त कर्म करता है और यह समझता है कि मैं ठीक कर रहा हूं परंतु जो कुछ वह करता है, उस से फल विरुद्ध होता है। दुःख की निवृत्ति आत्मिक पूर्ण बल सिवाय नहीं होती और दुःख निवृत्ति में दुःख का ही चिंतवन होने से दुःख ही प्राप्त होता है। मैं दुखी हूं, ऐसा भाव करना ही मनुष्य को दुःख प्राप्ति का हेतु है। हम अधोगति को प्राप्त हुये हैं, यह भाव ही अधोगति को दृढ़ कर देता है। उन्नति नहीं है, उन्नति होना चाहिये यह ही भाव उन्नति को गिराने वाला है। उन्नति नहीं है यह आंतरिक भाव है और उन्नति होना चाहिये यह बाहर का भाव है। बाहर के भाव से आंतरिक भाव की विशेषता है इस लिये सामान्यता से बाहर भाव निष्फल हो जाता है और उन्नति नहीं है। आंतरिक भाव जो अप्रिय है वह ऊपर हो जात[illegible] सुख लेने जाते है परंतु सुख खिसक जाता है दुःख जबरन आकर चिपट जाता है। 'चौबे जी बे बनने गये, दुबे ही रह गये' यह ही कहावत जाती है।

आत्मभाव वाले ज्ञानी सम भाव में रहते हैं; शत्रुओं के प्रति शत्रु भाव नहीं करते और मित्रों के प्रति मित्र भाव भी नहीं करते। दोनों से उदासीन रहते हैं। अज्ञानी शत्रु भाव करके जो शत्रु नहीं है उसे शत्रु बना डालते हैं इस लिये अशुभ फल प्राप्त करते हैं। ज्ञानी शत्रु मित्र में सम भाव रखते हैं इस लिये समता में रहने से विषम फल प्राप्त नहीं होता। शुभ भाव की दृढता से फल भी शुभ ही प्राप्त होता है।

जो उन्नति दूसरों को तिरस्कार करने वाली, हानि पहुंचाने वाली न हो और आत्म संयम द्वारा प्राप्त हो वह ही उन्नति है। जो पदार्थ वारंवार उत्पत्ति तथा नाश वाले हैं उन की वृद्धि करने से क्या ? वे अवश्य नाश होने वाले हैं इस लिये उनकी वृद्धि करने में अपने आत्म भाव का नाश न करना चाहिए, उच्च भाव में स्थित होना चाहिये जिस का नाश और परिवर्तन कभी नहीं होता। कार्य कार्य के निमित्त करो, कामना के निमित्त मत करो। क्षुद्र व्यक्ति भाव के अभिमान से कार्य न करो किन्तु आत्म भाव में टिक कर करो, स्वार्थ, प्रतिष्ठा आदिक के हेतु कार्य न करो किन्तु कर्तव्य समझ कर कार्य करो।

जिसने अपने आत्मा का उद्धार कर लिया है, उसने सब संसार का उद्धार किया है। जिस ने मायिक ऐश्वर्य के भाव में जीवन व्यतीत किया है, उस का आत्मा माया के दृढ़ किले में बन्द रहता है। जो स्वार्थ वश कार्य करता है वह स्वार्थ को गुमाता है।

यदि सच्ची उन्नति चाहते हो तो इन्द्रियों को विषयों की तरफ से हटाकर मात्र कर्तव्य में उन का उपयोग करो क्योंकि आत्मिक भाव की शुद्धि-वृद्धि में तुम्हारी पूर्ण स्वतंत्रता है, उस

स्वतंत्रता का सदुपयोग करो और जिस भोग में तुम्हारी परतंत्रता की मात्रा अधिक है, उस में झूंठा प्रयास मत करो। छोटी सी कहावत है "आप भला तो जग भला" क्या समझे? तुम्हारी भलाई से ही जग की भलाई है। आत्मा व्यापक है इस लिये यदि तुम अपनी शुद्धि कर लो तो वह तुम्हारा ही मात्र स्वार्थ नहीं है किन्तु आत्मा का सब के साथ संबंध होने से दूसरे जीवों का भी कई अंश में इसी प्रकार कल्याण होता है। अज्ञानियों के करोड़ों शब्द, आत्म बल वाले के एक शब्द और क्रिया की बराबरी नहीं कर सके।

आत्मिक उन्नति ही सच्ची उन्नति है, उस उन्नति से सब प्रकार की उन्नति हो सक्ती है।

आप ने महा विजय कैसे प्राप्त किया?

एक मनुष्य जो नवीन था, उसे किसी संयोग से मोक्ष की इच्छा हुई। ज्ञान के जो लक्षण शास्त्रकारों ने वर्णन किये हैं, उन का आचरण करता हुआ संत संग के निमित्त वह मनुष्य पृथ्वी पर्यटन करने लगा, अनेक प्रकार के साधुओं और तीर्थों के दर्शन करता हुआ गंगा किनारे एक एकांत स्थान में पहुंचा। वहां आते ही इस के दिल में एक प्रकार का आल्हाद उत्पन्न हुआ। वहां का जो मुख्य संत था, उस के दर्शन कर के वह प्रसन्न हुआ। आज तक उस ने बहुत संतों के दर्शन किये थे, उन में बहुत से अच्छे २ महात्मा भी थे, परंतु सब से विशेष प्रसन्नता उसे इस महात्मा के दर्शन से हुई। बहुत संत ब्रह्मनिष्ठ थे परंतु पठित न थे और जो कोई पठित दीखते थे, वे अनुभवी न थे, कोई अनुभवी था तो पागल के समान चेष्टा वाला था, शंका समाधान द्वारा सदुपदेश देने वाला इस संत के समान उसे कोई भी मालूम न हुआ। उस स्थान में वह तीन दिन तक टिका और जब संत की प्रसन्नता देखी तब उस ने नम्रता सहित प्रश्न किया:—

मनुष्यः–महाराज! मैंने कुछ शास्त्र पढ़े हैं, साधुओं का सत्संग भी किया है कुछ कुछ भाव से मैं आत्मा को जानता हूं, आप पूर्ण आत्मज्ञ दीखते हैं, आप ने महान् विजय प्राप्त किया है, रोग को जीतना कुछ भी नहीं है! शत्रु पर युद्ध में विजय प्राप्त करना कुछ नहीं है! मामले मुकदमे में जीत जाना कुछ भी बात नहीं! महाबली, अनिर्वचनीय, अनादि ऐसी माया के ऊपर विजय प्राप्त करना ही परम जय है! वह ही परम विजय है! हजारों, लाखों मनुष्यों को वश करना सहज है परंतु एक छोटे से मन को जीत लेना कठिन है! आप ने उस को यथार्थ जीता है और माया के ऊपर विजय प्राप्त किया है, वह आपने किस प्रकार किया? माया के अभेद्य किले को किस प्रकार तोड़ा? मुझे भी आप के समान विजय प्राप्त करने की इच्छा है; इस लिये मैं आप से पूछता हूं। यदि आप मुझ को इस का उत्तर देने के लिये योग्य अधिकारी समझते हों तो कृपा कर के आप अपनी स्थूल चेष्टाओं और मानसिक भाव का वर्णन कीजिये! किस क्रिया-युक्ति से आप का मन वश हो कर विजय प्राप्त हुआ?

संत :–हे मुमुक्षु! तेरे तीन रोज के यहाँ वास करने से मैं ने जान लिया है कि तू अधिकारी के लक्षण वाला है, तेरे पूछे हुये प्रश्न का उत्तर मैं देता हूँ:–मैं समझता हूँ कि तू उसे समझ भी जायगा। वह उत्तर सब शास्त्रों का सार-निचोड़ रूप है। मेरा अनुभव है और तेरे हित करने में भी समर्थ होगा। मेरा पूर्व वृत्तांत सुनः– मैं ने एक गरीब माता पिता से जन्म पाया था। मेरे माता पिता व्यवहारिक लोगों में गरीब थे परंतु अंतः करण से गरीब न थे किंतु दृढ भक्ति और नीति वाले थे, सत् कमाई से निर्वाह करते हुये, ईश्वर भक्ति बढ़ाते हुये, अपना जीवन व्यतीत करते थे। हम चार भाई थे और एक बहिन थी। जैसे बहुत से माता पिता लड़कों के प्रेम-वात्सल्य में पागल समान बने रहते हैं ऐसे हमारे माता पिता हम पर विशेष प्रेम नहीं करते थे, जिस में हमारा अहित हो ऐसा प्रेम कभी नहीं करते थे। हम उनके लड़के होते हुये भी वे हम को

अपने लड़के नहीं समझते थे, ईश्वर के लड़के समझते थे और हम उन्हें पालन पोषण के अर्थ दिये गये हों ऐसा मानते थे। छोटे पने से हम को नीति का उपदेश मिला करता था। सत्य बोलना, चोरी न करना, माता पिता की आज्ञा विना किसी की दी हुई वस्तु न लेना, कोई खाता हो तो उस के पास न जाना, यह हमारी गृह पाठशाला का शिक्षण था, छोटे बड़े के साथ सभ्य शब्दों से किस प्रकार बोलना, बड़ों, संत आदिक को किस प्रकार नमन करना, आदिक सिखाया जाता था। जब हम कोई वस्तु मांगते तो माता पिता कभी न देते और कहते कि तुम ने मांगी है इस लिये तुमको यह वस्तु न मिलेगी। वह ही वस्तु दो दिन पीछे विना मांगे हम को देते थे। खेल कूद करने को विशेष छुट्टी नहीं मिलती थी। जो स्वभाव और चाल चलन के अच्छे लड़के थे उन के साथ निर्दोष खेल खेलने देते थे, बुरे आचरण वाले, गंदे रहने वाले, जिन को माता पिता 'शुभ स्वभाव के नहीं हैं' ऐसा समझते थे उनके साथ खेलने नहीं देते तब दुर्वचन बकने वाले लड़कों के संग खेलना तो कहां से होता, उन का संग और परछाईं लेने तक की आज्ञा न थी। बाल्यावस्था मेरी इस प्रकार व्यतीत हुई, कुछ बड़ा होने पर मैं पाठशाला में पढ़ने को भेजा गया। घर में मिली हुई शिक्षा का पाठशाला में भी अमल करने को हम को आज्ञा थी। नित्य प्रति मैं जितनी शिक्षा पाता उस सब का यथार्थ करना यह मेरा नित्य कर्तव्य था। घर से सीधा पाठशाला जाता और पाठशाला से सीधा घर आता, शिक्षक की आज्ञा का लोप मैं कभी न करता। इस प्रकार कुछ वर्षों तक मैं पढ़ता रहा। पश्चात् माता पिता का देहांत हो गया तब मैं भाईयों के साथ बहिन के यहां गया। मैं सब में बड़ा था। जीजा का स्वभाव कुछ और ही प्रकार का था, मुझ से सहन न हुआ। युवावस्था के आरम्भ में ही स्वतंत्रता होने की इच्छा ने ज़ोर किया इस लिये मैं वहां से चल दिया और मांगता खाता काशी जी में पहुंचा, एक परोपकारी मनुष्य से मुलाकात हुई उस ने मेरे पढ़ने और रहने का प्रबंध कर दिया। पांच वर्ष मैं

तब पृथ्वी प्रदक्षिणा के विचार से मैं वहां से चल दिया। ग्राम २ में ठहरता हुआ, तीर्थों में घूमता हुआ विचरने लगा। किसी स्थान पर किसी प्रकार की आपत्ति मुझ पर न आई। विद्या के प्रभाव से जहां जाता था वहां मेरा सन्मान होता था, धन की कामना थी नहीं, खाना, पीना वस्त्र और वाट खर्च-किराया सब स्थानों से मिल जाता था। छोटेपने में मिली हुई शिक्षा का भाव सब शरीर में भर रहा था। मैं अखंडित ब्रह्मचर्य वाला था, इन सब कारणों से मेरा मस्तक दर्पण के समान चमकता था। उस समय मैं महात्मा नहीं था तो भी लोग मुझ को महात्मा जी, स्वामीजी, आचार्यजी कहकर पुकारते थे। घूमते २ मुझे ज्ञान प्राप्ति की इच्छा हुई। यह इच्छा अकारण और दृढ़ थी। ऐसी इच्छा प्रगट होने का मुख्य कारण न होते हुये निमित्त कारण तो था ही। जब मैं विचर रहा था तब किसी २ स्थान पर कोई २ सज्जन आत्मानुभव की चर्चा करते हुये मिलते थे। मैं शास्त्र तो जानता था परंतु अनुभव विना कभी मौन्य हो जाना पड़ता था और कभी २ वाद में परास्त हो जाता था। शास्त्र में यह भी सुन रक्खा था कि अनुभव होने से सब प्रकार की शंकाओं की निवृत्ति करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है और आंतरिक परम शान्ति प्राप्त होती है, फिर जगत् के दुःखादि लग नहीं सक्ते।

अब मैं मुमुक्षु भाव की धारणा कर के विचरने लगा। फिर मुझे एक संत मिले, जिन के ऊपर मुझ को स्वाभाविक श्रद्धा उत्पन्न हुई। मैं उन के साथ रहने लगा और मुझ से जो बनां उन की टहल भी करने लगा। थोड़े समय के सहवास से मेरी श्रद्धा दृढ़ हो गई। उन महात्मा की तरफ़ से मुझे उपदेश मिला और उन्हीं की कृपा से जिस की खोज थी उस की प्राप्ति हुई। उपदेश में युक्ति प्रयुक्ति द्वारा बहुत सी बातें मेरे दिल में ठहराई गई थीं, उन सब की तो मुझे याद नहीं हैं परंतु जो कुछ थोड़ा याद रहा है वह तुझे सुनाता हूं:-

एक अनादि दुर्ग है। वह बड़ा ही विलक्षण है, पांच प्रकार की खाइयों से घिरा हुआ है। सब से

बनी हुई है। उस दुर्ग में मुख्य दो द्वार हैं, उन में एक आने का है और दूसरा जाने का है। इन के सिवाय सात और छोटे २ मार्ग हैं जो भिन्न २ उपयोग में आते हैं। राज महल के ऊपर के भाग में एक छोटी सी खिड़की है, वह हमेशा बंद रहती है। पत्थर की दीवार से आगे एक जल की खाई है, उस में बारह मास तक जल भरा रहता है। उस के बाद एक अग्नि की खाई है, उस में अखंड अग्नि जलता रहता है। उस के बाद कुछ खुला मैदान है, उस में वायु का जोर विशेष रहता है। बाद में आकाश है, जिस में सब का निवास है। वहाँ के सब अमलदार मजबूत हैं और अपने काम में दत्त चित्त रहते हैं। वहाँ का राजा भी बलिष्ट है, जो कोई राजा को जीतता है, वह ही उस महान् दुर्ग को जीत लेता है। जब तक राजा अपनी सैन्य सहित रक्षित रहता है तब तक उस को पराजय करना असंम्भावित है। राजा तीन मुख्य अधिकारियों की सम्मति से सब कार्य करता है। जब उन अधिकारियों में फूट पड़ जाती है तब राजा निर्बल हो जाता है। राजा ने पाँच महकमे नियत कर रक्खे हैं, उनके द्वारा सब व्यवहार होता है। उन पाँच महकमों की भी अनेक शाखा उपशाखायें हैं। तीन मंत्रियों के महकमे अलग हैं, वे पाँचों महकमों के साथ अपने २ महकमों को देखा करते हैं। किला ऐसा मजबूत बना है कि किसी प्रकार के तोप, गोले, बन्दूक, तलवार, ढाल, बरछी, बाण आदिक से टूट नहीं सक्ता। पंच महातत्त्व जो महा बलिष्ट कहलाते हैं, इस दुर्ग के नाश करने में असमर्थ हैं क्यों कि उसी मसाले का वह दुर्ग बना है। जब दुर्ग पुराना हो जाता है तब राजा सब को आज्ञा देता है जिस के अनुसार सब बस्ती, वस्तुओं सहित इस स्थान को छोड़ दूसरे स्थान में प्रथम की समान जा कर निवास करती है। जो मनुष्य राज महल के ऊपर के गुप्त द्वार की चाबी प्राप्त करके राज महल में दाखिल होता है वह राजा को और सब दुर्ग को जीत लेता है और पूर्व का राजा वन्दी- कैदी हो कर सेवा करने लगता है। जब तक उस महल में जाने की चाबी न प्राप्त हो तब तक उस दुर्ग को कोई जीत नहीं सक्ता। मैं समझता हूँ कि तू उस दुर्ग को समझ गया होगा! वह दुर्ग सब सामग्री सहित तेरा पंच भौतिक शरीर है। पांच प्रकार की खाइयां जिनसे वह घिरा हुआ है पंचीकरण किये हुये पंच महाभूत हैं। दो मुख्य द्वार मुख और गुदा हैं। दूसरे दो कान, दो आंख, दो नाक के छिद्र और लिंगेन्द्रिय सात और द्वार हैं, राज-महल मस्तक है उस में गुप्त द्वार ब्रह्मरंध्र है। उस की चाबी ब्रह्मज्ञान है। जिस छिद्र से ब्रह्म की प्राप्ति होती है उसे ब्रह्मरंध्र कहते हैं। ब्रह्म आत्मा है और आत्मा ब्रह्म है। उस को भिन्न करने वाला स्थूल शरीर और इस में रहने वाला अहंभाव है। वह अहंभाव आत्मभाव से जब निवृत्त होता है तब ब्रह्म द्वार खुलता है। उस को खोलने की चाबी **तत्त्वमसि** गुरु जी ने मुझ को दी थी। उन की दी हुई चाबी से मैं ने महान् दुर्ग को जीत लिया है। देहाध्यास वाला जीव भाव जो पहले राजा था उसे मैं ने बंदीवान् किया है। अब वह मेरे कहने के अनुसार कार्य करता है। मन जो बहुत चंचल था अब आत्म भाव को प्राप्त हुआ है। जगत् की तरफ़ की चंचलता उस की निवृत्त हो गई है। जब मन अमन भाव को प्राप्त हो जाता है तब महा विजय होता है। जिस पुरुष ने देहाध्यास निवृत्त कर लिया है उस के शरीर में मैं और मेरा भाव नहीं रहता, तब वह ही महा विजय प्राप्त कर सक्ता है। विजय विशेष जय को कहते हैं। जैसे दो राजा आपस में युद्ध करते हैं तो एक जीतता है इसी प्रकार शरीर में दो प्रकार के भाव हैं, एक शरीराध्यास का भाव और दूसरा मुमुक्षु होने के बाद का आत्मभाव। शरीराध्यास अज्ञान कहा जाता है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उस से शरीराध्यास की निवृत्ति नहीं होती। अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान से होती है, ज्ञान स्वरूप से नहीं होती। 'मैं जीव हूं' यह अज्ञान है और 'मैं शुद्ध स्वरूप आत्मा हूं' यह ज्ञान है। ज्ञान अज्ञान की निवृत्ति के निमित्त है। अज्ञान की निवृत्ति होने के बाद ज्ञान अज्ञान दोनो भाव रहित जो स्थिति है वह स्वस्वरूप है। ज्ञान चाबी है और ज्ञान स्वरूप

ब्रह्म है। **तत्वमसि** महावाक्य चावी है । भाग त्याग लक्षणा से ब्रह्म रूप खजाने को खोलना चाहिये, जैसे खोलने तक ही चाबी उपयोगी होती है इसी प्रकार स्वरूप प्राप्त होने तक ही **तत्वमसि** महा वाक्य का उपयोग है।

इन्द्रियां विशेष कर के बहिर्मुख रहती हैं और विषयों को ग्रहण करती हैं, जीव उस में रागद्वेष करता है। ऐसा करने से जीव विषयों के आधीन हो जाता है इस लिये जिस को अपने स्वरूप प्राप्ति रूप महा विजय की इच्छा हो उसे प्रथम विषयों की तरफ़ से इन्द्रियों को हटाना चाहिये क्योंकि जब इन्द्रियां विषयों की तरफ़ से छूट जाती हैं तब मन बाहर के विषयों में संयुक्त नहीं होता। ऐसा होने से मन बलवान् हो जाता है, उस बल से इन्द्रियों को विषय की तरफ़ से हटाया जाता है। वैराग्य के सहारे बारंबार ऐसा अभ्यास करते रहने से मन निर्मल और बलिष्ठ हो जाता है, बुद्धि अति तीव्र हो जाती है, जिस से ज्ञान की प्राप्ति होती है। जब ज्ञान में पूर्ण स्थिति होती है तब महा विजय सिद्ध होता है।

बाहर इन्द्रियों को विषयों से और आंतर में मन को विषयों के भाव से रोकना, ऐसा दोनों प्रकार का सतत अभ्यास करने से अंतःकरण शुद्ध हो जाता है और शुद्ध अंतःकरण वाला इस महा विजय को प्राप्त करता है।

एक राज कुमारी अपनी सखियों के साथ देवी का दर्शन करने गई। दर्शन कर के लौटते समय वायु बहुत वेग से चलने लगा और बादल एक ही दम टूट पड़ेगा, इस प्रकार की गर्ज़ना, और बिजली होने लगी, साथ की सब सहेलियां इधर उधर हो गई, राज कुमारी भी भागी। थोड़ी देर में दल बादल सब शांत हो गये। राजकुमारी ने जाना कि मैं मार्ग भूल गई हूं, अब घर पर किस प्रकार जाऊं ? राजकुमारी ऐसा विचार कर रही थी, इधर उधर कोई मनुष्य दिखाई नहीं देता था। इतने में एक शब्द सुनाई दिया "हे राज कुमारी यदि तू मेरी एक बात स्वीकार करने को मुझे वचन दे तो मैं तुझे मार्ग दिखला सक्ता हूं" राजकुमारी चारों तरफ़ देखने लगी, कोई मनुष्य न दीखा तब वह कहने लगी "हे बोलने वाले ! तू कौन है ? जो कोई हो मेरे सामने आवे।" कोई मनुष्य न आया ! राजकुमारी की दृष्टि एक लकड़ी के पुतले पर पड़ी, वह बोल उठा "हे राज कन्या ! मैं लकड़ी का पुतला हूं, मैं ही बोला था ! तू मत घबरा, मैं तुझे मार्ग बताऊंगा ! तू मेरे साथ विवाह करना स्वीकार कर, मैं भूत प्रेत नहीं हूं ! मैं तुझ को किसी प्रकार की बाधा न करूंगा ! मैं भी राजकुमार हूं ! किसी कारण वश इस लकड़ी के पुतले में बन्द हूं ! तू मुझे उठा ले, मैं तुझे मार्ग बतलाऊंगा!" राजकुमारी घबराई हुई थी, जंगल में लुटेरों का और विकराल पशुओं का भय था इस लिये वह विवाह करना स्वीकार कर, लकड़ी के पुतले को उठा कर चलने लगी। पुतला मार्ग बतलाने लगा। इस प्रकार राजकुमारी सुख पूर्वक घर पहुंच गई और उस के माता पिता अपनी पुत्री को कुशल सहित आई हुई देख कर आनन्दित हुये परन्तु लकड़ी के पुतले के साथ विवाह करने की बात से अप्रसन्न हुये।

राजकुमारी ने लकड़ी का पुतला एक सखी को दे दिया और उस में छेद करने को कहा। सखी ने रात्रि भर महनत की परंतु पुतले में छेद न हुआ ! पुतले ने कहा "तुझ से छेद न होगा, तू मुझे राजकुमारी के पास ले चल, जब वह छेद करेगी तब तुरंत छेद हो जायगा !" सखी ने जाकर पुतला राजकुमारी को दे दिया। राजकुमारी के छेद करने से उस में छेद हो गया और छेद होते ही कामदेव के स्वरूप समान एक राजकुमार उस में से निकल आया। राजकुमारी बड़े आश्चर्य में पड़ी और सुन्दर राजकुमार को देख कर और उस के साथ अपने विवाह होने की याद करके अत्यंत प्रसन्न हुई ! राजकुमार ने कहा "हे राजकुमारी ! तू मेरी है ! मैं तेरा हूं ! मेरे साथ मेरे पिता के देश में चल !" राजकुमारी ने कहा "हे राजकुमार ! इतनी जल्दी क्यों है ? मेरे माता पिता से आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे साथ चलूंगी।" राजकुमार ने कहा "मैं जाता हूं, शहर के बाहर थोड़ी देर टिकूंगा, तू अपने माता पिता की आज्ञा लेकर जल्दी से आना !" ऐसा कहकर राजकु-

ार चल दिया! राजकुमारी माता पिता की आज्ञा ने गई। वहां उसे बहुत देर होगई, जब वह माता ता से विदाय होकर शहर के बाहर आई तो राज-मार वहां न मिला! राजकुमारी विचारने लगी "अ-क्या करूं? मैं सब की आज्ञा लेकर आई हूं, अब लौट कर जांऊ तो मेरी हंसी होगी, अब तो जहां राजकुमार गया है वहां ही मैं जांऊंगी, उसकी खोज कर लूंगी।" ऐसा विचार कर राजकुमारी पति को खोजने लगी, बहुत दिनों तक कष्ट पाती हुई घूमी, बहुत से देश, देशान्तर खोज डाले, परंतु राजकुमार का कहीं पता न लगा। अंत में वह एक अन्न क्षेत्र में पहुँची, वहां से पता लगा कि मेरा पति स्फटिक पर्वत का राज कुमार है और वह स्थान वहाँ से तीन मास का मार्ग है। राज कुमारी को क्षेत्र वाले ने तीन कटोरदान बन्द किये हुये दिये, वे इस प्रकार के थे कि एक के भीतर एक आ जाय। उन्हें देकर उसने कहा "हे राज कुमारी! जो तू अपने पति के देश में जाय और वह तुझे न पहिचाने तो तू एक कटोरदान खोलियो, और जो वस्तु निकले उसे राज कुमार को दिखलाइयो, इस प्रकार तीनों कटोरदान खोल दीजो, तेरा पति तुझे पहिचान लेगा, और तुझे पट रानी बनावेगा।"

राज कुमारी कटोरदानों को ले कर अपने पति के देश को रवाना हुई और बहुत कष्ट पाती हुई उस की राजधानी में पहुँची। वहाँ अनेक प्रकार का उत्सव हो रहा था और लोगों के कहने से मालूम हुआ कि राज कुमार का विवाह होने वाला है। राज कुमार भावी पत्नियों के लिये अनेक प्रकार की वस्तुयें खरीद रहा है। राज कुमारी वहाँ पहुँची और उस ने प्रथम कटोरदान को राज कुमार के सामने खोला, उस में से बहुमूल्य पोशाक निकली, राजकुमार ने वह खरीद ली, परन्तु राजकुमारी को न पहिचाना। राज कुमारी ने दूसरा कटोरदान खोला, उस में से बहु मूल्य मोतियों का हार निकला, वह भी राज कुमार ने खरीद लिया परन्तु राज कुमारी को न पहिचाना। फिर तीसरा कटोरदान खोला गया उस में से एक लकड़ी का पुतला निकला, वह बहुत छोटा था परंतु उस की आकृति ऐसी ही थी, जैसे पुतले में राज कुमार बंद था। राज कुमारी आश्चर्य करने लगी कि पुतला क्यों निकला। राज कुमार को उसे देख कर पूर्व का सब वृत्तान्त याद आ गया। वह कहने लगा "प्यारी! मैं तेरा हूँ, तू मेरी है!" दूसरे दिन राज कुमारी से ही राज कुमार का विवाह हुआ। राज कुमार की तीन होने वाली पत्नियों को इस बात की खबर पड़ते ही बड़ा भारी घात हुआ, विद्युत् की समान प्रहार हुआ! वे सब जड़वत् हो गईं, अंत में मर ही गईं। इस प्रकार राज कुमार ने राज कुमारी से विवाह कर महा विजय प्राप्त किया!

अविद्या के फन्दे में फंसने से राज कुमार जीव लकड़ी के पुतले में बन्द पड़ा हुआ था। जब उसे बंधन में कष्ट मालूम हुआ और बंधन से छूटने की तीव्र इच्छा हुई तब आत्म भाव वाली बुद्धि जो अनात्म रूप सहेलियों से छुट गई थी, उस ने उससे जीवन्मुक्त करने और मार्ग दिखलाने की प्रार्थना की, उस के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया और उसे उठा लिया। चिदाभास रूप जीव जो राज कुमार था, अनात्म भाव वाली बुद्धि सहेली के छेद करने योग्य न होने से छेदन न हुआ, आत्म भाव वाली बुद्धि से ही कारण देह रूप लकड़ी के पुतले में छेद हुआ-माया से भिन्न हुआ। चिदाभास अपने पिता के स्थान, ब्रह्म देश स्फटिक पर्वत के राजा के देश में पहुंचा परंतु उसके मायिक संस्कार जब तक आत्मभाव की बुद्ध के साथ एक रूप न हुये तब तक वह माया से निवृत्त न हुआ। आत्मभव वाली बुद्धि का पिता विवेक था और माता मुमुक्षुता थी, इन से उसका जन्म हुआ था। जब राजकुमार चला गया तब कुमारी उसकी खोज में चली, यह ही अभ्यास है। जब अभ्यास करते २ अंतर से शुद्धि हुई तब अन्न क्षेत्र वाला हितोपदेशक रूप भोजन खिलानेवाला सद्गुरु मिला। उसने उसकी योग्यता देख कर एक कटोरदान दिया जिस-के भीतर दो और कटोरदान थे। प्रथम कटोरदान में से अनेक प्रकार के आभूषण निकले, वह स्थूल शरीर था। दूसरा मोती माला रूप सूक्ष्म शरीर था,

जो मन का ही विस्तार रूप है। मन चन्द्रमा रूप और चन्द्र मोती रूप है। तीसरा लकड़ी का पुतला अबोध रूप कारण शरीर है। जब वह राजकुमार को दिखलाया गया तब बंधन की याद आई और वह आत्मभाव की बुद्धि से विवाह कर एक भाव को प्राप्त हुआ। तीन पत्नियां जो होने वाली थीं वे अनात्म भाव अभिमान वाली सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी बुद्धियाँ थीं। जब आत्मभाव की बुद्धि से चिदाभास रूप जीव की एकता हुई तब वे नाश को प्राप्त हो गईं और महा विजय प्राप्त हुआ।

जिस को महा विजय करने की इच्छा हो, उसे प्रथम विवेक करना चाहिये। नित्यानित्य के विवेक से अनित्य पर वैराग्य होता है। जब इन्द्रियां विषयों की तरफ़ प्रवर्त होती हैं और मन और जीव उन के साथ एक हो जाते हैं तब बंधन होता है-पराजय होता है। जगत् के सब पदार्थ परिवर्तन वाले, तुच्छ और परिणाम में दुःख दायक समझ कर उन का त्याग करना चाहिये। तृण से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त जितना विस्तार है, सब अविद्या और अविद्या का कार्य है, बहुत दिन से विषयों में लगे हुये मन को उन की तरफ़ से खींचते हैं तो भी वह उन्हीं की तरफ भागता है इस लिये दृढ़ वैराग्य और अभ्यास से उस को निरोध करना चाहिये और प्रापंचिक विषय छुड़ा कर आत्म विषय उस को देना चाहिये। आत्मा में एकता होने से मन अमन भाव को प्राप्त हो जाता है। जब आत्म-बोध होता है तब महा विजय प्राप्त होता है।

इस प्रकार के उपदेश को मैं ने ग्रहण किया, पूर्ण सत्कार से विवेक और वैराग्य का सेवन किया, तब क्रम क्रम से अंतःकरण की शुद्धि हुई। जब आत्मभाव प्राप्त हुआ तब शंका, भय आदिक जितने कंटक थे, सब ही निवृत्त हो गये। मन से बंधन है और मन से ही बंधन की निवृत्ति हो कर आत्म प्राप्ति होती है। महा विजय महा कठिन है परंतु जिस का अंतःकरण संस्कारी और शुद्ध होता है उस के लिये कठिन नहीं है। सब मनुष्य महा विजय प्राप्त करने की इच्छा करते हैं परंतु उन के योग्य बने बिना, की हुई इच्छा कुछ काम नहीं आती। जो तू ने पूछा था मैं ने अपनी बुद्धि अनुसार तुझे बताया है। यदि मेरे समान तू भी बर्ताव करेगा तो निश्चय शान्ति प्राप्त होगी। शान्ति का प्राप्त होना ही सब वेदों का पढ़ना है। विषयों की तरफ़ मन न जाना परम पद है। शरीराध्यास की निवृत्ति महा विजय है। अहं, मम की निवृत्ति सब शंकाओं की निवृत्ति है। स्वरूप स्थिति विवेक है। आत्म प्राप्ति पूर्ण अखंडित ऐश्वर्य है। जो मन को अमन बनाता है वह ही महा विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। ॐ शान्ति, शान्ति, शान्ति।

प्रपंच का मिथ्यापना।

प्रपंच जगत् को कहते हैं। जो ब्रह्म को समझते हैं वे ब्रह्म भाव की अपेक्षा से जगत् को प्रपंच कहते हैं प्र और पंच मिल कर प्रपंच बना है। प्र का अर्थ प्रबलता है, पंच पांच को कहते हैं। प्रबलता से पांच का जो मेल है वह प्रपंच है। दृश्यमान जगत् पांच की मिलावट से बना है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच तत्त्व एक दूसरे से सम्मिलित हैं, इन के सम्मिलत्व को पंचीकरण कहते हैं। पंच महाभूतों के पंचीकरण किये हुये पांच तत्त्वों का स्थूल जगत् है इस लिये उस को प्रपंच कहते हैं। कोई भी स्थूल दृश्यमान पदार्थ पंचीकरण किये हुये पांच तत्त्वों से रहित नहीं है। पंचीकरण किये हुये तत्त्वों की वस्तु स्थूल होती है इस लिये स्थूल ही प्रपंच है। सूक्ष्म और कारण स्थूल के उत्पादक हैं इस लिये वे भी प्रपंच कहलाते हैं।

पंचीकरण से बना हुआ स्थूल अपंचीकृत सूक्ष्म और अव्याकृत रूप कारण सब ही प्रपंच है। यह प्रपंच मिथ्या है क्योंकि वेद की यह प्रतिज्ञा है:-एक अद्वितीय ब्रह्म सिवाय और कुछ भी नहीं है। सब जगत् परब्रह्म ही है, वहां किंचित् भी भिन्नत नहीं है।

शंकाः-जगत् क्या है? न होता हुआ क्यों दीखता है? किस प्रकार बना हुआ है? मिथ्या पदार्थ कभी नहीं दीखतां, जगत् तो प्रत्यक्ष दीखता है, खरगोश के सींग मिथ्या हैं, इस लिये आज तक किसी ने देखे भी नहीं हैं, जगत् को मिथ्या कहते हो, जगत् तो ऐसा मिथ्या नहीं है, वह मिथ्या किस प्रकार का है? यदि कहो कि अज्ञान से न होता हुआ भी दीखता है तो अज्ञान में इस प्रकार के दृश्य की शक्ति कहां से आई? स्वयं अज्ञान ही कहां से आया? जब एक सिवाय दूसरी वस्तु ही नहीं है तब अज्ञान किस में हुआ? जगत् को कौन देखता है?, जगत् क्या है? यदि भ्रांति से बताया जाय तो भ्रांति किस प्रकार की है? किस को हुई है? और कितने प्रकार की है?

समाधानः-जगत् वस्तुतः ब्रह्म है, आत्मा ही ब्रह्म है। अज्ञान से न होता हुआ जगत् आत्मा में प्रतीत होता है। एक को अनेक दिखाने वाला अज्ञान है। स्वरूप का अज्ञान ही प्रपंच रूप होकर भासता है। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब प्रपंच की भी निवृत्ति हो जाती है-अनेकता नहीं रहती। उत्पत्ति का क्रम शास्त्र कारों ने अनेक प्रकार से कहा है, उत्पत्ति वास्तविक नहीं है, उपदेश और उपासना के निमित्त है। जो वस्तु उत्पन्न ही नहीं हुई उस की उत्पत्ति किस प्रकार हो? उत्पत्ति वर्णन उस की निवृत्ति के अर्थ है।

तू ने पूछा है कि जगत् किस प्रकार बना है, उस का उत्तर सुनः-जैसे न होता हुआ भी ठूंठ में पुरुष है, मरु भूमि में जल है, आकाश में नीलता मालूम होती है, रज्जु में सर्प दीखता है, जल के किनारे देखें तो वृक्षादि उलटे दीखते हैं, शीशे में नगर बना हुआ होता है, ऐसे ही आत्मा में जगत् बना हुआ है। ऐसा मालूम होने से वह वास्तविक बना नहीं है। इस लिये मिथ्या है।

सत्य से जो उलटा है, उसे असत्य-मिथ्या कहते हैं। मिथ्या का अर्थ कुछ भी न होना नहीं है। जो रूपांतर होने वाले भाव-वस्तुयें हैं वे सब परम सत्य के सामने तुच्छ होने से मिथ्या कहलाते हैं। परम स्वरूप में रहने वाला होता है, कभी विकार को प्राप्त नहीं होता, ऐसा एक पदार्थ परब्रह्म ही है, उस से जो विरुद्ध है वह अपरब्रह्म-अनात्मा है, जो अनात्मा है वह ही मिथ्या कहलाता है। जैसे खरगोश के सींग कभी भी नहीं होते, इस कारण तू उन्हें मिथ्या कहता है। खरगोश व्यवहारिक सत्ता में है और देखने वाला तू भी व्यवहारिक सत्ता में है। खरगोश के सींग व्यवहारिक सत्ता में नहीं हैं। जो कुछ कल्पना किया जाता है उस की प्रातिभासिक सत्ता होती है, जो प्रातिभासिक में होता है उस का व्यवहारिक सत्ता में अभाव होता है। तू जगत् को देख रहा है, और उसे मिथ्या कहना नहीं चाहता, यह तेरी व्यवहारिक सत्ता है। व्यवहारिक सत्ता परमार्थ में असत् होती है। जगत् का मिथ्यापना हम परमार्थ सत्ता के लक्ष से कहते हैं, व्यवहारिक सत्ता में नहीं, इस लिये खरगोश के सींग कल्पना में होते हुये व्यवहार में सत् नहीं हैं। इसी प्रकार जगत् का सच्चापन व्यवहार में होता हुआ परमार्थ में नहीं है। कल्पना का चित्र और भ्रांति जिन स्वप्नादिक में होती है वे प्रातिभासिक सत्ता हैं। समान सत्ता में खरगोश के सींग की समान जगत् मिथ्या नहीं भासता परंतु परमार्थ में मिथ्या ही है। मिथ्या जो सत् रूप हो कर भासता है उस का कारण अज्ञान है। अज्ञान में किस की सत्ता से जगत् भासता है, सुनः-एक ही सत्ता सब में भासमान हो रही है। जो सत्ता ज्ञान का भास करने वाली है वह ही अज्ञान का भास करने वाली है। ज्ञान जानने को कहते हैं और अज्ञान का अर्थ न जानना नहीं है किंतु जैसा है वैसा न जानना अज्ञान है अर्थात् ज्ञान का विरुद्ध भाव से ज्ञान करना-जानना अज्ञान है। भास होना परम तत्त्व का है और भासने में पृथक्ता का होना अज्ञान का है। पृथक्ता न होते हुये भी पृथक्ता का ज्ञान होना अज्ञान कहलाता है।

दो राजा थे। दोनों आपस में मित्र थे। उनका राज्य भिन्न २ था। एक समय एक राजा ने मित्र राजा को लिख भेजाः-"तीन अज्ञान की मूर्तियां हमारे यहां भेज दो" यह चिट्ठी राजा ने अपने प्रधान को सुनाई

आवे। प्रधान ने कहा "ले आऊंगा।" दूसरे दिन प्रधान ग्राम में गया और वहां से तीन पढ़े लिखे पंडितों को ले आया। राजा ने कहा "प्रधान जी! जिन वस्तुओं की हम को आवश्यकता थी, क्या ये ही हैं?" प्रधान ने कहा "जी महाराज ये ही हैं!" राजा ने पंडितों से कहा "हमारा एक मित्र आप के दर्शनों की इच्छा वाला है, कृपा कर के आप उस के देश में जाकर दर्शन दीजिये।" पंडितों ने स्वीकार कर लिया। राजा ने पत्र लिख दिया और मार्ग का खर्च दे दिया। तीनों पंडित शुभ मुहूर्त में चल दिये और कितनेक कोश चलने के बाद एक ग्राम के पास पहुंचे। तीनों ने उस स्थान पर भोजन कर के आगे चलने का विचार किया। एक पंडित जो वैदक शास्त्र में प्रवीण था, एक रुपया लेकर उस शहर में से भोजन लेने बाजार में गया। वह जिस वस्तु के लेने की इच्छा करे, वैदक शास्त्र के ज्ञान से उसे उस में ही दोष मालूम पड़े, सब वस्तुओं का विचार करता जाय, कोई भी वस्तु निर्दोष न दीखे। अंत में उस ने एक तरकारी बेचने वाले के पास टोकरी में परवल देखे, उन्हें देख कर वह दिल में खुश हुआ, परवल थे मँहगे, एक रुपये के तीन ही परवल आये। उन्हें ले कर वह स्थान पर आया। दोनों पंडित तीन परवल लाया देख कर आश्चर्य युक्त हो कहने लगे "क्या और कोई खाने की वस्तु नहीं थी?" वैद्य शास्त्री ने कहा "वस्तुयें बहुत थीं, सब में दोष था, मैं वैदक के ज्ञान वाला दोष युक्त वस्तु कैसे लाता? दोष रहित मात्र पटोल ही देखे! पटोल वात, पित्त, कफ तीनों दोषों का हरने वाला है। हम तीन हैं, परवल भी तीन ही हैं, एक एक परवल खाकर संतुष्ट हो कर आगे चलो।" परवश हो कर तीनों ने ऐसा ही किया। मार्ग चलते हुये एक नदी आई, पार उतरने को आस पास नाव देखी, नाव कहीं न मिली। इतने में बड़ का पत्ता जल में बहता हुआ दिखाई दिया। उसे देख कर एक शास्त्री बावा बोल उठा "मुझे प्राचीन शास्त्र का अगाध ज्ञान है, जब प्रलय के समय सब पृथ्वी पर जल ही जल हो रहा था तब भगवान् वट वृक्ष के पत्ते पर आरूढ़ हुये थे, हम भा उस के ऊपर बैठ कर पार पहुंच जायंगे!" तीनों सम्मत हुये, पत्ते पर बैठने गये तो तीनों डूबने लगे, ऊपर नीचे डबकियां खाते खाते बहाव के प्रभाव से और कुछ तैरने के अभ्यास से बहुत कष्ट पा कर तीसरे दिन दूसरे किनारे पर पहुंचे, ईश्वर का उपकार माना। कई दिन पीछे तीनों राजधानी में [illegible] जिस समय वे शहर में घुसने लगे तब सा[illegible] हो गया था, उस समय दरबार में राजा से मुलाकात होना असंभवित था। उन में से एक ने जो ज्योतिष शास्त्र का जानने वाला था, मुहूर्त देखा तो राजा की मुलाकात का मुहूर्त मध्य रात्रि में निकला। तीनों मध्य रात्रि की राह देखते हुये, एक स्थान पर छुप रहे। जब मध्य रात्रि का समय हुआ तब ज्योतिष शास्त्री ने कहा "राजा के महल में पिछले मार्ग से जाना चाहिये, महल का मुख जिस दिशा में है, वह हम को फलदायक नहीं है। तीनों ने ऐसा ही किया। पीछे जाजरूर थी, उस में हो कर तीनों चोर के समान राजा के महल में दाखिल हुये। वहां जाकर देखा तो राजा और रानी भिन्न २ पलंग पर सो रहे हैं और नींद में पड़े हैं। अचानक एक पंडित के हृदय में स्फुरण हुआ और वह कहने लगा "हम मलिन स्थान में हो कर महल में आये हैं, राजा से मिलने से प्रथम स्नान कर लेना चाहिये!" पानी वहां था नहीं, स्नान किस प्रकार हो? एक और पंडित बोला "इस का उपाय मैं अभी शास्त्र में देखे लेता हूं!" पोथी पन्ना खोल कर देखने लगा और थोड़ी देर बाद बोला "शास्त्र में इस का भी खुलासा किया है, शास्त्र रत्न की खानि है, सब बातें उस में मिलती हैं, शास्त्र में ऐसा लिखा है कि स्त्री एक नदी है, इस लिये रानी रूप नदी में स्नान कर के हम तीनों शुद्ध हो सक्ते हैं!" निर्णय होते ही तीनों पंडित रानी के पलंग पर पहुंचे और जिस प्रकार जल में कूद कर स्नान करते हैं, वैसे ही पलंग पर कूदने लगे! इन के शब्द से राजा रानी जाग उठे और राजा ने कहा "तुम कौन हो?" यह सुन कर शास्त्रियों ने श्लोक बद्ध उत्तर दिया "हम इस इस प्रकार की पंडिताई कर के अमुक राजा के

भेजे हुये आप के पिछले द्वार से मध्य रात्रि में मुलाकात के लिये आये हैं!" पंडितों की इस क्रांति से राजा को बहुत हंसी आई और वह कहने लगा "मेरे मित्र ने मेरी इच्छानुसार ही वस्तुयें भेजी हैं! हे पंडित वर्य आप रात्रि को जाकर आराम कीजिये, कल आप राज सभा में चले आना, वहां आप का यथा योग्य सत्कार किया जायगा!" दूसरे दिन राजा ने राज सभा में पंडित राजों का वृत्तांत सुना कर सभा को प्रसन्न किया और मार्ग का खर्च दे कर विदाय किया! "ये ही विद्या ढोर थे, शास्त्र का बोझ लादने वाले थे, ये ही दो पैर के पशु थे, ये ही अज्ञानी थे।" जहां ज्ञान का ठीक उपयोग न हो वही ज्ञान अज्ञान कहलाता है। पढ़े हुये, पंडित कहलाते हुये, मूर्ख शिरोमणि के समान वर्तने वाले अज्ञानी हैं।

अज्ञान में भी उलटे भाव से ज्ञान रहता है इस लिये तत्व से भिन्न भाव का दृश्य हो सक्ता है और तू ने ऐसा कहा है कि स्वयं अज्ञान कहां से आया इस का उत्तर सुनः-अज्ञान अनादि अविद्या कृत है इस लिये अज्ञान की आदि नहीं है। आदि वस्तु की होती है जो अवस्तु रूप है उस की आदि किस प्रकार हो? जब अज्ञान से देखा जाता है तब अज्ञान देखने से प्रथम ही का मालूम होता है। अज्ञान अज्ञान में अनादि है इस से यह न समझना चाहिये कि उस का नाश नहीं हो सक्ता। जिस कारण से अज्ञान है, उस का नाश होने पर अज्ञान का भी नाश होता है। जैसे जब रस्सी में सर्प दीखता है तो देखने वाले को जब सर्प दिखाई देता है उस समय सर्प बन नहीं जाता किंतु भ्रांति से देखने वाले के लिये रस्सी का सर्प देखने से प्रथम ही बना हुआ होता है, वह कब बना यह जाना नहीं जाता, यदि जान लिया जाय तो सर्प की स्थिति ही न रहे इस लिये अज्ञानियों को अज्ञान अनादि ही समझना चाहिये। अज्ञान निवृत्त होने के बाद यह जानने की आवश्यकता नहीं रहती कि अज्ञान कैसे उत्पन्न हुआ था। ज्ञान होने पर जान लिया जाता है कि कुछ उत्पन्न ही नहीं हुआ था तब उत्पत्ति किस प्रकार जानी जाय? इसी प्रकार एक अद्वैत तत्व में से किसी प्रकार विकार हो कर दूसरा जगत् रूप कुछ बना ही नहीं है तब दूसरा कहां है? जो दूसरा दीखता है वह देखने वाले का अज्ञान है। जैसे समुद्र अपने जल को न त्याग कर तरंग रूप दीखता है, जब तरंग दीखती है तब जल से कुछ भिन्न नहीं है इसी प्रकार अज्ञानियों को सब प्रपंच भिन्न भिन्न दीखे तो भी आत्म तत्त्व ज्यों का त्यों अपने आप में भरा हुआ है इस लिये यह प्रश्न नहीं कर सके कि एक में से अनेक किस प्रकार हुआ। एक तत्व के न समझने से ऐसा प्रश्न करते हैं। तत्त्व हर हालत में अखंडित एक ही है, दूसरी हालत में जो अनेक दीखता है, वह अज्ञान की दशा से है। जैसे किसी को स्वप्न में एक रुपया मिले, उस को वह एक बोक्स में बन्द कर के रख दे। दूसरे दिन जाग्रत् में भी एक रुपया मिले तब वह कहे कि स्वप्न में मिला हुआ एक रुपया और जाग्रत् में मिला हुआ मिल कर अब दो रुपये हो गये, ऐसे ही जगत् और ब्रह्म दो कहना मूर्खता है। जैसे वह मनुष्य बोक्स में से एक रुपया निकाल कर हाथ में दो रुपये दिखला नहीं सक्ता इसी प्रकार प्रपंच और ब्रह्म दो नहीं हैं।

अज्ञान अनादि होने के कारण अज्ञान वाले ही में होता है, आत्मा उस का आधार मात्र है। आत्मा को अज्ञान का भास अज्ञान के भाव से होता है। ऐसा होने से अज्ञान होते हुये भी आत्मा को अज्ञान नहीं होता, यदि आत्मा को अज्ञान हो जाता तो उस की निवृत्ति न होती। जिस प्रकार रस्सी बदल कर सर्प नहीं हो जाती, सर्प का दृश्य देखने वाले ही में होता है-अज्ञान में ही होता है, रस्सी के स्थान पर रस्सी ज्यों की त्यों बनी रहती है परंतु अज्ञानियों को रस्सी कायम है ऐसा बोध नहीं होता। ऐसा बोध होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है ऐसे ही आत्मा का बोध होने पर प्रपंच की निवृत्ति हो जाती है।

पिंड और ब्रह्मांड की एकता है। छोटे भाव से व्यक्ति पिंड और व्यक्तिओ का समग्र एक भाव ब्रह्मांड है। ये दोनों ही माया के दृश्य हैं। पिंड शरीर को कहते हैं। ब्रह्मांड में सब संसार है।

ब्रह्मांड रूप प्रपंच मिथ्या है, तो तुच्छ भाव वाला शरीर भी मिथ्या है, उस को सीपी के दृष्टांत से समझाते हैं। प्रपंच रूप शरीर तीन अवस्था वाला है। ये तीनों अवस्थायें शरीर में होते हुये आत्मा में भासती हैं। जैसे सीपी में भ्रांति कर के रूपा, अभ्रक और कागज़ भासता है। ये तीनों वस्तुयें आपस में एक दूसरे से मेल वाली नहीं हैं, सीपी में भ्रांति से दीखती हैं इस लिये सीपी से मेल वाली नहीं हैं। सीपी में जब रूपा दीखता है, तब अभ्रक और कागज़ नहीं दीखते, जब अभ्रक दीखता है तब रूपा और कागज़ नहीं दखिते और जब कागज़ दीखता है तब रूपा और अभ्रक नहीं दीखते। इस प्रकार तीनों वस्तुओं का सीपी में परमार्थिक और व्यवहार सत्ता में अभाव है-नहीं दीखतीं इस लिये उन का मेल नहीं है, केवल प्रातिभासिक सत्ता में दीखती हैं। प्रातिभासिक सत्ता भ्रांति की है, भ्रांति रहित में, सीपी का तीनों से मेल नहीं है, सीपी में तीनों मिथ्या हैं इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं को आत्मा में मिथ्या समझो।

दूसरे प्रकार सीपी के तीन अंश समझो (१) सामान्य अंश (२) विशेष अंश और (३) कल्पित विशेष अंश। 'यह' सीपी है इस में 'यह' शब्द सीपी का सामान्य अंश है, नील पृष्ठ और त्रिकोण के समान जो कुछ २ आकृति है, यह सीपी का विशेष अंश है, जो थोड़े समय तक प्रतीत हो उसे विशेष अंश कहते हैं। भ्रांति के समय नील पृष्ठादिक मालूम नहीं होता इसी कारण से विशेष अंश है। जब विशेष अंश की प्रतीति होती है तब भ्रांति की निवृत्ति हो जाती है। जैसे 'यह' तीनों में एक समान है ऐसे विशेष अंश नहीं है। विशेष अंश को वस्तु, तत्त्व-अधिष्ठान भी कहते हैं। तीसरा रूपा आदिक कल्पित विशेष अंश है। जो अधिष्ठान के ज्ञान के समय मालूम न हो, केवल भ्रांति में मालूम हो उसे कल्पित विशेष अंश कहते हैं। सीपी में रूपे की भ्रांति होने से उसे भ्रांति कहते हैं। जिस प्रकार एक ही सीपी में ये तीनों प्रकार का दृश्य होता है, और इस से दुःख, कंप और आनन्द भी होता है किंतु दृश्य और दृश्य के दुखादिक मिथ्या हैं इसी प्रकार तीनों अवस्थायें और उन के दुःखादि मिथ्या हैं। जिस में ये होते हैं, वह भी मिथ्या है, मात्र एक अधिष्ठान ही सत्य है। अधिष्ठान आत्मा में जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों आत्मा के अज्ञान से होती हैं। सामान्य अंश ही सत्य है और विशेष अंश बंधन की निवृत्ति का हेतु है। इस प्रकार आत्म व्यापकता समझ कर प्रपंच का मिथ्यात्व दृढ़ करना चाहिये।

शंकाः–सीपी में रूपा आदिक की भ्रांति के समान जो जगत् को दिखलाया वह किस प्रकार समझा जाय? रूपा अभ्रक और कागज़ तो भ्रांति रूप हैं इस लिये मिथ्या हैं किंतु जगत् भ्रांति रूप नहीं है तब किस प्रकार मिथ्या समझा जाय? रूपा अभ्रक और कागज़ की भ्रांति निवृत्त हो जाती है तब ऐसा जाना जाता है कि भ्रांति थी। शरीर की अवस्थायें मिथ्या नहीं होतीं, कोई उन्हें मिथ्या नहीं मानता, भ्रांति की वस्तु जिसे भ्रांति होती है, उसे ही दीखती है, जगत् सब को दीखता है। जो सब को दीखे वह भ्रांति किस प्रकार हो?

समाधानः– जब तक भ्रांति रहती है तब तक 'भ्रांति है' ऐसा बोध नहीं होता, भ्रांति निवृत्त होने के बाद ही भ्रांति का बोध होता है। सीपी में रूपे आदिक का दीखना प्रातिभासिक होने से उस की निवृत्ति व्यवहारिक जगत् में हो जाती है परंतु व्यवहारिक जगत् जो भ्रांति रूप है उस को व्यवहार में रहते हुये ऐसा नहीं जान सके कि भ्रांति रूप है, इस भ्रांति का निश्चय पारमार्थिक लक्ष में होता है इस लिये उस लक्ष वाले उसे भ्रांति ही कहते हैं। जैसे रूपे आदिक की भ्रांति को तू क्षणिक कहता है तो वह क्षणिकता व्यवहार में है ऐसे ही पारमार्थिकता में जगत् का क्षणिकत्व है। रूपे की भ्रांति और जगत् की भ्रांति में किंचित् भी भेद नहीं है। शरीर की अवस्थाओं को सब मिथ्या मानते हैं। स्वप्न को मिथ्या कहते ही हैं, सुषुप्ति शून्य रूप है ही। जाग्रत् को सच्ची समझते हैं, तो भी उसे हमेशा न रहने वाली-बदलने वाली मानते ही

। विवेकी पुरुष तो इस प्रकार की अवस्थाओं को शाश्वत समझते ही हैं। जब किसी प्रिय का मरण ता है और शोक अधिक व्यापता है तब अविवेकी कहने लगते हैं कि जगत् में कुछ नहीं है, सब मि-ा है। यद्यपि वे अधिक देहासक्ति और देहाध्यास के कारण ऐसे कहते हुये भी दृढ़ निश्चय से इस पर अमल नहीं कर सके। इसी का नाम अज्ञान-मिथ्यात्व है।

जगत् सब को दीखता है यह बात ठीक है जब सब ही भ्रांति में पड़े हों तब सब ही को दीखता है इस में आश्चर्य ही क्या है? सब को एक समान दीखता है ऐसा जो कहे तो सुन:–एक समान देखते हुये भी सब का एक समान भाव नहीं होता। इस लिये जिस की जिस प्रकार की भ्रांति है उसी के अनुसार उसे जगत् के पदार्थ दीखते हैं। जगत् जाग्रत् में ही दीखता है, स्वप्न में सब को झूठा मालूम होता है। स्वप्न जाग्रत् में झूठा होता है और सुषुप्ति में दोनों ही नहीं रहते तब सच्चा किस को कहा जाय? सुषुप्ति को सच्ची कहें तो वहाँ जगत् नहीं है, स्वप्न को जगत् कहें तो उस में किये हुये भोजन से पेट नहीं भरता और जाग्रत् के धन का उपयोग स्वप्न में नहीं होता इस लिये तीनों अवस्थायें एक दूसरी को झूठी ठहराने वाली हैं। जिस की सत्ता में ये तीनों प्रवर्त होती हैं वह ही एक आत्मा सत्य है और तीनों अवस्थाओं सहित जगत्-प्रपंच मिथ्या है। जगत् को आत्म सत्ता वाले जगत् का भाव ही देखता है। जगत् की पृथक्ता आत्मा के देखने का विषय नहीं है। ऐसा होते हुये भी आत्मा में मानने से आत्मा बंधन में पड़ कर सुख दुःख वाला होता है। भ्रांति भूल को कहते हैं, आत्म स्वरूप का भूलना भूल है। आत्म भाव का तिरोभाव और अनात्म भाव का आविर्भाव भूल है, इसे ही अज्ञान कहते हैं। अज्ञान स्वरूप में मिथ्या है।

आत्म बोध इन्द्रिय आदिक का विषय न होने से विलक्षण और बहुत ही सूक्ष्म है। मात्र भाग त्याग लक्षणा से आत्म बोध होता है। आत्म बोध आत्मा का ही विषय है। अज्ञानी आत्मा के सच्चे स्वरूप को नहीं जान सके और बिना जाने अज्ञान की निवृत्ति होना कठिन है। जब शुद्ध अंतःकरण और तीव्र बुद्धि से सदुपदेश में श्रद्धा होती है और गुरु कृपा से भाग त्याग करके लक्ष पहुँचाया जाता है तब आत्मा से आत्मा का बोध होता है, उसी समय जगत् का मिथ्यात्व प्रत्यक्ष होता है। मुमुक्षुओं को शास्त्र वाक्य और गुरु उपदेश में श्रद्धा करके श्रवण, मनन और निदिध्यासन में तत्पर होना चाहिये। आत्म बोध गूंगे का गुड़ है जो खाता है, चित्त में प्रसन्न होता है परन्तु उस का कथन नहीं कर सका। कथन करने वाले अकथनीय का कथन किस प्रकार करें? जो कुछ कहा जाता है वह इशारा रूप है, इशारे से समझने वाले ही उसे समझ सके हैं। सत्य तत्त्व में स्थित होने से कभी दुःख और धोखा नहीं होता। सत्य अबाधित होने से अखंडित है। सत्य सत्य रूप, चेतन रूप और आनन्द रूप है। एक ही तत्व ऐसे भाव–लक्ष–स्वरूप–वाला है, उस को प्राप्त करना ही सच्चाई है, वही आद्य स्वरूप है। उस की अपेक्षा से जगत्–प्रपंच मिथ्या है, दुःख रूप है, आवागमन का हेतु है और स्वतत्व का अबोध रूप है। अपूर्ण।

मणि रत्न माला।

उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्।

अपार संसार समुद्र मध्ये।
निमज्जतो मे शरणं किमास्ति॥
गुरो कृपालो कृपया वदैत-
द्विश्वेश पादांबुज दीर्घ नौका॥१॥

अर्थः—शिष्य पूछता है कि हे कृपालु गुरु! यह संसार जो समुद्र की समान अपार है। इस संसार समुद्र में मैं डूब रहा हूं, आप कृपा कर के बताइये कि कौनसा उपाय कर के मैं इस के पार जाऊं। तब गुरु कहते हैं कि विश्व के ईश के पद कमल रूप जो बड़ी नाव (जहाज़) है उस में बैठ जाने से तू पार हो जायगा॥१॥

भाषा छप्पय ।

जगत् समुद्र अपार, पार जिस का नहिं पाया ।
डूबत हुआ निराश, आश टूटी घबराया ॥
क्या क्या करूं प्रयत्न, यत्न कोई नहिं सूझत ।
शरण कौन की जांउ, पांउ लागत गुरु ! बूझत ॥
बोले गुरु करुणा निधी, शिष्य नहीं घबराइये ।
चरण कमल जगदीश के, करि जहाज़ चढ़ जाइये ॥१ ।

विवेचन ।

जैसे समुद्र का पार नहीं है-समुद्र के पार जाना कठिन है इसी प्रकार संसार भी समुद्र रूप है। संसार का पार भी दिखाई नहीं देता इस लिये वह भी अपार है। जैसे समुद्र में मच्छ, कच्छ, ग्राह, नक्र आदिक हिंसक जंतु हैं इसी प्रकार संसार में भी पंच विषय आदिक विकाल जंतु हैं और शरीर रूप समुद्र में काम, क्रोध, मोह, लोभ आदिक भयंकर जंतु हैं जो रात दिन दुःख देते ही रहते हैं।

शंका:—समुद्र का पार क्यों नहीं है ? जहाज में बैठ कर दूसरे किनारे पर पहुंच जाते हैं। यदि एक ही दिशा में जहाज़ चलाया जाय तो कई मांस में जिस स्थान से जहाज़ रवाना हुआ था वहां आ जाता है इस लिये समुद्र की हद भी है इस लिये संसार से समुद्र की उपमा देना युक्त नहीं है। समुद्र में जल ही जल है ऐसा जल संसार में कहां है ?

समाधान:—ऐसा न कहना चाहिये, समुद्र का पार नहीं है पृथ्वी की सब दिशायें समुद्र से घिरी हुई हैं जो जो टापू (पृथ्वी) दीखते हैं वे समुद्र में ही हैं, समुद्र से बाहर नहीं हैं, उन टापुओं में जाना समुद्र से पार जाना नहीं हुआ। जो टापू समुद्र से घिरे हुये हैं उन को छोड़ कर समुद्र की हद के बाहर जाया जाय तब समुद्र का पार होना कह सक्ते हैं, ऐसा हो नहीं सक्ता, इस लिये समुद्र अपार है। समुद्र की हद भी नहीं है क्योंकि उस का आदि, मध्य और अंत देखने में नहीं आता। जो चक्राकार होता है उस का आदि, मध्य और अंत नहीं होता। समुद्र में इतने ही वजन का जल है ऐसा कोई माप नहीं सक्ता इस लिये समुद्र अमाप है। सामान्य बुद्धि से जहाज़ में बैठ कर समुद्र के पार जाना देखा और कहा जाता है, ऐसे सामान्य बुद्धि वाले को संसार समुद्र से पार जाने को विश्वेश पद कमल रूप दीर्घ नौका का कथन करेंगे। समुद्र में जैसे जल ही जल है इसी प्रकार संसार में माया रूपी जल ही जल है।

जब समुद्र में से किनारे पर जाते हैं तब जल से भिन्न प्रकार के, जल से वजन में हलके, ऐसे जहाज़ में बैठ कर पार जाते हैं तब संसार से पार होने के लिये संसार से भिन्न संसार से हलका ऐसा कोई पदार्थ होना चाहिये। संसारी पदार्थों की बनाई हुई नाव में बैठ कर संसार से पार नहीं हो सक्के। जप तप यज्ञादि शुभ कर्मों का भाव संसारी स्थूल पदर्थों से हलका है उन के सहारे स्वर्गादिक लोकों में जा सक्ते हैं परंतु स्वर्गादिक भी संसार से बाहर नहीं हैं संसार से पार होने को एक ही पदार्थ के जहाज़ की आवश्यकता है। वह पदार्थ ऐसा होना चाहिये जो संसारी न हो।

सामान्य बुद्धि से जाना जाता है कि समुद्र से पार होने के लिये जहाज़ की आवश्यकता है। यदि जहाज़ न हो तो समुद्र में पड़ा हुआ मनुष्य किनारे पर नहीं जा सक्ता किंतु समुद्र की प्रचंड तरंगों के झपट में फंस कर गोते खाता रहता है इसी प्रकार संसार में पड़े हुये जीव भी प्रापंचिक सुख दुःख के अनेक चक्रों में फंस रहे हैं उन को संसार से पार जाने के लिये समुद्र की समान जहाज़ चाहिये। जब तक जहाज़ न मिले, जब तक उस में न बैठे तब तक जन्म मरणादि दुःखों का अनुभव होता रहता है। जहाज भी हो परन्तु उस का चलाने वाला मल्लाह न हो तो भी समुद्र से पार नहीं उतर सक्के। इसी प्रकार संसार समुद्र में से पार उतारने का जहाज़ विश्वेश के पद कमल बतलाये हैं परन्तु वहां भी मल्लाह रूप सद्गुरु की आवश्यकता है। विश्वेश के पद कमल रूपी जहाज में बैठा कर पार उतारने वाला एक सद्गुरु ही होता है, प्रथम तो वह जहाज किस प्रकार का है इस की खबर ही नहीं पड़ती और उस

दुःख, रूप और स्वरूप

जहाज के चलाने की चाबी भी उन सद्गुरु के हाथ में ही होती है। समुद्र में भारी २ तरंगें होती हैं उस में चलने वाला जहाज भी भारी होता है और उस में बैठा कर पार ले जाना सामान्य मनुष्य का काम नहीं है जो जहाज के कल पुरजों को अच्छी प्रकार जानता है ऐसा चतुर नाविक ही तारने वाला होता है। वह ही संसार समुद्र से पार करने वाला मल्लाह सद्गुरु है।

जीव महा मोह रूप प्रबल माया से घिरा हुआ है। जब कई जन्मों में शुभ संस्कार बलिष्ट हो जाते हैं तब उसे अपने कल्याण की इच्छा होती है। वारंवार संसार का भोग भोगते हुये जब तृप्ति नहीं होती तब वैराग्य होना संभव है और जब जीव संसार से पार होना चाहता है तब अनेक प्रकार की क्रियायें, मंत्र जाप, देव देवियों के अनुष्ठान करते हुये भी वह संसार समुद्र से पार होने में अशक्त होता है। उस के किये हुये शुभ कर्मों से उस का अंतःकरण कुछ शुद्ध होता है इस लिये वह अपनी बुद्धि का भरोसा छोड़ कर अन्य की शरण में जाना चाहता है। इस प्रकार पूर्ण श्रद्धा से ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना उस का शिष्य भाव है। ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु परब्रह्म से अभिन्न भाव वाला होता है, वह ही सदुपदेश दे कर योग्य शिष्य को संसार से निवृत्त करा सका है। जो संसार से बाहर खड़ा हुआ है वह ही दूसरों को संसार से बाहर कर सका है। सद्गुरु का भौतिक शरीर और चेष्टा संसार में दीखती है परन्तु आंतरिक बोध से वह संसार के बाहर खड़ा होता है। वह कहने मात्र ही ब्रह्मनिष्ठ है वास्तविक परब्रह्म ही है।

शंका: - ऐसा क्यों ? वह भी तो हमारे ही समान है ! खाना पीना भोगादिक हमारे ही समान करता है तब वह परब्रह्म किस प्रकार है ? परब्रह्म को तो व्यापक सुना है और सद्गुरु जिस को तुम परब्रह्म कहते हो वह तो परिच्छिन्न है !

समाधान : — सब जगत् संकल्प से है। जो संकल्प दृढ़ीभूत हुआ है, उस का ही सब संसार चित्र है। जब उस संकल्प का भाव नहीं रहता और स्वस्वरूप को जानता है तब कल्पित जगत् के भाव से निवृत्त हो जाता है। जैसे परब्रह्म सामान्य सत्ता है ऐसे वह भी सामान्य सत्ता को प्राप्त हुआ होता है। संकल्पित पदार्थों को अदृश्य करना रूप परब्रह्म का जैसे विरोध नहीं है ऐसे ही वह भी दृश्य जगत् की वस्तुओं को नाश करने रूप अपेक्षा वाला नहीं है पूर्व कर्म ग्रथित अज्ञानियों को भुलाने वाली जो वस्तुयें मालूम होती हैं वे उस को ऐसी नहीं मालूम होतीं। ऐसी अवस्था में वह जीवन्मुक्त कहलाता है। दूसरे के भाव सहित देखने में आता हुआ उस का प्रारब्ध अज्ञान रूप मूल के नाश होने से नाश को प्राप्त हो गया है इस लिये वह परब्रह्म ही है। अज्ञानियों की दृष्टि मात्र शरीर के ऊपर होती है, उस के भाव- स्थिति के ऊपर नहीं होती। अज्ञानी मात्र पंच भौतिक शरीर को देखता है इस लिये उसे परिच्छिन्न मानता है परन्तु वास्तविक वह परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अपने स्वरूप से व्यापक ही है।

शंका: - विश्वेश पद कमल ऐसा जो संसार समुद्र में से पार ले जाने वाला जहाज बताया है, वह क्या है ? विश्व जगत् को कहते हैं और जगत् का जो ईश है उस के पद कमल कहे हैं। विश्व का ईश-पति जिस को विश्वेश कहते हैं वह विश्व से भिन्न नहीं हो सका किंतु विश्व से सम्बन्ध वाला ही होता है जो उस को परब्रह्म माने तो परब्रह्म के पैर कहां हैं ? जो पद रूप कमल की उपमा दी जाय इस लिये विश्वेश कोई ऐसा होगा जो हमारे समान शरीर धारी हो और विशेष ऐश्वर्य सम्पन्न होने से संसार का राज करता हो, अमुक स्थान का निवासी हो, वह कौन है ? उस को किस प्रकार जानना चाहिये ? क्या उस का पैर इतना बड़ा है कि जहाज़ के समान हम उस में बैठ सकें ? वह पैर रूप जहाज़ किस स्थान से किस स्थान पर ले जायगा ?

समाधान:—विश्व ही जिस की ऐश्वर्यता है वह विश्वेश है। विश्व का जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है वह विश्वेश है। जिस अधिष्ठान में दृश्य अध्यास होता है वह विश्वेश है। जो जगत् को

चैतन्य भाव से बनाने वाला है वह निमित्त और जिस मायिक विशेष अंश से जगत् बना है, वह उपादान है। इस प्रकार दोनों कारण जिस पक्ष में हैं वह विश्वेश है। अधिकारी के भेद से समझाने के लिये कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म दो प्रकार का ब्रह्म कहा है इन्ही को निर्गुण और सगुण ब्रह्म भी कहते हैं। विश्वेश पद का अर्थ दो प्रकार के अधिकारी भेद होते हुये भी ब्रह्म ही करना चाहिये। कमल सूर्योदय में विकसित होता है और सूर्यास्त में मुंद जाता है इस लिये विश्वेश के पद को कमल की उपमा दे कर यह सिद्ध किया है कि उस में सृष्टि का दृश्य और लय दोनों होते हैं। दृश्य और लय विश्वेश के पाद हैं। पाद कहने से मात्र पैरों का ही अर्थ नहीं है। जैसे शरीर का एक किंचित् अंश पैर होते हैं इसी प्रकार विश्वेश के किंचित् अंश में जगत् की स्थिति और लय हैं। अंश अंशी भाव ब्रह्म में नहीं है। मायिक तुच्छता समझाने के लिये अंश अंशी भाव कहा है। कारण ब्रह्म जगत् से सम्बन्ध वाला नहीं है और कार्य ब्रह्म माया सहित समझाने के लिये कहा है, वह भी सम्बन्ध वाला नहीं है। जैसे स्फटिक ऊपर रक्खे हुये गुडहर के पुष्पों से लाल दीखने लगता है ऐसा दीखने वाला कार्य ब्रह्म है। परब्रह्म के पैर आदिक अंश नहीं हैं परंतु तू पैर वाला हो कर पूछ रहा है इस लिये पैर वाला कह कर तुझे समझाया जाता है, वह तेरे समान शरीर वाला नहीं है। शरीर धारी को देहाध्यास तीव्र होता है, उस जैसों को सब ब्रह्मांड ईश्वर का शरीर है-वैराट शरीर है, उपासना के निमित्त ऐसा कहा गया है। जो ब्रह्मांड ही उस का शरीर है तो ब्रह्मांड में कोई अमुक स्थान ही उसके रहने का है ऐसा कहा नहीं जा सका। विश्वेश से संसार कार्य होता है तो भी विश्वेश को संसार नहीं है और संसार विश्वेश का भी नहीं है। उसको जानने के लिये सद्गुरु की शरण होना चाहिये। जो जैसा अधिकारी है, उस को उसके अधिकार के अनुसार उपदेश कर के गुरु देव ही ठीक २ समझा सक्ता है। उस का पैर बहुत ही बड़ा है। उस में सब ब्रह्मांड है, उस में होती हुई संसार की दुःख, रूप और ... स्थिति और लय रहित हो जाना ही, उस में बैठना है। वह ऐसा विलक्षण जहाज है कि उस में बैठते ही तत्क्षण पार हो जाता है, जहाज को चलना भी नहीं पड़ता और न एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को उस जहाज के लिये स्थान है।

संसार संसरण – चलने को कहते हैं। चलना दोनों पैरों से होता है। वे दोनों पैर जीव के राग और द्वेष हैं। जब तक राग और द्वेष हैं तब तक ही चला जाता है। जब जहाज में बैठते हैं तब दोनों पैर पृथ्वी पर से उठाकर जहाज में रख देते हैं इसी प्रकार राग और द्वेष दोनों भाव अपने में से निकाल कर जो कुछ है, होता है, और होगा वह सब ही परब्रह्म का पाद रूप है इस प्रकार का भाव अंतः करण में ठीक २ आ जाना और अपना क्षुद्र व्यक्ति भाव छोड़ देना ही जहाज में बैठना है।

उपाधि चलती है, तत्त्व अचल है, उपाधि को तत्त्व समझने वाला अज्ञानी जीव है, अज्ञान का ही चलना फिरना है। जहाज में बैठना ज्ञान है, उस में बैठ कर फिर चलना नहीं होता इसी प्रकार परब्रह्म के पाद रूप जहाज में बैठने के पश्चात् हम को स्वयं कुछ कर्तव्य नहीं रहता। जो कुछ कर्तव्य है वह जहाज का और मल्लाह का ही है। वह कर्तव्य भी अज्ञान की दृष्टि में ही है। ब्रह्म रूपी जहाज व्यापक होने से परमानन्द स्वरूप है, कर्तव्य शून्य है।

ऊपर दर्शाई हुई सूक्ष्मता को समझना चाहिये कि जैसे जहाज समुद्र से पार नहीं जाता इसी प्रकार विश्वेश का पाद रूप जहाज भी संसार से पार नहीं जाता। विश्वेश का पाद संसारी लक्ष में है किन्तु उस में इतनी विशेषता है कि उस का संसारी भाव निवृत्त हो कर तत्त्व ही रह जाता है वह ही तत्त्व रूप स्थिति वास्तविक पार होना है जो गुरु कृपा से प्राप्त होता है।

मंद अधिकारियों के निमित्त पुराणोक्त उपासना आदिक अंतः करण की शुद्धि का हेतु होता है। जो सकाम किये जाँयगे तो शुभ कर्मों का फल भौतिक सुख की प्राप्ति होगी और वे ही कर्म निष्काम करने से अंतः करण की शुद्धि होती है।

निषिद्ध कर्म से विहित सकाम कर्म भी अच्छा है और निष्काम कर्म उस से भी अच्छा है। उपासना का दूसरा नाम भक्ति है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वन्दन, दास भाव, सखा भाव और आत्म समर्पण ये नवधा भक्ति कही जाती है। यह सगुण की होती है। किसी भी सगुण – साकार ईश्वर में, प्रतिमा में, अथवा गुरु में उस का उपयोग होता है। वह भी फल दायक होती है और निश्चय सहित की हुई ज्ञान प्राप्ति का हेतु भी हो सक्ती है।

जिस की जितनी दृढ़ श्रद्धा होती है उस का अधिकार उतना ही उच्च होता है। जिस का जितना अंत: करण शुद्ध होता है उतनी ही उस की श्रद्धा होती है। श्रद्धा वाला ही शिष्य हो सक्ता है। जिस में श्रद्धा नहीं है, वह शिष्य नहीं है और उपदेश का अधिकारी भी नहीं है। प्रत्येक कार्य में श्रद्धा की आवश्यकता है तब संसार से निवृत्त होने रूप महान् कार्य में वैसी ही महान् श्रद्धा होनी चाहिये। जो जैसी श्रद्धा वाला है वह वैसा ही पुरुष होता है, यहाँ तक कि मुक्ति की श्रद्धा वाले को मुक्ति और बंधन की श्रद्धा वाले को बंधन होना संभव है। आत्म प्राप्ति के निमित्त इस प्रकार दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिये।

धर्म दत्त नाम का एक पंडित था। वह विद्वान् था, व्यवहार में भी कुशल था, और अध्यात्म विद्या का ज्ञाता था। उस के पास बहुत से मनुष्य आत्म बोध के निमित्त आया करते थे। वह अधिकार के समान शिष्य भाव वाले को उपदेश देकर अध्यात्म मार्ग में ले जाता था। समय की बलिहारी! यथार्थ शिष्य भाव वाला कोई भी उस के पास न आने पाया! उस की स्त्री का नाम सरला था जो नाम के समान अत्यंत सरल और पति भक्ति में पूर्ण थी। पति को ही ईश्वर समझ कर उस की इच्छानुसार सब व्यवहार यथा योग्य किया करती थी। एक दिन पंडित को विचार हुआ कि अपनी स्त्री की परीक्षा ले कर देखना चाहिये। संभव है कि यह पूर्ण शिष्य भाव वाली निकल आवे। एक दिन सरला देवी दोपहर के बारह बजे के समय घर के नित्य कार्य से निश्चिंत हो कर एक कपड़ा सीने को बैठी थी, धर्मदत्त पंडित भी पास ही बैठा हुआ था। जिस स्थान पर वे दोनों बैठे थे वहाँ बहुत प्रकाश था। सीते सीते सुई का धागा समाप्त हो गया तब सरला सुई को एक तरफ पृथ्वी में रख कर धागा निकालने लगी। जिस समय उस की दृष्टि धागा निकालने में थी उसी समय पंडित ने चुपके से सुई उठा ली। सरलादेवी ने जहाँ सुई रक्खी थी वहाँ देखी तो सुई न दीखी। वह इधर उधर सुई ढूंढ़ने लगी, उसे ढूँढती देख कर पंडित ने कहा "क्या ढूँढ रही है?" सरला ने कहा "सुई ढूंढ रही हूँ, यहाँ रक्खी थी, मिलती नहीं है!" पंडित ने कहा "मूर्ख! अँधेरे में सुई कैसे मिलेगी? बत्ती जला कर देख!" सरला देवी दुपहरी में ही किसी प्रकार विचार न करके उठी, तेल का दिया जला लाई और सुई ढूंढने लगी! थोड़ी ही देर पीछे पंडित ने कहा "तुझ में बुद्धि नहीं है! घर में सुई कहाँ से मिलेगी? आँगन में जा कर ढूँढ!" सरला ने कुछ न कहा और दीपक ले कर, घर के बाहर आँगन में जा कर सुई ढूँढने लगी। थोड़ी देर में पंडित भी उस के पीछे गया, सुई पृथ्वी में पटक कर बोला "तू अँधी ही है! बत्ती ले कर सुई ढूँढ रही है! तब भी तुझे सुई नहीं मिलती! (सुई को दिखला कर) देख यह क्या पड़ी है!" सरला देवी ने सुई उठा ली और बत्ती रख कर कपड़ा सीने लगी। उस ने पति से यह भी नहीं पूछा कि मैंने सुई इस स्थान पर रक्खी थी, यहाँ कैसे आ गई। जब पति ने अँधेरा बताया तो उसने न कहा कि अँधेरा कहाँ है, उजाला है। पति की आज्ञानुसार विना विचार किये दीपक जला कर देखने लगी! जब पति ने कहा बाहर ढूँढ, तब भी यह न कहा कि मैं यहाँ बैठ कर सीती थी, मैंने यहाँ ही सुई रक्खी थी, बाहर आंगन में कैसे मिलेगी। बाहर ढूँढने से जब मिल गई तब भी यह न कहा कि सुई बाहर किस प्रकार आ गई! इस बात को दो दिन हो गये परन्तु उस ने पति से कुछ भी न पूछा। पंडित समझ गया कि आज्ञांकित – शिष्य भाव की यह सच मुच एक नमूना है!

गुरु के प्रति इस प्रकार का जिस का दृढ़ शिष्य भाव होता है और जिस को गुरु की आज्ञा और

कथन में किंचित् मात्र सन्देह-शक नहीं होता, जो गुरु कहता है वह ही सत्य है ऐसा मानने वाला ही शुद्ध अंतःकरण वाला शिष्य होता है। ऐसे शिष्य को उपदेश मात्र से ही आत्म बोध हो जाता है। वही सब से उत्तम अधिकारी है।

गुरु भी शास्त्र का ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। वह ही शास्त्र ज्ञान से जगत् के दुःखों की अत्यंत निवृत्ति और ब्रह्म निष्ठता से परमानन्द की प्राप्ति कराता है। गुरु अहेतुक करुणा करने वाला होता है। उस की करुणा सब में सामान्य होती है। जो जैसा अधिकारी होता है इतना ही वह उस की करुणा का अधिकारी होता है। गुरु की करुणा समान ही होती है विषमता अधिकार की है। ईश्वर से भी गुरु की विशेषता है क्योंकि ईश्वर तो मात्र सुनने में आता है और गुरु प्रत्यक्ष विद्यमान् होता है। ईश्वर स्वयं आकर कुछ उपदेश नहीं देता, जब किसी को उपदेश देना होता है तब गुरु के सहारे से ही दिलवाता है। गुरु उपदेश देने वाला है इस लिये गुरु की ईश्वर से विशेषता है। वस्तुतः दोनों अभेद हैं।

"गुरु साक्षात् विश्वेश्वर है, निश्चित् ब्रह्म में स्थापित करने वाला है। गुरु के चरणारविंद को जल चन्दन युक्त कर के अपने मस्तक पर धारण करे, ऐसा करने से अक्षयता को प्राप्त होता है। अज्ञान रूप अंधेरे का नाश कर के प्रकाश करने वाला सद्गुरु होदै, जो इस प्रकार नहीं करता वह गुरु नहीं है। जिस ने यथार्थ गुरु की शरण ली है, वह ही संसार समुद्र से पार होता है। विश्वेश का पाद कमल उस का पाद कमल ही है। सब की गुरु से ही गति हुई है। गुरु चाहे पूर्ण उपदेश देने वाला हो चाहे सहज संकेत (इशारे) रूप हो!"

"गुरु उपदेश के अनुसार गृहस्थ मनुष्य को भी ब्रह्मनिष्ठ और तत्त्व ज्ञान परायण होना चाहिये। जो जो कर्म करने में आवें वे सब ब्रह्मार्पण करने चाहिये"

कोई एक योग्य शिष्य योग्य गुरु के समक्ष आत्म ज्ञान के हेतु कई प्रश्न पूछता है। उस के अत्यंत सार गर्भित और सूक्ष्म उत्तर दयालु गुरु देव देते हैं। प्रश्नोत्तर रूप से इस सद्ग्रन्थ की योजना है। ज्ञान के अधिकारियों को जानने योग्य ग्रन्थ के चतुष्ठ अनुबंध भी इस प्रथम छन्द में हैं। अनुबंध चार हैं;— अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन। संसार ताप से तपा हुआ जिस ने अंतःकरण शुद्ध कर लिया है, जिस को परम पद की प्राप्ति की दृढ़ इच्छा है ऐसा शिष्य अधिकारी है। शिष्य गुरु, और जीव ईश्वर की एकता रूप विषय है। गुरु कृपा जो अज्ञान को निवृत्त कराने वाली और ज्ञान को प्राप्त कराने वाली है वह संबंध है। परम पद—परम शांति इस ग्रन्थ का सर्वोच्च फल प्रयोजन है ॥१॥ अपूर्ण।

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

यहां कहना चाहिये कि यह दोष नहीं है। जिस का प्रदेश-स्थान परिच्छिन्न है, वह सर्वगत है ऐसा कहना किसी प्रकार भी युक्त नहीं है परन्तु जो सर्व गत है वह तो सर्व देश में विद्यमान है इस लिये ऐसा कथन करना कि उस का देश परिच्छिन्न है किसी अपेक्षा बिना नहीं हो सक्ता। जैसे समस्त पृथिवी के अधिपति को अयुध्या का अधिपति कह सक्ते हैं इसी प्रकार सर्वगत ईश्वर को अल्प स्थान वाला और विशेष अणु किसी अपेक्षा से कहा जाता है। एकत्र किये जाने-ध्यान करने-देखने योग्य है इस लिये ऐसा है यह हम कह सक्ते है। इस प्रकार विशेष अणुपने आदि गुणों से युक्त ईश्वर हृदय कमल में एकत्र किये जाने-ध्यान करने-दर्शन करने योग्य है ऐसा उपदेश किया गया है। जैसे शालग्राम को हरि है ऐसा शास्त्र में उपदेश है। इस बात को बुद्धि ग्रहण कर सक्ती है। ईश्वर सर्वगत है तो भी जहां २ उपासना किया जाता है वहां २ प्रसन्न होता है।

आकाश की समान भी इसका विचार करना चाहिये। जैसे आकाश सर्वगत है तो भी सुई के नाके आदि की अपेक्षा से अल्प स्थान वाला और विशेष अणु कहा जाता है इसी प्रकार ब्रह्म का भी कथन है। इस लिये ध्यान कराने की योग्यता की अपेक्षा से ब्रह्म अल्प स्थान वाला और विशेष अणु

है परमार्थ से ऐसा नहीं है। इस में जो ऐसी आशंका की जाय कि ब्रह्म का स्थान हृदय होने से, हृदय-स्थान भिन्न २ शरीरों में भिन्न २ होने से और भिन्न २ स्थान वाले शुक आदि में अनेक अवयव युक्त, अनित्य इत्यादि दोष देखने में आते हैं इस लिये ब्रह्म भी वैसा ही हो जायगा—इस आशंका का भी ऊपर कहे अनुसार समाधान किया जा सक्ता है॥७॥

सम्भोग प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥८॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः--सम्भोग प्राप्तिः [जीव की समान ईश्वर के भी] सम्भोग (सुख दुःखादि के भोग) की प्राप्ति[होगी] इति ऐसा चेत् [कहो] तो वैशेष्यात् विशेषणपने से न नहीं[सम्भव हो सक्ता]।

टीकाः--प्रतिपक्षीः—आकाश की समान सर्व व्यापक ब्रह्म का सर्व प्राणियों के हृदय के साथ संबंध है और जीव परब्रह्म दोनों चैतन्य रूप हैं और दोनों में भेद भी नहीं है इस लिये शरीर (जीव) के समान ब्रह्म में भी सुख दुःखादि भोग का प्रसंग आवेगा अर्थात् ब्रह्म भी भोक्ता समझा जायगा। दोनों के एकपने से भी ऐसा ही प्रसंग आवेगा। जीव और ब्रह्म का एकपना इस श्रुति से सिद्ध है 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' [बृह० ३।७।२३] (इस से अन्य विज्ञाता नहीं है) इस से सिद्ध है कि आत्मा से अन्य और कोई संसारी आत्मा नहीं है इस लिये परमात्मा को ही संसारी संभोग की प्राप्ति होगी यह दोष है।

सिद्धान्ती :- नहीं! यह दोष नहीं है क्योंकि शरीर (जीव) और परमात्मा में भेद है। शरीर,कर्ता, भोक्ता, धर्म और अधर्म का साधन और सुख दुःखादि मानने वाला है, इस के विरुद्ध ब्रह्म पाप पुण्यादि गुणों से रहित है इस लिये दोनों में भेद होने के कारण शरीर (जीव) का ही भोग हैं, परमात्मा का नहीं है। जो ऐसा कोई माने कि शक्ति के आश्रय किये विना संनिधान मात्र से ही वस्तु का कार्य के साथ सबन्ध हो जाता है तो ऐसा मानने से आकाशादि के दाहादि का प्रसंग आवेगा। सर्व व्यापक अनेक आत्मा है, इस मत वाले के लिये भी यह शंका और समाधान समान है।

और ब्रह्म के एकत्व से अन्य आत्मा का अभाव है इस लिये शरीर (जीव) के भोग से ब्रह्म के भोग का प्रसंग आवेगा यह जो कहा उस का उत्तर यह है कि प्रथम तो यह बताइये कि तुम ने अन्य आत्मा के अभाव का किस प्रकार निश्चय किया है 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं), 'नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता' (इस से अन्य विज्ञाता नहीं है) इत्यादि श्रुतियों से निश्चय किया है, जो तुम ऐसा कहोगे तो ऐसा नहीं है क्योंकि शास्त्र के अनुसार शास्त्रीय अर्थ समझना चाहिये। शास्त्र तो 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से पाप पुण्य आदि गुण रहित ब्रह्म को शरीर (जीव) का आत्मा बता कर शरीर (जीव) के उपभोक्तापने का निषेध करता है फिर उस के उपभोग से ब्रह्म के उपभोग का प्रसंग किस प्रकार आवेगा ? जहां शरीर का ब्रह्म के साथ एकत्व नहीं कहा है वहां शरीर का उपभोग मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुआ है, उस का परमार्थ-रूप ब्रह्म से संस्पर्श नहीं है। अज्ञानी आकाश को सपाट और नीला बताते हैं परंतु उन के कहने से आकाश सपाट या नीला नहीं हो जाता इस लिये सूत्रकार कहता है:-न वैशेष्यात्'। एकत्व होने पर भी शरीर के उपभोग से ब्रह्म के उपभोग का प्रसंग नहीं आता क्योंकि शरीर और ब्रह्म में भेद है। वस्तुतः मिथ्या ज्ञान और सम्यग्ज्ञान (यथार्थ ज्ञान) में भेद है। उपभोग मिथ्या ज्ञान से कल्पित है और एकत्व सम्यग्ज्ञान से दीखता है, और मिथ्या ज्ञान कल्पित उपभोग से सम्यग्ज्ञान से देखी हुई वस्तु संस्पर्श नहीं करती इस लिये ईश्वर में लेश भी उपभोग कल्पना संभव नहीं है ॥ ८ ॥

अत्ता चराचर ग्रहणात् ॥९॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—चराचरग्रहणात् स्थावर जंगम के ग्रहण होने से अत्ता भक्षण (संहार) करने वाला [परमात्मा है]।

टीकाः—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥" [कठ० १।२।२५] ब्राह्मण और क्षत्री दोनों जिस का ओदन (भात, भोजन) होते हैं; और मृत्यु जिस का उपसेचन-ओदन के साथ मिला हुआ घी-होता है वह जहां है, उस को इस प्रकार कौन जानता है) इस प्रकार कठवल्ली में कहा है। इस में ओदन और उपसेचन से बताये हुये किसी भक्षण करने वाले की प्रतीति होती है। इस में संशय होता है कि भक्षण करने वाला कौन है, अग्नि है, या जीव है, अथवा परमात्मा है क्योंकि ग्रन्थ में अग्नि, जीव और परमात्मा तीनों का ही धर्म भक्षण करना देखने में आता है इस लिये यहां पर भक्षण करना किस का धर्म समझा जाय; यह निश्चय नहीं होता।

प्रतिपक्षीः—यहां पर अग्नि भक्षण करने वाला समझना चाहिये क्योंकि 'अग्निरन्नादः' [बृह० १।४।६] (अग्नि अन्न का भक्षक है) यह श्रुति ऐसा ही कहती है और यह बात प्रसिद्ध भी है अथवा जीव को भक्षण करने वाला जानना चाहिये क्योंकि 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' [मुण्ड०३।१।१] (इन दोनों में से एक स्वाद युक्तफल खाता है) इस श्रुति से जीव खाने वाला सिद्ध होता है और परमात्मा तो किसी प्रकार भक्षण करने वाला नहीं हो सका क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [मुण्ड० ३।१।१]) दूसरा खाये विना मात्र देखता है) इस श्रुति से सिद्ध है कि परमात्मा भक्षण करने वाला नहीं है इस लिये अग्नि अथवा जीव ही भक्षक हो सके हैं परमात्मा नहीं हो सका।

समाधान :— चर और अचर के ग्रहण से यहाँ परमात्मा ही भक्षक होना युक्त है क्यों कि चर और अचर — स्थावर जंगम की मृत्यु जिस में उपसेचन है ऐसा भक्ष्य - भोजन यहाँ प्रतीत होता है और ऐसे भक्ष्य का भक्षण करना परमात्मा सिवाय और किसी में सम्भव नहीं है। परमात्मा सर्व का संहार करने वाला है इस लिये सर्व का भक्षण करता है ऐसा कहना युक्त है।

शंका :—यहाँ पर चर अचर का ग्रहण है ही नहीं तो चर अचर का ग्रहण किस प्रकार सिद्ध हो? इस का कारण क्या है?

समाधान :—यह दोष नहीं है क्यों कि मृत्यु उपसेचन है इस लिये सर्व प्राणी समूह के संहार की प्रतीति होती है और ब्राह्मण और क्षत्रिय का जो मृत्यु कहा है उस से इन दोनों की प्रधानता - मुख्यता ले कर जो प्रदर्शन किया है यह युक्त है।

और जो यह शंका की है कि परमात्मा का भक्षक होना संभव नहीं है क्योंकि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' [मुण्ड० ३।१।१] (दूसरा खाये बिना मात्र देखता है) ऐसा श्रुति में देखने में आता है। यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि यह श्रुति कर्म फल के उपभोग का प्रतिषेध करती है - परमात्मा को कर्म फल का उपभोग नहीं होता ऐसा कहती है क्योंकि वह (परमात्मा) संनिधि - समीप में है। यह श्रुति विकार के संहार का प्रतिषेध नहीं करती क्योंकि सर्व वेदान्तों में सृष्टि, उत्पत्ति और संहार का कारण ब्रह्म ही प्रसिद्ध है। इस लिये परमात्मा ही इस श्रुति में भक्षक है, यह योग्य है॥९॥

प्रकरणाच ॥१०॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और प्रकरणात् प्रकरण से [परमात्मा ही अत्ता है]।

टीकाः—यह प्रकरण परमात्मा का ही है:-'न जायते म्रियते वाविपश्चित्' [कठ० १।२।१८ (आत्मा जन्मता नहीं, मरता नहीं और मेधावी है क्योंकि चैतन्य स्वभाव का लोप नहीं होता) इत्यादि, इस कारण से भी परमात्मा ही अत्ता है यह योग्य है क्योंकि प्रकृत का ग्रहण करना युक्त है। 'क इत्था वेद यत्र सः' (वह जहां है, इस प्रकार कौन जानता है) इस प्रकार दुर्विज्ञानत्व भी परमात्मा का लिंग है॥१०॥

अपूर्ण।

मैत्रायणी उपनिषद्।

(गताङ्क से आगे)

पांचवां प्रपाठक।

जो प्रथम एक था सो दो प्रकार का हुआ, प्राण और आदित्य। दो पांच प्रकार के हुये। इस प्रकार वह रात्रि दिन, भीतर बाहर, सर्वत्र व्याप रहा है। आदित्य बहिरात्मा है अंतरात्मा की गति से बहिरात्मा का अनुमान होता है। सब गति क्या है सो कहते हैं। जो विद्वान् है, जिस का पाप नाश हो गया है, जो श्रेष्ठ है, जो शुद्ध मन वाला है, ब्रह्म में निष्ठा वाला है और जिस के चक्षु खुले हैं, ऐसा अंतरात्मा आ कर के प्रगट हो कर के बहिरात्मा का-स्थूल वस्तु का अनुमान बांधता है। उस की गति कहते हैं। यह अंतरात्मा आदित्य में हिरण्यगर्भमय और पुरुष रूप से है, जो हिरण्य के समान मेरा दर्शन करता है वह ही यह अंतरात्मा है। सो हृदयाकाश में रहता है, अन्न का भक्षण करता है। (१) जो अंतरात्मा हृदय कमल में रहता है और अन्न का भक्षण करता है, सो ही अग्नि रूप है स्वर्ग में रहता है, सौर रूप है, कालरूप है अदृश्य रूप है और सब प्राणियों के अन्न का भक्षण करता है। कमल किस को कहते हैं? जो आकाश रूप है सो कमल, सो ही चार दिशा और उपदिशा है, इस प्रकार की संस्था है। अग्नि प्रथम रूप है, प्राण और आदित्य दूसरा रूप है। व्याहृति के गायत्री युक्त ॐ कार अक्षर से उस की उपासना करे। (२) ब्रह्म के दो स्वरूप हैं मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त स्वरूप है सो सत्य है, वही ब्रह्म है। जो ब्रह्म है वही ज्योति रूप है जो ज्योति रूप है वही आदित्य रूप है और वही ॐ कार रूप है। उस ने अपने आत्मा को तीन प्रकार से व्यक्त किया है। इस लिये ॐ कार तीन मात्रा वाला है इन मात्रओं से सब जगत् व्याप्त है। आदित्य का ॐ कार रूप से ध्यान करें और उस में आत्मा को आसक्त करे (३) और कहा है जो उद्गीथ है सो ही प्रणव है, प्रणव, उद्गीथ आदित्य और उद्गीथ यह ही प्रणव है। इस उद्गीथ को प्रणव रूप, प्रेरक, नाम और रूप वाला, निद्रा रहित और जरा रहित, मृत्यु से रहित और पांच प्रकार का जाने। आकाश में उस की स्थिति है। वह ऊर्ध्व मूल वाला, ब्रह्म तक शाखा वाला, आकाश, वायु, अग्नि, उदक और भूमि आदि रूप, एक रूप हो कर सर्वत्र व्यापक और ब्रह्म रूप है। यह आदित्य ॐ कार के विषे है। इस से ॐ कार की उपासना करे। यह अक्षर पुण्य रूप है, इस की उपासना करने से जिस की जो कामना होती है वह पूर्ण होती है। (४) और कहा है कि इस प्रजापति का ॐ कार इस अक्षर से नाद वाला शरीर है, स्त्री, पुमान् और नपुंसक से लिङ्ग वाला, अग्नि वायु और आदित्य से प्रकाश वाला, विष्णु और रुद्र से अधिपति रूप, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, और आहवनी से मुख रूप से, ऋक् यजु और साम से विज्ञान रूप, भू भुवः और स्वः से लोक वाला, भूत भविष्य और वर्तमान से कामना वाला और प्राण, अग्नि और सब से प्रताप वाला है। अन्न जल और चन्द्र से पोषण करने वाला, और मन बुद्धि अहंकार से चेतन वाला, प्राण अपान और व्यान से प्राण वाला है। कितनेक कहते हैं कि प्रजापति ऐसा कहते हैं कि अमुक शरीर का मैं त्याग करता हूँ, इस लिये प्रस्तोता रूप से वह शरीर धारण किया हुआ है। वह ही सत्य काम, पर और अपर रूप और ॐ कार रूप है। (५) यह सब सत्य रूप में था, प्रजापति तपश्चर्या करके भूर्भुवः और स्व: बोले। यह प्रजापति का स्थूल अथवा लोक वाला शरीर है। स्व: यह प्रजापति का मस्तक है, भू नाभि रूप और भुवः पाद रूप है। इस व्यापक पुरुष के चक्षु आदित्य रूप हैं। ॐकार की मात्रायें महत् अहंकार में रहती हैं। चक्षु से यह प्रजापति मात्रा में संचार करता है। सत्य ही चक्षु है इस चक्षु में रहने वाला पुरुष सब विषयों में व्यक्त होता है इस लिये भू भुवः और स्व: रूप से उसकी उपासना करे। अन्न ही प्रजापति और विश्वात्मा रूप है। विश्व चक्षु की समान यह विश्वात्मा उपासना युक्त होता है। यह शरीर प्रजापति और विश्व रूप है और सर्वत्र रहता है। शरीर में और सब में यह शरीर रहता है। इस प्रजापति के

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेज़ी मास के आदि म निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इस का मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा ।

(४) एक अंक का मूल्य ।-) लिया जायगा । नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा ।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उन को १५ तारीख़ तक सूचना देनी चाहिये ।

विलम्ब का कारण ।

अब की वार छापे खाने में आदमी कम हो जाने से पत्र समय पर न निकल सका । आगामी अं[illegible] भी कुछ देर से निकलना सम्भव है ।

सुधार ।

गताङ्क के मैत्रायणी उपनिषद् के प्रथम कोलम की २३ और २४ वीं लाइन में 'जो मूर्त स्वरूप है [illegible] सत्य है ' इस के बदले 'जो मूर्त स्वरूप है सो असत्य है और जो अमूर्त स्वरूप है सो सत्य है ' ऐसा प[illegible] करना ।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द ......मूल्य रु० ३।-)

„ द्वितीय „ „ ...... „ „ ३।-)

„ प्रथम „ विनाजिल्द „ „ ३)

„ द्वितीय „ „ „ „ ३)

डांक महसूल ग्राहक को देना पड़ेगा ।

सम्पादक ।

॥ ॐ ॥

पुस्तक ३ | मार्गशीर्ष सं० १९७७। दिसम्बर १९२० | अंक २

मुमुक्षु का कर्तव्य।

छप्पय छन्द।

मात्र अविद्या पात्र, शास्त्र कहने में पंडित।
पंडित नहिं कहलाय, पाय नहिं मान अखंडित॥
नहिं विवेक वैराग्य, अरु शम आदि न कीन्हा।
नहीं मोक्ष में चित्त, नित्य विषयन मन भीना॥
कैसे होवे मुक्त, नहिं सत्यासत्य विचारता।
सो पछतावे अंत में, जीती बाज़ी हारता॥ (१)

यही मुक्ति की रीति, प्रीति सुत वित की त्यागो।
करि इच्छा निर्मूल, भूल न विषय अनुरागो॥
इन्द्रिय करि स्वाधीन, हीन मत्सर हो जावो।
तजो काम मद क्रोध, शोध मन दम्भ मिटावो॥
न हो राग नहिं द्वेष ही, ईर्षा पास न लाइये।
रहो मग्न निर्द्वन्द्व नित, द्वन्द्व सभी सह जाइये॥ (२)

करिये निज कर्तव्य, सोम्य! भय लेश न कीजे।
न हो धैर्य का त्याग, त्याग लोलुता दीजे॥
हूजे नहीं कृतघ्न, दान, दम, दया बढ़ाओ।
देखो नहिं पर दोष, रोष में कभी न आओ॥
शास्त्र वाक्य, गुरु वाक्य में, श्रद्धा पूर्ण बढ़ाइये।
कारण बिन मन इन्द्रियां, इधर उधर न डुलाइये॥ (३)

बोलो नहीं असत्य, सत्य, प्रिय, वचन उचारो।
करो नहीं आलस्य, नित्य निज धर्म विचारो॥
माता सम पर नारि, छार सम जानों पर धन।
हूजे मत विदित, चित्त वश करिये छण छण॥
जो हो इच्छा मोक्ष की, अवगुण सबही त्यागिये।
सद्गुरु शास्त्र प्रमाण करि, निज स्वरूप अनुरागिये॥ (४)

तजो देह से नेह, देह अध्यास नशाओ।
जग से हो उपराम, नाम अरु रूप मिटाओ॥
मिटे वासना काम, आत्म सत्चित् को ध्याओ।
ब्रह्म भाव हो पुष्ट, दृश्य का खोज न पाओ॥
सूक्ष्म दोष हों क्षीण जब, शुद्ध स्वरूप प्रकाशता।
उदय होत ही सूर्य ज्यों, तारागण नहिं भासता॥ (५)

आत्म सूर्य को देख, मोह तम भागे दूरी।
होय अखंड प्रकाश, आश होवे सब पूरी॥
स्वतः सिद्ध आनन्द, चित्त साधक अनुभवता।
पाकर अद्भुत स्वाद, बाद विषयन नहिं भजता॥
हो प्रपंच निर्मूळ अति, आत्मा ब्रह्म अभिन्न हो।
टले कभी नहिं सत्य से, मोहादिक से भिन्न हो॥ (६)

दीखे इक अद्वैत, द्वैत का लेश न पावो।
कार्य होंय सब सिद्ध, सिद्ध, साधक! बन जावो॥
साधन होंय समाप्त, प्राप्त हो रूप अखंडित।
होवे जग में मान्य, धन्य, नर भूषण, पंडित॥
होवे पूर्ण पुरुषार्थ तब अर्थ प्राप्त होवें सभी।
परम अर्थ करि सिद्ध फिर, आवे नाहिं जग में कभी॥ (७)

बोले मिश्री शब्द, स्वाद मीठा नहिं पावे।
खावे मिश्री शीघ्र, स्वाद मिश्री का आवे॥
मुख से गावो दोष, दोष इस विधि नहिं जावे।
करिये पूर्ण प्रयत्न, यत्न से दोष नशावे॥
दोष होय जब दूर तब, परमानन्द हि प्राप्त हो।
सत्य कहा कौशल्य! मन-मोदक कोइ न तृप्त हो॥ (८)

सुख किस प्रकार होता है ?

जिस को सामान्य मनुष्य सुख मानते हैं, वह वास्तविक सुख नहीं है। जो वास्तविक है उस सुख के सामने संसारी सुख विकारी, तुच्छ और क्षणिक, आभास रूप है। इस के सिवाय संसारी सुख ऐसा है कि उसके अन्त में दुःख लगा हुआ है, गुप्त भाव से आदि और मध्य दोनों में ही दुःख छुपा रहता है इस कारण विवेकी पुरुष जगत् के सुख और दुःख दोनों को दुःख रूप मानकर उनकी आशा का त्याग करते हैं और नित्य अनित्य का पूर्ण विचार करके नित्य में स्थिति करते हैं। वे ही वास्तविक सुखी हैं। स्व स्वरूप एक आत्मा ही सुख रूप है, उसके सिवाय सब पदार्थ दुःख रूप और दुःख के उत्पादक हैं। कोई २ इसमें यह शंका करते हैं कि सुख गुड़ समान स्वाद वाला है इसलिये चेंटा बनकर गुड़ का स्वाद लेते रहने में ही सुख है। गुड़ बन जाने में सुख नहीं है यह कहना तत्त्व के अज्ञान से है। सुख स्वरूप क्या है ? कैसा है ? कैसा आनन्द वाला है? जब इन बातों का अनुभव होता है तब ही जान सकते हैं कि सुख स्वरूप, अविचल तत्त्व बुद्धि गम्य नहीं है। जो चेंटा बनने में ही परम आनन्द मान रहे हैं और सुख स्वरूप गुड़ बनना नहीं चाहते उन से हमारा कहना भी नहीं है। चेंटा गुड़ का स्वाद तो अवश्य लेता है परन्तु दुःख से निवृत्त नहीं होता इसी प्रकार व्यवहारासक्त मनुष्यों का हाल है जो अपनी दुःख रूप स्थिति में ही सुख मान रहे हैं, ऐसे गाढ़े तमोभाव से आच्छादित मनुष्यों को यथार्थ तत्त्व समझने के लिये कोई उपाय नहीं है, भले वे चेंटे बने रहें और वारंवार दुःख का अनुभव किया करें। चेंटे को बड़े चेंटे से डरना पड़ता है, जब उसका भोजन दूसरा चेंटा छीन लेता है तब उसे दुःख होता है, वह अनेकों के पैर के नीचे दब कर दुःख का अनुभव करता है।

कोई एक मनुष्य एक साधु के पास जाकर कहने लगाः—

मनुष्यः-महाराज ! जगत् परिवर्तन वाला है आज कुछ और कल कुछ होना यह जगत् का लक्षण है, सुख दुःख, हानि लाभ, जगत् में होते रहते हैं, जहां २ मन को स्थान मिलता है वहां दौड़ता रहता है, कामना के जल से लहराता हुआ तालाब जगत् है। सुख दुःख दोनों पक्षों से जगत् की चाल है, जगत् विषयों का खजाना है, ऐसे जगत् में दुःख रहित सुख किस प्रकार हो ? सुख की चाहना सब को है, यदि सुख प्राप्ति का कोई सुलभ मार्ग हो, तो दिखलाइये ! उस मार्ग का अवलम्बन लेने में कोई विलम्ब न करेगा। यदि कोई जगत् को एक रूप से रखना चाहे तो वह रह नहीं सकता। जगत् को सामान्यता में लाने का यदि कोई यत्न करे तो यह समान नहीं हो सकता। सब की समान स्थिति में जगत् का व्यवहार नहीं चलेगा और विषमता तो वारम्वार दुःख का हेतु है ही। ऐसी अवस्था में कोई ऐसा मार्ग दिखलाइये कि जिसके सहारे से दुःख न व्यापे, दुःख की ठोकरों से बचे और सुख की प्राप्ति हो। जगत् के चालू रूपान्तर चक्र में हानि न हो और आंतर में शांति प्राप्त हो। शास्त्रों के अनेक प्रकार के विधान, क्रिया, ध्यान, और पठन पाठनादिक के फलों का होना शास्त्रों के अनुसार मैं जानता हूं और विशेष करके उन फलों का भविष्य में, अन्य जन्मों में होने का कथन है। वर्तमान जगत् भविष्य के भरोसे बैठा रहना नहीं चाहता किन्तु वर्तमान शरीर में ही फल का अनुभव करना चाहता है, उधार पर विश्वास नहीं है। विशेष पुरुषार्थ करने की भी कलियुग के मनुष्यों में सामर्थ्य नहीं है, विशेष धन का व्यय करना भी नहीं चाहते। बहुत मनुष्यों की सम्मति करके एकत्र होकर किसी कार्य का करना भी असंभवि

है, जिसमें स्थूल परिश्रम न हो, विशेष बुद्धि और विशेष पांडित्य की भी आवश्यकता न हो, कौड़ी का खर्च न हो और जिससे ऐश्वर्य और आंतरिक सुख की प्राप्ति हो ऐसा कोई सुगम उपाय बताइये।

साधुः-तेरा प्रश्न सूक्ष्म और कहीं२ अश्रद्धा को लिये हुये नास्तिक भाव की छाया वाला है सो भी विवेचन के योग्य है। जगत् का स्वरूप तो तूने आप ही कह दिया है, अब सुख और दुःख को समझः-सुख और दुःख वस्तु रूप से दोनों ही नहीं हैं। जो अच्छा है ऐसे भाव से ग्रहण किया जाता है वह सुख है और जो अच्छा नहीं है बुरा है, ऐसे भाव से ग्रहण किया जाता है वह दुःख है। ग्राहक के भाव में सुख दुःख की स्थिति है जगत् परिवर्तन वाला होने से जगत् के मनुष्यों का भाव भी बदला करता है। सुख और दुःख दोनों के भाव एक साथ नहीं रहते। जिस समय 'सुख है' ऐसे भाव का अनुभव करता है तब दुःख नहीं होता, दुःख का भाव नहीं होता और जब 'दुःख है' ऐसा अनुभव करता है तब सुख नहीं होता। भाव का बदली ही सुख दुःख है। भाव का अवलम्बन जगत् के पदार्थों में होता है। पदार्थ और भाव दोनों एक हालत में नहीं रहते किन्तु बदलते रहते हैं, इसीसे सुख दुःख की उत्पत्ति होती है। सुख दुःख पदार्थों में नहीं है किन्तु मन के भाव में है। पदार्थों के संयोग, वियोग और रूपान्तर में मन विकार को प्राप्त होकर भावाभाव होता है जो मन भावाभाव वाला न हो तो दुःख होना संभव नहीं है। जगत् सुख दुःख वाला नहीं है, न उसमें सुख दुःख है किन्तु जगत् के पदार्थों के संबंध के भाव से, अहंता तथा ममता के कारण से अन्तःकरण में सुख दुःख होता है उस सुख दुःख के निमित्त जगत् के व्यवहार परिवर्तन करने की कुछ विशेष आवश्यकता नहीं है। जहां परिवर्तन करने की आवश्यकता है वह अन्तः-करण है।

जितनी २ भोग की विशेषता होती है, उतनी ही रोगोत्पत्ति की विशेषता होती है, जितना ऐश्वर्य के भाव से अहंकार बढ़ेगा, उतना ही सुख दुःखादि संस्कार का बोझा बढ़ेगा और उतना ही विशेष दुःख होगा। ऐश्वर्य दुःख का हेतु नहीं है किंतु ऐश्वर्य का भाव दुःख का हेतु है, जो शांति की इच्छा हो तो कर्तव्य कर्म करते हुये, ऐश्वर्य के भाव का गुलाम न बनना चाहिये। कामनायें अनन्त हैं। दूसरे की उन्नति, ऐश्वर्य आदिक देखकर कामना की वृद्धि होती है। जितनी कामना बढ़ती है, उतनी ही उपाधि, उतनी ही विशेष अशांति होती है।

आज कुछ है, कल कुछ है, जगत् इस प्रकार के रूपांतर वाला हमेशा ही रहता है। वह न बदले ऐसा कोई उपाय नहीं है। जो उसे अपनी इच्छा-नुसार बदलना अथवा स्थिर रखना चाहता है वह मूर्ख है। जिस कारण से रूपांतर से होने वाली अशांति होती है, उस कारण को हटा दिया जाय तो जगत् रूपांतर वाला भले ही बना रहे, कारण हट जाने से जगत् दुःख का हेतु नहीं हो सक्ता। जगत् की समानता अथवा एकता बाहर के भाव से कभी नहीं हो सकी, जो हो सकती तो पूर्व में भी कभी हुई होती किंतु इतिहासादिक से कहीं भी ऐसा देखने में नहीं आता। समानता आंतर में हो सकती है और आंतर की समानता बाहर की विशेषता होते हुये भी समानता का फल देती है। जगत् में मात्र सुख की प्राप्ति हो और किंचित् भी दुःख न हो ऐसा कोई उपाय सृष्टा ने उत्पन्न नहीं किया है। जो दुःख का कारण है वह ही सुख का है कारण रहने पर इष्ट अथवा अनिष्ट न हो यह असं-भवित है। जगत् के सुख दुःखादिक के भाव को हटाकर एक अवर्णीय सुख, स्व स्वरूप के अनुभव से हो सकता है, यह आत्म बोध से होता है, फिर जगत् के दुःख भी उस के लिये नहीं रहते। आत्म बोध को जैसा कठिन लोग समझते हैं ऐसा कठिन वह नहीं है। कठिनाई तो दूसरे पदार्थ के जानने में

होती है। आत्मा अपना आप होने से उसके जानने में कठिनाई ही क्या है। जब तक हिसाब जाना नहीं जाता तब तक सहज हिसाब भी पहाड़ के समान महान् मालूम होता है, जब जान लिया जाता है तब सहज मालूम होता है। जगत् की आसक्ति छोड़ना कठिन है, जिसके लिये यह कठिन है, उसके लिये आत्म बोध बहुत ही कठिन है।

तू ने कहा है कि मन जहां २ स्थान मिलता है, दौड़ता फिरता है। यह सत्य है परन्तु विचारना चाहिये कि मनके घूमने का कौन सा स्थान है। पांच विषयों को छोड़कर उसके घूमने के लिये और कोई स्थान नहीं है। पांचों विषय पांच महाभूतों के हैं, पंचभूतों का बना हुआ मन उन पांचों में ही घूमता है। जहां तक मन में गुणों का प्रभाव है वहां तक गुणों वाले पंच महाभूतों में घूमा करता है। स्वाभाविक रीति से मन सहित इन्द्रियां जो बहिरमुख वाली हैं, वे जगत् हैं। जब वे आंतर मुख वाली होकर अधिष्ठान के भाव वाली होती हैं तब विषयों की तरफ आसक्ति युक्त मन की चाल रुक जाती है। जो इस प्रकार कर सकता है वह विषयों के दुःख से दुखी नहीं होता। ऐसा सुख, स्वरूप के सम्यक् बोध से ही होता है।

कामना के जल से भरा हुआ संसार कहा सो ठीक ही है। जैसे वायु के कारण तालाब का जल हिलता रहता है इसीप्रकार कामना रूपी जल विषय रूपी वायु लगने से हिलने लगता है। जैसे जब वायु स्थिर हो जाता है तब जल नहीं हिलता इसी प्रकार प्रपंच का भाव निवृत्त होजाने से कामना का जल भी स्थिर हो जाता है। जब जल हिलता है तब मलीन दीखता है, और जब स्थिर हो जाता है तब निर्मल दीखता है अपने स्थान से अपना हिलना नहीं होता, वह स्थान सुख दुःख के हिलोरों से रहित है। जहां कामना की सब मलिनता-हिलोरें निवृत्त हो जाती हैं वह ही तत्त्व रूप आत्मा है, वहां जगत् होते हुये भी जगत् का भाव न रहने से जगत् का अभाव है। इस प्रकार स्वरूप का भाव और जगत् के प्रपंच का अभाव होना ही जगत् के दुःखों की निवृत्ति है। और आत्म स्वरूप सुख की प्राप्ति है, वह ही वास्तविक सुख है।

सुख दुःख, रागद्वेष का ही स्वरूप है। रागद्वेष आसक्ति से होता है,आसक्ति कामना से होती है, कामना संग से होती है, संग दूसरे में होता है, स्वरूप के बिस्मरण से दूसरा-द्वैत होता है, द्वैत भूल से है और भूल से किये हुये वर्ताव में दुःख होता है। सुख और दुःख दो पक्ष जिन से गमना गमन होता है वे जगत् हैं और जगत् में हैं। जिसके वे दोनों पक्ष कट गये हैं, वह स्थिर है, तत्व स्वरूप है, वह ही सुख दुःखादि निवृत्ति रूप स्वस्थान स्थिति है।

विषके खजाने रूप जगत् को जो तू अपने से बाहर माने तो ऐसा नहीं है। बाहर का जगत् आंतर जगत् का ही भास है। आंतर जगत् अंतःकरण में है और अनेक प्रकार की वासनाओं से बना हुआ है। अंतः करण वासनाओं के अनुसार विषयों के भाव से बाहर देखता है और जो भाव स्थूलता को प्राप्त हो जाते हैं, बाहर दीखते हैं। उन स्थूळ भावों को अंतःकरण बाहर से आंतर में ले जाता है, इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल के सहारे सूक्ष्म चक्र चलाया करता है। वासनायें ही विषयों का खजाना है, यदि वासनायें न होंय तो जगत् के पदार्थ-विषय होते हुये भी ग्रहण के अभाव से दुःख न हो इस लिये विषय भी विष रूप नहीं हैं, विष भी विष रूप नहीं है, जब उस का ग्रहण किया जाता है, तब ही वह विष रूप होता है। बाहर का संसार दुःख रूप नहीं है, संसार में दुःख नहीं है, आंतर का संसार दुःख रूप है, उस में ही दुःख है। वासनायें दो प्रकार की होती हैं। भोग रूप वासनायें और आसक्ति रुप वासनायें। भोग रूप वासना में आसक्ति रूप वासना रहती है। आसक्ति करने अथवा न करने में मनुष्य स्वतंत्र है। आसक्ति न करके जो भोग को भोग रूप से भोगता है, और

आत्माभाव में स्थित रहता है, उसको अशांति रूप दुःख नहीं सताता।

सुख दुःखादि अंतर में होते हैं, यदि उनकी निवृत्ति बाहर करना चाहें तो नहीं हो सक्ती। आंतर की वासनाओं की निवृत्ति करने से संसारिक दुःख की निवृत्ति होती है। जहां रोग होता है, वहां ही आरोग्यता होती है। विषयासक्ति के भाव वाले अंतःकरण में दुःख रूप रोग होता है जब विषयासक्ति तोड़ दी जाती है, तब उस से होने वाले दुःख भी नहीं होते।

हर एक सुख चाहता है, यह ठीक है, परन्तु कौन से सुख को चाहता है यह विचारना चाहिये। सब का आत्मा सुख स्वरूप है, अज्ञान के कारण से आत्मभाव ढक गया है, किन्तु सुख स्वरूप का सुख चला नहीं गया है, अन्य में सुख समझकर अन्य की इच्छा करने लगा है। आत्म सुख मालूम नहीं है इस लिये उसकी जो चाहना होती है, वह प्रपंच के सुख में होती है, और आत्मा दुःख रूप नहीं है, इस लिये किसी को दुःख की इच्छा नहीं होती। यदि वह प्रपंच को दुःख रूप जानने लगे और मुमुक्षु भाव वाला हो तो सच्चे सुख के निमित्त प्रपंच को छोड़दे। प्रपंचासक्ति छोड़े विना सच्चे, आत्मिक सुख की प्राप्ति नहीं हो सक्ती। जो प्रपंच के सुख की चाहना बनी रहेगी तो दुःख रहित कभी नहीं होगा। आसक्ति वाले मनुष्य प्रपंच के भाव छोड़ने में घबराते हैं, छोड़ना नहीं चाहते। प्रपंच का भाव ही दुःख रूप है, यदि इस भाव की पूर्ण निवृत्ति हो जाय तो प्रपंच रहते हुये भी बाधक न हो परन्तु मेरे संसार का नाश न हो, यह भावना रहते हुये कोई प्रपंचासक्ति रहित नहीं हो सकता। ऐसा भाव रहना प्रपंच की आसक्ति है। लोग कहते हैं कि प्रपंच की आसक्ति नहीं रक्खेंगे-बेगार के समान कार्य करेंगे तो जगत् के व्यवहारिक कार्य बिगड़ जांयगें, यह उनका कथन मूर्खता है। क्योंकि प्रपंचासक्ति रखने से प्रपंच का कार्य बिगड़ता है और प्रपंचासक्ति छोड़ने से कार्य बहुत उत्तम प्रकार से होता है। जब आसक्ति हटा देते हैं तब आसक्ति के बंधन से रहित होकर स्वतंत्रता से कार्य किया जाता है और जब आसक्ति होती है तब 'यह कार्य होगा या न होगा' ऐसी शंका बनी रहती है, यह शंका बुद्धि को मलिन कर देती है और मलिन बुद्धि से किया हुआ कार्य कभी ठीक नहीं होता। इस प्रकार प्रपंच का स्वरूप से बाध किये विना, उसके दुःखों से रहित हो सकते हैं।

ज्ञान दुःख नाशक बूटी है, दुःख अज्ञान से होता है। जब ज्ञान से अज्ञान का भाव निवृत्त हो जाता है तब अज्ञान जनित दुःख नहीं होता। यहां ज्ञान शब्द से आत्म ज्ञान समझना चाहिये। अंधेरे में ठोकर लगती है, प्रकाश में नहीं लगती इसी प्रकार अज्ञान में दुःख होता है, आत्म ज्ञान रूप प्रकाश में दुःख नहीं होता। ज्ञान मार्ग सब से सुलभ है, उसके समान सुखी होने का और कोई मार्ग नहीं है। अन्य मार्गों में से अंत में ज्ञान में ही आना पड़ता है। ज्ञान मार्ग सबसे विशेष फल वाला है, विशेष फल स्व स्वरूप को कहते हैं। इस सर्वोच्च पद को ज्ञान मार्ग सुलभता से प्राप्त कराता है। जो फल स्व स्वरूप का है वह अखंडित है।

शास्त्रों की अनेक प्रकार की क्रियाओं और उपासना का फल तेरे कहे अनुसार ही है। तो भी इतना अश्रद्धालु न होना चाहिये। जब तुझे शास्त्रों पर ही विश्वास नहीं है तो मेरे वचनों के ऊपर किस प्रकार विश्वास होगा? यदि तू ऐसा कहे कि आप के वचन तो प्रत्यक्ष फल दाता होंगे इस लिये मुझे मान्य होंगे तो सुनः—मेरे वचन प्रत्यक्ष तत्क्षण फल दाता अवश्य हैं, तो भी वे उसे ही प्रत्यक्ष होते हैं, जो उन पर विश्वास करके उन का आचरण करता है, और जो उनका आचरण नहीं करता उस को प्रत्यक्ष नहीं होते। प्रत्यक्ष होते हुये भी तुझ जैसे अश्रद्धालुओं का समाधान नहीं कर सक्ते। जब तू बाहर के जगत् में किसी प्रकार की हानि नहीं सह सकता और बाहर का व्यवहार जिस प्रकार चल रहा है इसी प्रकार चलाना चाहता है और अंतर

में शान्ति चाहता है, तो अंतर की शान्ति बाहर किस प्रकार मालूम हो सक्ती है । आंतर शान्ति विलक्षण है, उसके जानने के लिये आज तक किसी ने कोई यंत्र नहीं बनाया । श्रद्धा किये विना किसी प्रकार काम नहीं चल सक्ता ।

कर्म का फल इस प्रकार होता है । कर्म के संबंध से चित्त में कर्म के संस्कार पड़ते हैं, वे संस्कार इसी प्रकार के अन्य संस्कारों से बलिष्ट होते जाते हैं जब तक वे संस्कार भोग रूप में नहीं आते तब तक मालूम नहीं पड़ते इसलिये उन्हें अदृष्ट कहते हैं । जब वे पक्व होकर भोग देने में प्रवर्त होते हैं तब उनका फल प्रत्यक्ष दीखता है । ज्ञान में इस प्रकार नहीं है किंतु ज्ञान होते ही ज्ञान का फल तत्क्षण होता है । ज्ञान और ज्ञान के फल के बीच में अंतर नहीं है और ज्ञान का फल भी नाश रहित होता है । कर्म का फल बीजांकुर के समान वृक्ष को उत्पन्न करके बड़े होने पर फल लेना है और ज्ञान उपाधि रूप जंगल को काटकर पृथ्वी का साफ करना है, पृथ्वी का साफ़ होना तत्क्षण फल है । तू भविष्य के भरोसे बैठा रहना नहीं चाहता, यह तेरा कहना अयुक्त है । जब तुझ में भूत और वर्तमान का भाव है तो भविष्य का भी अवश्य मानना पड़ेगा । आगे का वर्तमान हाल में भविष्य कहा जाता है । ज्ञान में काल की आवश्यकता नहीं है तो भी उपदेश में काल है । कर्म और जगत् व्यवहार भविष्य का आधार लिये विना चल नहीं सके । दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान में भविष्य की भी राह नहीं देखी जाती । तू रोकड़ (नकद) धंधा चाहता है, उधार नहीं, यह तेरा कहना है किंतु तू जितने कार्य करता है सब उधार रूप करता है और कहता है कि उधार मैं नहीं चाहता । तेरा जन्म ही उधार से हुआ है । यदि तू रोकड़ धंधा करता होता तो अंतःकरण रूप वही खाते में रकमों का जमा खर्च न करता, तब तेरा जन्म किस प्रकार होता । यदि अब रोकड़ कार्य ही करना चाहता है तो एक ज्ञान मार्ग ही ऐसा है । ज्ञान मार्ग वाला वही खाता नहीं रखता—नये संस्कारों को जमा नहीं करता, मात्र हिसाब समाप्त करता है, नया हिसाब नहीं बैठाता ।

तू कहता है कि विशेष पुरुषार्थ करने की सामर्थ्य नहीं है, तब मैं पूछता हूं कि प्रपंच की वृद्धि करने के लिये तुझ में पुरुषार्थ कहां से आजाता है । ज्ञान मार्ग में मन जो २ विशेष कामनायें करता रहता है, उनको न करने देना रूप पुरुषार्थ है । जिसमें कुछ करना न पड़े, जो है उसको बन्द करना पुरुषार्थ है । वह भी मानासिक है इससे सहज और कुछ नहीं है ज्ञान में बैठे रहना नहीं है, मुसाफिरी करना नहीं है, मिट्टी खोदना या बोझ उठाना भी नहीं है । मेरे विचार से तो एक ज्ञान ही विना परिश्रम का मार्ग है । अनेक प्रकार के दान, पुण्य और यज्ञ में धन का और शरीर का व्यय करना पड़ता है । बड़े २ कार्य और विशेष समृद्धि अनेक मनुष्यों के मेल से होती है इससे विरुद्ध ज्ञान सब का मेल छोड़ने से होता है, एकांत में होता है एकांत का ही है । ज्ञान से परम पुरुषार्थ सिद्ध होता है, उसके पश्चात् कोई विशेष ऐश्वर्य और दिव्यता शेष नहीं रहती । तू ज्ञान के साथ ऐहिक, प्रापंचिक ऐश्वर्य भी चाहता है, यह चाहना न चाहिये । जब परम पुरुषार्थ प्राप्त होता है तब उसके साथ २ ऐहिक लाभ अवश्य होता है परन्तु ऐहिक लाभ के सहित परम पद की प्राप्ति हो, ऐसे भाव वाले को परम पद की प्राप्ति नहीं होती । ऐहिक ऐश्वर्य पूर्व कर्म का फल रूप है । जिस कर्म का जो फल होने वाला है अवश्य ही होता है और परम पुरुषार्थ साध्य है यत्न से होता है । जो मनुष्य आम की इच्छा करके आम का वृक्ष लगाता है, तो आम के फल सहित ऐहिक सुख की समान पत्ते भी प्राप्त होते हैं अथवा ऐसा समझ कि जब किसी जंगल को काट कर पृथ्वी साफ़ करते हैं, तो पृथ्वी साफ करने से अनेक वृक्षों के कारण जो प्रकाश कम पड़ता था, विशेष पड़ने लगता है । वृक्ष काटने से पृथ्वी का साफ होना ज्ञान है और परम पुरुषार्थ प्रकाश की विशेषता ऐहिक फल है ।

जगत् अनादि है। जैसे इस हालत में दीखता है ऐसे ही रूपांतर वाली हालत में वह चला नहीं जाता। जगत् रहे या न रहे इससे हमारा कुछ प्रयोजन नहीं है, उसके आंतरिक संबंध से जो हम दुखी होते हैं, उस आंतरिक अज्ञान के संबंध को तोड़ देने से, जो दुःख हम को उससे होता था वह न होना चाहिये, इतना ही हमारा प्रयोजन है और इतना ही मनुष्य कर सकता है, इसीसे शान्ति प्राप्त होती है। जिसके पैरों में कांटे लगते हैं वह जूता पहन लेता है, इससे कांटे लगना बन्द होजाता है। जूता पहनने वालों को कांटे हों तो क्या? अथवा न हों तो क्या? यदि कोई कांटे न लगने के लिये जगत् भर के कांटों को बीन लेना चाहे तो असंभवित है और ऐसा विचार करनेवाला मूर्ख ही कहलायगा। जगत् में भी हम लोग अनेक प्रकार से ठीक ठीक व्यवहार करते हैं इसी प्रकार ज्ञान में वर्तना चाहिये। जब कोई आम खाता है तो बाहर के छिलके और भीतर की गुठली को फेंक देता है और रस रूप सार को चूस लेता है, वह दुखी नहीं होता और जो छिलके और गुठली को भी खा जाता है उसके पेट में दर्द अवश्य होता है। जगत् आम के समान है, उसमें रस अवश्य है परंतु वह रस राग रूप छिलके और द्वेष रूप गुठली सहित है। विवेकी पुरुष राग द्वेष रूपी छिलके और गुठली को हटाकर मात्र रस का पान करता है इस लिये वह सुखी रहता है। राग द्वेष हटाकर जगत् का सेवन करनेवाला सुखी है, वह ही ज्ञानी है, वह ही मुक्त है।

जिस प्रकार जब कोई जाहर बगीचे-पबलिक पार्क में हवा खाने जाता है, वहां तरी, सुगंधि खाता हुआ घर लौट आता है। वहां कौन पेड़ सूख रहा है, कहां के पत्ते निकाले नहीं गये, कहां कौन पेड़ लगाना चाहिये, इत्यादिक भाव उसमें नहीं होते। वह मात्र आनन्द लेने गया था, आनन्द लेकर लौट आता है परन्तु जब कोई ऐसा ही बगीचा किसी राजा अथवा साहूकार का होता है तो उस बगीचे में उसका ममत्व होता है, जब वह बगीचे में घूमने जाता है तो मैं हवा खाने, सुगंध लेने आया हूं, इस भाव के बदले उसका भाव और प्रकार का होता है। माली ने इस में जल नहीं दिया, यह घमला गोदा नहीं गया, इस बाड़ की कलम कर देना चाहिये इत्यादिक भाव से दुखी होता है। जिसने शरीर में अत्यन्त अहं और उसके संबंधियों में ममत्व धारण कर रक्खा है वह हमेशां दुःख का ही अनुभव करता है, उसका अहं और मम उस को दुःख भुगवाता है इस लिये आसक्ति युक्त अहं मम को तिलांजलि देकर सामान्य अहं और मम जो शरीर के व्यवहार का हेतु हैं उन से कार्य लेना चाहिये और विशेष भाव से अलिप्त रहना चाहिये। इस प्रकार सुखी हो सक्ते हैं।

विवेक से सुख और अविवेक से दुःख होता है। एक शहर में दो ब्राह्मण बंधु रहते थे। दोनों ने अपनी यजमान वृत्ति बांट ली थी। दोनों अलग २ रहते थे। रुपया जमा करके दोनों ने विवाह किया, बड़े भाई की स्त्री मूढ और अविवेकिनी थी। छोटे भाई की स्त्री तीव्र बुद्धि वाली और विवेकिनी थी, दोनों भाइयों को यजमानों में से अन्न मिलता था। वही अन्न उन दोनों के भोजनों में काम आता था। वह अन्न इतना आता था कि उसमें से कुछ बिक भी जाता था जिससे वस्त्रादिक खरीदे जाते थे। बड़ा भाई कई वर्षों बाद भी कंगाल हालत में ही रहा और छोटा भाई श्रीमान् हो गया। एक दिन बड़े भाई ने छोटे भाई को अपने यहां भोजन करने का न्योता दिया। जब वह भोजन करने बैठा तब सुन्दर भोजन देखकर कहने लगा "भाई! यह भोजन बहुत सुन्दर है! मैं जानता हूं कि तू ने मेरे लिये बाजार से उम्दा चांवल, दाल और आटा मोल लिया है" छोटे भाई ने कहा "भाई! जैसा तू समझ रहा है, ऐसा नहीं है, आज की रसोई का अन्न मैं मोल नहीं लाया हूं, जो यजमानों में से आता है, उसी अन्न की रसोई बनी है"! बड़े ने कहा "भाई! तेरे और मेरे पास समान यजमान हैं,

यजमानों के यहां से जो अन्न आता है वह चुटकी का होता है—मेल वाला होता है, यह भोजन तो मेल वाले अन्न का नहीं है"। छोटे ने कहा "भाई! जो अन्न आता है, भिन्न किया जाता है, तब शुद्ध होता है।" बड़े ने कहा "भाई! रोज तुम मेल वाला अन्न खाते होगे, आज मुझे न्योता दिया है इस लिये अन्न चुन कर बनाया होगा।" छोटे ने कहा "भाई! नहीं! हम तो नित्य ही इसी प्रकार का उत्तम भोजन किया करते हैं!" बड़े ने कहा "कैसे आश्चर्य की बात है! मैं तो रोज मेल वाला अन्न ही खाता हूं, मेरे घर में इस प्रकार की भिन्न२ वस्तुयें नहीं बनतीं। खिचड़ी के समान एक ही पदार्थ बनता है, उस में दाल, चांवल, गेंहू, बाजरा, आदिक सब अन्न होते हैं, जब मैं तेरी भाभी से कहता हूं कि दाल चांवल भिन्न २ बना, तब वह कहती हैं, बाजार से मोल ले आओ, तो बनादूं, तुम जो अन्न लाते हो, मेल वाला है, उस में से दाल चांवल अलग २ नहीं बन सके। जब मैं दाल चांवल आदिक मोल लाता हूं तब मेल वाले अन्न को सस्ते दामों पर बेच देता हूं और दूसरा खरीद कर खाता हूं।" छोटे ने कहा "अरे! ऐसा ही है तो दस वर्ष में तुम्हारे पास कुछ भी जमा नहीं हुआ होगा! कुधान खाने से तुम्हारी प्रकृति भी अच्छी न होगी! देखो! मैं तो इसी प्रकार नित्य उत्तम भोजन करता हूं और मैंने एक हजार रुपया जमा भी कर लिया है। मेरी भाभी मूर्ख है वह महनत करना नहीं जानती, उसे विवेक नहीं है, जैसे सब प्रकार के चारे की टोकरी भैंस के सामने रखते हैं, इसी प्रकार वह भी सब वस्तुयें मिलाकर तुम्हारे सामने रख देती है। मेरे यहां ऐसा नहीं है, मैं जितना अन्न लाता हूं उस सब को मेरी स्त्री भिन्न २ करती है, चलनी से छानती, सूप से फटकती है और बीन कर भिन्न कर लेती है ऐसी भिन्न की हुई वस्तुयें जो हमारे भोजनों से विशेष होती हैं, उन्हें हम बेच देते हैं, उनके दाम भी विशेष आते हैं, हम लोग खाने पीने से सुखी रहते हैं और पांच पैसे भी हमारे पास हैं।" बड़ा भाई अपनी स्त्री की जड़ता पर शोच करने लगा "हाय! हम दोनों की समान आमदनी होने पर भी छोटा भाई कितना सुखी है और मैं कितना दुखी हूं! मेरी स्त्री में तीव्र बुद्धि नहीं है, विवेक नहीं है, हम अविवेक से दुखी हैं और छोटा भाई विवेक से सुखी है।"

विवेकिनी और अविवेकिनी दोनों स्त्री बुद्धि रूप हैं। जिस पुरुष की बुद्धि अविवेक वाली होती है वह दुखी रहता है और जिसकी बुद्धि आत्म अनात्म के विवेक वाली होती है वह सब को भिन्न करके उपयोग करने से सुखी रहता है। आत्म भाव में अनात्म भाव और अनात्म में आत्म भाव का मेल करके भोग करना भैंस के चारे के समान है और दोनों को भिन्न २ कर ठीक २ वर्ताव करना ही सुख है। वह ही आत्म स्थिति है और जगत् में रहते हुये भी आनन्द रूप है। विवेक से वर्तने में कोई भारी महनत नहीं है, कुछ खर्च नहीं है, विशेष मनुष्यों की भी आवश्यकता नहीं है, विवेक सुलभ होने पर भी सुख उत्पन्न करने वाला आनन्द रूप है। बुद्धि से विवेक होता है, बुद्धि सबके पास है, उस को निर्मल करके कार्य लेना इतनाही काम है। यह ही सुख का उपाय है, इसी प्रकार सुख होता है, अन्य रीति से नहीं होता।

जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी के यहां नौकर है नौकरी खजानची की है, उसको रुपये का सब हिसाब रखना पड़ता है। घर में बहुत मनुष्य होते हुये भी सब से बड़ा वह ही है। घर का हिसाब भी उसे रखना पड़ता है। घरका हिसाब वह अलग रखता है और दूकान का हिसाब अलग रखता है, घरका हिसाब दुकान के हिसाब में नहीं मिलाता और दुकान का हिसाब घर के हिसाब में नहीं मिलाता। यदि दुकान अथवा घर के हिसाब में गड़ बड़ कर दे तो वह चोर ठहरता है और जेल खाने में आता है, इसी प्रकार जगत् के व्यवहार को समझो। जो

जगत् के व्यवहार को आत्मिक भाव में और आत्मिक हिसाब को जगत् के व्यवहार में मिला देता है वह चौरासी लक्ष योनि रूप जेल खाने के बंधन में पड़ता है इस लिये आत्म अनात्म का विवेक अवश्य कर्तव्य है। विवेक वाले का हिसाब साफ़ रहता है और मालिक की तरफ़ से संतोष और इनाम प्राप्त करता है।

जिस प्रकार नाटक शाला का पात्र अपना कार्य ठीक २ करता है, रोने के समय रोता है, और आनन्द के समय आनन्द मानता है। देखने वाले को सच मुच रोता हुआ और आनन्द मानता हुआ दीखता है परन्तु वह अपने आंतरिक भाव में एक रस रहता है, दुःख का असर भीतर नहीं होने देता और आनन्द भी भीतर नहीं मानता। वह समझता है कि राजा होने से मैं राजा नहीं होता और भंगी का भेष धारण करने से दूषित मान कर प्रायश्चित्त नहीं करता, अपने कर्तव्य को ठीक २ करते हुये कर्तव्य के सुखदुःख के भाव से अलिप्त रहता है। जो मनुष्य इसी प्रकार संसार को नाटक शाला और अपने को पात्र समझकर ठीक २ काम करता है तो अज्ञानियों की समान सुख दुःख उसे नहीं लगता। इस लिये नित्यानित्य का विवेक करके संसार में वर्तने वाला सुखी होता है। श्री कृष्ण भगवान का कथन है "हे अर्जुन! संसार में समानता से वर्तता हुआ मन मेरे पास रख।"

प्रपंच का मिथ्यापना!

(गतांक से आगे)

भ्रांति रूप संसार पांच प्रकार की भ्रांति का परिणाम है-(१) भेद भ्रांति, (२) कर्ता भोक्तापने की भ्रांति, (३) संग भ्रांति, (४) विकार भ्रांति और (५) ब्रह्म से जगत् भिन्न और सत्य है, ऐसी भ्रांति।

जीव अल्पज्ञ है, अणु है, और जन्म मरण वाला है। ईश्वर सर्वज्ञ है, विभु है, जन्म मरण रहित है इसलिये जीव और है और ईश्वर और है। इस प्रकार का भेद मानना ईश्वर जीव की भ्रांति है सब जीव भी एक समान नहीं हैं, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई विशेष समय तक और कोई थोड़े समय तक रहने वाला, किसी की आकृति किसी से नहीं मिलती, इसलिये सब जीव भिन्न २ हैं। ऐसा मानना जीव जीव में भेद भ्रांति है। जीव चैतन्य है, और अन्य पदार्थ जड़ हैं इसलिये जीव और है और जड़ पदार्थ और हैं। इस प्रकार जीव और जड़ के भेद की भ्रांति है। जड़ जड़ में भी परस्पर भेद है, यह जड़ जड़ के भेद की भ्रांति है इसी प्रकार ईश्वर और जड़ में भी भेद है, वह ईश्वर और जड़ के भेद की भ्रांति है। इस कार भेद भ्रांति भी पांच प्रकार की है। वस्तुतः भेद नहीं है। जो भेद देखने में आता है वह अज्ञान की दृष्टि से है इसलिये भेद भ्रांति का ही है।

कर्ता, भोक्ता धर्म अन्तःकरण का है। आत्मा कर्ता, भोक्ता नहीं है तो भी अन्तःकरण का कर्ता, भोक्तापना आत्मा में प्रतीत होता है और ऐसा वर्ताव भी किया जाता है। अज्ञान से ऐसा प्रतीत होता है इसलिये यह कर्ता, भोक्तापने की भ्रांति है।

आत्मा का देह से संबंध नहीं है तो भी देह में संबंध होने का भाव होता है। देह में अहंभाव और देह के संबंधी, गृह, पुत्र, दारादिक में ममता रूप भाव होता है। आत्मा में सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद नहीं है। आत्मा की जाति वाला अन्य न होने से सजातीय भेद उसमें नहीं है, आत्मा से पर कोई है नहीं इसलिये उसमें विजातीय भेद नहीं है और आत्मा में अंग उपांग न होने से स्वगत भेद भी उस में नहीं है। इन सब शरीर के भेदों की प्रतीति आत्मा में होना संग भ्रांति है।

परब्रह्म कभी भी विकार को प्राप्त नहीं होता। अपना स्वरूप बदल कर दूसरे रूप में नहीं आता तो भी जैसे दूध में विकार होकर दही होता है इस

प्रकार ब्रह्म में विकार होकर-ब्रह्म बदल कर जीव और जगत् रूप हुआ है, ऐसी प्रतीति होना विकार भ्रांति है।

जगत् ब्रह्म से भिन्न है, ब्रह्म चाहे सत्य हो या न हो परन्तु जगत् सत्य है और ब्रह्म से भिन्न है इस प्रकार की प्रतीति जगत् के सत्य होने की भ्रांति है।

भेद भ्रांति की निवृत्ति इस प्रकार समझने से होती है। जैसे एक दर्पण में मुख देखने से मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में दीखता है। वस्तुतः मुख दर्पण में नहीं दीखता किन्तु मुख देखने के लिये नेत्र की वृत्ति निकल कर दर्पण से लौट कर मुख को ही देखती है इसलिये मुख और प्रतिबिम्ब अभिन्न हैं। एक ही वृत्ति लौट कर मुख को देखती है परन्तु दूसरा चित्र दर्पण में हो ऐसा दीखता है वस्तुतः बिम्ब प्रतिबिम्ब मुख एक ही है, उलटी सुलटी वृत्ति के भेद से बिम्ब ही प्रतिबिम्ब है इसलिये प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं है परन्तु सत्य है किन्तु प्रतिबिम्ब के धर्म, बिम्ब से भिन्नपना, बिम्ब से उलटापना और दर्पण में स्थितपना इन तीनों की प्रतीति रूप ज्ञान भ्रांति है। इसलिये उसके धर्मों का मिथ्यापना निश्चय करके, उन्हें बाध करके बिम्ब और प्रतिबिम्ब का सदा अभेद निश्चय करे। ऐसे ही शुद्ध ब्रह्म बिम्ब रूप है, अज्ञान रूप दर्पण में जीव रूप उसके प्रतिबिम्ब भासते हैं। उनमें स्वप्न की समान एक जीव मुख्य है और स्थावर जंगम रूप दूसरे नाना जीव जो भासते हैं वह जीवाभास है। जीव रूप प्रतिबिम्ब ईश्वर रूप बिम्ब के साथ सदा अभेद है परन्तु माया के बल से जीव के धर्म--ईश्वर से भिन्नता, परिच्छिन्नता, नानापना इत्यादि की प्रतीति रूप ज्ञान भ्रांति है। यह मिथ्या है, ऐसा निश्चय करके, मिथ्यापने का बाध करके, जीव रूप प्रतिबिम्ब और ईश्वर रूप बिम्ब का सदा अभेद निश्चय होता है और भेद भ्रांति की निवृत्ति होती है।

हंस की चतुराई से राजा नल और दमयंती में प्रेम हुआ था। दमयंती ने राजा नल से ही विवाह करने की प्रतिज्ञा की थी। स्वयंवर की रचना हो रही थी। देवता भी दमयंती से विवाह करना चाहते थे। देवताओं ने राजा नल को अपना दूत बनाकर अपनी प्रशंसा करने के लिये वेष बदलकर दमयंती के पास भेजा। उस समय महल में दमयंती के बालों में दासी तेल डाल रही थी और दमयंती दर्पण देख रही थी, उसकी पीठ किवाड़ों की तरफ थी। जब नल आया तब उस का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ा। हंस के बताने से दमयंती के हृदय में राजा नल की छबि विराजमान थी प्रतिबिम्ब से उसे निश्चय हो गया कि राजा नल आया है।

बिम्ब, प्रतिबिम्ब की एकता करना प्रतिबिम्ब के भेद की भ्रांति की निवृत्ति है।

कर्ता भोक्ता पने की भ्रांति की निवृत्ति इस दृष्टांत के समझने से होती है:—जैसे लाल वस्त्र के ऊपर स्फटिक रखने से वस्त्र के लाल रंग का संयोग स्फटिक में दीखता है परंतु लालपना वस्त्र का धर्म है स्फटिक का नहीं है, स्फटिक को अलग करने से स्फटिक में लालपना नहीं दीखता किंतु वस्त्र में दीखता है। जैसे लालपना स्फटिक का धर्म नहीं है और भ्रांति करके स्फटिक का धर्म दीखता है इसी प्रकार कर्ता भोक्तापने का धर्म अंतःकरण का है। मैं हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, यह भाव अंतःकरण में होता है, आत्मा में कर्ता आदिक भेद नहीं है। अंतःकरण और आत्मा के तादात्म्य संबंध से अंतःकरण का धर्म लाल वस्त्र की समान आत्मा में भासता है। जब सुषुप्ति में अंतःकरण का अभाव हो जाता है तब कर्ता भोक्ता पना नहीं भासता इस लिये वह आत्मा का धर्म नहीं है, किंतु भ्रांति से आत्मा में भासता है।

दो चित्र कारों ने अपनी २ कारीगरी दिखलाने की एक राजा से प्रार्थना की। राजा ने एक स्थान में आस पास की दीवारों के ऊपर चित्र निकाल

की आज्ञा दी। दोनों के बीच में एक परदा डाल दिया गया। एक मास तक दोनों चित्रकार अपने २ काम में लगे रहे; उन में से एक ने बहुत उत्तम प्रकार के चित्र दीवार पर खेंचे, दूसरे ने एक भी चित्र न खींचा, किंतु अपनी दीवार को पोलिश ही करता रहा। उसने दीवार को पोलिश करके दर्पण समान बना दिया। राजा दोनों के चित्र देखने आया। प्रथम चित्र देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और दूसरा चित्र इस से उत्तम न होगा ऐसा उस ने निश्चय कर लिया। जब दोनों के बीच वाला परदा निकाल दिया गया तो दूसरा चित्र प्रथम चित्र से भी उत्तम दीखा। वहां चित्र न था परंतु प्रथम दीवार का प्रतिबिम्ब ही था, सामने होने से प्रथम दीवार का चित्र उस में दीखता था जिससे यह मालूम होता था कि दूसरा चित्र बहुत उत्तम है। वास्तविक में एकही चित्र था। इसी प्रकार आत्मा और अंतःकरण एक दूसरे के सामने हैं। आत्मा अत्यंत निर्मल है, अंतःकरण अनेक वासनाओं के चित्र वाला है। आत्मा की निर्मलता से अंतःकरण के चित्र आत्मा में दीखते हैं इस लिये ऐसी भ्रांति होती है कि आत्मा कर्ता भोक्ता है इस को ऊपर की रीति से ठीक समझने से कर्ता भोक्तापने की भ्रांति की निवृत्ति होती है।

आत्मा का शरीरादिक से संग नहीं है भ्रांति से संग मालूम होता है, उसकी निवृत्ति इसप्रकार होती है:—घट की उपाधि वाले आकाश को घटाकाश कहते हैं। घट मटके को कहते हैं। मटके में जो पोल है वह आकाश है। घट की मध्य जो पोल है उस आकाश को घटाकाश कहते हैं। उस आकाश और घटका संग भासता है, तो भी घट के धर्म घट का उत्पन्न होना, घटका आना जाना, घटका पुराना होना और टूटजाना आकाश को स्पर्श नहीं करते इस लिये आकाश असंग है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती, आकाश का आना जाना नहीं है। आकाश में पुराना हो जाना और टूटजाना भी नहीं है। घट की उपाधि वाले आकाश में ये धर्म जो प्रतीत होते हैं, वह संग भ्रांति है, इसी प्रकार देहादिक के धर्म जो जन्म मरण दुःखादि हैं वे आत्मा को स्पर्श नहीं करते क्यों कि देह संघात दृश्य है और आत्मा द्रष्टा है इस लिये आत्मा संघात से भिन्न और असंग है। आत्मा संघात रूप नहीं है इस लिये आत्मा को उसके साथ अहंता रूप संबंध भी नहीं है, संघात पंच भूत का है, इस लिये उसका आत्मा के साथ ममता रूप संबंध भी नहीं है। ऐसे ही आत्मा को संघात के संबंधी स्त्री, पुत्र, धन गृह आदिक के साथ भी ममता रूप संबंध नहीं है। इस प्रकार आत्मा असंग है। आत्मा का संघात के साथ अहंता, ममता रूप भ्रांति हैं। ऐसा समझने से संग भ्रांति की निवृत्ति होती है और जगत् के मिथ्यात्व और आत्मा की सत्यता का बोध हो जाता है।

अनेक प्रकार के दर्पणों से बने हुये एक कांच के मकान में एक कुत्ता घुसा। दर्पण बहुत होने से सब दर्पणों में उसे कुत्ते ही कुत्ते दीखने लगे। वह चारों तरफ की दीवारों में घूमा, जहां जहां गया वहां कुत्तों की सेन्य उसे आती ही दीख पड़ी इस लिये कुत्ता घबरा गया—भय को प्राप्त हुआ उसने छलांग मारी, उस के साथ सब कुत्तों ने भी छलांग मारी। वह भौंका तो बन्द मकान में सामने से भी कुत्तों के भौंकने की आवाज आई। अत्यंत व्याकुल होकर वह कूदा तो सब कुत्ते कूदते दिखाई दिये। क्षण में इधर क्षण में उधर कूदता फांदता और दौड़ता वह थक गया, कई जगह चोट आई, अंत में बिचारा मर गया!

जैसे कुत्ते को दर्पण घरके संग से एक के अनेक कुत्ते दीखे—दर्पण की चेष्टा उसने अपने प्रति समझी इसी प्रकार माया की चेष्टा आत्मा प्रति समझने से कुत्ते के समान आत्मा भी दुखी होता है, और जैसे कुत्ता मरण को प्राप्त हुआ ऐसे ही आत्मा मरण को प्राप्त होता है—अपने आत्म भाव से हट जाना ही आत्मा का मरण है। यह संग भ्रांति है।

आत्मा में विकार नहीं है जो विकार मालूम होता है, भ्रांति है, इसकी निवृत्ति नीचे के दृष्टान्त से होती है, जिस प्रकार मंद अंधकार में रस्सी पड़ी हुई हो, उसे देखने को अंतःकरण की वृत्ति नेत्रों द्वारा निकलती है तब अंधेरे आदिक दोष के कारण वृत्ति रस्सी के आकार वाली नहीं होती इस लिये रस्सी में जो आवरण है वह नहीं टूटता और रस्सी की उपाधि में जो चैतन्य है, उस के आश्रय रहने वाली तूला विद्या (मूला विद्या कारण अविद्या को कहते हैं और तूलाविद्या कार्य अविद्या को कहते हैं उपाधि वाले चैतन्य को आवरण करने वाली अविद्या का नाम तूलाविद्या है) क्षोभ को प्राप्त होती है-अपनी स्थिति से अन्य प्रकार की हो जाती है और सर्प रूप आकार को धारण करती है। वह सर्प दूध के परिणाम दही की समान अविद्या का परिणाम नहीं है किंतु रस्सी उपाधि वाले चैतन्य का विवर्त है। अपना रूप त्याग कर दूसरा रूप धारण करना विकार कहा जाता है और अपना रूप न त्यागकर दूसरे प्रकार से दीखना विवर्त है।

इस प्रकार ब्रह्म चैतन्य के आश्रय रहने वाली मूलाविद्या (शुद्ध ब्रह्म-आत्मा को आवरण करने वाली को मूला विद्या कहते हैं) प्रारब्धादिक निमित्त करके क्षोभ को प्राप्त होकर जड़ चैतन्य की ग्रन्थि रूप (चिदाभास) प्रपंच रूप विकार को धारण करती है। यह अविद्या का परिणाम है और अधिष्ठान ब्रह्म में चैतन्य का विवर्त है।

जैसे स्वप्न में जो अनेक प्रकार के आकार दीखते हैं वे स्वप्न के विकार हैं, परन्तु स्वप्न द्रष्टा के विवर्त हैं इसी प्रकार मायिक भाव में माया के सब विकार हैं परन्तु साक्षी में मात्र चैतन्य का विवर्त हैं, आत्मा में विकार न होते हुये किस प्रकार विकार मालूम होता है यह ऊपर के समान समझ कर आत्मा को विकार रहित जाने।

ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं है और सत्य भी नहीं है। ऐसा होनेपर भी जगत् सत्य सा मालूम होता है उस सत्यता की निवृत्ति नीचे के दृष्टांत को समझने से होती है:-जैसे सुवर्ण और कुण्डल कारण कार्य भाव से भेद वाले दीखते हैं। यह दिखाव कल्पित है और सुवर्ण से भिन्न कुंडल का स्वरूप देखने में नहीं आता इसलिये सुवर्ण और कुंडल वास्तविक अभेद स्वरूप हैं, सुवर्ण से भिन्न कुंडल की सत्ता तीनों काल में ठीक नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म और जगत का कारण कार्य भाव करके और विशेषण करके भेद दीखता है। यह भेद भी ऊपर के समान कल्पित है विचार कर देखा जाय तो अस्ति, भाति और प्रिय जो ब्रह्म स्वरूप है उससे भिन्न नाम रूप वाला जगत् सिद्ध नहीं होता जैसे कुंडल सुवर्ण बिना टिक नहीं सकता ऐसे अस्ति, भाति और प्रिय बिना नाम रूप टिक नहीं सकता इससे नाम रूप मिथ्या सिद्ध होते हैं। जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है वह इससे भिन्न नहीं होती इसलिये जगत् का ब्रह्म से वास्तविक अभेद है, ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्ता नहीं है। इस प्रकार सुवर्ण और कुंडल के दृष्टांत से ब्रह्म से भिन्न जगत् की सत्यता जो मालूम होती है, उस भ्रांति की निवृत्ति होती है।

भ्रांति अध्यास को कहते हैं - भ्रांति ज्ञान का विषय जो मिथ्या वस्तु है, उसको अध्यास कहते हैं जैसे रस्सी में सर्प दीखना भ्रांति ज्ञान है। भ्रांति ज्ञान और उसका विषय सर्प इन दोनों को अध्यास कहते हैं। अध्यास कल्पित होता है। जितने प्रकार के भेद और भ्रांति बतलाये गये हैं वे सब अध्यास रूप हैं। यदि अध्यास न हो तो भ्रांति और भेद होना सम्भव नहीं है। अध्यास भी कई प्रकार का है परन्तु आत्मज्ञान में विशेष उपयोगी अन्योन्याध्यास है। प्रथम का अध्यास दूसरे में और दूसरे का अध्यास प्रथम में हो उसे अन्योन्याध्यास कहते हैं। यद्यपि आत्मा में गुण विशेषण आदिक का भेद नहीं है, परंतु अध्यास में वह भेद है आत्मा के सत्, चित्, आनन्द और अद्वैतपना चार विशेषण हैं ऐसे ही असत, जड़, दुःख और द्वैतपना

अनात्मा के चार विशेषण हैं अनात्मा जो माया–अविद्या स्वरूप है उसके दुःख और द्वैतपने ने आत्मा के आनन्द और अद्वैतपन को ढक दिया है इसलिये मैं आनन्द रूप हूं और अद्वैत रूप हूं, ऐसा आत्मा में मालूम नहीं होता परंतु मैं आत्मा दुखी और ईश्वरादिक से भिन्न हूं ऐसा मालूम होता है। आत्मा के सत् और चित् इन दो विशेषणों ने अनात्मा के असत् और जड़पने को ढांक दिया है इसलिये अनात्मा जो अहंकारादिक हैं उन में अहंकारादिक असत् हैं, जड़ हैं ऐसा मालूम नहीं होता परंतु अहंकारादिक सत्-विद्यमान हैं, चैतन्य हैं ऐसा मालूम होता है इस प्रकार आत्मा और अनात्मा का परस्पर अध्यास है।

तीन मनुष्य एक जंगल में होकर जारहे थे, एक स्त्री थी, एक उसका पति और एक उसका भाई था। चलते २ सायंकाल होने आया, गांव एक कोश दूर था। ये लोग गांव में रात्रि व्यतीत करना चाहते थे। दोनों पुरुषों के पास कुछ जेवर था, स्त्री भी कुछ जेवर पहने हुई थी, पुरुषों के पास जेवर है ऐसा कुछ बदमाश ताड़ गये थे और उनके पीछे २ आरहे थे। इन तीनों को इस बात की खबर न थी। बदमाश अंधेरा होने की राह देखरहे थे, स्त्री दोनों पुरुषों से कुछ दूर चल रही थी, दोनों साले बहनोई आगे २ चल रहे थे, सायंकाल होते ही बदमाश उन दोनों पुरुषों के पास किसी मार्ग से आगये और कुछ कहे सुने विना ही दोनों के शिर तलवार से काट कर भिन्न कर दिये। स्त्री दूर से यह देख कर अत्यंत घबराई चिल्लाने का होश उसे न रहा। उसकी चिल्लाहट सुन कर उसकी मदद के लिये वहां कोई आने वाला भी न था। वह वहां से भागी और पास ही एक टूटा मंदिर पड़ा था उसकी टूटी हुई गुफा में घुस गई। दोनों चोरों ने दोनों पुरुषों के पास जो ज़ेवर था सब निकाल लिया और पश्चात् वे स्त्री की खोज में चले। कितनी ही देर तक खोज की परंतु स्त्री का कुछ पता न लगा। दोनों की लाशें पड़ी हुई थीं, ग्राम पास था इसलिये चोर स्त्री की विशेष खोज करनी छोड़कर वहां से चल दिये। स्त्री गुफा में बेहोश पड़ी रही. रात्रि के ग्यारह बजे के अन्दाज पर उसे होश आया, चोर कहीं न दीखे, स्त्री जी में विचारने लगी "अब मुझे क्या करना चाहिये? पति और भाई दोनों की मृत्यु होगई, ऐसी स्थिति में मेरा जीना ही व्यर्थ है! श्वसुर के घर में एक पति ही था, वहां मेरा भरण पोषण होना असम्भवित है, पिता के घर में एक भाई था वह भी न रहा, वहां भी अब मेरा गुजारा नहीं हो सकता। यह देवी का स्थान मालूम होता है, उसने ही चोरों से मेरी रक्षा की है, यदि देवी प्रसन्न हो और मेरा पति और भाई जी उठें तभी मेरा जीता रहना बन सकता है, नहीं तो मैं भी इस देवी के स्थान में अपने प्राणों की आहुति दूंगी।" स्त्री अबला कही जाती है परंतु यह स्त्री ऐसी अबला न थी, अपने निश्चय में पक्की थी, वह देवी के मंदिर में गई और खड़ी होकर सब स्थान से चित्त हटा कर देवी का ध्यान और स्तुति करने लगी, इस समय दुःखावेश से चित्त ऐसा एकाग्र होगया कि सिद्ध योगीश्वरों का चित्त भी उसके चित्त की एकाग्रता की बराबरी नहीं कर सकता था। इस प्रकार उसने दो बजे तक देवी की स्तुति और प्रार्थना की। जिस देवी की प्रतिमा की वह उपासना कर रही थी उसमें प्रकाश मालूम होने लगा और प्रतिमा प्रत्यक्ष रूप से देवी दीखने लगी। ऐसा देखते ही स्त्री ने देवी को प्रणाम किया, देवी ने कहा "क्या चाहती है?" स्त्री ने कहा "देवी माता! आप कृपा करके मेरे पति और भाई को सजीवन कर दीजिये!" देवी ने कहा "तू जाकर अपने पति और भाई के धड़ के ऊपर उनका शिर रख दे, मेरी कृपा से वे सजीवन हो जायंगे!" स्त्री ने देवी को फिर प्रणाम किया। देवी अन्तर्ध्यान होगई। स्त्री प्रसन्न होती हुई अंधेरे में शिरों और धड़ों के पास आई और उसने शिरों

को धड़ों के ऊपर रख दिया, दोनों ही सजीवन हो गये। थोड़ी देर में उजाला हुआ तो क्या देखती है कि अपने पति के धड़ पर अपने भाई का शिर और भाई के धड़ पर पति का शिर रख दिया गया है। यह देख कर वह बड़ी उलझन में पड़ी और कहने लगी "हाय! अब इन दोनों में से मैं किसको अपना पति मानूं? और किस को भाई मानूं? विचारती हूं तो उन में पति या भाई कोई सिद्ध नहीं होता, आधा भाई और आधा पति इस प्रकार दोनों ही बने हैं। हाय! अंधेरे में आनन्द के कारण मुझ से महान् भूल हुई! न कोई ठीक पति रहा, न भाई रहा!"

आत्म अनात्म का अन्योन्याध्यास इसी प्रकार है। इस से न तो आत्मा आत्मभाव में रहता है और न अनात्मा अनात्म भाव में रहता है। जो जिसका है उसे उसी में लगाना विवेक है। विवेक से आत्मा और अनात्मा पृथक् हो जाते हैं। अनात्मा को ठीक विचारने से, आत्मा से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं निकलती। जो दृश्य दीखता है, कल्पना का है, कल्पना मिथ्या है, वस्तु रूप नहीं है। इस प्रकार सब प्रपंच आत्म दृष्टि से तुच्छ मिथ्या और काल्पनिक है। संसार संकल्प का है इस लिये झूठा है। संसार भ्रांति में है इस लिये भ्रांति रहित के लिये झूंठा है। संसार परिवर्तन वाला है इस लिये झूंठा है। संसार को झूंठा समझने के लिये शास्त्रों ने स्वप्न का दृष्टांत दिया है। मरुस्थल में जल दिखलाया है, ठूंठ में पुरुष दिखलाया है, और रस्सी में सर्प दिखलाया है, इस प्रकार मुमुक्षुओं को संसार तुच्छ, असत्य समझकर उसकी आसक्ति हटाना चाहिये।

मणि रत्न माला

(गताङ्क से आगे)

इन्द्र वज्रा वृत्तम्।

बद्धो हि को यो विषयानुरागी।
को वा विमुक्तो विषये विरक्तः॥
को वाऽस्ति घोरो नरकः स्वदेह-
स्तृष्णाक्षयः स्वर्ग पदं किमस्ति॥२॥

अर्थ:- प्रश्न:- बद्ध कौन है? उत्तर:- जो विषयों में अनुराग वाला है। प्रश्न:- विशेष मुक्त कौन है? उत्तर:- जो विषयों से विरक्त है वह। प्रश्न:- घोर नरक कौनसा है? उत्तर:- अपना देह। प्रश्न:- स्वर्ग पद कौनसा है। उत्तर:- तृष्णा का नाश॥२॥

भाषा छप्पय

बद्ध कौन कहलाय, भोग विषयन अनुरागी।
कौन जानिये मुक्त, युक्त विषयन का त्यागी॥
कौन नरक है घोर, छोर दुख का नहिं जिस में।
घोर नरक निज देह, दुःख दारुण है तिस में॥
स्वर्ग कौन कहलाय है, जाय जहां सुख पाय नर।
होय चित्त तृष्णा रहित, कहत स्वर्ग सो विज्ञवर॥२॥

विवेचन।

विषयों में प्रेम करने से बंधन को प्राप्त होते हैं। विषय क्या हैं? उन में प्रेम किस प्रकार होता है? और उन से होने वाला बंधन किस प्रकार का है? ब्रह्मांड भर में पांच प्रकार के विषय हैं, उन्हीं पांच विषयों में सब को प्रेम होता है। जगत् पंच महाभूतों का बना हुआ है, उन्हीं पंच महाभूतों में से एक एक की विशेषता से पांचों विषय उत्पन्न हुये हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंच महा भूत हैं, जिनसे गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पांच विषय क्रम से उत्पन्न हुये हैं। जीवात्मा इन पांचों विषयों को पंच महा भूतों से उत्पन्न हुई पांच इन्द्रियों से ग्रहण करता है। नासिका से गंध को, जिह्वा से रस को नेत्र से रूप को, चमड़ी से स्पर्श को, और कान से शब्द को आसक्त होकर ग्रहण करता है। यह आसक्ति आसक्ति करने वाले को बंधन में डालती है। आसक्ति प्रेम को कहते हैं। विषयों को पकड़ने में भीतर जो चिकनाई है, वह ही आसक्ति है। आसक्ति जीवात्मा को विषयों के साथ दृढ़ता

से जोड़ती है। वह आसक्ति अहंभाव- अहंकार से होती है। मैं देह हूं, मैं स्थूल हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं गोरा हूं, यह शरीर मेरा है, मैं काना हूं, मैं बहरा हूं, मैं कर्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, इत्यादि प्रकार का देह में अहं और मम भाव बंधन कहलाता है। ऐसे बंधन के भाव से अनेक प्रकार की योनियों में अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार जन्म धारण करना पड़ता है, जन्म धारण करके मरण पर्यंत अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। जहां अनेक कष्ट भोग जांय ऐसे स्थान को बंधन कहते हैं, कोई रस्सी का बंधन नहीं है। अपने भाव का ही भारी रस्सा बन जाता है, और उस रस्से से संबंध होने से संबंध वाले को बंधन होता है। संसार ही बंधन स्वरूप है।

शंका:-संसार बंधन है और संसार से रहित और कोई स्थान दिखाई नहीं देता तो संसार को बंधन किस प्रकार कहते हैं? संसार में सब स्वतंत्र वर्तते हैं। जो अपने ही अनुराग से-विषयों के प्रेम से बंधन होता हो तो जीव ऐसा क्यों करता है? यदि विषयों के अनुराग से बंधन होता है तो ऐसे विषयों को ईश्वर ने क्यों रचा है, विषयों से निवृत्त कराने के लिये ईश्वर अपना भजन कराता हो तो क्या ईश्वर लालची है?

समाधान:-आसक्ति सहित विषयों की तरफ संसरना-चलना संसार है। बाहर का संसार जो देखने में आता है वह भीतर के संसार की छाया है। स्वरूप के अज्ञान से विषयों की तरफ संसरना-चलना होता है। वह संसरना अांतर में है। जो अंतःकरण आसक्ति रहित है, और जहां केवल भोग होता है वह मुक्त स्थान है। संसार इस लिये बंधन रूप है कि कर्मों का भाव दृढ़ीभूत है इस भाव से न चाहते हुये भी जीव को दुःख भोगना पड़ता है। इस प्रकार की परतंत्रता बंधन रूप है इस लिये अज्ञानी जीव को आसक्ति-अनुराग वाला संसरना-संसार बंधन है। पूर्व कर्म के भोग में प्रत्येक परतंत्र है परन्तु जो जीव उस भोग की परतंत्रता को अपनी मानता है वह ही बंधन में है और ज्ञानी यह समझता है कि अज्ञान के कर्मों का भोग अज्ञान वाले को ही हो सकता है कूटस्थ प्रत्येक अवस्था में निर्विकार है इस लिये मुक्त है, बंधन में दीखता हुआ भी बंधन से मुक्त है। ईश्वर ने जो विषयों को सृजा है सो अपनी महत्वता दिखलाने अथवा अज्ञानियों से खुशामद कराने के लिये नहीं सृजा है किंतु ईश्वर का सृष्टि कर्तापना और सृष्टि में विषयों को उत्पन्न करना समग्र जीवों के कर्म के भोग निमित्त है। सब जीवों के कर्म फल के भोग निमित्त से ही ईश्वर सृष्टि रचने वाला है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांच विषयों में ही जीवों का भोग है और भोग के साथ अनुराग-आसक्ति रखने से वे ही विषय विष के समान दुःख देने वाले, वारंवार मारने वाले हो जाते हैं यह ही बंधन है। पंचभूत के विषयों को पंचभूत की पंच ज्ञानेन्द्रियां भोगती हैं। आकाश के शब्द को आकाश का करण श्रोत्र, वायु के स्पर्श को वायु का करण त्वचा, अग्नि के रूप को अग्नि का करण नेत्र, जल के रस को जल का करण जिह्वा और पृथ्वी के गंध को पृथ्वी का करण नासिका ग्रहण करता है तब जीव का उनके साथ अनुराग करना वृथा है। वह दूसरे की वस्तु को ग्रहण करता है और झूंठ मूंठ के बने हुये जीव के अभिमान से उन्मत्त की समान फूल कर अपना भोग मानता है, यह ही उसका बंधन है। जैसे बैल भरी हुई गाड़ी को खेंचता है। गाड़ी के पीछे बंधा हुआ कुत्ता इतनी भरी हुई गाड़ी को मैं ही खेंचता हूं ऐसा अभिमान करे ऐसा ही जीव का हाल है। जब तक जीव को अपना और मायिक कार्यों का बोध नहीं होता तब तक वह अनुराग किया करता है और अनुराग के फल बंधन को सहता रहता है।

शंका:—विषय प्रत्येक में समान है, विषयों से जगत् है, तब जगत् में रहते हुये विषयों का अनुराग किस प्रकार छूट सकता है? यदि विषय छोड़ दिये जांय तो फिर जीव का कोई अवलम्बन ही नहीं रहता। विषय छोड़ देने से विषय निरर्थक हो जांयगे और व्यवहार की व्यवस्था भी नहीं रहेगी।

समाधान:—विषय प्रत्येक में समान हैं परन्तु प्रत्येक में एक ही प्रकार का अनुराग नहीं है। एक विषय में एक की प्रीति होती है, उसी में अन्य की अरुचि और द्वेष होता है। इतना ही नहीं किंतु एक विषय में आज प्रीति होती है, कल उसी विषय में अप्रीति हो जाती है इस लिये विषय समान होते हुये भी अनुराग समान नहीं है। अनुराग बदलने वाली वस्तु है, उसी को बदलने की आवश्यकता है, विषयों को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। विषयों को भोग रूप से सेवन करना चाहिये आसक्ति रूप से नहीं। अनुराग छोड़ देने से विषयों की निरर्थकता नहीं होती और व्यवहार की हानि भी नहीं होती। जीव को विषय छोड़ने पर दूसरा अवलम्बन चाहिये यह तेरा कहना आरंभ में ठीक है। अष्टावक्र जी ने अपनी गीता में आरंभ में ही यह कहा है:- हे तात! जो तुझे मुक्त होने की अभिलाषा हो तो तू पांचों विषयों के अनुराग को विष समान समझकर छोड़दे क्यों कि वे ही पांच बंधन के रस्से हैं। कैदखाने में जाने वाले सामान्य कैदी को एक ही रस्सी से बांधा जाता है, पंच भौतिक भाव वाला जीव पांच रस्सों से बंधा है। इन पांच विषयों के अनुराग के बदले क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत समझकर अनुराग सहित सेवन कर। वह अनुराग बंधन करने वाला नहीं है। जो बंधन को तोड़ने निमित्त किया जाता है वह बंधन तोड़ने रूप अपना कार्य कर आप समाप्त हो जाता है।

शंका:—शरीर पंच भूतों का बना हुआ है। पांचों विषयों में से एक एककी एक एक भूत से उत्पत्ति है। इस लिये जो पंच भूत हैं वे ही विषय हैं और जो विषय हैं वे ही पंचभूत हैं इस लिये विषय छोड़ने से शरीर छूट जायगा और जब शरीर छूट जायगा तब ही विषय छूटेंगे। जब शरीर ही छूट गया तब फल किसको होगा?

समाधान:—जो तत्वज्ञ पुरुष है, वह विषयों में राग द्वेष छोड़कर प्रवर्त्त होता है। अज्ञानी मनुष्य राग द्वेष नहीं छोड़ सकता। राग द्वेष छोड़ कर विषयों में प्रवर्त होने से विषयों का स्वरूप नाश नहीं होता परन्तु मरे हुये के समान होने से वे विषय ज्ञानी को हानि नहीं पहुंचा सकते। और जब तक ज्ञानी का प्रारब्ध शेष है तब तक उस का शरीर भी सर्प की केंचली के समान दूसरों को क्रिया करता दीखता है परन्तु वह शरीर ज्ञानी की आसक्ति के हेतु रूप भाव से नहीं होता। पंचभूत के विषय और शरीर है परन्तु विषयासक्ति छोड़ने में तू शरीर छूटने की शंका क्यों करता है? शरीरासक्ति ही तुझको विषय नहीं छोड़ने देती। तू शरीर को आत्मा मानता हो तो तेरा ऐसा मानना मिथ्या है। विषयासक्ति छोड़ने का फल शरीर को नहीं होता, फल भोक्ता जीव है। विषयों की मात्र आसक्ति छोड़नी है, उस में शरीर छूटने का संभव नहीं है और प्रारब्धानुसार भोग समाप्ति से शरीर छूटेगा तो भी ज्ञानी को शरीरासक्ति न होने से कभी दुःख नहीं है।

विषयासक्ति के कारण से मृग, गज, पतंग, मछली और भ्रमर नाश को प्राप्त होते हैं यह हर एक देखता है, इन पांचों में एक एक विषय की अधिकता है। जिसमें जिस विषय की अधिकता होती है वह उसी में बंधकर मरता है। मनुष्य में पांचों विषय की अधिकता है तब विषयासक्ति बंधन में क्यों न डाले।

इसी प्रकार जो विषयों से विरक्त है, विषयों में से जिसका रस चला गया है, जिसका विषयों के सेवन में प्रेम नहीं है वह ही बंधन से मुक्त है।

अथवा होता है। जिससे बंधन होता है यदि वह न हो तो बन्धन न हो और जब बन्धन न हो अब वह बन्धनसे मुक्त है। विमुक्त, त्यागी, अतीत, वैरागी आदिक उसके पर्याय हैं।

विषयों में स्वयं आकर्षण शक्ति नहीं है। उन की तरफ अनुराग होना ही उनके सेवनमें हेतु है। इसलिये विषयासक्ति का त्याग करने वाला ही त्यागी है, सबसे परे गया हुआ अतीत है, वह ही विषयों के बन्धन से मुक्त है। जब आत्मज्ञान में स्थिति होती है तब विषयों का बन्धन छूट जाताहै विषयों के बंधन से ही शरीर की प्राप्ति है. जब विषयों के समूल बंधन से निवृत्त हो जाता है तब भविष्य शरीर धारण का हेतु भी नहीं होता है। शुद्ध अंतःकरण वाला मुमुक्षु क्रमशः विषयासक्ति को छोड़कर ज्ञानी होता है।

विषयासक्ति जगत् व्यवहारमें भी हानिकारक है। विषयासक्ति से नारद बन्दर मुख बने, रावण का नाश हुआ, कौरवों का निकंदन भी इसी से हुआ, निर्मल चन्द्र इसी कारण से कलंकित हुआ, और नहुष सर्पयोनिको प्राप्त हुआ इत्यादिक इतिहास में अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। विषयासक्ति के त्यागसे आनन्द होनेका एक दृष्टांत इस प्रकार हैः–

उज्जैनी नगरी में भद्रसेन नामक एक वैश्य था भद्रा नाम की उसकी एक पुत्री थी। जब वह पाठशाला में पढ़ती थी तब एक और वैश्य का पुत्र जिसका नाम रतनचन्द था, उससे उसकी मित्रता होगई। नादान होने के कारण वे दोनों प्रेम रहस्य से अज्ञात थे। नित्य का सहवास होने से दोनों दिल खोल कर बातचीत किया करते थे। वे दोनों पवित्र रहते थे और बड़ों की सम्मति से लग्न संबन्ध चाहते थे। एक दिन दोनों स्नेह गोष्ठि की लपट में थे, उस समय भद्रा ने रतनचन्द्र से विना विचारे एक वचन कह दियाः–

भद्रा—अपने पिता की आज्ञा मिलते ही मैं तेरे साथ लग्न करूंगी तू कुलहीन है इसलिये यदि मेरा पिता तेरे साथ विवाह न करेगा तो भी मैं प्रथम संसार सुख तुझेही दूंगी। पश्चात् पति की शैय्या पर जाऊंगी।

प्रसंग ऐसा बना कि भद्रा की इच्छानुसार न होते हुए, उसी शहर के एक साहूकार के पुत्र राजभद्र के साथ भद्रा का विवाह हुआ। भद्रा अपने मन में विचारती थी कि संसार सुख की प्रथम रात्रि रतनचन्द को किस प्रकार दूंगी। विवाह के बाद प्रथम रात्रि को राजभद्र ने भद्रा को उदास देखकर उसका कारण पूछा और भद्रा ने वचन देने की यथार्थ बात कह दी यह सुन कर राजभद्र चकित हुआ। भद्रा के सत्य वचन से उसके दिलमें क्रोध न उत्पन्न होकर अपूर्व लागनी (असर) उत्पन्न हुई और उसने भद्रा को वचन पालने जाने के लिये आज्ञा देदी। उस समय वर्षा हो रही थी। भद्रा दुखी होकर बोली "आप की उदारता को धन्य है परन्तु शोक यह है कि इस वर्षा में रतनचन्द के पास कैसे जाऊं" राजभद्र ने कहा—"कुछ चिन्ता नहीं है मैं अपने कंधे पर बैठा कर रतनचन्द के मकान पर पहुंचा दूंगा, मैं बाहर खड़ा रहूंगा जब तू लौटेगी तब तुझे लेकर लौट आऊंगा' राजभद्र के कंधे पर बैठ कर भद्रा रतनचंद के मकान पर पहुँची। रतनचन्द को भद्रा के विवाहकी खबरथी। अब भद्रा अपना वचन किस प्रकार पालन करेगी, यह देखने को वह अभी तक जाग रहा था। भद्रा ने किवाड़ खड़ खड़ाये, रतनचन्द ने किवाड़ खोल दिये। दोनों भीतर गये भद्रा सब आभूषणों से सजकर आई थी, कहने लगी "मैं अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने को ऐसी भयंकर रात्रिमें तेरे पास आगईहूं" रतनचंद आश्चर्य में डूब गया, थोड़ी देर तक उससे बोला न गया, अन्त में वह बोला "शाबाश भद्रा! शाबाश! तू एक वचनी है! बस तेरा वचन पूर्ण हुआ अब तू जा, तू दूसरे की मिलकत है, मुझे अपराधी न बना!" भद्रा उसका धैर्य और विषय त्याग देख

कर प्रसन्न हुई। ये सब बातें नीचे खड़ा हुआ राजभद्र सुन रहा था, अपनी स्त्री की निर्दोषिता और एक वचनी पने से प्रसन्न होकर कह रहा था "मैं भद्रा को उसका वचन पालने को ले आया, यह ठीक ही किया है।" इस बात को एक और मनुष्य भी सुन रहा था, उसे किसी ने देखा नहीं। रतनचन्द की दृष्टि भद्रा के चरणों के ऊपर पड़ी, वह आश्चर्य करता हुआ बोला "भद्रे! मार्ग में कीचड़ होते हुये भी तेरे पैर क्यों नहीं भीगे? तू अपने पति से क्या कह कर मेरे पास आई है?" भद्रा प्रसन्न होती हुई बोली "मित्र रतनचन्द! मैंने तुम्हें जिस प्रकार का वचन दिया था, ऐसा ही मैंने अपने पति से कह दिया, और उसका पालन करने को आई हूं, जलमें मैं किस प्रकार आ सकी थी क्योंकि वह ही मुझे अपने कन्धे पर बैठाकर लाये हैं!" रतनचन्द आश्चर्ययुक्त हो बोला-"धन्य है तेरे पतिको! वह कहां है?" भद्रा बोली-"बाहर खड़े हैं!" रतनचन्द ने दौड़ कर किवाड़ खोले और राजभद्र के पैरों पर गिर कर कहने लगा "शाबाश! महान् पुरुष! शाबाश! जिस प्रकार उदार चित्त, एक वचनी भद्रा है ऐसे ही आप उससे बढ़ कर हैं।" राजभद्र रतनचन्द के पैरों में गिर कर बोला "नहीं! महाशय! आपकी उदारता ने हद कर दी! आप समान नीतिवन्त, उदार आत्मा भूमि पर कहींही प्रगट होतेहैं!" यह कह कर और आनन्द पूर्वक भद्रा को ले कर राजभद्र अपने मकान पर आया। दूसरे दिन राजा विक्रमादित्य ने उन तीनों को बुलाया। भद्रा को बहिन मान कर वस्त्राभूषण दिये और राजभद्र और रतनचन्द को अपने कारभारी के मान्य पद पर नियत किया। जन्म पर्यन्त वे तीनों मित्र ही रहे। चौथा पुरुष जो इस बात को सुन रहा था वह विक्रमादित्य था जो रात्रिचर्या देखने को घूम रहा था।

ऊपर के लौकिक दृष्टान्त से भी त्याग का महात्म जाना जाता है। ग्रहण में दुःख है और त्याग में सुख है। आत्मा नित्य मुक्त है, उसे विषयों का बन्धन नहीं है, अज्ञान करके बन्धन मान लिया गया है। विषयों में माना हुआ राग बन्धन है और राग छोड़ देना बन्धन रहित होना है। जिस प्रकार जो सुवर्ण कादव युक्त हो, उसमें से कादव निकल जाना सुवर्ण शुद्ध होना है। कादव ने सुवर्ण को ढांक रक्खा था। कादव सुवर्णसे मिला हुआ—एकमेक हुआ नहीं था इसी प्रकार आत्मा अज्ञान करके विषयों में जिस प्रीति-राग करके प्रवृत्त होरहा है, उस प्रीति-राग को छोड़देना आत्माका आत्म रूप होना है। भोगों में आसक्ति वाले भी कितने ही ज्ञान की दो चार बातें सुनलेने से अपने को मुक्त मानने लगते हैं, वे मुक्त नहीं हैं किन्तु पशु समान हैं। जो आत्मभाव में स्थिति वाला है शास्त्र रहस्य के अनुसार है, वह ही मुक्त है। आत्म स्थिति मुक्त स्वरूप है और देहाध्यास की अहंता, ममता सहित आंतरिक राग बंधन है।

जब शिष्य ने पूछा कि घोर नरक कौन है तब गुरु ने कहा है कि अपना शरीर ही घोर नरक है। नरक में अनेक प्रकार का कष्ट भोगना पड़ता है, पृथ्वी में गाड़ा जाता है, जल में डुबोया जाता है, अग्नि में तपाया जाता है, वायु में उड़ाया जाता है। शस्त्र से छेदन, बंधन, ताड़न आदिक कष्ट भोग होना पुराणादिक में सुना जाता है। यदि विचार कर देखा जाय तो ये नरक के सभी कष्ट एक शरीर में भरे हुये हैं ऐसा मालूम होता है। जिसको हम पवित्र रखते हैं, समझते हैं, यह अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है। ऊपर की चमड़ी ने भीतर के सब दोषों को छुपा रक्खा है। शरीर का धारण करना ही नरक है इसलिये अपने शरीर को ही नरक कहा है। रक्त, मांस, मज्जा, स्नायु,

हड्डी, विष्टा, मूत्र वीर्य ऐसे अपवित्र पदार्थों से भरे हुये शरीर में मूर्ख मोह को प्राप्त होते हैं। शरीर की उत्पत्ति अपवित्र पदार्थों से हुई है। माता के रक्त और पिता के वीर्य से शरीर की उत्पत्ति है, ये दोनों ही मलिन दुर्गंध युक्त हैं और गीली चमड़ी में रहते हैं। इस प्रकार से बने हुये शरीर में बाहर भीतर मलिनता ही भरी है जिस को उत्तम मुख समझते हैं उसमें अंगुली डालने से झूंठी, थूक वाली हो जाती है, गुदा में अंगुली डालने से विष्टा वाली, उपस्थ में लगने से मूत्र वाली, आंख में डालने से कीचड़ वाली, नाक में डालने से भींट वाली, कान में डालने से मैल वाली हो जाती है। कांख में से दुर्गंध निकलती है, शरीर में जुंओं का वास होता है, उदर में कृमी होते हैं, इस प्रकार सब अंग अन्तर बाहर अपवित्र हैं। मूर्ख इसका अभिमान करके शरीर की चेष्टाओं को अपने में मानता है। वह ही घोर नरक है।

कोई एक मनुष्य एक साधु के पास आया करता था। एक समय वस्तुओं के गुण दोष के ऊपर बातचीत चल रही थी। वह मनुष्य अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वस्तुओं को मानता था। वह ज्ञानी तो नहीं परन्तु कुछ शुद्ध था। उस के समझाने के लिये साधु ने कहा "हम लोग एकांत वाले हैं, विशेष घूमते नहीं हैं, हम जंगल का वास ही पसंद करते हैं, शहर के अनेक पदार्थ हमने देखे नहीं हैं तू तो शहर में रहता है, मेरा एक काम कल करके लाना, जो वस्तु तुझ को खराब से खराब मालूम हो उसको थोड़ी सी लेता आना!" साधु किस कारण खराब से खराब वस्तु मंगाता है वह मनुष्य उसका कारण समझ न सका परन्तु दूसरे दिन भोजन करके साधु की मांगी हुई वस्तु लेने निकला। मार्ग में विचारने लगा "बुरी वस्तुएं बहुत हैं परन्तु सबसे बुरी वस्तु हो, वह ही मुझे लेना चाहिये" मार्ग में उसे बहुत से कंकर मिले, संयोग वश जूते का एक तला टूटा था, उसमें हो कर कंकर की नोक उसके पैर में लग गई। वह खड़ा हो कर देखने लगा कि क्या लगा है, देखने से मालूम हुआ कि कंकर लगा है, कंकर को दो चार गाली दे कर कहने लगा "हे दुष्ट! तू लोगों को बिना कारण सताता है, तेरा जन्म होना व्यर्थ है" ऐसा कहता हुआ आगे चला तो तले के भीतर कंकर बोलता है इस प्रकार भास हुआ "हे मनुष्य! तू मुझे दोष मत दे, मैं बहुत मूल्यवान् हूं, मेरी जाति में से ही हीरा, पन्ना, माणिक आदि उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य की समृद्धि कहलाते हैं. मैं इतने उच्च कुल का नहीं हूं, तो भी मकान बनाने के काम में आता हूं, कोई पक्षी अथवा बन्दर दुःख दे तब तू मुझे उठा कर दिखलाता है अथवा मारता है, मैं तेरे पैर में लगा यह बिन कारण नहीं है. तेरा जूता टूटा है तू उसे सिलवाले अथवा दूसरा पहनले, यह कहने को मैं तेरे पैर में लगा था, यदि तू मेरा कहा न मानेगा तो कोई कांटा अथवा कांच तेरे पैर में लग कर लोहू निकाल देगा, बोल, अब मैं बुरा कैसे हूं?" उस पुरुष को अपना वचन झूंठा मालूम हुआ। वह आगे चला एक तिनका देख उठा कर कहने लगा "यह बुरा है, व्यर्थ है, किसी उपयोग में नहीं आता. उड़ कर अच्छे पदार्थ में पड़ जाता है, मार्ग की बुरी वस्तुओं के संग वाला हो कर उत्तम पदार्थ को बिगाड़ देता है, साधु के पास इसे ले जाना चाहिये।" इसी समय उसके मन में तिनका कहता हो ऐसा मालूम हुआ "हे मनुष्य तू मुझे दोष क्यों देता है? मेरे गुणों का भी कुछ विचार कर, तेरे कान में कुछ भर जाता है, जहां तेरी अंगुली जा नहीं सकी तब मेरे सहारे से तू अपना कान साफ करता है, दांत में भरा हुआ मैल मेरे सहारे निकलता है, पक्षियों का घोंसला बनाने में मैं उपयोगी हूं, मनुष्य खाने पीने के पदार्थों को देख भाल कर रक्खें-उपयोग में लें, इस सूचना के निमित्त मैं पवन के सहारे

उड़ कर उनमें जा पड़ता हूं, जैसा तू समझता है, ऐसा मैं समझता हूं" मनुष्य समझ गया कि यह भी बुरा नहीं है, इस प्रकार वह सैकड़ों पदार्थ बुरे समझ कर उठाता गया और उनमें से हर एक में कुछ न कुछ गुण समझकर सबको छोड़ता गया। अंत में उसने एक स्थान पर विष्टा पड़ी देखी, उसे देख कर प्रसन्न हो कर कहने लगा "इससे बुरी दुर्गंध वाली वस्तु और कोई न मिलेगी।" ऐसा विचारकर नाक सकोड़ते हुए उसमेंसे थोड़ी एक लकड़ीकी नोंकपर लगाली और वह तुरन्तही वहांसे भागा! उसके दिलमें ग्लानि आनेसे उसके गुणोंका भास उसके चित्त में न पड़ा। वह दौड़ता हुआ साधु के पास पहुंचा और उसे दूर एक तरफ रख कर साधु के पास जा नमन किया और बैठ गया। साधु ने कहा "क्या मेरी कही हुई वस्तु लाया है?" मनुष्य ने कहा "हां (अंगुली से दिखा कर) यह रक्खी है!" साधु ने कहा— "वह क्या वस्तु है?" मनुष्य ने कहा—"सब में खराब से खराब, किसी काम में न आने वाली, (नाक मुख सकोड़ कर) विष्टा है!" साधु ने कहा—"वाह! यह तो बड़े काम की वस्तु है, तूने सुना होगा कि इसमें से नौसादर निकाला जाता है, खेतों में उसका खाद सब खादोंसे श्रेष्ठ समझा जाता है।" मनुष्य ने कहा "गुण भले हों, दुर्गन्ध वाली बुरी वस्तु उसके समान जगत् में और कोई नहीं है।" साधु ने कहा "सच है, तेरी बात भी मानने योग्य है, परन्तु विचार तो कर कि इस में दुर्गन्ध की उत्पत्ति तुझ से ही हुई है!" मनुष्य ने कहा "मुझ से उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई है? मैं तो उसे मार्ग में से उठा कर लाया हूं।" साधु ने कहा "मनुष्य उत्तम २ भोजन बनाता है, पवित्र रखता है, केसर, कस्तूरी आदिक की सुगन्ध से सुगन्धित करता है, ऐसे मिष्टान्न पदार्थ का जब शरीर से संयोग होता है, तब वह एक दिन के संग से ही विष्टा बन जाता है। जिसमें से विष्टा बनी है, क्या वह वस्तु बुरी से बुरी न थी। एक समय एक मनुष्य ने विष्टा से कहा कि तू दुर्गंध वाली बुरी वस्तु है तब वह कहने लगी कि महाशय, इसमें मेरा दोष कुछ नहीं है, मैं तो उत्तम पदार्थ थी, आपके संग ने मेरी यह दुर्दशा की है, पंचामृत रूप में आपके भोजन करने से विष्टा बनी हूं, विचार कीजिये कि जब आप का शरीर मुझे नरक बनाता है तब क्या आप शरीर के नरक का भण्डार रूप नहीं हैं।" विष्टा को विष्टा कहने से किसी को दुःख मालूम नहीं होता क्योंकि उसको विष्टा जानते हैं परन्तु शरीर को विष्टा-नरक कहने से चौंक जाते हैं, क्योंकि देह को तो केसर और कस्तूरी के समान मान रक्खा है। अन्न का देह है, अन्न की ही विष्टा है। जो मनुष्य देह के साथ एक भाव किये हुये हैं, देह के रोग से अपने को रोगी और देह के बुढ़ापे से अपने को बूढ़ा मानते हैं वे देहाभिमान वाले नरक में ही पड़े हुये हैं। देहमें जो अनेक प्रकार की आसक्ति-तृष्णा-एकता है वह ही दुःख का मूल रूप चौरासी लाख योनियों रूप नरक है।

स्वर्ग किसको कहते हैं, उसके उत्तर में तृष्णा का क्षय बताया है, स्वर्ग में जो सुख होता है, तृष्णा त्याग करने वाले को, उससे विशेष सुख होता है, तृष्णा में दुःख है और तृष्णा के त्याग में सुख रूप स्वर्ग है।

राजा नहुष धर्मात्मा था इसलिये एकबार इन्द्र के अभाव में इन्द्र बनाया गया था। इन्द्र बनने के पश्चात् तृष्णा का उदय हुआ। नहुष ने इन्द्राणी से जाकर कहा कि अब मैं इन्द्र हो गया हूं इस कारण तू मेरी सेवा कर। इन्द्राणी ने यह बात बृहस्पति से कही। दूसरे दिन जब नहुष ने फिर वह ही बात कही तब इन्द्राणी ने बृहस्पति के कहे अनुसार कहा कि यदि तू ब्राह्मणों की उठाई हुई पालकी में बैठकर मेरे पास आवे तो मैं तेरी सेवा करूंगी-तुझे पति रूप से ग्रहण करूंगी। नहुष ने

इसी प्रकार किया। अगस्त्यादि ब्राह्मणों से पालकी उठवाकर, उसमें बैठ कर वह इन्द्राणी के पास चला। मार्ग में धीरे २ चलने वाले अगस्त से चल चल कर नहुष ने उनके लात मारी। तब अगस्त ने श्राप दिया कि तू सर्प होजा। इस श्राप के कारण राजा नहुष स्वर्ग से च्युत होकर अजगर बना। विषय तृष्णा ने उसे उसके पद से गिरा दिया। ऐसी तृष्णा का नाश होना स्वर्ग है। नहुष को स्वर्ग में से गिरना पड़ा था। इसलिये जो कोई तृष्णा करता है वह नहुष से भी अधम है और जो कोई तृष्णा का नाश कर देता है वह इन्द्र से भी अधिक है।

दोहा—तृष्णा बंधन जानिये, तृष्णा क्षय है मोक्ष।
बंध मोक्ष होते नहीं, शुद्धात्मा अपरोक्ष॥

एक सन्तान रहित गरीब मल्लाह अपनी स्त्री सहित एक नदी के किनारे पर रहता था और मछलियां पकड़ कर अपना निर्वाह किया करता था। एक दिन एक भी मछली उसके जाल में न आई। तब वह वरुणदेव की प्रार्थना करने लगा। वरुणदेव ने प्रसन्न होकर उसे वरदान दिया कि आजसे तेरी भोजन विषय की चिन्ता मिट जायगी। मल्लाह ने घर पर जाकर देखा तो घर अन्न जल से पूर्ण था। मल्लाह ने सब बात अपनी स्त्री से कही। स्त्री बोली कि जब तुम पर वरुणदेव प्रसन्न हुये तब तुम वरदान मांगना भूल गये। अभी किनारे पर जाओ और वरुणदेव से कहो टूटी झोंपड़ी में हमसे रहा नहीं जाता, एक उत्तम घर हमको दो। मल्लाह स्त्री के कहे अनुसार किनारे पर आया और घर के लिये प्रार्थना की। वरुण ने प्रसन्न होकर कहा कि तेरी इच्छानुसार तेरा घर हो जायगा। मल्लाह घर गया और देखा तो झोंपड़ी का उत्तम मकान बन गया है। (स्त्री पुरुष दोनों ने आनन्द पूर्वक रात्रि व्यतीत की) प्रातःकाल होते ही स्त्री ने मल्लाह को जगाया और कहने लगी कि तुझ में कुछ बुद्धि नहीं है, ईंटों के मकान में रहने से कुछ सुख नहीं है, जब प्रचण्ड वायु चलेगा तब ईंटें अलग २ होकर गिर जांयगी और हम मर जांयगे। तू जा वरुण से कह कि वह हम को पत्थर का मजबूत मकान बनादे। मल्लाह विस्मय होता हुआ बोला कि तू क्या बकती है, कल ही वरुण ने हमें सुन्दर मकान दिया है अब मैं किस मुख से फिर मांगने जाऊँ ? स्त्री ने मल्लाह की एक बात न सुनी और जबरदस्ती उसे वरुण के पास भेजा। मल्लाह ने नदी किनारे जा प्रार्थना की कि हे देव मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण करो। वरुण ने तथास्तु कहा और मल्लाह ने घर पर आकर देखा तो मकान मज़बूत पत्थर का बन गया। मखमल की उत्तम शैय्या में भी स्त्री को नींद न आई। तृष्णा उसमें प्रवेश कर गई थी, इतने ऐश्वर्य से भी उसे संतोष न हुआ। मल्लाह की निद्रा का भंगकर, हाथ पकड़ कर बोली कि तू कब तक मूर्ख बना रहेगा, मज़बूत मकान होते हुए भी हम रक्षित नहीं हैं, वरुण के पास जाकर एक सुरक्षित दुर्ग मांगले। इतना धन, इतना वैभव, इतना खाद्य पदार्थ, इनकी रक्षा कैसे होगी ? कोई काका आकर लूट ले जायगा तो पत्थरके मकानसे क्याहोगा? मल्लाह बोला कि तू कैसी स्त्री है, वरुण देव ने हमको सब दिया है उन्हें अधिक कष्ट न देना चाहिये, यदि वे कोप करेंगे तो सब मट्टी में मिल जायगा। तुझे संतोष नहीं आता। स्त्री न मानी विचारे मल्लाह को फिर जाना पड़ा। वरुण की प्रार्थना करके कहा कि हे देव! मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण करो। वरुण ने तथास्तु कहा। मल्लाह ने घर पर आकर अपने मकान को दुर्ग के भीतर देखा। दूसरे दिन स्त्री ने प्रभात ही मल्लाह को जगाया और कहा कि देखो हमको सैना, सामर्थ्य, और दुर्ग सब कुछ मिला है परन्तु राज्य बिना ये सब शोभा नहीं देता, जा, जा, वरुण देव के पास जाकर

प्रार्थना करके विशाल राज्य ले आ। मल्लाह विपत्ति में पड़ा, स्त्री को समझाने का यत्न किया किन्तु वह न मानी। मल्लाह नदी किनारे जाकर वरुण देव की प्रार्थना कर कहने लगा कि हे देव! मेरी स्त्री की इच्छा पूर्ण कर। वरुण ने तथास्तु कहा। मल्लाह ने घर जा कर देखा तो एक बड़े राज्य का राजा बन गया। मल्लाह संतोषी था, स्त्री असंतोषी-तृष्णा वाली थी। उसे रात्रि को नींद न आई, दूसरे दिन मल्लाह को जगा कर कहने लगी कि मुझे ऐसे राज्य से क्या लाभ? चक्रवर्त्ती होना चाहिये, जा वरुण के पास से ले आ। मल्लाह बोला कि मुझे ऐसा राज्य नहीं चाहिये, मैं नहीं जाऊंगा। स्त्री बोली कि वाह, तुझे न चाहिये तो न सही, मेरे लिये मांग ला, इसके बिना मुझे शान्ति न होगी: मल्लाह वरुण के पास गया और अपनी प्रार्थना अनुसार, वह चक्रवर्त्ती राजा भी हो गया। दूसरे दिन फिर मल्लाह की स्त्री ने कहा कि अभी मेरी शांति नहीं हुई है, मैं चन्द्र, सूर्य के ऊपर अपनी सत्ता चलानी चाहती हूं। मल्लाह बोला कि हे असंतुष्ट स्त्री यह तू क्या बोल रही है, यह तेरा कहना संपूर्ण असंभवित हैं, उनके ऊपर ईश्वर का ही प्रभुत्व है। स्त्री न मानी, मल्लाह को दुखी हो कर जाना पड़ा। ज्योंही नदी किनारे जा कर उस ने प्रार्थना की वरुण ने आ कर कहा कि तेरी सब समृद्धि का क्षण में ही नाश हो जायगा। मल्लाह ने जा कर देखा तो सब मकान जल रहा है, मकान अग्नि कुण्ड हो रहा है, तृष्णा वाली स्त्री उस कुण्ड में जल रही है-तृष्णा के कारण जीते जी नरक का अनुभव कर रही है। मल्लाह ने अपना शेष जीवन दुःख भोगते हुये पूर्ण किया-तृष्णा ने अनेक ऐश्वर्य होते हुये भी अशांति और नरक का अनुभव कराया। इसी कारण तृष्णाका क्षय स्वर्गहै।

पूर्वकाल में एक जैगीषव्य नाम का योगी हो गया है। उसने अपने पूर्व संस्कारों का साक्षात्कार किया था, उससे उसे मालूम हुआ कि मैंने दश महा कल्प तक जन्म धारण किये हैं, इसके पश्चात् विवेकख्याति का उदय हुआ है। एक समय एक आवट्य नाम के योगी जो निर्माण शरीरसे विचारते थे जैगीषव्यको मिले। आवट्यने जैगीषव्यसे पूछाकि तुमने दश महा कल्प तक अनेक योनियों में भ्रमण करके क्या देखा तब जैगीषव्य ने कहाकि रूप जन्मोंमें दुःखकी विशेषता सिवाय और कुछ भी नहीं देखा, उनमें क्षणिक मायिक सुख है परन्तु कैवल्य के सामने वह तुच्छ और दुःख रूप ही है। वे सुख दुःख तृष्णा रूप तन्तु हैं, सुख में भी विशेष तृष्णा की निवृत्ति नहीं होती। तृष्णा से ही अनेक जन्म होते हैं इसलिये तृष्णा का नाश होने से बाधा रहित अनुकूल संतोष सुख स्वर्ग कहा है॥ २॥

अपूर्ण

——:०:——

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

(३) गुहाधिकरण।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्॥ ११॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—गुहां गुहा में प्रविष्टौ प्रवेश किये हुये आत्मानौ दो आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) हि ही [हैं] तद्दर्शनात् [लोक में] उनके दर्शन से।

टीकाः—'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्म विदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ [काठ०१।३।१] (अवश्य होने वाले कर्म फल को भोगने वाले सुकृत के कार्य देह के विषे श्रेष्ठ हृदय में आकाश रूप जो गुहा है उस में प्रवेश किये हुए, छाया और धूप की समान परस्पर विरुद्ध, ऐसे दोनों को ब्रह्मवेत्ता, पंचाग्नि और जिन्होंने नाचिक अग्नि

का तीन बार चयन किया है वे जानते हैं) इस प्रकार कठवल्ली में कहा है। इस में संशय होता है कि यहां बुद्धि और जीव कहे गये हैं अथवा जीव और परमात्मा कहे गये हैं। जो बुद्धि और जीव कहे गये हों तो कार्येन्द्रियों का समूह जिसमें बुद्धि प्रधान है अर्थात् शरीर विलक्षण जीव कहा गया होगा। यहां ऐसा प्रतिपादन करना युक्त है क्योंकि 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वया हं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ [काठ० १। १। २०] (कितने मनुष्य मानते हैं कि प्रेत में आत्मा है और कितने ही मानते हैं कि नहीं है इस संशय के कारण मैं यह विद्या जानना चाहता हूं आप मुझे उपदेश करें, वरों में यह तीसरा वर है) यह प्रश्न पूछा है। जो जीव और परमात्मा प्रतिपादन किये हों तो जीव से विलक्षण परमात्मा प्रतिपादन किया हुआ होता है। यह प्रतिपादन करना भी यहां युक्त है क्योंकि 'अन्यत्र धर्मादन्यत्रा धर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्। अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥' [काठ०१। २। १४] (धर्म से जो भिन्न है, तथा अधर्म से भिन्न है, इस कार्य और कारण से जो भिन्न है भूतकाल और भविष्य काल तथा वर्तमान काल से जो भिन्न है, ऐसी वस्तु जो तू जानता हो तो मुझ से कह) ऐसा प्रश्न पूछा है।

प्रतिपक्षीः—बुद्धि और जीव अथवा जीव और परमात्मा इन दोनोंमेंसे एक भी पक्ष युक्त नहींहै क्योंकि कर्म फलका उपभोग 'सुकृतस्य लोके' (सुकृत के कार्य देहके विषे) कहा है और कर्मफल का उपभोग चेतन जीव को ही हो सकता है, अचेतन बुद्धिको नहीं हो सक्ता। और 'पिबन्तौ' (दोनों पान करते हैं) इस प्रकार द्विवचन से श्रुति दो का पान दिखलाती है इसलिये बुद्धि और जीव का पक्ष तो सम्भव ही नहीं है। इसी कारण से जीव और परमात्मा का पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि चेतन होने पर भी परमात्मा को कर्म फल का उपभोग सम्भव नहीं है कारण कि 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा खाये बिना देखा करता है) ऐसी श्रुति है।

सिद्धान्तीः—यह दोष नहीं है क्योंकि 'छत्रिणो गच्छन्ति' (छत्री वाले जाते हैं) इस प्रकार यदि एक छत्री वाला हो तो भी बहुत से छत्री वाले ऐसा उपचार देखने में आता है इसी प्रकार यदि एक पान करता हो तो दो पान करते हैं ऐसा कहा जाता है क्योंकि रंधाने वाले में रांधने वाले के धर्म की प्रसिद्धि देखने में आती है इसलिये बुद्धि और जीव का ग्रहण भी सम्भव है क्योंकि कारण में कर्तृत्व का उपचार है कारण कि 'एधांसि पचन्ति' (लकड़ियां रांधती हैं—जलती हैं) ऐसा प्रयोग देखने में आता है।

और अध्यात्म अधिकार में दूसरा कोई कर्म फल का उपभोग करने वाला सम्भव नहीं है इसलिये बुद्धि और जीव का ग्रहण करना चाहिये अथवा जीव और परमात्मा ग्रहण करने चाहिये यह संशय होता है।

प्रतिपक्षीः—तब बुद्धि और जीव ही ग्रहण करने चाहिये क्योंकि गुहा में प्रवेश किया हुआ ऐसा विशेषण है। गुहा या तो शरीर अथवा हृदय होसक्ता है इन दोनों पक्षों में बुद्धि और जीव गुहा में प्रवेश किये हुये कहना यह युक्त है और परमात्मा के विषे ऐसा कहना युक्त नहीं क्योंकि सर्व व्यापक परमात्मा का विशिष्ट देश कल्पना योग्य नहीं है। और 'सुकृतस्य लोके' (सुकृत के कार्य देह के विषे) यह श्रुति ऐसा दर्शाती है कि कर्म के परिणाम का मार्ग उल्लंघन नहीं किया है। परमात्मा तो सुकृत अथवा दुष्कृत के परिणाम मार्ग में नहीं रहता क्योंकि 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' (कर्म से बढ़ता नहीं और छोटा होता

नहीं) ऐसी श्रुति है। 'छाया तपौ' (छाया और धूप) यह भी चेतन अचेतन का कथन हो तो युक्त हो सकता है क्योंकि छाया और धूप की समान अचेतन और चेतन विलक्षण हैं इसलिये यहां बुद्धि और जीव का ग्रहण करना चाहिये।

सिद्धान्ती:—यहां विज्ञानात्मा और परमात्मा का कथन समझना चाहिये क्योंकि वे दोनों आत्मा ही हैं, चेतन और समान स्वभाव वाले हैं। जहां संख्या सुनाई जाती है वहां समान स्वभाव वालों की ही लोक में प्रतीति होती है। 'अस्य गो द्वितीयोऽन्वेष्टव्यः' (इस बैल का दूसरा ढूंढ़ना चाहिये) ऐसा कहा जाता है तो दूसरा बैल ही ढूंढ़ा जाता है घोड़ा अथवा मनुष्य नहीं ढूंढ़ा जाता। इसलिये यहां कर्म फल उपयोग रूप लिंग से विज्ञानात्मा का निश्चय हुआ इसलिये दूसरे की खोज करने से समान स्वभाव वाला चेतन परमात्मा ही की प्रतीति होती है।

दूसरे यह जो कहा है कि गुहा में प्रवेश किये हुये ऐसे देखने में आता है इसलिये परमात्मा की प्रतीति न होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि गुहा में प्रवेश किया हुआ देखने में आता है इसी से परमात्मा की प्रतीति होनी चाहिये क्योंकि श्रुति और स्मृति में अनेक बार परमात्मा का ही गुहा में रहना देखने में आता है:— 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्' [काठ० १। २। १२] (गुहा में घुसा हुआ गह्वर में रहनेवाला और (पुराण), 'यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्' [तैत्ति० २। १] (श्रेष्ठ हृदय रूपी आकाश में गुहा के विषे घुसे हुये को जानता है), 'आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्' (गुहा में प्रवेश किये हुये आत्मा को खोज) इत्यादि श्रुति और स्मृति में सर्व व्यापक परमात्मा की प्राप्ति के लिए देश विशेष में उसका उपदेश विरुद्ध नहीं होता ऐसा भी कहा ही है।

सुकृत के कार्य देह के विषे रहना तो छत्री वालों के समान एक के लिये हो तो भी दोनों के लिए विरुद्ध नहीं है।

छाया और धूप की समान यह भी युक्ति है क्योंकि संसारीपना और असंसारीपना ये दोनों छाया और धूप की समान परस्पर विरुद्ध हैं क्योंकि संसारीपना अविद्या जन्य है और असंसारीपना पारमार्थिक है इसलिए 'गुहा में प्रवेश किये हुये' विज्ञानात्मा और परमात्मा हैं ऐसा ग्रहण किया जाता है ॥ ११ ॥

और किस कारण से विज्ञानात्मा और परमात्मा का ग्रहण होता है?

(शेष आगे)

कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ।

प्रथम अध्याय ।

गार्ग्य का पुत्र चित्र यज्ञ करने वाला था। उसने यज्ञ कराने के लिये आरुणि का वरण किया। आरुणि ने आप न जाकर अपने बदले में अपने पुत्र श्वेत केतु को भेजा। जब वह चित्र के पास आया तब चित्र ने पूछा "तू गौतम का पुत्र है, क्या इस लोक में कोई ऐसा गुप्त स्थान है कि जहां तू यज्ञ करके मुझे स्थापित कर सकेगा? अथवा धूम्रादि और अर्चिरादि इन दोनों मार्गों में से एक मार्ग से जिस लोक में जाया जाता है, उस लोक में क्या तू मुझे स्थापित करेगा?" श्वेत केतु ने कहा "यह मैं कुछ नहीं जानता, इस के विषय में आचार्य से पूछ देखूंगा।" यह (श्वेत केतु) अपने पिता के पास लौट गया और बोला "चित्र ने मुझ से इस प्रकार पूछा है, मैं इस का क्या उत्तर दूं?" उस के पिता ने कहा "मैं भी यह नहीं जानता, चल हम उस के घर पर चलें, और वहां वेदाध्ययन करके उस से ज्ञान प्राप्त करें, क्योंकि जब अन्य अपने को देता हो उस की ना न करनी चाहिये।" अनन्तर हाथ में समिध लेकर वह गार्ग्य के पुत्र चित्र के पास गया और कहा "मैं आप से ज्ञान प्राप्त करने आया हूं" तब चित्र ने कहा "गौतम! तू ब्रह्मविद्या प्राप्त करने योग्य है क्यों कि तुझ में अहंकार नहीं है, तू मेरे पास आ, मैं तुझे ब्रह्म विद्या का उपदेश करूंगा" ॥१॥

चित्र बोलाः—"जो कोई इस लोक में से जाते हैं वे सब चन्द्र लोक में जाते हैं, शुक्ल पक्ष में चन्द्र उन लोगों को देख कर प्रसन्न होता है परंतु कृष्ण पक्ष में उन जीवों को अन्य जन्म में प्रेरता है। सचमुच चन्द्र स्वर्ग का द्वार है, जिस को इस चन्द्र लोक की इच्छा नहीं होती उस को वह ऊर्ध्व लोक में भेजता है परंतु जिस को चन्द्र लोक की इच्छा होती है उस को वह वृष्टि रूप से इस लोक में भेजता है। वहां वह कीट, पतंग, पक्षी, बाघ, सिंह, मत्स्य, रीछ, मनुष्य अथवा कोई अन्य प्राणी रूप से अपने कर्म और विद्या के अनुसार जन्म धारण करता है। जब वह जन्म लेता है तब गुरु उस का पूछता है "तू कौन है?" तब इस का उत्तर नीचे के समान देना चाहिये" विचक्षण और ऋतु के अधिष्ठाता ऐसे चन्द्र में से मैं एकत्र हुआ था, यह चन्द्र शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष को उत्पन्न करता है, वह पितरों का स्थान रूप है। उस चन्द्र की उत्पत्ति नित्य क हवि में से होती है। रेत रूप मुझ को देवताओं ने मनुष्य में रक्खा। मनुष्य का निमित्त कर के देवताओं ने मुझे स्त्री में रक्खा, उस में से मैं बारह अथवा तेरह मास रूप से अथवा जीवित रूप से मनुष्य जन्म को प्राप्त हुआ था। सत्य और असत्य का ज्ञान जानने के निमित्त बारह अथवा तेरह मास रूप पिता के साथ जुड़ा था, हे देवताओ! मेरा जीवित योग्य समय तक रहने दो, कि जिस से अमृतता को प्राप्त होऊं। अपने सत्य से-महनत और सहन शीलता से मैं काल रूप हूं, मैं काल के आधीन हूं, तुम कौन हो?" तब वह कहता है "मैं भी तेरे समान हूं!" पश्चात् वह उस को आगे जाने देता है ॥२॥

देव यान मार्ग को प्राप्त हो कर वह अग्नि लोक की तरफ जाता है, उस स्थान से वायु लोक में जाता है, वहां से वरुण लोक में, वहां से इन्द्र लोक में, वहां से प्रजापति लोक में और वहां से ब्रह्म लोक में जाता है। ब्रह्म लोक में अर नाम का सरोवर, इष्टिह नाम का समय, विरजा नाम की नदी, इल्य नाम का वृक्ष, शालज्य नाम का नगर, अपराजित नाम का प्रासाद, इन्द्र (वायु) और प्रजापति (आकाश) द्वार पाल रूप से हैं। ब्रह्म का विभु नामक सुसज्जित कमरा है, विचक्षणा (बुद्धि) उस की तख्त (गद्दी) है) उत्कृष्ट तेज वाला पलंग, मानसी नाम की प्रिया, चाक्षुषी नाम का प्रतिबिम्ब है जो पुष्पों के समान जगत् को बनता है सब की माता (श्रुति) रूप और अक्षर (श्रुति ज्ञान) रूप अप्सरायें और ब्रह्म ज्ञान में वहन करने वाली नदियां होती हैं। ब्रह्म को जानने वाला आगे बढ़ता है, उस समय ब्रह्म अपने सेवकों से कहता हैः—"मेरे यश से तुम दौड़ जाकर उस से मिलो, वह विरजा नाम की नदी को फलांग चुका है, अब वह कभी भी जरा युक्त नहीं होगा ॥३॥

पांच सौ अप्सरायें उसे मिलने को सामने जाती हैं उन में सौ अप्सराओं के हाथों में माला होती है एक सौ अप्सराओं के हाथों में अंजन होता है, एक सौ अप्सराओं के हाथों में चूर्ण होता है, एक सौ अप्सराओं के हाथों में वस्त्र होते हैं और एक सौ अप्सराओं के हाथों में जवाहरात होते हैं। वे

उस ब्रह्म के अलंकार से सुशोभित बनाती हैं। ब्रह्म के अलंकारों से अलंकृत, और ब्रह्म को जानने वाला ऐसा वह ब्रह्म के समीप जाने लगता है। प्रथम वह अर नाम के सरोवर के पास आता है, मन से इस सरोवर का अतिक्रमण करता है। जो वर्तमान समय को जानते हैं व इस सरोवर के पास आते ही उस में डूब जाते हैं। पश्चात् वह यज्ञ की इष्टि के नाश करने वाले मुहूर्तों के पास आता है, वे उसे देखते ही भाग जाते हैं, पीछे वह विरजा नाम की नदी के पास आता है, इस नदी का मन से अतिक्रमण करता है। इस स्थान पर वह अपने सुकृत और दुष्कृत का त्याग करता है। उस के प्रिय कुटुम्बी-उपासना करने वाले उस के सुकृत को प्राप्त करते हैं और उस का अप्रिय करने वाले, उस के दुष्कृत को लेते हैं। जैसे रथ में बैठ कर जल्दी से गमन करने वाला पुरुष रथ के चक्र की तरफ़ दृष्टि करता है वैसे ही वह दिन और रात्रि को देखता है। इसी प्रकार सुकृत और दुष्कृत तथा सर्व द्वन्द्व भावों को देखता है। इस प्रकार सुकृत और दुष्कृत से रहित हो कर ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म प्रति जाता है ॥ ४ ॥

वह इल्य नाम के वृक्ष के पास आता है, उस को ब्रह्म की गंध आती है, पीछे शालज्य नाम के शहर के पास आता है, उस में ब्रह्म तेज का प्रवेश होता है, पीछे वह अपराजित महल के पास आता है उस में ब्रह्मतेज प्रवेश करता है पीछे जिस स्थान पर इन्द्र और प्रजापति द्वारपाल हैं वहां आता है। वे उसे देख कर भग जाते हैं। वह विभु नाम के कमरे में आता है तब उस में ब्रह्म का यश प्रवेश करता है। वह विचक्षण नाम की तख़्त (गद्दी) के पास आता है। इस तख़्त के पूर्व को तरफ़ के दो पाद बृहत और रथंतर नाम के साम हैं। श्येत और नौधयी उसकी पश्चिम तरफ़ के पाद हैं। विरूप और वैराज साम उस के उत्तर और दक्षिण के कोण हैं और शाक्वर और रैवत साम पूर्व और पश्चिम की तरफ़ के कोण हैं। यह वेदी ज्ञान रूप है। प्रज्ञा से वह सब को देखता है। पीछे वह उत्कृष्ट तेज वाले पलंग के पास आता है। यह पलंग प्राण रूप है, भूत और भविष्य उस के पूर्व पाद हैं, श्री और पृथ्वी उस के पश्चिम पाद हैं बृहद् और रथंतर नाम के साम उत्तर और दक्षिण तरफ़ की पाटी हैं, भद्र और यज्ञायज्ञीय पूर्व और पश्चिम की तरफ़ की पाटी हैं। ऋक् तथा यजुष पूर्व पश्चिम तरफ़ की निवार है यजुष उत्तर दक्षिण तरफ़ की निवार है। चन्द्र की किरणें गेंदुआ (कान के नीचे रखने का तकिया) है उद्गीथ चद्दर है अभ्युदय तकिया है, इस पलंग पर ब्रह्म विराजता है। जब एक पैर को ऊपर रख कर ब्रह्म का ज्ञाता ऊपर चढ़ने को जाता है, तब ब्रह्म उस से पूछता है "तू कौन है?" तब उसे नीचे के समान कहना चाहिये ॥ ५ ॥

"मैं काल रूप हूँ, ऋतुओं में जो होता है, सो रूप मैं हूँ, मेरी उत्पत्ति आकाश में से है, संवत्सर का रेत रूप, भूत और कारण का तेज रूप, जड़, चेतन्य सब का आत्मा रूप, और पंच भूतात्मक सबल ब्रह्म के तेज में से मेरा उद्भव है, तू यह आत्मा रूप है, जैसा तू है वैसा ही मैं हूँ।" ब्रह्म उस से पूछता है "मैं कौन हूँ?" तब कहना चाहिये "तू सत्य रूप है" "सत्य क्या है?" "जो सब (इन्द्रियों) के अधिष्ठाता, देवों और प्राणों से भिन्न है। तद् यह ही सत्य रूप से है। जो देव और प्राण हैं सो सत्य रूप हैं। यह सत्य इस शब्द से सब से पहिचाना जाता है। इस प्रकार का सब विश्व है। तू भी सर्व रूप है, इस प्रकार वेद के मंत्र से कहा जाता है॥ ६ ॥"

यजुष् उदर रूप है। साम मस्तक रूप है। ऋक् उस की मूर्ति रूप है इस प्रकार अक्षर ब्रह्म है, उस को ऋषि, ब्रह्ममय अथवा महान रूप से जाने। ब्रह्म उस से पूछता है "मेरे पुलिंग नाम तूने किस प्रकार प्राप्त किये?" वह उत्तर देता है "प्राण से।" "मेरे स्त्री लिंग के नाम किस प्रकार प्राप्त किये?" तब कहता है "वाणी से" "मेरे नपुंसक नाम किस प्रकार प्राप्त किये" तब कहता है "मन से" गंध किस से?" "घ्राणेन्द्रिय से" "रूप किस से?" "चक्षु से" "शब्द किस से?" "श्रोत्रेन्द्रिय से" "अन्न का रस किस से?" "जिह्वा से" "कर्म किस से" हाथों से" "सुख दुख किस से?" "शरीर से" "आनन्द रति और प्रजा किससे?" "उपस्थेन्द्रिय से" "गति किस से?" "पग से" "बुद्धि किस से पहिचानती है?" "प्रज्ञा से" इस प्रकार उस से कहना चाहिये। पीछे ब्रह्म उस से कहता है "यह जल मेरा है, उस जल से बना हुआ यह लोक तेरा है"। जिसको इस प्रकार ब्रह्म ज्ञान होता है वह ब्रह्म में जो सम्पत्ति है, उस को जीतता है और ब्रह्म में जो कुछ शक्ति है वह उस को प्राप्त होती है ॥ ७ ॥

अपूर्ण

Registered No. A. 860

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक २ } पौष सं० १९७७। जनवरी १९२१ { अङ्क २

श्लोक—तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

सम्पादक
पं० शंकरलाल कौशल्य, बेलनगंज,
आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य।-)

दामोदर यन्त्रालय प्रतापपुरा आगरा के मैनेजर पं० श्यालीराम के प्रबन्ध से छापा गया।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेज़ी मास के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इस का मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।

(४) एक अंक का मूल्य।-) लिया जायगा। नमूने का अंक पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उन को १५ तारीख़ तक सूचना देनी चाहिये।

विलम्ब का कारण।

छापे खाने में आदमी कम हो जाने से पत्र समय पर न निकल सका।

सुधार।

गताङ्क के ३१ वें पृष्ठ के दूसरे कोलम की २७ वीं लाइन में 'बड़े' के बदले 'छोटे' और 'छोटे' के बदले 'बड़े' पढ़ना।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द ......मूल्य रु० ३।-)

" द्वितीय " " ...... " " ३।-)

" प्रथम " विनाजिल्द " " ३)

" द्वितीय " " " " ३)

डांक महसूल ग्राहक को देना पड़ेगा।

सम्पादक।

ॐ
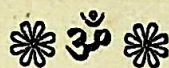
पुस्तक ३ } पौष सम्वत् १९७७। जनवरी १९२१ { अङ्क ३

तृष्णा।

हरि गीत छुन्द।

(१)

तृष्णा पिशाचिनि ! हाय! तेरे संग ने अनरथ किया।
पाये अनेकों जन्म, दुख ही दुख सहे जहँ २ गया॥
हो मातु से उत्पन्न ज्यों बिच्छू उसे ही खाय है।
त्योंही तुझे जो जन्म दे, उसको हि तू खा जाय है॥

(२)

ज्यों बेलि कंटक की बढ़े तैसे हि तू विस्तारती।
जो शर्त बढ़ने की करे, विषबेलि तुझ से हारती॥
ज्यों २ सहारा पाय तू त्यों २ अधिक अधिकाय है।
समता मिटाय अशांतिमद् दिन२ अधिक उपजाय है॥

(३)

लम्बा बहुत तव तंतु है, नहिं खेंचने से खूटता।
चिकना, फिसलना पक्क अति नहिं तोड़ने से टूटता॥
मकड़ी बना कर जाल ज्यों निज भोज्य को है गांसती।
त्योंहीं अनेकों फंद कर, निज पति हि को तू फांसती॥

(४)

हे अंधि ! तू अंधी हुई, करि करि अनेकों कल्पना।
खाईं हजारों ठोकरें, फिर भी वही अंधापना॥
तुझको नहीं हूं छोड़ता, पाया न कुछ तुझसे कभी।
तुझ सी कहीं दुष्टा नहीं ! मुझ सा नहींहै मूर्ख भी॥

(५)

मूढ़ा ! बिनो अधिकार ही हर काम में फँसजावती।
तेरा किया नहिं होय कुछ, क्यों कष्ट व्यर्थ उठावती॥
यक्षाधिपति ज्योंकर सका, नहिं तृप्ति तेरी कोय भी।
अब भी न कोई कर सके, नहिं होय आगे भी कभी॥

(६)

जलता हुआ ज्यों अग्नि घी डाले अधिक ऊंचा चढ़े।
ज्यों ज्यों करे तव पूर्ति, त्यों त्यों तू बहुत ही है बढ़े॥
तू धूल सम अति तुच्छ है, तो भी बहुत ही है बड़ी।
पाषाण सम भारी बने ज्यों बज्र होती है कड़ी॥

(७)

तुझ सी नहीं डायन कभी देखी किसी ने है कहीं।
तू हर किसी को है लगी सुर, सिद्ध, मुनि छोड़े नहीं॥
ज्यों काठ में हो घुन लगा, भीतर हि भीतर नाशता।
त्यों खागई तू सर्व को, केवल ढचर ही भासता॥

(८)

तेरे भयंकर रोग में सब लोग दीखें हैं फँसे।
क्या होय औषधि आप ही जब गारुडी होवें डसे॥
मैं भी बहुत से काल से यह औषधी था ढूंढ़ता।
पाई नहीं औषधि कहीं, घन २ फिरा मैं घूमता॥

(९)

किस भांति हो आरोग्यता औषधि नहीं मिलती कहीं
पंडित सयाने ज्योतिषी कुछ यत्न कर सक्के नहीं॥
बूटी न कोई काम दे, सिद्धी न होवे मंत्र से।
तंत्री तथा सब थक गये, नहिं काम निकला तंत्र से॥

(१०)

सूने शिखर के महल में सद्गुरु कृपा पाई कुटी।
देखी वहां संतोष औषधि, पीते हि व्याधी मिटी॥
कौशल्य ! उसका पान कर पूरी हुई आरोग्यता।
तृष्णा ! भगी तू आश तज, पाया नहीं तेरा पता॥

दुःख किस से होता है ?

दुःख अपने को भूल आने रूप अज्ञान से, अहं, मम भाव से, कामना से, राग द्वेष से तथा अयोग्य सम्बन्ध से होता है। इस प्रकार भिन्न २ प्रकार से होते हुये भी दुःख का मुख्य कारण एक अज्ञान ही है। यदि अज्ञान न हो तो अहं मम भाव न हो, यह न हो तो कामना न हो, कामना न हो तो रागद्वेष न हो, रागद्वेष न हो तो अयोग्य संबंध न हो, अयोग्य सम्बन्ध न हो तो शरीर न हो और शरीर न हो तो दुःख न हो। सारांश यह है कि दुःख की उत्पन्न करने वाली अज्ञान से की हुई कामनायें हैं। जो कोई शंका करे कि जब दुःख अज्ञान से ही होता है तब जब अज्ञान निवृत्त हो जाय, तब उन सब का नाश हो जाना चाहिये और जिस ज्ञानी का अज्ञान निवृत्त हो जाता है उसमें अहं मम भाव, कामना, राग-द्वेष और उसका शरीर दीखता है तब कैसे जाना जाय कि अज्ञानसे ही उन सब कारणों सहित कार्य रूप दुःख की उत्पत्ति होती है ? इसका उत्तर यह है कि जिन ज्ञानियों का अज्ञान निवृत्त हो जाता है, ऐसे ज्ञानी जीवन् मुक्त और विदेह मुक्त दो प्रकार के होते हैं। जो जो दोष ऊपर गिनाये विदेह मुक्त के उन सब दोषों का स्वरूप से नाश हो जाता है और जीवन् मुक्त के शरीर आदि का स्वरूप से नाश नहीं होता। जब तक उसके शरीर का पूर्व प्रारब्ध है तब तक भाव नाश रहता है और प्रारब्ध समाप्त होने पर विदेह कैवल्य में स्वरूप का भी नाश हो जाता है। व्यवहारिक मनुष्यों को भाव नाश जानने में आना कठिन है। ज्ञानी के भाव से वह नाश को प्राप्त होता है। स्वरूप से भाव प्रबल है क्योंकि स्वरूप का कारण भाव है, भाव के नाश होने से स्वरूप का समय पर अवश्य नाश होता है। यदि स्वरूप का नाश हो जाय और भाव बना रहे तो वह भाव नवीन स्वरूप धारण कर लेता है। थोड़ी बुद्धि के साथ विचार करने से मालूम होगा कि दुःख अज्ञान के सिवाय और किसी कारण से कभी नहीं होता। लोग अज्ञान को अज्ञान नहीं समझें तो भी जिससे दुःख होता है वह अज्ञान ही है, कोई २ उसे अविवेक भी कहते हैं। आत्मा और अनात्मा को भिन्न समझना, आत्मा में निष्ठा रखना, यह विवेक कहा जाता है और आत्मा अनात्मा को एकमेक करके समझना अविवेक है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, उससे विरुद्ध ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। अज्ञान, माया, प्रकृति, अविद्या, भूल, भ्रम, कल्पना ये सब एक ही के नाम हैं। जब तक आत्मा उसके भाव वाला रहता है तब तक संसार रूप समुद्र में गोते खाया करता है, घबराता रहता है और जन्म मरणादि दुःखों को प्राप्त हुआ करता है। एक थोड़ी सी भूल वृक्ष के बीज समान हो जाती है और संयोग पाकर विशाल वृक्ष हो जाती है. इस प्रकार भूल के अनेक फल भोगे जाते हैं। पश्चात् भूल रूप वृक्ष के अनंत बीज होते हैं और इतने फैल जाते हैं कि वृक्षों का एक महान् आरण्य हो जाता है। इस प्रकार थोड़ी सी भूल करने वाला महान् भूल का भोग हो जाता है। चक्र वृद्धि व्याज में आरंभ में जैसे किंचित् भूल हो जाय तो अंत में महान् रूप हो जाती है ऐसे ही भूल चक्र वृद्धि सूद के समान वृद्धि को प्राप्त होती रहती है। २×२=४, ४×४=१६, ८×८=६४ के समान वर्ग रूप से बढ़ती जाती है-गुणी की गुणी होती हुई चली जाती है। इसको निवृत्त करने का उपाय यह ही है कि आद्य भूल को निकाल कर हिसाब को ठीक मिलाना चाहिये। यह आद्य भूल, जिसमें अहं मम नहीं उसमें अहं मम मानने से होती है और ऐसा मानना अज्ञान से होता है।

शंका—अज्ञान का कोई स्वरूप दिखाई नहीं देता। तुम उसे अवस्तु रूप कहते हो, अवस्तु से किसी को दुःख होता हुआ आज तक देखा सुना नहीं है इसलिये मेरा चित्त यह कहता है

अवस्तु रूप अज्ञान से किसी को दुःख नहीं होता, किंतु दुःख कर्म से होता है। पूर्व में किये हुये निषिद्ध कर्मों का फल दुःख है।

समाधान—अज्ञान का स्वरूप क्यों नहीं दीखता? सब जगत् ही अज्ञान स्वरूप है। यदि तू कहे कि वह अज्ञान का कैसे है। वह तो सत्य है, तो सुनः—मैं कहताहूं कि जैसा असत्य हम मानते हैं, वैसा ही है। सत्य की व्याख्या यह है जो अखंडित, एक रस, अविकारी हो वह सत्य है, जगत् इस प्रकार का नहीं है क्षण क्षण में बदलता रहता है। ऐसे बदलने वाले को हम असत्य कहते हैं। अज्ञान अवस्तु ही है, अवस्तु से कभी किसी को दुःख नहीं होता, यह कहना सत्य है. परन्तु जब अवस्तु को अवस्तु जानते हैं तब दुःख नहीं होता। अवस्तु होते हुए भी जब उसे वस्तु जाना जाता है तब दुःख अवश्य होता है। जैसे अंधेरे में किसी वृक्ष की छाया देखकर यदि उसे भूत समझलें तो दुःख अवश्य होता है यद्यपि छाया अवस्तु रूप है इसी प्रकार अज्ञान अवस्तु है। जो अज्ञान को अवस्तु जानता है उसे दुःख नहीं होता और जो उसे वस्तु जानता है उसे दुःख होता है। स्वप्न का सिंह अवस्तु है परंतु स्वप्न में ऐसा बोध नहीं होता है कि वह अवस्तु है इसलिये दुःख-भय होता है इसी प्रकार अज्ञान-संसार अवस्तु को तू सत्य मानता है इसलिये अवस्तु होते हुये भी तुझ को अवश्य दुःखदायक होता है। दुःख कर्म से होता है यह सामान्य कहना है। हम पूछते हैं कि कर्म से किस प्रकार दुःख होता है। कर्म जड़ है, उसमें दुःख देने की सामर्थ्य नहीं है। एक कर्म का फल जो तू दूसरे जन्म में मानता है यह किस प्रकार बने? जो शरीर कर्म करता है वह नाशको प्राप्त होगया। जो कर्म उस शरीर से किये थे, उसके साथ वे भी नाश को प्राप्त होगये तो उनका फल दूसरे जन्म में किस प्रकार प्राप्त होगा? विचार से देखा जाय तो कर्म से दुःख नहीं होता किंतु कर्म में रहने वाला जो अज्ञान है, वह अज्ञान कर्मों के सूक्ष्म संस्कार रूप भाव को पकड़ लेता है और अन्य जन्मोंमें उन कर्मों के फल को प्राप्त कराता है उस फल के उदय होने से दुःख होता है। यदि कर्मों से ही दुःख माने तो भी उनका कारण रूप जड़ अज्ञान ही है। अज्ञान-चैतन्य के आश्रय है इसलिये उसका फल होना संभव है।

जब किसी से कहा जाता है कि तुमने ही अपने दुःख को उत्पन्न किया है-दुःख को न्योता देकर तुमने ही बुला लिया है तो वह आश्चर्य करता है और कहता है कि ऐसा कौन होगा जो अपने ही पैर में लगने के लिये परिश्रम करके कांटों का वृक्ष बोवेगा! मनुष्य में बुद्धि है, वह पशु समान बुद्धि-रहित नहीं है, क्या वह इतना मूर्ख है कि अपना दुःख आप ही उत्पन्न कर लेता है। इसका उत्तर यह है कि मूर्ख तो अच्छा होता है परन्तु अज्ञानी उससे भी गया बीता है क्योंकि तुम जो सुख की कामनायें किया करते हो, वे कामनायें ही दुःख का न्योता होजाती हैं इसलिये तुम्हारा बुलाया हुआ दुःख ही आकर तुमको पीड़ा देता है। कहावत है कि अंधे को न्योते तो दो मनुष्यों का भोजन तैयार कर रक्खे, अन्धा अकेला नहीं आ सकता, उसको लाने वाला दूसरा उसके साथ होता है इसलिये अन्धे के साथ उस को भी भोजन कराना पड़ता है। यदि ऐसा न करे तो अयोग्य समझा जाता है। इसी प्रकार सुख की कामना अन्धे के समान है, कामना में कुछ सूझता नहीं है इसलिये वह अन्धी है, दुःख उसके साथ आता है। सुख कामना दुःख रहित कभी भी नहीं होती। इस प्रकार तुम दुःखको बुलातेहो। अज्ञान की कामना से दुःख होता है। तुमने अज्ञान को धारणकर रक्खाहै इसलिये सुखकी कामना करते हो और दुःख उसके साथ दौड़कर आजाता है। मनुष्यमें बुद्धि अवश्य है परन्तु जब मनुष्य अज्ञान भाव में होता है तब उसकी बुद्धि पशु की बुद्धिसे भी विशेष मलिन होजाती है। एक विषयमें अनेक वार कष्ट उठाकर अज्ञानी फिर भी उसी में प्रवर्त्त

होता रहता है इसलिये मूर्ख कहलाता है। सच मुच! जैसा तू कहता है अज्ञानी वैसा मूर्ख ही है यदि मूर्ख बनने में तुझे लज्जा आती हो तो मूर्ख बनाने वाला-दुःखी करने वाला जो अज्ञानहै, उसे छोड़ दे। मनुष्य ही अपनी भावना-वासना से सब कुछ कर डालता है। संसार भावना का फल रूप है, जबतक भावना-वासना फल देने योग्य दृढ़ नहीं होती तब तक उसका फल नहीं दीखता परन्तु ज्ञान बिना वह कभी न कभी दृढ़ होकर फल अवश्य देती है। सारांश अपने आत्मा के अज्ञान से ही जगत् और जगत् के दुःख हैं।

विरुद्धावती नगरी में अज्ञानचन्द नाम का एक राजा राज्य करता था। उसी के समान उसे प्रधान भी मिला था जिसका नाम अबुधसिंह था। इस राजा की राजधानी में दिन को रात और रात को दिन मानने का नियम था। उसी नगरी में हरिराम नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह नाम के समान गुणवाला और विद्वान् था। इस ब्राह्मण के पास एक नौकर था जो माल खा खाकर बहुत मोटा ताज़ा हो गया था। उस नगरी में सबसे भारी मनुष्य वहही था,कुशलचन्द उसका नाम था।

एक बार एक परदेशी मनुष्य उस नगरीमें आया वह उस नगरी की रीतिभाव नहीं जानता था। उसने अन्न पकाने के लिये बाजार के एक कौने की ज़मीन में गड्ढा खोदा और आग सुलगा कर दाल बाटी बनाई। जब वह भोजन करने लगा तो पुलिस के एक सिपाही ने गड्ढा खुदा हुआ देख कर उसे पकड़ लिया और कहा "तू चोर है, तूने पास के मकान में चोरी करने को यह गड्ढा खोदा है!" परदेशी चकितहो बोला "भलेमानस! क्या दिन नहीं है? भला दिन में भी कहीं चोर पेंडा लगाने की हिम्मत कर सकता है? मैंने दीवार तो नहीं तोड़ी भोजन बनाने को जमीन में गड्ढा खोदा है!" सिपाही बोला "इस राज्य में दिन को रात मानते हैं और रात दिन मानी जाती है!" यह कहकर वह उसे पकड़ कर पुलिस स्थान पर लेगया।

दूसरे दिन अज्ञानचन्द राजा राज सभा में विराजमान् था और उसके दहने हाथ पर महा-चतुर अबुधसिंह प्रधान बैठा था। पुलिसने आरोपी को खड़ा किया और आरोपका वर्णन किया। राजा ने आरोपीको कुछ भी कहने न दिया और शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दी। अबुधसिंह ने कहा "महाराज! हाल में ही एक नई शूली तैयार हुई है। उसका फल कुछ बड़ा है! उस पर प्रथम प्रयोग रूप से किसी मनुष्य को चढ़ाना चाहिये, इस प्रकार शूली की परीक्षा हो जायगी, पश्चात् चोर को शूली पर चढ़ाना चाहिये।" राजा मस्तक हिला कर बोला "यह तुम्हारा विचार उत्तम है।" यह कह कर राजा ने किसी मोटे ताज़े मनुष्य को नगर में से ढूंड कर लाने की आज्ञा दी और ऐसा मनुष्य मिलने पर चोर को छोड़ देने को भी कहा। सिपाही नगरी में दौड़े गये और सब से मोटे ताज़े हरिराम के नौकर कुशलचंद को पकड़ लाये। उसे देख कर राजा हर्षित होकर बोला "जैसा मनुष्य हम चाहते थे वैसा ही मिल गया है, शूली का और इसका मेल ठीक मिल जायगा!" राजा की आज्ञा शूली पर चढ़ने की सुनते ही कुशलचंद बोल उठा "महाराज! शूली पर चढ़ने की आपकी आज्ञा को मैं मानता हूं, मुझको कुछ भी उज़र नहीं है, यह शूली जब मैंने देखी, तब उसमें रहने वाला अपूर्व रहस्य मेरे जानने में आया, जो मेरे कहे का प्रमाण चाहिये तो इस नगरी के विद्वर्य, महान् बुद्धिशाली पंडित हरिराम से पूछ लीजिये, कटरे के मंदिर में वे रहते हैं।" राजा की आज्ञा से सिपाही हरिराम को लेने दौड़ गये।

हरिराम ने सब बात राजा के चपरासी से सुनली, वह राजा की मूर्खता को जानता भी था। चपरासी के साथ २ कचहरी में पहुंचा और शूली को देखते ही दूर से ही दंडवत् प्रणाम करने लगा।

और इस प्रकार शूली के पास पहुंचने तक सैकड़ों ही दंडवत् की होंगी ! हरिराम की यह चेष्टा राजा और प्रधान देख रहे थे। हरिराम ने शूली के पास पहुंचते ही वेद मंत्र उच्चारण करते हुये तीन प्रदक्षिणा कीं और फिर वह राजा के समीप हाथ जोड़कर खड़ा होगया ! राजा ने कहा "पं-डित जी ! इस प्रकार आते हुये शूली को प्रणाम करने का और प्रदक्षिणा करने का क्या कारण है ? क्या वह कोई महान् देव है ?" राजाका कहा हुआ कुछ सुना ही न हो इस प्रकार दर्शाता हुआ हरिराम बोला "गो ब्राह्मण प्रतिपाल ! महाराजा-धिराज ! मैं इस शूली पर चढ़ना चाहता हूं ! कृपा करके मेरे हित निमित्त अपने अनुचरों को मुझे सत्वर शूली पर चढ़ा देने की आज्ञा दीजिये।" राजा ने कहा "पंडितजी! इसका कारण तो बताओ, आप शूली पर चढ़ने को इतने उत्सुक क्यों हो रहे हैं ?" हरिराम बोला "महाराज ! आज शूली मात्र के दर्शन से मुझे जो लाभ हुआ है, इससे मैं अपना अहो भाग्य समझता हूं, यह प्रसंग अनेक जन्मों के किये हुये पुण्य कर्म का फल मुझे आज प्राप्त हुआ है ! यह शूली अत्यन्त पवित्र मुहूर्त में बनी है ! यह शूली क्या है, अनेक प्रकार के शूलों को निवारण करने वाला महान् देव है ! इस शूली में तेतीस कोटि देवताओं का वास है। इस लिये जो कोई इस पर चढ़ेगा वह शाश्वत स्वर्गीय सुख भोगने के लिये तत्काल स्वर्ग में चला जायगा ! यह शूली पूर्व शिव लोक में थी, इसके प्रभाव से ही शंकर का नाम शूल पाणि पड़ा है ! हे राजा ! तेरे अत्यंत धार्मिक योग से तेरे देश में इस शूली का आविर्भाव हुआ है ! इस शूली को स्वर्ग पहुंचाने वाला विमान कहने में अतिश-योक्ति नहीं है !"

हरिराम के मुख से शूली का इस प्रकार का महात्म्य सुन कर राजा बोला "हे पंडित महा-शय ! मैं आप का आभार मानता हूं कि आपने इस शूली का महात्म्य सुनाया है, अब तो प्रथम मैं ही इस शूली पर चढ़ना चाहता हूं ! प्रथम मैं ही स्वर्ग सुख प्राप्त करूंगा।" हरिराम बोला "हे राजन् ! शूली स्वयं आप की है, आप चाहे जिस समय इस शूली पर चढ़ सक्ते हैं, यदि आप आज मुझे इस शूली पर चढ़ जाने देंगे तो आपका इस गरीब ब्राह्मण के ऊपर बड़ा उपकार होगा !" राजा पुकार कर बोला उठा "नहीं ! नहीं ! मैं इस शुभ मुहूर्त को हाथ से न जाने दूंगा ! मैं ऐसा मूर्ख नहीं हूं !!! इस राज्य का राजा होने से सब से प्रथम स्वर्ग जाने का मेरा अधिकार है !" हरिराम बोला "महाराज ! आप की इच्छा को कौन रोक सक्ता है ? अच्छा ! प्रथम आप ही स्वर्ग को सिधारिये ! आप वहां भी राजा ही बनेंगे। आपको वहां प्रधान की भी आवश्यकता होगी !" राजा बोला "यह मेरा महा बुद्धिशाली प्रधान है। ऐसा प्रधान मुझे और नहीं मिल सक्ता। उसे भी मैं साथ ही स्वर्ग में ले जाऊंगा। हे शूली पर चढ़ाने वाले ! मेरे बाद प्रधान जी को भी अवश्य शूली पर चढ़ा देना !"

हरिराम ने शूली की पूजा की, राजा और प्रधान को रक्त वर्ण के वस्त्र पहनाये गये, गले में फूलों की माला डालीं गई, इस प्रकार कुछ विधि कराके हरिराम ने राजा और प्रधान दोनों को शूली पर चढ़ा दिया। यह देखकर प्रजा जन ब्राह्मण की बुद्धिमत्ता, समय सूचकता, दक्षता और धूर्तता की मुक्त कंठ से प्रशंसा करने लगे। उसी समय हरिराम राजसिंहासन पर बैठाया गया और उसने दीर्घकाल पर्यन्त अत्यन्त दक्षता से राज्य किया और सब प्रकार से आनन्द ही आनन्द रहा।

(अज्ञानचन्द राजा अज्ञानी था। उसका प्रधान भी मूर्ख अज्ञानी था। दोनों में विवेक की छींट भी न थीं। वे विवेक रहित सब कार्य करते थे। स्वर्ग की कामना के कारण अपराधियों के लिये बनाई हुई शूली पर आप ही चढ़ कर मरण को प्राप्त हुये। हरिराम की चतुराई ने अज्ञानियों को अज्ञान का

फल दिलाया। यदि राजा स्वर्गकी कामना न करता, उसमें अज्ञान न होता तो वह बिना मौत न मरता। उसने जो मरण दुःख भोगा वह मात्र अज्ञान और कामना ही का फल था।

अज्ञानचंद राजा जीवहै,अबुधसिंह प्रधानअज्ञान वाली बुद्धि है। जैसे को तैसा ही मेल प्राप्त हुआ है। विरुद्धावती नगरी संसार है, जहां विवेक से विरुद्ध ही सब कार्य होते हैं, जो चोर नहीं है उसे चोर समझा जाता है। विदेशी आत्मा है, उसे चोर मान शूली पर चढ़ा रहे हैं। ज्ञान भाव रूप कुशलचंद हरिराम का नौकर है, हरिराम ज्ञान है, ज्ञान रूप हरिराम की युक्ति से अज्ञानरूप राजा और प्रधान का नाश होता है। अज्ञान के राज्य की निवृत्ति हो कर ज्ञान के राज्य की स्थापना होतीहै। इस प्रकार समझ में आ गया होगा कि अज्ञान से की हुई कामनायें ही दुःख का हेतु हैं।

दो भाई बहिन थे। बहिन एक शहर में विवाही गई थी। जब भाई छोटा था तब ही उनके माता पिता मर गये। काका मामा के कष्ट भोगता हुआ वह कुछ बड़ा हुआ। जगत् में निर्धनी का कोई नहीं है। इसलिये वह अपने कुटुम्ब में जहां कहीं जाता था वहां उसका निरादर ही होता था, उमर बहुत बड़ी न थी, विचारा पढ़ने भी न पाया और कोई हुनर भी उसे नहीं आता था। किसी की पूर्ण देख भाल बिना वह स्वतंत्र मिजाज का हो गया था। ऐसी हालत में दुःख के सिवाय उसे और क्या प्राप्त होता? एक दिन उसे कुटुम्ब और ग्राम के ऊपर तिरस्कार आया और उसने सबको छोड़ कर भाग जाने का विचार किया। बारह वर्ष की उमर में वह ग्राम से भाग निकला। पैदल चलते हुये, जो कुछ कोई दे देता, खाते हुये कई दिन में वह मुम्बई शहर में पहुंचा और चलते चलते जहां जहाज टिकते हैं वहां जा पहुंचा और नौकरी की खोज करने लगा। कोई तो उसे छोटी उमरका जानकर "नौकरी क्या करेगा!" यह कह कर हंसता, किसी ने उसे कोलसा डालने का काम बताया, छोटी उमर और कमजोर होनेसे उससे वह काम न हुआ। इस प्रकार वह तीन दिन तक भटकता रहा, अंत में एक जहाज के कप्तान को दया आई, उसने उसे अपने जहाज पर खाने के बदले रख लिया। वह जहाज जंजबार (एफ्रीका) की तरफ आया जाया करता था। वह कप्तान की परतंत्रता में रहने से तीन मास में जहाज का कुछ काम सीख गया, खाने उपरांत पांच रुपये की तनुख्वाह हो गई। जहाज ने हिन्दुस्तान और एफ्रिका के कई चक्कर किये। अब उस लड़के के पास कोई सौ रुपये जुड़ गये थे। जब वह जहाज एफ्रीका में गया तब वहां वह उतर पड़ा—नौकरी छोड़ दी। कई हिन्दुस्तानी उसे मिले जो एक बगीचे में से हरा मेवा टोकरी में भरकर लाया करते थे और शहर में बेचा करते थे। इस में अच्छा लाभ रहता था। उम्मर (उस लड़के का नाम) ने भी वही काम करना आरंभ किया और एक वर्ष में उसके पास एक हजार रुपये जमा होगये। उस रुपये से उसने एक छोटी सी दुकान की,उस में सौदागरी का माल रखने लगा। दो वर्ष में दुकान खूब जम गई। दुकान को बढ़ाने का विचार हुआ,उस समय एक यूरोपियन से उसका मेल हुआ उसने उसको नौकर रखलिया, दुकान खूब चली और पांच साल में उम्मर दो लाख का आसामी होगया। जो यूरोपियन नौकर रक्खा था उसका दुकान में चौथाई हिस्सा कर दिया गया। उम्मर को घर छोड़े हुए दश वर्ष हुए थे। दुकान के हिस्सेदार को देख भाल पर रख कर वह बहुत सी अशरफियां और जवाहरात लेकर अपने ग्राम जाने को हिन्दुस्तान आने वाले जहाज़ में बैठा और मुम्बई उतर अपनी बहिन के ग्राम में आया और बहिन के घर गया। उत्तम उत्तम कपड़े, ट्रङ्क और जवाहरात के बॉक्स साथ ही थे। बहिन भाई को देखकर प्रसन्न हो जी में सोचने लगी, "भाई बहुत कमाई करके लाया है, अब मौज मजे

उड़ावेगा, यदि किसी प्रकारसे यह माल मेरे पास रह जाय ऐसा उपाय किया जाय तो बहुत ठीक हो!" धन की कामना ने भाई के प्रेम को भुला दिया। इस ईर्षा वाली दुष्ट बहिन ने भाई को मार डालने का निश्चय किया। रात्रि को साले बहनोई दोनों के सोने को खाटें बिछाईं गईं। एक दीवार की तरफ थी, दूसरी आगे थी। आगे वाली भाई के सोने को और दीवार की तरफ की पति के सोने को बिछाई थी। खा पीकर अपनी २ खाट पर पड़े हुये दोनों बात चीत करते रहे। बहुत देर हो जाने से स्त्री सो गई, उसके भाई को भी नींद आगई। पति को नींद न आई उसने विचार किया "आज मेरे घर पर साला बहुत माल लेकर आया है, चोरों का घर में आ जाना संभव है, इसलिये खाट को किवाड़ों के पास बिछाना चाहिये!" यह स्त्रीके समान दुष्ट आचार वाला न था उसने अपने विचार के समान ही किया, फिर उसे भी नींद आगई। स्त्री कुछ रात बीते जागी और एक पैना छुरा लेकर चली। बत्ती बुझ गई थी, दीवारके सहारे की एक खाट छोड़कर दूसरी खाट के पास जा उस पर सोये हुये के गले में उसने छुरा मारा जिससे वह मर गया। मरते समय वह कुछ चिल्लाया परंतु विशेष कुलाहल न हुआ। स्त्री अपनी कामना निर्विघ्न पूर्ण हुई समझकर सोरही परन्तु उसे नींद न आई "अपने भाई को मार देने का दोष मुझपर आवेगा, इस लिये रात में ही उसे गाड़ देना चाहिये" ऐसा विचारकर ज्योंही वह उठकर चली त्योंही खटका सुन उसका भाई जाग उठा और बोल उठा "कौन है?" भाई के बोलते ही स्त्री ने जान लिया कि मैंने अपने पति को मार डाला है। घर से बाहर जाने लगी, लोगों ने उसे पकड़ लिया, तब तो वह पागल होगई। भाई अपनी दुष्टा बहिन को छोड़ कर अपने ग्राम चला गया और वह दुष्टा स्त्री विधवावस्था में कष्ट पाती हुई पत्थर के टुकड़े के समान अभी तक भटक रही है। खाने पीने तक का ठिकाना नहीं है। उसका भाई अभी तक आनन्द से है।

दुष्टा स्त्री को कामना-धन की इच्छा से 'यह मेरा भाई है' यह भाव न रहा, अज्ञान में पूर्ण घिर गई और भाई की हिंसा करने में प्रवर्त हुई। उम्मर का प्रारब्ध प्रबल होने से वह बच गया और दुष्टा विधवा होकर दुःख पाती रही। उसके इस दुःख का हेतु अज्ञान-कामना-धन का लोभ ही था।

सिद्धान्त—परम पुरुषार्थ और प्रपंच की वासना दोनों भाई बहिन हैं। परम पुरुषार्थ को ऐश्वर्य वाला देख कर प्रपंच की वासना को उसे लेने की इच्छा हुई इसलिये उसने परम पुरुषार्थ को मार डालने की युक्ति की परन्तु परमपुरुषार्थ न मरा, उसके बदले वासना का पति जो जीव भाव था, उस का मरण हुआ और प्रपंच की वासना पति रहित रह गई है और भटकती फिरती है। परम पुरुषार्थ की दुष्टा बहिन दूर होने से अब वह आनन्द में है।

———::०::———

आत्मा।

आत्मा शब्द उच्चारण करते हुये, आत्मा क्या है? लोग ठीक रीति से नहीं समझते। शास्त्रों में भी आत्मा का प्रयोग प्रसंगानुसार शरीर पर, मन पर, जीव पर और कूटस्थ पर हुआ है तब इन चारों में से वास्तविक आत्मा कौन है? अथवा इन चारों से आत्मा भिन्न है? इन चारों में आपस में क्या अंतर है, उनमें किस प्रकार का संबंध अथवा अंश है, अथवा सब भिन्न २ हैं, इसको विचारे बिना आत्मा समझ में नहीं आ सक्ता। आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं-आप है। जो जैसे भाव युक्त होता है-अपने को जैसा समझता है, वैसा ही आत्मा का अर्थ करता है, उसको ही आत्मरूप वस्तु जानता है। शास्त्रों में भी प्रसंगा-

नुसार तथा अधिकारी भेदसे आत्म शब्दका भिन्न२ भाव वाला उपयोग किया है इसलिये शरीर, मन, जीव और कूटस्थ पर्याय वाचक शब्द नहीं हैं और चारों भिन्न भिन्न भी नहीं हैं। चारों में तत्त्व एक ही है और चारों की उपाधियां भिन्न २ हैं। इसलिये उपाधि सहित चारों भिन्न २ हैं और उपाधियों का बाध करने से शुद्ध तत्त्व स्वरूप से एक ही है। आत्मा ब्रह्म है और शरीर, मन, जीव, और कूटस्थ उसी का प्रकाश है। आत्मा ब्रह्म स्वरूप है इसलिये सब में व्यापक है। व्यापक और व्याप्य भाव द्वैत में होता है तो भी उपदेश के अर्थ कथन किया जाता है। उपदेश में द्वैत होता है इसलिये आत्मा को व्यापक और उसकी व्यापकता माया में समझो। माया के एक शरीर में जिस आत्मा की व्यापकता समझी जाती है,उसे कूटस्थ कहते हैं। आत्मा सर्वत्र व्यापक है और कूटस्थ एक शरीरमें व्यापक है इतनी आत्मा और कूटस्थ की भिन्नता समझो। आत्मा की सर्व व्यापकता छोड़ कर उसे शुद्ध समझते हैं और कूटस्थ की शरीर व्यापकता छोड़ कर शुद्ध समझा जाता है। इस प्रकार कूटस्थ आत्मा है– कूटस्थ और आत्मा तत्त्व से एक ही हैं। कूटस्थ की विशेषता अंतःकरण में मालूम होती है, अंतः-करण अंगुष्ट प्रमाण का है इसलिये आत्मा को भी उपासना करने वालों के लिये अंगुष्ट प्रमाण का कहा है। अंतःकरण माया के सतोगुण का कार्य है, इसलिये निर्मल है, वहां रहने वाले कूटस्थ का उसमें ही भास पड़ता है। तीन यानी कूटस्थ वाला सामान्य चैतन्य,अंतःकरण और उसमें पड़ा हुआ आभास, मिल कर जीव कहा जाता है। जीव में जो विशेष चैतन्यता है, वह विकारी, उत्पत्ति नाश वाली और अज्ञान का कार्य है। जीव की सब उपाधियां छोड़ कर जो सामान्य चैतन्य शेष रहता है, वह ही कूटस्थ है इसलिये उपाधि छोड़ कर जीव का शुद्ध तत्त्व और आत्मा एक ही है। अंतःकरण की वृत्ति में जो विशेष चैतन्य है, वह मन कहलाता है, उसकी विशेषता छोड़ कर जो शेष रहता है वह ही आत्म तत्त्व है। मन की अहं आदि वृत्तियां शरीर में व्यापक हैं इसलिये शरीर चैतन्यता वाला हो कर चेष्टा करता है। शरीर की विशेष चैतन्यता और जड़ता दोनों को त्याग कर जो तत्त्व शेष रहता है वह आत्म तत्त्व है। शरीर को अहंभाव से अपना कहते हैं किंतु उसमें रहने वाली शुद्धता–समानता आत्मा है। तात्पर्य यह है कि शरीर में, मन में, जीव में और कूटस्थ में रहने वाला सामान्य चैतन्य एक ही है, वह ही आत्मा है और वह ही परब्रह्म है। इन चारोंके नाम, रूप, उपाधि और भाव में अंतर है, उपाधि आदि रहित चारों एक ही हैं। इन चारों के विवेक–जानने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र व्यापक है, उस प्रकाश को परब्रह्म रूप समझो। एक कांच पर पड़े हुये सामान्य प्रकाश को कांच पर पड़ने से विशेष प्रकाश समझो, विशेष प्रकाश टुकड़ा हुआ उस विशेष प्रकाश में रहने वाली सामान्यता कूटस्थ है। कांच का टुकड़ा, उसमें पड़ा हुआ विशेष प्रकाश और विशेष में रहने वाला सामान्य प्रकाश, ये तीनों मिल कर जीव कहलाता है। कांच के टुकड़े में चार पहलू हैं, उनमें से एक पहलू मन है, उसमें जीव के विशेष प्रकाश की जो वृत्ति है उसमें भी सामान्य चैतन्य वही है जो जीव और कूटस्थ में है। इन चारों पहलुओं सहित आभास से प्रकाशित हो कर अप्रकाश वाला शरीर चैतन्य के समान चेष्टा करता है। अप्रकाश वाले स्थूल शरीर में विशेष चैतन्यता जो जीव मन आदिक की है, उसको बाध करके रहने वाला सामान्य चैतन्य आत्मा है। इन चारों की जितनी विशेषता और अपेक्षा रहती है वह सब उपाधि रूप है और अज्ञान से है। उपाधि को त्याग कर आत्म तत्त्व एक अखंडित, उत्पत्ति, नाश रहित, विकार रहित, साक्षी और अधिष्ठान रूप जो तत्त्व है, वह ही आत्मा है।

कोई भी अनात्म आत्म सत्ता से रहित नहीं है, आत्म सत्ता छोड़ कर अनात्म को आत्मा मानना अज्ञान है। इस अज्ञान से देहाध्यास–देह ही आत्मा है यह भाव और जन्म, मरण दुःखादि होते हैं।

श्रुति की प्रतिज्ञा है कि आत्मा को जानने से परम पद की प्राप्ति होती है! शरीर को आत्मा मानने से दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमपद की प्राप्ति नहीं होती, इसलिये शरीर आत्मा नहीं है। मन विकार वाला–दूसरे की अपेक्षा से प्रकाश होने वाला है इसलिये आत्मा नहीं है। मन को जानने से परम पद की प्राप्ति नहीं होती। जीव भी विकार भाव संयुक्त और परिच्छिन्न है, सुख, दुःखादिक का भोक्ता है इसलिये वह भी आत्मा नहीं है। जीव को आत्मा मानने से परम पद की प्राप्ति नहीं होती। कूटस्थ का अर्थ माया में टिका हुआ शुद्ध सामान्य चैतन्य है, उसका समझना भी उपाधि रहित होना है। उपाधि रहित आत्मा जब परब्रह्म से एकता को प्राप्त हो तब उस आत्म स्वरूप को जानने से मोक्ष होता है। मायिक सब विकारों को छोड़कर शुद्धतत्त्व में स्थिति रूप आत्म बोध है। जब दृढ़ अपरोक्ष आत्म बोध होता है तब द्वैत भ्रम की निवृत्ति और आत्म स्वरूप की प्राप्ति-स्थिति मोक्ष होता है। जिसको प्रपंच के दुःखों से अत्यंत निवृत्त होने की इच्छा हो, उसको इस प्रकार आत्मा और परब्रह्म को अभेद जानना चाहिये।

शंका:– जिस प्रकार का आत्मा तुमने वर्णन किया है, आत्मा के ऐसे होने में क्या प्रमाण है? तुम्हारे कहने से तो वह जड़ से भी विशेष जड़ मालूम होता है। जड़ में न तो किसी प्रकार का ज्ञान होता है, न वह कोई कार्य कर सकता है, पाषाण के समान होता है, जो आत्मा ऐसा ही है तो उसके जानने से क्या फल होगा? जो स्वयं ही जड़ और क्रिया रहित है वह हमारा हित किस प्रकार करेगा? ऐसा वर्णन करते हुए आप उसे चैतन्य किस प्रकार कहते हैं? तुम्हारे कहे हुये आत्मा की चैतन्यता का अनुभव किस प्रकार हो? मैं तो यह ही जानता हूं कि ऐसे आत्मा को जानने से जड़ता के सिवाय और कुछ फल न होगा। हम जो शरीर को आत्मा मानते हैं; अथवा मन या जीव को आत्मा कहते हैं उससे तो फल होता भी है क्योंकि उसमें जो चैतन्यता है, वह प्रत्यक्ष दीखती है, तब तुम्हारे कहे हुये आत्माको आत्मा किस प्रकार मानें? जैसे केले के वृक्ष में कुछ सार नहीं है इसी प्रकार तुम्हारा कहा हुआ आत्मा भी निःसार है।

समाधान:–मैंने जिस आत्मा को समझाया है, उसको किसी प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि जिसको अन्य प्रमाण की आवश्यकता होती है वह अपूर्ण होता है, जो पूर्ण चैतन्य स्वरूप और स्वयं आप है, उसे जानने को दूसरे प्रकाश-प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मैं तुझसे पूंछता हूं कि जब तू रात्रि में अंधेरे में सोरहा हो, वहां किसी प्रकार का प्रकाश न हो, तब तू अपने को जानता है या नहीं? तू है यह तू जानता ही है। यदि ऐसा जानने को तुझे दीपक की आवश्यकता हो तो आत्मा को जानने के लिये भी अन्य प्रमाण की आवश्यकता हो। जब तू अपने को जानता है तब तू जानने वाला जड़ किस प्रकार हो सकता है। यदि तू 'मैं हूं' यह जानते हुये भी अपने को जड़ माने तो तेरी मरजी! जड़ ज्ञान और क्रिया रहित होता है, उसे बहरा कहना ठीक है। जो ज्ञान रहित होकर ज्ञान स्वरूप हो, उसे तू जड़ किस प्रकार कहेगा? ज्ञान दूसरे का होता है, जब आत्मा के सामने अन्य पदार्थ ज्ञान करने को न हो तब वह किसका ज्ञान करे? अपने जानने के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं है परन्तु भ्रान्ति से उसी ज्ञान स्वरूप से हरएक ज्ञान वाला होता है, उसे जड़ किस प्रकार कह सकते हैं? जिस समुद्र में से सब नदियां जल वाली होती हैं वह समुद्र जल रहित नहीं कहलाता इसी प्रकार जिस

ज्ञान स्वरूप आत्मा में से सब को ज्ञान होता है, उसको जड़ कैसे कहें ? आत्मा पाषाण समान नहीं है, क्योंकि पाषाण परिच्छिन्न है, और पंच भूतों में से विशेष पृथ्वी तत्व का कार्य है, आत्मा परिच्छिन्न, या किसी का कार्य नहीं है। जो सब स्थान पर भरा हुआ और सबको चेष्टा कराने वाला हो, वह स्वयं चेष्टा रहित होने पर भी जड़ नहीं है। आत्मस्थिति में अद्वैतता है, आत्मा के सिवाय अन्य नहीं, तब अन्य न होने से चेष्टा कैसे और किसमें करे ? चेष्टा अवयवी से होती, आत्मा एक रस अवयव रहित होने से चेष्टा रहित है। उसको जानने से तू किस प्रकार का फल चाहता है ? उसको जानने से सभी प्रकार के फलों की प्राप्ति होती है। प्रापंचिक जितने फल होते हैं वे भी उसे न जानते हुए उसी से ही होते हैं तो उसके जानने से कितना विशेष फल होगा ! आत्मा को जानने से सब प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति होजाती है, यदि तू दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति न चाहता हो तो तेरी खुशी !!! निवृत्ति के बाद जो अलौकिक आनन्द-आनन्द स्वरूप है, वह तुझ जैसे के जानने में नहीं आ सकता। आत्म स्वरूप वाले होकर ही उस सुख-आनन्द का अनुभव होता है। जगत् के दुःखों की बाहुल्यता वाला जो किंचित् सुखाभास को छोड़ना न चाहे, उसके लिये आत्मानन्द है ही नहीं ! आत्मा जड़ चैतन्य से विलक्षण होने से चैतन्य स्वरूप है ! जैसे जड़ और चैतन्य तू समझता है इस प्रकारका चैतन्य आत्मा नहीं है किंतु सबको सत्ता स्फूर्ति देने वाला चैतन्य है। मायिक चैतन्य, उस सामान्य चैतन्य का विशेष चैनन्य है, विशेषता, उपाधि जनित होने से विकारी और उत्पत्ति नाश वाली है, ऐसी चैतन्यता वाला आत्मा नहीं है। आत्मा के जानने का फल अखंडित होता है, तू ऐश्वर्य चाहता है, ऐश्वर्य को फल समझता है आत्मा के जानने वालों को, सब ऐश्वर्य प्राप्त हों, इस प्रकार का महान् फल होता है, तेरा कहना तो इस प्रकार है:—

एक भिखमंगी जो ग्राम २ में भटकती और टुकड़े मांग मांग कर खाती थी, एक राजा ने देखी। राजा ने उससे कहा। "चल, मेरे साथ, मैं तुझे अपनी रानी बनाऊँगा !" भिखमंगी बोली "बड़ी खुशीकी बात है ! मैं रानी बनने को तैयार हूं परंतु मैं भिखमंगी हूं इसका नाश हो जायगा ! यदि मेरा भिखमंगी नाम और काम बना रहे तो मैं रानी बन सक्ती हूं।"

तू जीव रूप भिखमंगा है, मैं तुझे आत्मस्वरूप राजा बनाना चाहता हूं, तू अपना जीव भाव और दुःखादिक की गठरियां कहीं चलीं न जायँ, उन का सोच करता है। जैसे भिखमंगी की अपेक्षा रानी को अनंत फल होता है इसी प्रकार आत्म-भाव से अनंत फल होता है। यदि तू कहे कि मैं प्रत्यक्ष देख लूं, तो उसकी चाह होना संभवित है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि जब तक तुझे उसे देखने की चाह रहेगी तब तक तू उसे देख न सकेगा और जब देख लेगा तब देखने-भोगने की चाह नहीं होगी। मायिक पदार्थों का प्रत्यक्ष जैसी दृष्टि होती है, वैसा ही होता है। आत्मा से सब प्रत्यक्ष होते हैं, आत्मा को प्रत्यक्ष करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। आत्मा का अनुभव आत्मा से ही होता है। जीव की गम आत्मा के जानने की नहीं है।

जिसको तू सार समझ रहा है, ऐसा सब संसार ही असार है। संसार से विलक्षण जो सार है, वह तेरी दृष्टि में असार प्रतीत होता है, यह तेरे अज्ञान का दोष है, आत्मा का नहीं है। संसार विषय रूप विष के टुकड़ों वाला है इसका सूक्ष्म से सूक्ष्म कण भी विष रहित नहीं है। आत्मा अमृत रूप है, अखंड है, और वास्तविक सुख का सार रूप है। जब तक तेरी मायिक दृष्टि न हटेगी तब तक तू उसे सार रूप नहीं समझ सक्ता। घुग्घू को यदि सूर्य न दीखे तो सूर्य का दोष नहीं है।

जो तुझे प्रपंच में दुःख मालूम होता है तो ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों का आचरण कर और श्रद्धा युक्त सद्गुरु के शरण में जाकर उससे उपदेश ग्रहण कर, तब आत्म भाव की स्थिति होगी।

एक अगम्य पुरुष था। उसका शरीर बहुत लम्बा चौड़ा था। यदि सारे ब्रह्मांड को नापा जाय तो उसके शरीर का किंचित मात्र हो। उसमें एक तरंग उठी। उठने के साथ ही "मैं तरंग रूप हूं" वह ऐसा समझने लगा! तरंग अणु रूप थी इसलिये वह अपने को अणु मानने लगा परंतु उसकी आकृति कुछ न थी। जब वह अणु के भाव वाला हुआ तब "मैं सब दिशाओं में घूम रहा हूं" ऐसा भाव होने लगा। गमनागमन में उसे किसी प्रकार की रोक टोक न थी। वह अणु मानने से अणु रूप नहीं हुआ था। घूमते २ उसे संकल्प हुआ कि एक अच्छा सा स्थान हो। तुरन्त ही उसे एक स्थान दिखाई दिया। अपनी इच्छानुसार स्थान देख कर उसने अपने को अपन समझा, जहां जहां परछाई घूमे वहां वहां "मैं घूमता हूं" ऐसा मानने लगा। प्रथम जो उसने अपने को अणु माना था अब उसी को परछाई रूप से स्थूल होने का निश्चय किया। निश्चय करते ही वह अहर हो गया और अपने को तुच्छ समझने लगा। "जिस स्थान में मैं घूम रहा हूं, वह स्थान किसी महान् ईश्वर का बनाया हुआ है, मैं भी उसी का अंश हूं, उसका दास हूं, वह मेरा स्वामी है, मैं उसका सेवक हूं, मेरा सब कार्य उसी की कृपा से चलता है" अब वह ऐसा समझने लगा। उस स्थान में एक कमरा था, कमरे में एक कांच जुड़ा था, कांच में एक परछाई बहुत उत्तम प्रकार से पड़ कर चमकने लगी, उस कांच के चारों तरफ महल थे और प्रकाश की झांई महल में हो कर कांच की चौखट पर पड़ती थी। चौखट उत्तम होने पर भी नव छिद्र वाली थी, छिद्रों में विलक्षण प्रकार के गुण थे और वे कमरे के बाहर प्रकाश करते थे। जिस प्रकार चुम्बक के सामने लोहा चेष्टा करने लगता है, इसी प्रकार परछाई होने से सब छिद्र चेष्टा करते थे। जैसे किसी इञ्जन के चलने से, उसके साथ जुड़े हुये जड़ यंत्र भिन्न २ प्रकार की चेष्टा करने लगते हैं इसी प्रकार वे छिद्र ज्ञान रूप और कर्म रूप चेष्टा करते थे। अब तो अगम्य पुरुष ऐसा मानने लगा कि उन चेष्टाओं का मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं, ऐसा मानने से और कामनाओं और राग द्वेष से सुखी दुखी होने लगा, अनेक प्रकार की कामनायें करने लगा। जो कभी पूर्ण काम था अब कामनाओं का दास बन गया! कामनाओं की पूर्ति न होने से दुखी होने लगा। यदि एक कामना पूर्ण हो जाय तो अनेक प्रकार की और कामनायें करे और दुःख पावे। इस प्रकार उसकी सम्पूर्ण शान्ति चली गई। महल पुराने हो कर जब टूट जायँ तब वह समझे कि मैं मर गया। दूसरा कांच देखते ही मानने लगे कि मेरा जन्म हुआ। इस प्रकार जन्म मरण के चक्र में वह अब तक दुःख भोग रहा है। वास्तविक में उसे दुःख कुछ भी नहीं है, उसने अपने को दूसरा समझ लिया है इसलिये वह दुःख का अनुभव करता है। जब कोई विवेकी पुरुष उसे इसकी पूर्व स्मृति-स्वरूप समझा दे और वह इस प्रकार का निश्चय करके साक्षात्कार करे तो जगत् के दुःखों से निवृत्त हो जाय।

अगम्य पुरुष आत्मा है, अज्ञान-अविवेक से दुखी है। शुद्ध अणु कूटस्थ, परछाई वाला कांच जीव, कांच के चार महल अंतःकरण, कांच सूक्ष्म शरीर, नव छिद्र इन्द्रियां, और कमरा स्थूल शरीर है. इन सब में आत्मा का सामान्य प्रकाश है। वह ही अखंडित-व्यापक आत्मा है, वह ही परब्रह्म है।

एक मनुष्य के प्रथम स्त्री से दो बच्चे थे, एक लड़की सात वर्ष की और एक लड़का पांच वर्ष का था। लड़की का नाम वुद्धा और लड़के का नाम खुदीराम था। पश्चात् मनुष्य ने

दूसरी स्त्री कर ली। दूसरी स्त्री, छोड़े हुए बच्चों पर ईर्षा के मारे जलने लगी और किसी प्रकार उन्हें निकाल देना और नाश करना चाहने लगी। वह एक भारी मायावी स्त्री थी, पुरुष के मना करने पर भी एकबार रात्रि के समय उन दोनों बच्चों को जंगल में ले गई और वहां छोड़कर चली आई। बच्चों को न देख कर उनके पिता को बहुत रंज हुआ परन्तु स्त्री वश वह कुछ कर न सका। उस मायावी अपर माता ने जंगल में एक महान् महल बनाया और उसमें बगीचा भी लगाया। प्रभात उठकर खुदी राम ने एक बाग देखा, उसके वृक्षों पर अनेक प्रकार के फल लगे हुये थे, कई नीचे भी गिर गये थे। उनमें से दोनों भाई बहिनों ने इच्छानुसार फल खाये और पास ही एक बावड़ी थी, उसका जल पीकर दोनों तृप्त हो गये। वहां से आगे चल कर एक महल दिखाई दिया, उसमें अनेक प्रकार की मिठाइयां भरी थीं। ऐसा देख दोनों बच्चों ने निश्चय किया कि हम इस महल में रहा करेंगे और मिठाई और फल खाया करेंगे। उस महल में एक राक्षसी थी वह नेत्रों से ठीक नहीं देख सकती थी परन्तु गन्ध से मनुष्य को पकड़ सकती थी, जो भूला भटकता मनुष्य जंगल में आ जाता था, उसको पकड़ कर ले आती थी और उत्तम प्रकार के भोजन दे हृष्ट पुष्ट बनाकर खा जाया करती थी। वह बूढ़ी राक्षसी गन्ध के सहारे से बच्चों के पास आई और पूछने लगी "बच्चो! तुम कौन हो? और यहां कैसे आ गये हो?" खुदीराम बहिन से छोटा था परन्तु चालाक होने से उसने कहा—"अपर माता ने हमें बाहर निकाल दिया है।" बूढ़ी बोली "तो अब तुमको घातकी माता के पास जाने की आवश्यकता नहीं है। इस बगीचे में खुशी से रहा करो, अनेक प्रकार के फल और मिठाई खाकर आनन्द करो।" राक्षसी के ऐसे वचन सुनकर बच्चे प्रसन्न हुये और वहां दिन व्यतीत करने लगे।

कितनेक दिनके बाद जहां भाई बहिन सो रहे थे, वहां डोकरी आई और उन्हें सोता जान कर, हाथ फेर कर कहने लगी "अभी बच्चे ही हैं, बड़े नहीं हुये हैं, तो भी थोड़े दिन में मैं उनमें से एक को मार कर अपनी तृप्ति करूंगी!" खुदीराम उस समय जाग रहा था, उसने डोकरी के वचन सुन लिये परन्तु वह कर क्या सकता था? सवेरा होते ही डोकरी खुदीराम को बांध कर महल के एक भाग में ले गई और कहने लगी "बच्चे! बांध कर खिलाने से तू जल्दी बड़ा हो जायगा।" जब बहिन जागी तब भाई को न देख कर रुदन करने लगी और उसने आहार और निद्रा का त्याग कर दिया।

बांध रखने के थोड़े दिन बाद डोकरी खुदीराम को देखने गई और बोली "हे हतभागी लड़के! तू मुझे अपना हाथ दिखा, तू कितना मोटा हैं?" खुदीराम ने एक पास पड़ी हुई लकड़ी डोकरी के हाथ में देदी। उसे हाथ में लेते ही डोकरी का मिजाज बिगड़ गया और वह गर्जना करके बोली!" तू चाहे पतला हो, चाहे मोटा, मैं इसकी परवा नहीं करूंगी! मैं तुझे मार कर खा जाऊंगी!" बुद्धा इतने में आ गई और डोकरी के पैर छूकर कहने लगी "माई! मैं तुझ से विनती करता हूं, तू भाई से प्रथम मुझको मार डाल!" डोकरी ने कुछ भी न सुना, प्रभात में उसने आग सुलगाई, एक भारी कढ़ाई चूल्हे पर धरी और उसमें तेल डाला! तेल उबलने लगा! बुद्धा और खुदीराम पास बैठे हुये रो रहे थे, परन्तु डोकरी का ध्यान उनकी तरफ न था। उसने बुद्धा से कहा "तेल तैयार हुआ या नहीं? मैं कोमल बच्चे को भली प्रकार भून कर खाना चाहती हूं!" बुद्धा ने कहा "माई! मुझे क्या मालूम? तेल हुआ या नहीं!" डोकरी ने बुद्धा को बहुत सी गालियां दीं और वह लपक कर कढ़ाई की तरफ चली, बुद्धा ने पीछे से एक ऐसा

धक्का मारा कि डोकरी कढ़ाई में गिर गई और भुन गई।

दोनों भाई बहिन महल में सब स्थान ढूंढ़ने लगे, जो कुछ जेवरात हाथ लगे दोनों ने ले लिये। डोकरी के मरते ही बगीचा अदृश्य हो गया। बच्चे धन की मदद से अपने पिता के पास पहुंच गये और सुख पूर्वक रहने लगे।

खुदीराम आत्मा का आभास था, बुद्धा शुद्ध बुद्धि थी, अपर माता प्रवृत्ति रूप वासना थी, जिसने दोनों को निकाल दिया था। प्रवृत्ति रूप वासना ही मायावी डोकरी थी। डोकरीके मरते ही अपर माता मर गई। बगीचा और महल संसार था, चिदाभास और बुद्धि उसे देखकर प्रसन्न हुये थे। विषय बगीचे के फल थे जब बुद्धा की चातुरी से प्रवृत्ति रूप वासना का नाश हुआ तब चिदाभास और बुद्धा अपने पिता आत्मा से मिलकर सुखी हुये—प्रपंच से मोक्ष को प्राप्त हुये।

आत्मा के वे ही लक्षण हैं जो लक्षण शास्त्रों में परब्रह्म के कहे हैं। आत्मभाव के हटने से—स्वस्वरूप के अज्ञान से, प्रवृत्ति—माया के बाग में विहार करने से अनेक प्रकार के कष्ट न होते हुये भी आत्मा में जान पड़ते हैं। जब आत्मा के सच्चे स्वरूप में स्थिति होती है तब अनादि माया रूप डोकरी का नाश होता है और तब ही परमानन्द स्वरूप में स्थिति होती है।

दोहा—आधे पद में कहत हूं, कोटि शास्त्र का सार।
"ब्रह्म सत्य, मिथ्या जगत्" यह निश्चय उरधार॥

———::०::———

अज्ञान।

अज्ञानादि जड़ समूह अचेतन स्वरूप कहलाता है। अब विचारना चाहिये कि अज्ञान का स्वरूप, लक्षण और प्रमाण किस प्रकार है। अज्ञान त्रिगुणात्मक अर्थात् सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण रूप है। अज्ञान कारण रूप है उसका कार्य जगत् है। जगत् में सुख, दुख और मोह प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं। सुख सतोगुण का, दुःख रजोगुण का और मोह तमोगुण का परिणाम रूप है। कारण के समान कार्य होता है। कारण तीन गुणों वाला है इसलिये कार्य भी तीन गुणों वाला है। कार्य में तीन गुण प्रत्यक्ष होने से कारण में भी तीन गुण होने का अनुमान होता है।

जो सत्य असत्य दोनों पदार्थों से विलक्षण हो वह अज्ञान है। अर्थात् सत्य अथवा असत्य किसी रूप से जिसका वर्णन न हो सके वह अज्ञान कहलाता है। यदि अज्ञान को सत्य मान लिया जाय तो जैसा सत्य ब्रह्म है ऐसा सत्य अज्ञान होने से ब्रह्म की समान अज्ञान का नाश कभी न होवे परंतु अज्ञान का नाश होजाता है इसलिये उसे सत्य नहीं कह सकते यदि अज्ञान को असत्य माना जाय तो वंध्या पुत्र के समान उसका प्रत्यक्ष न होना चाहिये परन्तु अज्ञान तो "मैं ब्रह्म नहीं हूं" इस प्रकार अनुभव का विषय मालूम होता है इसलिये उसे सत्य भी नहीं कह सकते। इस हेतु से ही अज्ञानको अनिर्वचनीय कहा है। सत्य अथवा असत्य किसी प्रकारसे जो न कहा जाय वह अनिर्वचनीय है। सत्य और असत्य दोनों एक काल में अथवा एक स्थान में नहीं रह सकते इसलिये सत्यासत्य अथवा किसी और प्रकार से भी नहीं कह सकते तब अनिर्वचनीय है।

'मैं ब्रह्म को नहीं जानता हूं' इस प्रकार के अज्ञान का संबंध सब को प्रत्यक्ष होता है। यह अज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रुति और स्मृति भी इसमें प्रमाण रूप हैं। श्रुति में कहा है:—"काल, स्वभाव आदिक कारणों में अनेक प्रकार का दोष देख कर के ब्रह्म में ध्यान परायण, ब्रह्म वेत्ता पुरुष जगत् की कारण रूप देवात्मा शक्तिको देखने लगा यह अज्ञान रूप शक्ति सत्वादि अपने गुणों से ढकी हुई है।" गीता स्मृति में भी कहा है:—जिस जीवका ज्ञान अज्ञान करके आवृत्त है वह जीव अज्ञान कृत आवरणसे संसार को प्राप्त होता

है और जिस जीवका अज्ञान गुरु और शास्त्र के प्रसाद से उत्पन्न हुये ज्ञान से निवृत्त हो जाता है, उसको 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा ज्ञान प्रत्यक् अभिन्न ब्रह्म का प्रकाश करता है" इस प्रकार अज्ञान ब्रह्म स्वरूपका आवरण करने वाला कहा है। आवरण करने वाला पदार्थ भावरूप होता है, अभावरूप नहीं होता। अचेतन रथादिक की प्रवृत्ति चेतनके अधीन देखने में आती है इस कारण अज्ञान भी स्वतंत्र प्रवर्त्त नहीं होता।

अज्ञान माया और अविद्या के भेद से दो प्रकार का है। शुद्ध सत्वगुण की विशेषता वाला अज्ञान माया और मलिन सत्व गुण की विशेषता वाला अविद्या कहलाती है। जब सत्वगुण रजोगुण और तमोगुणसे तिरस्कार प्राप्त-दबा हुआ नहीं होता तब सत्वगुण शुद्ध कहलाता है और जब वह रजो गुण और तमोगुण से तिरस्कार को प्राप्त-दबा हुआ होता है तब वह मलिन कहलाता है। इस प्रकार एक ही अज्ञान सत्वगुण की शुद्धि से माया रूप और उसकी मलिनता से अविद्या रूप होता है। श्रुति में कहा है:—"एक ही अज्ञान मायारूप और अविद्या रूप होता है। माया और अविद्या इस प्रकार की उपाधियों करके एक ही चैतन्य ईश्वर और जीव दो भेद करके दो प्रकारका होता है। माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिम्बित जीव कहलाता है।" "अज्ञान अपने भास से ईश्वर और जीव दो रूप होता है।" कोई माया और अविद्या का वर्णन इस प्रकार भी करते हैं:—अज्ञान की दो शक्तियां हैं एक ज्ञान शक्ति और दूसरी क्रिया शक्ति। कारण में कार्य को उत्पन्न करने की जो सामर्थ्य रहती है, उसे शक्ति कहते हैं। उनमें ज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति ज्ञान शक्ति और क्रिया उत्पन्न करने वाली शक्ति क्रिया शक्ति है। रजो-गुण और तमोगुण से अभिभव को न प्राप्त हुआ (न दबा) सतोगुण ज्ञान शक्ति और सतोगुण से अभिभव को प्राप्त हुये (न दबे) रजोगुण और तमोगुण क्रिया शक्ति है। क्रियाशक्ति भी दो प्रकार की है एक आवरण शक्ति और दूसरी विक्षेप शक्ति। आवरण उत्पन्न करने वाली आवरण शक्ति और विक्षेप उत्पन्न करने वाली विक्षेप शक्ति है। आवरण ढांकने वाले को और विक्षेप चंचलता को कहते हैं।

शूरसिंह नामी एक राजपूत विवाह करने के थोड़े दिन बाद ही परदेश में नौकरी करने चला गया और एक पलटनमें नौकर होगया। जिस राजा की पलटन में वह नौकर हुआ था उस को कई अन्य राजाओंके साथ युद्ध करना पड़ा इस कारण शूरसिंह बारह वर्ष तक अपने देश-ग्राम में आने न पाया। युद्धमें निश्चित स्थान न होने के कारण घर से चिट्ठी पत्री भी नहीं आती थी। 'घर वाले जीते हैं या मरगये' इस बातकी उसको कुछ खबर न थी। अन्त में युद्ध करने वाले राजाओंमें अचानक सुलह हो जाने से उसको अपने घर जाने की छुट्टी मिल गई। बहुत रोज हो जाने से और घर पर पहुंचने की आतुरी होने से वह बीच के बड़े शहरों में कहीं नहीं ठहरा, सीधा घर पर चला आया। जब वह घर पर पहुंचा तब रात्रि का समय था। आस पास वाले लोगों से उसको ख़बर मिल गई थी कि उसके माता पिता मर गये हैं, स्त्री मकान पर है। दरवाजे पर जाकर उसने कुंडी खटखटाई, न तो आवाज़ आई न किवाड़ खुले तब वह पास के मकान की छत के ऊपर से अपने मकान में उतर आया। वहां आकर देखा तो एक पलंग पर एक पुरुष सोता हुआ पाया और अपनी स्त्री उसके सिरहाने पंखा हाथ में पकड़े हुये बैठी हुई दीखी। दीपक टिमटिमा रहाथा। अपनी स्त्री को पलंग पर बैठकर एक पुरुष की हवा करने रूप स्थिति देख कर उसको क्रोध हो आया। "मैं बारह वर्ष से परदेश में था, मेरे माता पिता का देहान्त हो गया है, स्त्री व्यभिचारिणी हो गई है, उसका यार सो रहा है और वह हवा कर रही थी, हवा करते २ सो गई है।" इस प्रकार वि-

चार कर उसने तुरन्त ही तलवार पर हाथ डाला और तलवार मयान से खींच कर सोते हुये पुरुष को मारने दौड़ा। जब उसके समीप आया तो उस पुरुष का निर्दोष मुख दिखाई दिया। उसे देखकर वह रुक गया। स्त्री जाग गई और सामने पति को तलवार खींचे हुये देख कर घबराती हुई प्रणाम कर कहने लगी "हे नाथ! जल्दी न कीजिये, धैर्य का फल मीठा है।" स्त्री के करुणा जनक मधुर वाक्य से वह रुक गया और स्त्री के मुख की तरफ देखने लगा तो उसका क्रोध कुछ कम हो गया और कुछ क्रोधित हो कहने लगा "यह कौन सो रहा है?" उसने कहा "स्वामिन्! यह आपका कुल दीपक पुत्र है, तीन दिन से इसे बुखार आता है, तीन रात्रि दिन से उसे और मुझे नींद नहीं आईथी आज ही बुखार कुछ कम हुआहै, उसको नींद की झपकी लगी देख कर मुझेभी नींद आगई, आपके आने की हमको कुछ खबर न थी।" शूरसिंह ने कहा "जब मैंने किवाड़ खट-खटाये, और आवाज दी तो किसी ने किवाड़ न खोले तब मैं पास के घर की छत पर हो कर उ-तर आया, अब बता, यह मेरा लड़का किस प्र-कार है? मैं तो तुझे बिना लड़का छोड़ कर गया था" स्त्री ने कहा "स्वामिन्! हां सच है, जब आप गये थे तब मुझे गर्भिणी हुये एक मास भी पूरा नहीं हुआ था। आठ महीने बाद पुत्र उत्पन्न हुआ, आज आप पूरे बारह वर्ष आठ मास पीछे आये हो। आज पुत्र के बारह वर्ष पूर्ण हुये हैं देखिये; पुत्र का मुख भली प्रकार देखिये।" शूरसिंह ने बत्ती तेज की और पुत्र को देखा तो उसे सर्वथा अपनी आकृति का पाया। उसका सब क्रोध शान्त हो गया, जो साहस करने को तैयार हुआ था उसका पश्चात्ताप करने लगा और बोला "प्रिये! तूने ही आज मुझे बचा लिया है, यदि तू मुझे न रोकती तो मैं अवश्य पुत्र का घात करता, और तुझे भी जीती न छोड़ता, आज मेरा कोई पूर्व पुण्य आड़ा आ गया, जिस से बाल और स्त्री दोनों निरपराधियों की हत्या करने से बच गया।" पश्चात् लड़का आरोग्य हो गया और तीनों आनन्द से रहने लगे।

जिस भावसे शूरसिंह कार्य करनेको उद्यत हुआ था उस भाव का ही नाम अज्ञान है। अज्ञान अन्धेरे स्वरूप है, अन्धेरा ही उसका सहायक है। पुत्र को पुत्र न समझ कर पुरुष समझना अज्ञान की आवरण शक्ति और मारने रूप क्रिया विक्षेप शक्ति थी। पुत्र बारह वर्ष का था परन्तु उत्तम खाने पीने से शरीर भराऊ और लम्बा चौड़ा था, इसलिये शूरसिंह को धोखा होगया था। जिस में दोष नहीं है उस में कल्पना करके दोषारोपण करने को अज्ञान कहते हैं। बालक निर्दोष था और स्त्री भी निर्दोष थी। जब पुत्र का मुख देखा और पुत्र ही है ऐसा बोध हुआ तब स्त्री का यार है ऐसी जो कल्पना थी, उसका एक दम नाश हो गया। अधिष्ठान के विशेष अज्ञान और सामान्य ज्ञान से अन्धेरे आदिक दोष के कारण अज्ञान पूर्ण रूप से प्रकाशता है। स्त्री का यार शूरसिंह की कल्पना सिवाय और कहीं नहीं था। जिस प्रकार पुत्र रूप वस्तु में उसने यह कल्पना कल्पी थी इसी प्रकार परब्रह्म रूप वस्तु में अज्ञान की कल्पना से जगत् की स्थिति है। जैसे स्त्री ने पुत्र का यथार्थ बोध कराया तब शङ्का की निवृत्ति हुई इसी प्रकार जब गुरु ब्रह्म का बोध कराता है तब जगत् की निवृत्ति होती है। जगत् अज्ञान का कार्य रूप होने से कारण अज्ञान की निवृत्ति होने से अन्त में कार्य भी मिट जाता है। कारण की निवृत्ति जीवन्मुक्ति कहलाती है और कारण कार्य दोनों की निवृत्ति विदेह रूप परमपद कहलाता है।

शंका—वेदान्तवादी कहते हैं कि एक ब्रह्म सिवाय और कुछ नहीं है तब अज्ञान कहां से आया? उसकी उत्पत्ति कहां से हुई? यदि यह कहा जाय अज्ञान की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है तो यह असंभव है क्योंकि ब्रह्म को सत्य, अविकारी, और असंग कहते हैं। ब्रह्म अवयव रहित है, उसमें से अज्ञान

की उत्पत्ति नहीं हो सकी। जिस प्रकार अग्नि में से बरफ नहीं हो सकी। इसी प्रकार ब्रह्म में से अज्ञान नहीं हो सकता फिर अज्ञान कहां से हुआ? यदि यह कहा जाय कि पूर्व के अज्ञान की संतति रूप वर्तमान अज्ञान है, तो भी कभी न कभी वह प्रथम कहीं से हुआ ही होगा।

समाधान—यह महा प्रश्न कहलाता है। सामान्य मनुष्य जिनको तत्वकी प्रक्रियाओं सहित तत्त्व का बोध नहीं हुआ है वे इस प्रकार के प्रश्न किया करते हैं, ऐसे मूढ़ कूप मंढ़क की बुद्धि से समुद्र को समझना चाहते हैं। ब्रह्म सिवाय और कुछ नहीं है, यह सत्य है परन्तु इस सत्यता की प्रतीति तत्त्वदर्शी ही कर सकते हैं, न कि माया में फँसे हुये व्यवहारिक मनुष्य। व्यवहार में फँसे हुये मनुष्यों को व्यवहार की प्रतीति सत्य रूप होती है, उन लोगों को व्यवहार की आसक्ति से हटा कर आत्मभाव में लाने के लिये ही अज्ञान का कथन है। जिसको भ्रम सत्यता से दीखता है, उसके भाव के हटाने को, द्वैत भाव वाले को समझाने के लिये अज्ञान का कथन है। ज्ञानी की दृष्टि में न तो अज्ञान है, न अज्ञान का कार्य है, ऐसे पुरुषों के लिये अद्वैत का कथन है। एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, यह उपदेश द्वैत भाव छुड़ाने के निमित्त है, अद्वैत में से अज्ञान की उत्पत्ति बताने के निमित्त नहीं है। उत्पत्ति पदार्थ की होती है, जो पदार्थ ही नहीं है, तो उस की उत्पत्ति कैसी? ब्रह्मतत्त्व रूप है उसके सामने अज्ञान कोई तत्त्व पदार्थ नहीं है इसलिये ब्रह्म से अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जैसे भ्रम करके रस्सीमें सर्प दीखता है। जैसे वह सर्प रस्सीमें से उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं कह सक्ते इसी प्रकार ब्रह्म से अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जैसे रस्सी रूप स्थान में सर्प की प्रतीति होती है इसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञान और अज्ञान के कार्य जगत् की प्रतीति होती है, जो भ्रम रूप है वस्तु रूप नहीं है इसलिये अज्ञान की उत्पत्ति नहीं है। जिसको दृढ़ अज्ञान है उसके लिये उसकी उत्पत्ति भी होगी, ऐसा अनुमान होता है, ऐसे अनुमान करने वाले स्वयं अज्ञान में हैं इसलिये उनका अनुमान भी अज्ञान-भ्रम रूप है।

प्रथम ही कह चुके हैं कि अज्ञान भूल को कहते हैं। भूल में रह कर भूल की आदि को जानने में कोई भी समर्थ नहीं है और भूल निकल जाने पर भूल की आदि जानने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। भूल करने वाले को भूल में जो पदार्थ दीखते हैं, वे भूल से प्रथम के हैं, इस प्रकार अज्ञानियों का अज्ञान अनादि है और जब तक वे अज्ञान में हैं तब तक उनको अज्ञान अनन्त भी है। जब ज्ञान उत्पन्न होने पर अज्ञान नहीं रहता तब वे जानते हैं कि अज्ञान की उत्पत्ति ही न थी। मुमुक्षुओं के समझाने के लिये शास्त्रकारों ने अज्ञान को अनादि कहा है और साथ ही कल्पित भी कहा है। जो लोग अज्ञान की आदि ढूंढते हैं वे मूढ़ हैं, यह उनका ढूंढना व्यर्थ है। व्यर्थ परिश्रम को मिटाने के निमित्त अनादि कल्पित कह कर समझाया है। फिर भी उन वाक्यों को न मानकर अज्ञानकी आदि ढूंढना मूर्खता है। बच्चा अंधेरे में दौड़ता फिरता है तब लड़के को जीव जन्तु काटने का और गिर पड़ने आदि का माता पिता को भय रहता है तब वे 'वहां हौआ है' इस प्रकार कह कर लड़के को अंधेरे में जाने से रोकते हैं इसी प्रकार अज्ञानियों को अज्ञान की आदि ढूंढने से रोकने के लिये अज्ञान को अनादि कहा है; जो अज्ञानी हो कर भी अपने को ज्ञानी समझते हैं, वे जगत् की आदि ढूंढते हैं, जब वे शास्त्रोपदेश से अपने को संसारी और आत्म बोध रहित समझने लगते हैं तब जगत् की आदि न ढूंढते हुये, उसकी निवृत्ति के प्रयत्न में लगते हैं। जिस प्रकार व्यवहारिक पदार्थों और शास्त्रों की मीमांसा की जाती है और समझ में आते हैं इस प्रकार वेदान्त का गहन विषय सामान्य बुद्धि से समझ में नहीं आता। (अपूर्ण)

❀ मणि रत्नमाला । ❀

इन्द्र वज्रा वृत्तम्।

संसार हृत् कस्तु निजात्म बोधः।
को मोक्ष हेतुः प्रथितः स एव ॥
द्वारं किमेकं नरकस्य नारी।
का स्वर्गदा प्राण भृतामहिंसा ॥३॥

अर्थ—शिष्य-हे गुरो ! संसार का हर्ता कौन है ? गुरु—अपने आत्मा का बोध संसार की निवृत्ति करता है । शिष्य—मोक्ष का हेतु कौन है ? गुरु—जो प्रसिद्ध आत्म बोध है वो मोक्ष का हेतु है। शिष्य—नरक जाने का एक द्वार कौन सा है ? गुरुः—स्त्री नरक का द्वार है। शिष्य —प्राणियों को स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली कौन है ? गुरु—अहिंसा।

भाषा छप्पय।

कौन हरत संसार, जन्म मृत्यू भय दाता।
बोध हरत संसार, परम पद प्राप्त कराता ॥
कौन मोक्ष का हेतु, बोध मुक्ती का घर है।
कौन नरक का द्वार, नारि नरकों का दर है॥
परम धर्म करि कौनसा ? स्वर्ग धाम नर पाय है।
धर्म अहिंसा आचरत, सोहि स्वर्ग को जाय है॥३॥

विवेचन।

सामान्यता से जगत् ही संसार कहलाता है परन्तु जो संसरण है-चलना है, वह ही संसार है। संसार अनंत है क्योंकि जिसमें संसरण होता है, वह संसरण चक्राकार है। जैसे चक्र का आदि अंत नहीं होता इसी प्रकार चक्र में पड़ा हुआ जब तक चक्र से बाहर न निकले तब तक संसार की निवृत्ति नहीं होती। संसार अनेक प्रकार के कष्टों से भरा हुआ है। संसारी को वारंवार जन्म मृत्यु का भय लगा हुआ है। जन्म मृत्यु के मध्य में भी अनेक प्रकार के कष्ट हैं। संसारी कोई भी प्राणी दुःख रहित नहीं है। विद्वान्, ऐसे दुःख रूप संसार की निवृत्ति और सुख स्वरूपकी प्राप्ति करना चाहते हैं। संसार की निवृत्ति से परमपद की प्राप्ति होती है। परमपद सर्व प्रकार के दुःखों से रहित सुख स्वरूप है। संसार जब अनादि और अनंत है तब इसकी निवृत्ति किस प्रकार हो? संसार से बाहर कोई स्थान दिखाई नहीं देता। जब स्थान ही नहीं दीखता तब वहां जाया किस प्रकार जाय ? इस प्रकार के शिष्य के प्रश्न के उत्तर में गुरु कहते हैं कि अपना जो आत्मा है, उसके बोध से संसार की निवृत्ति होती है। जो जिससे उत्पन्न होता है, वह उसके अभाव में लय होजाता है। आत्मा के अबोध-अज्ञान से संसार की उत्पत्ति है जब अबोध निवृत्त होजाय तब संसार की निवृत्ति हो। अबोध की निवृत्ति बोध स्वरूप है इसलिये आत्म बोध से संसार की निवृत्ति होती है। अब आत्मा और बोध दोनों ही को समझना चाहिये। आत्मा किसे कहें ? बहुत स्थानों पर स्थूल शरीर को आत्मा कहा है, कहींर मन को आत्मा बताया है कई जीव को और कई कूटस्थ को आत्मा मानते हैं, इनमें से किस आत्मा के बोध से संसार की निवृत्ति होती है ? जो स्थूल शरीर के बोध से संसार की निवृत्ति कही जाय तो उसके बोध से संसार की निवृत्ति नहीं होती क्योंकि शरीर का बोध प्रत्येक को है किंतु किसी के संसार की निवृत्ति नहीं हुईहै, हर एक का संसार चालू है। "मैं काला हूं, गोरा हूं, पतलाहूं, मोटाहूं, इतना भारीहूं, इतनी उमर वाला हूं" यह ही शरीर का बोध है। अथवा शरीर इस प्रकार के इन इन धातुओं से बना हुआ है, यह भी शरीर का बोध है, इस बोध से भी संसार निवृत्त नहीं होता।

दूसरा जो मन रूप आत्मा कहा जाता है, उसको भी समझाते हैं:—"मेरा मन इस प्रकार का है, इस समय पर इस भाव वाला है, ऐसे संकल्प विकल्प करने वाला है" इस प्रकार मन को जानने से भी संसार की निवृत्ति नहीं होती।

तीसरे जीव रूप आत्मा को भी कई अंश में लोग जानते ही हैं। यह जीता है, यह मर गया है, जीता, मरा और फिर जन्म लेने वाला भी जानते हैं। यह जानने से भी संसार की निवृत्ति नहीं होती।'

चौथा शुद्ध कूटस्थ स्वरूप आत्मा परब्रह्म से अभिन्न है। वह उपाधि संयुक्त जीव है, उस का उपाधि अंश त्यागने से जो शेष रहता है वह वास्तविक आत्मा है। विकार अंश को छोड़ कर उसकी और ईश्वर की एकता करके निश्चय में ठहरना ही बोध है। ऐसे बोध से ही संसार की निवृत्ति होती है।

शंकाः—कर्म, उपासना और ईश्वर के ज्ञान से स्वर्ग-मुक्ति सुनी है। क्या उनसे संसार की निवृत्ति नहीं होती ?

समाधानः—कर्म और उपासना से उच्च संसार रूप स्वर्ग की प्राप्ति होती है, परमपद प्राप्त नहीं होता, परोक्ष ज्ञान से ब्रह्म लोक की प्राप्ति होना संभव है किन्तु स्वबोध बिना यथार्थ मोक्ष प्राप्त नहीं होता। कर्म, उपासना और ईश्वर का परोक्ष ज्ञान कर्म का क्रम (सिलसिला) है। कर्म उत्पत्ति और नाश वाला है, उससे जो फल उत्पन्न होता है वह भी उत्पत्ति और नाश वाला होने से मोक्ष नहीं है। कर्म फल से अतिरिक्त मोक्ष है। मोक्ष अपना स्वरूप होने से किसी का फल स्वरूप नहीं है इसलिये अखंड है।

स्त्री, पुत्र, पुत्रियां, और कुटुम्बी संसार नहीं है। जो कोई उन्हें बाहर से छोड़ना चाहे तो वे सहज ही छूट सक्ते हैं परन्तु आंतर भाव से उन्हें छोड़ना कठिन है। स्त्री आदिक और सब कुटुम्बी शरीर सहित मरणसमय छूट ही जाते हैं परन्तु उनका आंतरिक भाव नहीं छूटता इसलिये संसार भी नहीं छूटता। जब तक मन में से संसार की निवृत्ति नहीं होती तब तक काषाय वस्त्रादि धारण करने से अथवा वेष बनाने से कुछ नहीं होता। जब तक मन में से संसार निवृत्ति होकर मन अमन भाव को प्राप्त नहीं होता—मन का लय आत्मा में नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं होता। वेष ही संसार है, वैरागी बन कर अथवा गोसांई सेवड़ा आदिक बन कर संप्रदाय को बढ़ाना, यह ही संसार का बढ़ाना है। ऐसे ही संन्यासी होकर संप्रदाय बांधने में और जगत् के प्रपंच कार्य-भाव में लग जाना भी संसार ही है। जब आत्म तत्त्व के निमित्त सब ही का त्याग किया तो संप्रदाय बढ़ाने। बांधने की क्या आवश्यकता है ? ऐसे केवल बाह्य त्यागी प्रसंग प्राप्त होने पर विषय वासना से घिर कर अयोग्य आचरण में भी प्रवर्त्त हो जाते हैं। जब तक अंतर से वासना निर्मूल नहीं होती मन विरक्त नहीं होता, तब तक धारण किये वेष से रौरव नरक में पड़ते हैं। वासना संसार है वासना के त्याग से आत्मनिष्ठा होती है, इसके पश्चात् शारीरिक वर्ताव केवल प्रारब्ध का ही होता है, वह ही बोध है।

एक पथिक मार्ग में जा रहा था, गरमी के दिन थे। मध्याह्न समय सूर्य मस्तक के ऊपर आ गया था। पथिक को प्यास लगी। बहुत देर तक खोज करने के पश्चात् उसे जल दिखाई दिया, प्रसन्न होता हुआ जल्दी से जल की तरफ़ जाने लगा, विचारता जाता था "निर्मल जल पीऊँगा, स्नान भी करूंगा, और पसीने से भीगे हुये वस्त्रों कोभी साफ़ करूंगा!" उसीसमय उसे एक दूसरा मनुष्य मिला और कहने लगा "क्यों भाई ! किस विचार में प्रसन्न होते हुये जा रहे हो" पथिक ने कहा "भाई ! बहुत देर से मैं जल की खोज में था, अब जल दृष्टि पड़ा है, इसलिये मैं प्रसन्न हो रहा हूं!" यह सुन कर दूसरे मनुष्य ने अप्रसन्नता से शिर हिलाया। पथिक ने कहा "हे सज्जन ! नकार भाव दर्शक शिर क्यों हिलाता है ?" दूसरा मनुष्य बोला "आपकी बुद्धि पर मैंने शिर हिलाया है! जो जल आप देख रहे हैं, वह जल नहीं है, आप उसके ऊपर अनेक आशायें बांध रहे हैं, यह तो भांभवा का जल है! बालू के

ऊपर सूर्य की किरणें पड़ने से जल की समान दीख रहा है ! वहां जल एक बूंद भी नहीं है ! आपको वहां जाने का परिश्रम दुःख देगा ! बांधी हुई आशायें निष्फल होंगी ! इस से मालूम होता है कि आप मूर्ख हैं ! वह जल तो दूर से देखने मात्रही है ! वास्तविक जल नहीं है !" यह सुनकर पथिक को विचारने, मनन करने और निदिध्यासन करने से मालूम हुआ कि उस की कही हुई बात ठीक है और मेरी भूल है। जब तक सूर्य के किरण बालू पर सीधे पड़ते हैं तब तक ही जल समान दीखता है !

इसी प्रकार संसारी मनुष्य संसार को सत्य मान रहे हैं। जन्म, मरण, स्त्री, पुत्र, द्रव्य, धान्य, वैभव आदिक अपने और सत्य मान कर उनमें इस प्रकार के अनेक मनोर्थ करते रहते हैं !—"पुत्र मेरा नाम रक्खेगा ! द्रव्य से पुत्र का विवाह करूंगा ! पुत्र मेरा गया, श्राद्धादिक करेगा ! मैं स्वर्ग में जाऊंगा !" इत्यादिक भाव आत्मा का नाश रूप है। यह ही निजात्म बोध का हरण है। जब चारों साधन युक्त ज्ञानके अधिकारी बनकर गुरुकी शरण में जाते हैं, सद्गुरु प्रसन्न हो कर महावाक्यों का उपदेश करते हैं तब लक्षणा से आत्माका बोध होता है—अपना स्वरूप जाना जाता है तब निजात्म बोध कहलाता है। वह बोध मोक्ष का हेतु है। इस प्रकार संसार बंधन से मुक्त होने का यत्न करना चाहिये।

तत्त्वमसि—महावाक्य में तीन पाद हैं (१) तत् (२) त्वं (३) असि। तत् का अर्थ वह—ईश्वर है, त्वं का अर्थ तू—जीव है और असिका अर्थ है, है। तत् और त्वं दोनों पदों में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों ही हैं। वाच्यार्थ उपाधि संयुक्त है, लक्ष्यार्थ तत्त्व है और एकता का हेतु है। तत् का अर्थ वह जो ईश्वर है, वाच्यार्थ है, ईश्वर माया सहित है अर्थात् शुद्ध तत्त्व और माया दोनों की एकता से समझाया गया ईश्वर है और माया को छोड़ कर तत्त्वको जो समझाया गया है वह लक्ष्यार्थ है। ऐसे ही त्वं—तू जो जीव है वह वाच्यार्थ है। जीव अविद्या सहित है अर्थात् शुद्ध तत्त्व और अविद्या की एकता करके जो समझाया गया है वह जीव है और अविद्या छोड़ कर तत्त्व को जो समझाया गया है वह लक्ष्यार्थ है। इस प्रकार जीव में रहा हुआ शुद्ध तत्त्व और ईश्वर में रहा हुआ शुद्ध तत्त्व एक ही है। इस प्रकार जब भाग त्याग लक्षणा से जीव और ईश्वर की एकता असि पद करता है तब अहं ब्रह्मास्मि का बोध होता है। इसी अपरोक्ष बोध से मोक्ष होता है।

नरक के द्वार के उत्तर में कहा है कि नारी नरक का द्वार है। जहां अत्यंत कष्ट, रोग और दुर्गंध हो उस स्थान को नरक कहते हैं। पुराणों में नरक के बहुत भयंकर कष्ट का वर्णन है। ऐसे नरक के जाने वाले किस मार्ग से जाते हैं, यह प्रश्न है। संसार भी नरक रूप है, उसमें भी अनेक प्रकार के कष्टादि हैं। स्वर्ग, नरक और मृत्यु तथा उनमें रहने वाले भुवन संसार में हैं। उनमें बार बार जन्म धारण करना नरक में जाना है। सब की उत्पत्ति स्त्री से होती है। जो स्त्री की भावना वाला होता है, वह ही स्त्री के पेट से जन्म धारण करता है। जिन जिन के जन्म होते हुये देखते हैं वे सब स्त्री की भावना वाले थे, उसी मार्ग से वे नरक में आये हैं। यदि फिर भी वही भावना—आसक्ति की जायगी तो उसी नरक द्वार से निकलना पड़ेगा और नरक ही मिलेगा। किसी का जन्म स्त्री की भावना रहित नहीं होता इसलिये स्त्री नरक द्वार रूप है। महान् तपस्वी, ऋषि, मुनि और सिद्धादिक भी थोड़ी भूल होने से उसी द्वार में जा पड़ते हैं। स्त्री माया का स्वरूप है, स्त्री से ही संसार है, स्त्री से ही उत्पत्ति है और सब कष्ट उसी से हैं। इस प्रकार स्त्री सब कष्टों का कारण होने से नरक द्वार रूप है। स्त्री के गर्भ में मलिन पदार्थ भरे रहते हैं। जन्म धारण करने वाले को कई मास तक मलिनता में रहना पड़ता है, वह नरक रूप है। प्रत्यक्ष भी

स्त्री के अंग उपांग मलिन हैं। मूर्ख मनुष्य ही ऐसे अपवित्र, दुर्गंध वाले अंगों को रमणीक और सुखदायक समझकर मोह को प्राप्त होते हैं—स्त्री की इच्छा करते हैं वे ही बारंबार गर्भाशय रूप नरक में वास करने वाले होते हैं। इस प्रकार स्त्री संग में ही सब प्रकार का अनर्थ रहता है।

शंका:-तब जो कुंवारे हैं वे लोग तो नरक में जाते ही न होंगे क्योंकि नरक का द्वार रूप नारी उनके लिये नहीं है, ऐसे ही जो नपुंसक हैं वे ही मुक्ति के भागी होते होंगे क्योंकि स्त्री संग के योग्य वे नहीं हैं। अथवा पाषाण आदिक को मुक्ति समझना चाहिये, जड़ होने से वे नरक द्वार में जाते ही नहीं। पुत्रहीन होगा तो पिता का उद्धार कौन करेगा? सुना है कि अपुत्र की गति नहीं होती, फिर कौन सी बात मानी जाय? स्त्री न हो तो संसार किस प्रकार हो? स्त्री नरक का द्वार रूप है, स्त्री को स्त्री संग का भाव नहीं है तो क्या स्त्रियां ही मुक्त होती हैं?

समाधान:-कुंवारे की स्त्री नहीं होती, परन्तु उसका स्त्री का भाव निवृत्त नहीं होता और अन्य स्त्रियों का सहवास उसे नरक में पटकता है। नपुंसक क्रिया से रहित होते हैं। परंतु भाव से रहित नहीं होते। वे संग रहित अपने जीवन को व्यर्थ समझते हैं इसलिये वे भी नरक ही में जाते हैं। पाषाण आदिक अत्यंत जड़ अवस्था में हैं, वे नरक द्वार से निवृत्त नहीं हुये हैं। उनकी बुद्धि सुषुप्ति समान घन भाव में है, जाग्रत् होकर वह फिर क्रिया संयुक्त होगी इसलिये वे भी मुक्त नहीं हैं। पुत्रहीन की गति न होना जो कहा है वह ठीक नहीं है। गति अगति अपने कर्मानुसार और ज्ञान-भाव के अनुसार होती है। पुत्र से स्वर्ग प्राप्ति कभी नहीं होती जो सत्पात्र पुत्र हो तो पित्रों को किंचित् सहायता अपने कर्म द्वारा दे सका है, इससे विशेष पुत्र कुछ नहीं कर सका। पुत्र उत्पन्न करने का निषेध भी नहीं है। शास्त्र-कारों ने जिस भावसे पुत्रोत्पत्ति दिखलाई है ऐसा शुद्ध भाव गृहस्थों को बाधक नहीं है। पुत्रोत्पत्ति रूप क्रिया बाधक नहीं है, स्त्री संग की आसक्ति ही नरक है। क्रिया होते हुये भी आसक्ति न हो यह सूक्ष्म भेद शुद्ध अंतःकरण से समझने योग्य है। स्त्री का त्याग करने से भी मुक्ति नहीं होती किंतु भाव छूटने से ही नरक का द्वार छूटता है। स्त्री भी स्त्री नहीं है। माता बहिन आदिक स्त्री होते हुये भी देखने वाला उनको विकार भाव से नहीं देखता। स्त्री न रहने से संसार न रहेगा, ऐसे संसार रहनेकी इच्छावाले कभी नरक द्वारको छोड़ ही नहीं सकते। संसार उनको रमणीय दीखता है इसलिये वे संसार के निवृत्तिभाव वाले नहीं हो सकते। जैसे स्त्री पुरुषों के लिये नरक द्वार है ऐसे ही स्त्रियों को पुरुषासक्ति नरक द्वार रूप है। स्त्रियों में पुरुषासक्ति अवश्य होती है इसलिये स्त्री मात्र होने से ही वे नरक द्वार से नहीं बच सकतीं।

एक मनुष्य एक साधु के पास कभी कभी जाया करता था, कभी २ उपदेश भी सुना करता था और दुर्गुणों के हटाने का प्रयत्न भी किया करता था। एक दिन वह साधु के पास आया और उन दोनों में इस प्रकार बात चीत हुई:—

मनुष्य:-भगवन्! आपके उपदेश के अनुसार लोभ, मोहादिक अब मेरी समझ में आने लगे हैं, और उनके हटाने का मैं प्रयत्न भी करता रहताहूं, यत्न से वे हट भी जातेहैं परन्तु एक बात के लिये मैं बहुत प्रयत्न करता हूं तो भी वह हट नहीं सकती। विषय वासना हटाने में मैं अशक्त हूं और भाव और विषयों को मैं हटा सकता हूं, उस को क्यों नहीं हटा सकता?

साधु:-(मुसकरा कर) तू साफ़ दिल का है, तूने जो बात पूछी है वह अत्यंत महत्व की है। जो जिस का मुख्य कारण होता है, उसका हटना कठिन है। तू ही विचार, तेरे शरीर और तेरे हाल के जीवत्व भाव की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है। जिस से तू बना हुआ है, उस की जड़

विषय वासना है। माता पिता की विषय वासना का फल रूप तेरा शरीर है। इस शरीर के ऊपर 'मैं' और 'मेरे' का दृढ़ भाव रखते हुये तू विषय वासना को सर्वदा निवृत्त नहीं कर सक्ता। जो तुझे विषय वासना हटानी हो तो दृढ़ प्रयत्न में लग, जितना शरीराध्यास शिथिल होगा उतनी ही वह वासना भी शिथिल होगी, अन्यथा शिथिल न होगी। देहाध्यास की निवृत्ति के साथ ही विषयासक्ति की निवृत्ति होती है। किसी वृक्ष के शाखा, पत्ते काटने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता किंतु जड़ के काटने में विशेष परिश्रम होता है। जैसे वृक्ष के नाश सहित जड़ कटती है इसी प्रकार देहाध्यास सहित ही विषय वासना की निवृत्ति होना संभव है।

एक शहर में स्त्री पुरुष रहते थे। ऊपर का एक मकान इन लोगों ने किराये पर ले रक्खा था, पुरुष का नाम सूरचन्द था, वह एक व्यापारी के यहां नौकरी करता था। उसकी स्त्री के कोई संतान न होती थी। वह चाल चलन में अच्छी न थी। जब उसका पुरुष नौकरी पर जाता तब एक पुरुष उसके मकान पर आया करता। उन दोनों में याराना हो गया था। वह मनुष्य एक श्रीमान् का पुत्र था। स्त्री को कपड़ा गहना और दाम भी देता रहता था। इस स्त्री का पुरुष मिजाज का सख्त था। स्त्री उससे डरती थी परंतु स्त्री चरित्र से बाज़ भी नहीं आती थी। एक दिन उसका यार नरकानंद उसके मकान पर आया था। दोनों ही अनेक प्रकार के आनन्द में लगे थे इतने ही में किसी के आने का खटका हुआ। सूरचंद कभी इस समय घर पर आता न था, आज एक व्यापारी के पास कुछ काम के निमित्त उसका आना हुआ था। वहां से लौटते समय उसके पेट में कुछ खलबली मची, मकान पास ही था इसलिये वह मकान पर चला आया। स्त्री ने जाली में से अपने पति को आता हुआ देख कर घबरा कर अपने यार से कहा "अब बचने की कोई सूरत नहीं है, वे आ गये हैं, तुम ऊपर हो, वे हम दोनों के प्राण लिये बिना छोड़ने वाले नहीं हैं, पीछे कोई रस्ता नहीं है, कूद कर भाग जाओ ऐसा भी नहीं है, हाय! ईश्वर ने यह क्या किया? किवाड़ी भीतर से कड़ी लगी हुई थी इसलिये सूरचंद ने उसे खूब ठोका! स्त्री ने उत्तर दिया "खोलती हूं, मेरे हाथ झूठे हैं. हाथ धोकर किवाड़ खोलती हूं।" स्त्री और नरकानंदको कोई बचने का उपाय न सूझा। वहां ऊपर ही एक पाखाना था। स्त्री ने कहा "इस पाखाने में घुस जाओ तो मेरे और तुम्हारे प्राण बच जांय!" नरकानंद जल्दी से नरक स्थान रूप पाखाने में घुस गया। स्त्री ने हाथों में पानी लगा कर नीचे आ कर किवाड़ खोले। सूरचंद ऊपर आया। उसे टट्टी की हाजत लग ही रही थी, उसने टट्टी जाने को जल का लोटा मांगा। स्त्री घबराई परंतु करे क्या, वहां कोई दूसरा पाखाना पास था नहीं कि उसे कुछ निमित्त लगा कर दूसरी जाजरूर में भेजे। टट्टी जाने को जल का लोटा मांगने से नरकानंद घबराया और जी में विचारने लगा "क्या करूं? भीतर से किवाड़ देलूं? हाय! यह खबीस कब मानने वाला है, किवाड़ तोड़ डालेगा। और मेरी जान लेगा। यहां से कहीं भाग नहीं सकता हूं, प्राण-बचने की कोई सूरत नहीं दीखती! कड़ी लगाना तो ठीक नहीं है. पाखाने के भीतर उतर जाने से शायद बच जाऊं।" यह विचार कर मल जाने के मार्ग में बिचारा उतरने लगा. छिद्र था छोटा, शरीर छिलने लगा, कई स्थानों पर रक्त निकल आया और सब शरीर मल मूत्र से भर गया। हाय करता हुआ बिचारा नीचे उतर गया और वहां एक ईंट के सहारे खड़ा हो गया। सूरचंद पाखाना खोल करे जल्दी से बैठ गया और टट्टी फिरने लगा। मल मूत्र भीतर घुसे हुये नरकानंद के मुख पर पड़ता रहा। दुर्गंध युक्त मल से वह मूर्छित के समान हो गया परंतु करे क्या न तो भाग सकता था और न

पुकार सकता था सूरचंद हाथ पैर धोकर बैठ गया परंतु उसे दोबारा हाजत हुई। वह फिर टट्टी गया, शाम तक चार पांच बार टट्टी गया। सब मल नरकानंद के शरीर पर पड़ता रहा। अंत में कमज़ोर होने से सूरचंद को नींद आगई। उसे सोता हुआ देख कर स्त्री पाखाने में गई और उसने एक रस्सा डाल कर नरकानंद को ऊपर खींचा। नरकानंद कुछ पानी से मल धोकर अंधेरे में ईश्वर का उपकार मानता हुआ भागा। वह मरा नहीं, विशेष नरक भोगने के लिये स्त्री ने उसे बाहर निकाल दिया। स्त्री संगासक्ति का यह प्रत्यक्ष नरक उसने देखा।

अहिंसा स्वर्ग की देने वाली है। कायिक, वाचिक और मानसिक रूप से किसी का घात-हानि न करना अहिंसा कहलाती है। जो अहिंसा का पालन करता है उसकी हिंसा करने वाला—दुःख देने वाला कोई नहीं होता। अहिंसा समभाव की सिद्धि से सिद्ध होती है। जिसमें समभाव नहीं होता उसको अहिंसा की पूर्ण सिद्धि नहीं होती प्राणी मात्र की हिंसा न करना रूप पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। जिसने आत्म अनुभव किया है ऐसे अहिंसक को और स्वर्ग क्या होगा? उस की जीवन्मुक्ति की स्थिति आनन्द रूप है। स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त जो यज्ञ में हिंसा करते हैं और स्वर्ग में जाते हैं, उनका स्वर्ग वास्तविक स्वर्ग नहीं है। यज्ञ का पशु प्रथम स्वर्ग में पहुंचता है और यजमान पीछे जाता है, वहां दोनों का युद्ध होता है। यजमान थोड़ा सा स्वर्ग का सुख भोग कर फिर चौरासी लक्ष योनियों में जन्म धारण करता है। "क्षीण पुण्य होने से मृत्यु लोक में आना पड़ता है" इसलिये सच्चा सुख वही है जिसमें किसी प्राणी मात्र की हिंसा न हो। अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है अहिंसा परम ज्ञान है और अहिंसा परम गति है। जिस प्रकार हाथी के पैर में सब का पैर समा जाता है इसी प्रकार अहिंसा में सब धर्मों का समावेश हो जाता है। सार्वभौम अहिंसा ही ठीक अहिंसा है। जाति, देश, काल और कार्य के विचार से किसी को मारना और किसी को न मारना परिच्छिन्न अहिंसा है। उत्तम जाति को न मारना जाति परिच्छिन्न है, पवित्र देश में न मारना देश परिच्छिन्न है, शुभ पर्व पर न मारना काल परिच्छिन्न है, और शुभ के निमित्त सिवाय न मारना कार्य परिच्छिन्न है। यह सब तुच्छ हैं।

आत्मा का प्रपंच भाव में गिरना आत्म हिंसा है। जो आत्मा को आत्मभाव सिवाय नीच गति में जाने नहीं देता किंतु आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है वह आत्मा की हिंसा नहीं करता, वह ही स्वर्ग-सुख को प्राप्त होता है। सब प्रकार की हिंसाओं से अपने आत्मा की हिंसा महा भयंकर हिंसा है, उस हिंसा से अनेक प्रकार की योनियों में जन्म धारण करना और दुःख भोगना पड़ता है। जो ऐसी हिंसा नहीं करता वह कृतार्थ होता है। आत्मा का बोध न होना आत्म हिंसा है। अन्य प्राणियों की हिंसा न करने का विधान भी आत्म हिंसा न करने में सहायक होता है। जो आत्मा की हिंसा नहीं करता वह किसी की भी हिंसा नहीं करता। मायिक कामना में हिंसा होती है। मायिक पदार्थ जिसने तुच्छ समझे हैं और जो अपने स्थूल शरीर का मूल्य कौड़ी समान समझता है, ऐसा कामना का त्यागी और आत्मा के अनुराग वाला किसी की भी हिंसा नहीं करता। हिंसा न करके प्रसन्न चित्त रहना ही स्वर्ग सुख है—स्वर्ग का देने वाला है।

(अपूर्ण)

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका ।

(गताङ्क से आगे)

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

अन्वय और अन्वयका अर्थः—च और विशेषणात् विशेषण से [भी जीव और परमात्मा का निश्चय होता है] ।

टीकाः-विशेषण भी विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा को ही लागू होते हैं । 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' [काठ० १ । ३ । ३] (आत्मा को रथी जान और शरीर को रथ ही जान) रथ रथी आदि रूपक से अंत में आये हुये इन वाक्यों से विज्ञानात्मा को रथी कल्पा-कहा है। रथी की उपमा इसलिये दी है कि विज्ञानात्मा संसार और मोक्ष दोनों में जाने वाला है और 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' [काठ० १ । ३ । ९] (वह जीव संसार मार्ग के पार को प्राप्त होता है, वह (पार) व्यापक परमात्मा का परम पद-स्थान है) इस में 'परम पद' ये दो पद परमात्मा के विशेषण हैं। इसी प्रकार 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्म योगाधिगमेनदेवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥' [काठ० । १ । २ । १२] दुःख करके दर्शन किया जा सकता हो ऐसा, गूढ-माया में प्रवेश किया हुआ, गुहा-बुद्धि में रहा हुआ, गह्वर अनेक अनर्थों से व्याप्त देह में रहने वाला, पुराण अध्यात्म योग-विषयों की तरफ़ से चित्त हटा २ कर आत्मा में लगाने से आत्मा का मनन करके धीर पुरुष हर्ष और शोक को त्याग करता है) इस में भी मनन करने वाला और मनन करने का विषय ये विशेषण जीव और परमात्मा दोनों के ही हैं।

यह प्रकरण भी परमात्मा का है । 'ब्रह्म विदो वदन्ति' (ब्रह्म जानने वाले कहते हैं) ऐसे विशिष्ट वक्ता का ग्रहण परमात्मा को मानना युक्त होता है इसलिये यहां जीव और परमात्मा ही कहना चाहिये ।

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' [मुण्ड० ३ । १ । १] (दो सुन्दर पर्णों, सर्वदा युक्त, सखा) इत्यादि में भी यहही न्याय है। यहांपर अध्यात्म-अधिकार से साधारण पक्षी नहीं कहे हैं इसलिये 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (उन दोनों में से एक स्वाद युक्त फल खाता है) इस में भक्षण करने वाला बताने से विज्ञानात्मा (जीव) समझा जाता है और 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' (दूसरा खाये बिना देखता रहता है) इस में न खाने वाला और मात्र देखने वाला कहने से परमात्मा समझा जाता है क्योंकि परमात्मा भोक्ता नहीं है मात्र चैतन्य-जानने वाला है ।

पीछेके मंत्र में द्रष्टा और द्रष्टव्य भावसे ये ही दोनों विशेषण लगाये हैं-'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीत शोकः' [मुण्ड० ३ । १ । २] (समान अर्थात् एक ही वृक्ष में-छेदन योग्य शरीर में-निमग्न हुआ जीव दीन भाव से मोह को प्राप्त होकर शोक करता है । जब अनेक योग मार्गों द्वारा सेवा किये हुवे ईश-समर्थ दूसरे को-परमात्मा को और उसकी महिमा को जानता है तब शोक रहित होता है ।)

शंकाः—'द्वा सुपर्णा' यह ऋचा इस अधिकरणके सिद्धान्तको प्रतिपादन नहीं करती क्योंकि पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण में इस का दूसरी प्रकार से व्याख्यान किया है । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वमनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्यो ऽभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ' इति (उनमें से एक स्वादयुक्त फल खाता है, यह सत्त्व और दूसरा खाये बिना देखा करता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ उपभोग किये बिना देखा करता है यह सत्त्व और क्षेत्रज्ञ दोनों हैं) सत्त्व शब्द जीव वाचक और क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मा वाचक है, ऐसा जो कहा है वह ठीक नहीं है क्योंकि सत्त्व और क्षेत्रज्ञ

शब्द अंतःकरण और शरीर (जीव) वाचक हैं, यह प्रसिद्ध है और उसी (पैङ्ग रहस्य ब्राह्मण) में इस प्रकार व्याख्यान किया है-'तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्व क्षेत्रज्ञौ' इति (जिस करके स्वप्न देखता है वह यह सत्त्व है और यह शारीर जो उपद्रष्टा है, वह क्षेत्रज्ञ है, इस प्रकार यह सत्त्व और क्षेत्रज्ञ दोनों हैं)

समाधानः—यह जो तुमने कहा कि यह ऋचा इस अधिकरण का सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करती यह ठीक नहीं है क्योंकि यदि यह ऋचा इस अधिकरण का सिद्धान्त प्रतिपादन नहीं करती तो पूर्व पक्ष भी प्रतिपादन नहीं करती। यहां पर शारीर-क्षेत्रज्ञ अर्थात् कर्तृत्व, आदि संसार धर्म से युक्त ऐसी विवक्षा नहीं है।

शंकाः—तब कैसी विवक्षा है ?

समाधानः—सर्व संसार से परे ब्रह्म स्वभाव, चैतन्य मात्र स्वरूप की विवक्षा है क्योंकि 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीतीत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यतिज्ञः' (खाये बिना दूसरा देखा करता है अर्थात् खाये बिना दूसरा, क्षेत्रज्ञ देखा करता है) ऐसा वचन है और 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'क्षेत्रज्ञमपि मांविद्धि' [गी० १३। २] (क्षेत्रज्ञ मुझेही जान) ये श्रुति और स्मृति और इनके सिवाय और श्रुति स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं इसलिये इस मंत्र व्याख्यान से 'तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ न ह वा एवं विदि किंचन रज आध्वसते' (वे ये दोनों सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं इस प्रकार जानने वाले को कहीं भी रज (अविद्या) संस्पर्श नहीं करती) इस प्रकार से विद्या का उपसंहार दर्शन युक्त होता है

शंकाः—परन्तु इस पक्ष में 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' (उन दोनों में से एक स्वाद युक्त फल खाता है, ऐसा सत्त्व है) अचेतन सत्त्व को भोक्ता बताना किस प्रकार युक्त हो सक्ता है ?

समाधानः—यहांपर अचेतन सत्त्व को भोक्ता बताने के लिये श्रुति प्रवृत्त नहीं हुई है।

शंकाः—तब क्या बताने के लिये प्रवृत्त हुई है ?

समाधानः—चेतन क्षेत्रज्ञ अभोक्ता और ब्रह्म स्वरूप है ऐसा कहने को प्रवृत्त हुई है। सुखादि विकार वाले सत्त्व में भोक्तापने का अध्यारोप करती है क्योंकि भोक्तापना और कर्तापना दोनों में ही सम्भव नहीं है क्योंकि सत्त्व अचेतन है और क्षेत्रज्ञ विकार रहित है। इन दोनो में सत्त्व का तो अविद्या से ऐसा स्वभाव उत्पन्न हुआ है इसलिये उसको तो भोक्तापन सम्भव ही नहीं है क्योंकि 'यत्र वा अन्यदिवस्यात् तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्' [बृह० ४। ५। १५] (जहां द्वित्व हो वहां एक दूसरे को देखे) इत्यादि से श्रुति स्वप्न में देखे हुये हाथी आदि के व्यवहार की समान अविद्या में ही कर्तापना आदि व्यवहार दिखलाती है और 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत तत्केनकं पश्येत्' [बृह० ४। ५। १५] (परंतु जहां सर्व इसका आत्मा ही हो वहां किस को किससे देखे) इत्यादि से विवेकी के कर्तापने आदि व्यवहार का अभाव दिखलाती है ॥ १२ ॥

(४) अन्तराधिकरण।

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अन्तरः—[नेत्रों के] अन्तर [परमात्मा है, अमृतत्वादि गुणों की] उपपत्तेः सङ्गति से।

टीकाः—'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' [छान्दो० ४। १५। १] (आंखों में यह जो पुरुष दीखता है वह आत्मा है ऐसा तुझसे यथार्थ कहा, यह अमृत है अभय है यह ब्रह्म है ऐसा [कहा] वह [स्थान] जो इसमें घी अथवा पानी डालता है तो भी वह पापण में ही जाता है) इत्यादि श्रुति है। इसमें संशय होता है कि आंख में रहने वाला कौन है ?

(अपूर्ण)

कौषीतकि उपनिषद् ।

(गताङ्क से आगे)

दूसरा अध्याय ।

कौषीतकि कहने लगेः-प्राण ब्रह्म रूप है, प्राण जो ब्रह्म रूप है उस का दूत रूप मन है, वाणी परोसने वाली है। चक्षु शरीर का रक्षक रूप है और श्रोत्र द्वारपाल है । प्राण रूप ब्रह्म का मन दूत है, ऐसे जो जानता है वह दूत वाला होता है; चक्षु को रक्षक जानने वाला रक्षक वाला होता है। जो श्रोत्र को द्वारपाल जानता है वह द्वारपाल से युक्त होता है । जो वाणी को परोसने वाली जानता है वह परोसने वाले से युक्त होता है। इस प्राण रूप ब्रह्म के लिये सब देवता अर्थात् इन्द्रियां न मांगने पर भी बलि लाते हैं इसी प्रकार उस की उपासना करने वाला नहीं मांगे तो भी सब प्राणी बलि लाते हैं । जो इस प्रकार जानता है, उस का परम रहस्य यह है कि उस को भीख नहीं मांगनी । जैसे एक मनुष्य ग्राम में भिक्षा मांगने जाता है, जब उस को कुछ नहीं मिलता तब वह ऐसा कह कर बैठता है कि अब मैं भिक्षा में मिला हुआ भक्षण न करूंगा; तब जो लोग भिक्षा देने की नहीं करते थे वे ही उस को बुला कर देने लगते हैं। जो याचना नहीं करता उस का इस प्रकार का धर्म है परन्तु धन देने वाले 'हम तुझ को देंगे' ऐसा कह कर बुलाते हैं ॥१॥

पैंग बोलाः-प्राण यह ही ब्रह्म है । प्राण रूप ब्रह्म को वाणी के पीछे चक्षु आवरण करते हैं, चक्षु के पीछे श्रोत्र आवरण करते हैं । श्रोत्र के पीछे मन आवरण करता है और मन के पीछे प्राण आवरण करते हैं । देवता-इन्द्रियां न मांगने पर इस प्राण रूप ब्रह्म को बलि ला कर देते हैं । इसी प्रकार प्राण की ब्रह्म रूप से उपासना करने वाले को नहीं मांगने पर भी प्राणी बलि ला कर देते हैं। ऊपर के समान नहीं मांगने वाले को दाता सब देते हैं ॥ २॥

अब एक धन अर्थात् प्राण की प्राप्ति के संबंध में कहने में आता है । जो कोई इस प्राण की उपासना करता है, वह पूर्णिमा को, अमावस्या को शुक्ल पक्ष में, पुष्य नक्षत्र में अग्नि का आधान करे, वेदी दर्भ से साफ़ करे, दर्भ का परिस्तरण करे, और प्रोक्षण करे, पीछे दक्षिण घुंटो को नीचे रख कर श्रुव, चमस पात्र अथवा कांसे के पात्र से घी की आहुति देवे। वाग् नाम का देवता प्राप्त कराने वाला है। इस देवता को इस मनुष्य के पास से मेरे लिये यह प्राप्त हो, इस लिये उस देवता को यह आहुति देता हूं । इस प्रकार से प्राण देवता को, चक्षु देवता को, श्रोत्र देवता को, मन देवता को, प्रज्ञा देवता को आहुति देवे । पीछे धुयें का गंध लेकर अवयवों को घृत लगा कर, वाणी को नियम में रख कर आगे जावे, और अपने आशय को उस से कहे अथवा उस को दूत कर के भेजे । उस को ठीक २ उस की प्राप्ति होती है ॥ ३ ॥

(इस अध्याय में पंद्रह मंत्र हैं, वे सब कर्म मार्ग के अनुसरने वाले होने से और आज कल ऐसे कर्म का प्रचार न होने से समझ में आना कठिन है और मुमुक्षुओं को उपयोगी भी नहीं हैं इस लिये अर्थ नहीं दिया)

तीसरा अध्याय ।

दिवो दास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध रूपी यज्ञ और पराक्रम से इन्द्र के परम धाम में पहुंचा, उस से इन्द्र ने कहा, "हे प्रतर्दन! मैं तुझे क्या वरदान दूं ?" प्रतर्दन ने कहा " जिस को आप मनुष्य के लिये हितकारी समझते हों वह वरदान मुझे दीजिये ।" इन्द्र बोला "अपने से न्यूनता वाले को श्रेष्ठ वरदान पसंद नहीं करते, तू अपने लिये आप ही वरदान मांग ? " प्रतर्दन बोला "न्यूनता वाले को अपने लिये वरदान पसंद करना न चाहिये।" इन्द्र ने कभी सत्य का त्याग नहीं किया क्योंकि इन्द्र सत्य रूप है ! इन्द्र बोला " सच्चे अहं नाम के योग्य तू मुझे जान, मनुष्य के लिये मैं यह उत्तम मानता हूं कि उसे मुझ को पहिचानना चाहिये । त्वष्टा के तीन मस्तक वाले पुत्र को मैंने मार डाला था, वेद से

रहित सन्यासियों को मैंने भेड़ियों को दे दिया। अनेक संधियों का अतिक्रमण कर के प्रह्लाद के वंशजों को मैं ने मारा था इस कर के भी मेरे शिर का एक बाल भी टूटने न पाया। जीवात्मा और परमात्मा के बीच में जिस को अद्वैत भाव होता है उस का लोक (सुख) किसी कर्म से, मातृ वध से, पितृ वध से, चोरी से और ब्रह्म हत्या से कभी नष्ट नहीं होता। कभी वह पाप कर्म करने की इच्छा करता है तो भी उस के मुख की कान्ति फीकी नहीं पड़ती" ॥१॥

इन्द्र बोलाः-"मैं प्राण रूप हूं। प्रज्ञा रूप, आयुष् और अमृत रूप से मेरी उपासना कर। आयुष् प्राण रूप है, प्राण आयुष् रूप है और प्राण को अमृत रूप से कहा है। जब तक इस शरीर में प्राण रहता है तब तक आयुष्य रहता है मनुष्य प्राण कर के इस लोक में अमृतत्व को प्राप्त करते हैं और प्रज्ञा से सत्य संकल्प को प्राप्त करते हैं। जो आयुष्य रूप और अमृत रूप से मेरी उपासना करता है वह इस लोक में पूर्ण आयुष्य को प्राप्त होता है और स्वर्ग में अमृत भाव को प्राप्त करता है और अक्षय रूप होता है" तब प्रतर्दन बोलाः-" कितनेक कहते हैं कि जब कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय रूप प्राण एकत्र हो कर गमन करते हैं तब वाणी से नाम जानने को कोई समर्थ नहीं होता। तैसे ही चक्षु रूप को, श्रोत्र शब्द को, और मन ध्यान को नहीं जान सक्ता। जब प्राण एक रूप होता है तब वह भिन्न २ जानने की शक्ति देता है। इस प्रकार जब वाणी बोलती है तब सब प्राण उस के पीछे बोलते हैं। जब चक्षु देखता है तब उस के पीछे सब प्राण देखते हैं। जब श्रोत्र सुनता है तब उस के पीछे सब प्राण सुनते हैं और जब मन विचारता है तब उस के पीछे सब प्राण विचारते हैं। जब प्राण श्वास लेता है तब सब प्राण उस के पीछे श्वास लेते हैं।"
इन्द्र बोलाः-"इस प्रकार है तो सही, परन्तु उत्कृष्ट सुख तो प्राण को ही होता है ॥२॥

हम गूंगे को देखते हैं उस से जान सक्ते हैं कि वाणी रहित मनुष्य जीता है अंधे को देख कर जान सक्ते हैं कि चक्षु रहित मनुष्य जीता है। बहरे को देख कर जान सक्ते हैं कि श्रोत्र रहित जीता है, हाथ से रहित जीता है तैसे ही उरू कटा हुआ जीता है। इस प्रकार देखते हैं कि कि प्राण ही प्रज्ञात्मा रूप है, इस शरीर को धारण कर के वह इस को उठाता है, इस लिये उस की उक्थ रूप से उपासना करनी चाहिये। जो प्राण है वह ही प्रज्ञा रूप है, जो प्रज्ञा है सो प्राण रूप है। इस प्राण का स्वरूप इस प्रकार हैः-प्राण और प्रज्ञा इस शरीर में साथ रहते हैं, उन में से दोनों साथ ही उत्क्रमण करते हैं, यह उस की दृष्टि विज्ञान रूप है। जब पुरुष सुषुप्ति अवस्था में होता है, जब वह कुछ भी स्वप्न नहीं देखता, उस समय प्राण के विषे एक ही प्रकार का होता है। पीछे वाणी सब नामों सहित उस में प्रवेश करती है, चक्षु सर्व रूपों सहित उस में प्रवेश करते हैं, श्रोत्र सर्व शब्दों सहित उस में प्रवेश करते हैं और मन सर्व संकल्पों सहित उस में प्रवेश करता है। जब मनुष्य जाग्रतावस्था में आता है तब जैसे जलते हुये अग्नि में से सब दिशाओं में चिनगारियां उड़ती हैं वैसे ही इस आनन्द रूप आत्मा में से सब प्राण अपने २ स्थान प्रति जाजा कर बैठते हैं। प्राणों से देव और देवों से लोक होते हैं इस रीति का उस का प्रमाण और विज्ञान है। कोई एक पुरुष रोगग्रस्त होता है और मरण के समीप होता है, बल से रहित होता है, भान रहित अवस्था में पड़ता है तब उस के पास बैठने वाले कहते हैं कि उस का चित्त जाता रहा है, वह सुनता नहीं है, वह देखता नहीं है, वह वाणी से बोलता नहीं है, वह इस प्राण में एक रूप हो गया है, पीछे सब नामों सहित वाणी उस में प्रवेश करती है, सब रूप सहित चक्षु उस में प्रवेश करते हैं सर्व शब्दों सहित श्रोत्र उस में प्रवेश करते हैं और सब संकल्पों सहित मन उस में प्रवेश करता है, जब वह जाग्रत् होता है तब जैसे जलते हुये अग्नि की चिनगारियां सब दिशाओं में उड़ती हैं इसी प्रकार आनन्द रूप आत्मा में से प्राण अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं। प्राणों में से देवताओं का और देवताओं में से लोकों का उद्भव होता है॥३॥

Registered No. A. 860

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र ।

पुस्तक ३ } माघ सं० १९७७। फर्वरी १९२१ { अंक ४

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी ॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)   एक प्रति का मूल्य ।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा शान्ति प्रे[illegible] आगरा ।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।-) लिया जायगा । नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

विलम्ब का कारण ।

छापेखाना बदलने के कारण पत्र समय पर प्रकाशित न हो सका ।

सूचना ।

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द......मूल्य रु० ३।-)

" द्वितीय " " " " ३।-)

" प्रथम " बिना जिल्द " " ३)

" द्वितीय " " " " ३)

डांक महसूल ग्राहक को देना पड़ेगा ।

सम्पादक ।

ॐ

वेदान्त केसरी।

पुस्तक ३ | माघ सं० १९७७। फरवरी १९२१ | अंक ४

परा पूजा।

छप्पय छन्द।

देव एक अद्वैत, द्वैत बिनु, पूरण पाऊं।
पढ़ि आवाहन मंत्र, अत्र किस भांति बुलाऊं॥
जो सब का आधार, धारता विश्वभरे को।
दे आसन बैठाउं, ठाउं कहं धाम परे को॥
सर्व विश्व एक पाद भर पाद्य उसे क्या दीजिये।
ले दीपक को हाथ मत खोज सूर्य की कीजिये॥१

देव स्वच्छ से स्वच्छ, तुच्छ क्या अर्घ दिये से।
अर्घ होय क्या सिद्ध, शुद्ध को शुद्ध किये से॥
सब को करे पवित्र, मित्र सब का ही जो है।
करवाऊं जो पांच. आचमन कैसे सोहे॥
निर्मल के स्नान हित, नीर कहां से लाइये।
नदी तड़ाग समुद्र में पावन जल कहँ पाइये॥२

पूर्ण देव सर्वत्र, वस्त्र कैसे पहनाऊं।
निरालम्ब को कौन यज्ञ उपवीत बनाऊं॥
नहिं इच्छा की गंध, गंध किस भांति सुंघाऊं।
सच्चित् परमानन्द, कन्द किस भांति रिझाऊं॥
परम रम्य से रम्य को गहना क्या पहना सकूं।
सुन्दर को सुन्दर करे सो सुन्दर न बना सकूं॥३

नित्य तृप्त चहुं कोण कौन नैवेद्य खिलाऊं।
राग विराग समान, पान कैसे चबवाऊं॥
व्यापक देव अनन्त अन्त जिस का नहिं पाऊं।
कहो कौन विधि तात! सात प्रदक्षिण धाऊं॥
अद्वितीय विभु देव को विनती कौन सुनाइये।
जो हो कोई दूसरा, तो उसकी स्तुति गाइये॥४

जो हो देव अवेद्य, वेद क्या उसे सुनाऊं।
पढ़ि पढ़ि वेद स्तोत्र, कौन विधि उसे मनाऊं॥
उसका कौन विधान, भानु सम स्वयं प्रकाशे।
विभु की आरति हेतु, रीति कोई नहीं भासे॥
नहीं विषय जो नेत्र का कैसे उसको देखिये।
पेखन जिसके रुद्र विधि कैसे उसको पेखिये॥५

बाहर अन्तर पूर्ण, शून्य वस्तू नहिं कोई।
तीन लोक त्रियकाल, काल सम व्यापक जोई॥
परम तत्त्व परधाम, धाम सब ही हैं जिसके।
वस्तु नहीं है कोय, होय जो बाहर उसके॥
सर्व रूप अस देव का कहां विसरजन कीजिये।
कौन देश में है न वह, देश बता सो दीजिये॥६

अक्रिय बोध स्वरूप, क्रिया करते जिससे सब।
सेवन सो ही देव, होय कोई समरथ कब॥
पूजा आरति तासु नहीं कोई कर सक्ता।
भोग तथा मिष्ठान्न, पान कैसे धर सक्ता॥
कैसे पूजें तब उसे, मौन धार कर पूजिये।
करें विनय किस भांति आत्मपरायण हूजिये॥७

एक बुद्धि मन चित्त, परा पूजा मन लावे।
जन सुकृति सो धन्य, अन्य में नहीं लुभावे॥
निशि दिन मास अरु पक्ष लक्ष ऐसा ही रक्खे।
परब्रह्म को पाय अमृत प्याला सो चक्खे॥
यही परम कर्त्तव्य है, नहिं कौशल्य विसारिये।
मिटा मूल से द्वैत को, एक अद्वैत विचारिये॥८

स्वतंत्रता ।

संसार में कोई भी जीव ऐसा न होगा जो स्वतंत्रता न चाहता हो। देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीटादिक सभी उसके उपासक हैं। स्वतंत्रता में ऐसी कौन सी विशेषता है जिसके कारण सब उसको चाहते हैं? उसमें ऐसी कौन सी मिठास है कि अनेक जन्मों से परतंत्रता में पड़े हुये होने पर और परतंत्रता स्वाभाविक सामान्य मानी जाने पर भी उसकी चाहना नहीं छूटती। अथवा यों कहो कि परतंत्रता कितनी भी दृढ़ क्यों न हो तो भी स्वतंत्र होने का भाव किस कारण से निर्मूल नहीं कर सके? यह स्वतंत्रता किसकी है? किस में है?

स्व अपना, तंत्रता:प्रधानता (तंत्रं प्रधाने इति अमर [विवेके) अपनी प्रधानता-उपस्थिति में वर्तना स्वतंत्रता है और पराई तंत्रता-प्रधानता इस स्थिति में वर्तना परतंत्रता है। स्व अपने को कहते हैं। शरीर, इन्द्रियां, अंतःकरण और जीव भाव इन सब का अथवा उन में से किसी एक का भी स्व शब्द में समावेश नहीं है किंतु स्व शुद्धात्मा है। स्वाधीनता स्वतंत्रता है, पराधीनता परतंत्रता है। सामान्य मनुष्य स्वतंत्रता का अर्थ शरीरादि समझ कर जो वर्तते हैं वह ठीक नहीं है यद्यपि वे लोग स्व का अर्थ अपना करते हैं परंतु अविद्या के कारण से उन का माना हुआ अपना शुद्धात्मा नहीं है किंतु उन का अपना देहाध्यास वाला जीव अथवा देह सहित जीव है इसलिये वे लोग देह भाव सहित-देह सहित स्वतंत्रता चाहते हैं। देह सहित स्वतंत्रता होना तीन काल में भी असंभवित है। संपूर्ण यथार्थ स्वतंत्रता अज्ञान भाव में नहीं होती। जिस को वे स्वतंत्रता समझते हैं वह स्वतंत्रता है भी नहीं। ये लोग स्थूल शरीर की अथवा स्थूल सहित सूक्ष्म शरीर की स्वतंत्रता चाहते हैं परंतु कर्मोपार्जित शरीर में स्वतंत्रता कहां से हो! कर्म की परतंत्रता में तो जीवभाव प्रथम ही पड़ा है। स्व आत्मा से पर कोई नहीं है, भ्रम के कारण पर की कल्पना की गई है। जब पर बनता है तब पर के आधीन होता है.पश्चात् पर की आधीनता से छूट जाने की इच्छा होती है। स्व अपने को कहते हैं और ब्रह्मांड भर का स्व अपना एक ही है। स्व के ही सब तंत्र चल रहे हैं इसलिये न कोई पर है न पराधीनता है तब भी अज्ञानवश अपने को परतन्त्र समझ कर सब जीव दुखी होते हैं। कैसा अश्चर्य है! आत्मा स्वतंत्र है, उसको परतंत्र वाला कोई नहीं है। आत्मभाव छोड़ कर पृथक्-त्व अभिमान धारण करने से अपने को परतंत्र मानने लगते हैं। तो भी उसकी आद्य स्वतंत्रता का भाव दबता नहीं है इसलिये भूल में पड़ा हुआ होने पर भी स्वतंत्रता का भाव हर किसी को होता है। जीव भाव के अज्ञान को छोड़े बिना और आत्म में टिके बिना कोई स्वतन्त्र नहीं होता। ज्ञानी आत्म स्वरूप होने से स्वतंत्र होता है इसलिये उसकी दृष्टि में स्वतंत्रता और परतंत्रता दोनों निवृत्तहो जातीहैं यदि अन्यसे अन्य स्वतंत्र कहा जाय तो भ्रान्ति सिवाय आत्मामें ऐसा होना सम्भवित नहीं है। भ्रान्ति में जैसी परतंत्रता है ऐसी ही स्वतंत्रता है तो उसका क्या फल? यदि सच्ची स्वतंत्रता चाहते हो तो अज्ञान की निवृत्ति करो। जगत् में अनेक प्रकार की जितनी स्वतंत्रता और परतंत्रता मालूम होती है वह सब भ्रान्ति की कल्पना ही है। अपनी ही कल्पना अपने को परतंत्र करके स्थित है वस्तुतः तो कोई भी किसी से परतंत्र नहीं है। जैसे स्वतंत्र हो कर भी लोग अपने को परतंत्र मानते हैं वैसे परतंत्र होकर भी अपने को स्वतंत्र मान बैठते हैं। इससे सिद्ध होता है कि स्वतंत्रता और परतंत्रता मात्र भावसे ही हैं। आंतरिकभाव को निवृत्त करने से परतंत्रता निवृत्त हो जाती है। उसके लिये बाहर का प्रयत्न करना मूर्खता है। स्वतंत्रता और परतंत्रता का समझना अंतःकरण से होता है और वे उसी में ही टिकी हुई हैं। अंतःकरण सूक्ष्म प-

दार्थ है वह स्थूल पदार्थ की परतंत्रता में नहीं आ सक्ता। जैसे स्थूल से सूक्ष्म स्वतंत्र होता है वैसे ही सूक्ष्म से कारण स्वतन्त्र होता है—सूक्ष्म की परतंत्रता में नहीं आता। कारण से माया स्वतंत्र है. और माया से आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा की स्वतंत्रता माया और उसके कार्य की अपेक्षा से है। आत्मा सबसे ही स्वतंत्र है क्योंकि जो जितना सूक्ष्म होता है, उतना ही वह विशेष व्यापक होता है और विशेष व्यापक न्यून व्यापक की परतंत्रता में नहीं आ सकता। आत्मा सब से सूक्ष्म और सबमें व्यापक है इसलिये वह किसी की परतंत्रता में नहीं आता। परतंत्रता—बंधन पंच महाभूत और उनके भाव से होता है। पंचभूत पृथ्वी, जल, वायु, तेज और आकाश ये आत्मा को बांध नहीं सके, आत्मा में उनके भाव का होना भी नहीं है, तब आत्मा को बंधन कैसे करें। आत्मा को बंधन करने वाली कोई सामग्री नहीं है इस लिये आत्मा स्वतंत्र ही है, उसमें जो परतंत्रता भासती है, जिससे दुःख होता है वह सब भूल की ही आपत्ति है जिस प्रकार सन्दूक में रक्खी हुई कस्तूरी देखने मे नहीं आती तो भी संदूक आदिक आवरण सहित भी उसकी सुगन्धि बाहर फैलती है इसी प्रकार शुद्धात्मा अखण्डित स्वतन्त्र होने पर भी जीव भाव से शरीरादि में अपने को बन्धन में पड़ा मानता है तो भी उसकी स्वतन्त्रता की स्वाभाविक सुगन्धि बाहर फैले बिना नहीं रहती इसी से हर एक स्वतन्त्र होना चाहता है। जगत् में देखने से मालूम होता है कि यदि कोई किसी की नौकरी करके परतंत्र होता है तो उसकी उसी देश में परतंत्रता होती है क्योंकि परतंत्रता स्थूल शरीरादि की ही होती है, मानसिक परतंत्रता नहीं होती और स्थूल परतन्त्रता मानसिक विचार में बाधा नहीं देती इसलिये शरीर अनेक प्रकार के बंधनों से बंधा हुआ होने पर भी मन में स्वतन्त्रतानुसार संकल्प विकल्प आदिक होते रहते हैं। जब मन से सब स्वतन्त्र हैं तब शरीर की परतन्त्रता को मन में क्यों मानना चाहिये। इसी प्रकार आत्मा जो सदा स्वतन्त्र है, उसको आत्म स्वरूप से न जान कर और स्थूल शरीर, अन्तःकरण और जीव भाव अनात्मा को आत्मा समझ कर उनकी परतन्त्रता का आरोप आत्मा में किया जाता है। यह अज्ञान स्वतन्त्रता को परतन्त्रता का अनुभव कराता है। स्वतन्त्रता आत्मा की होने से मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक सब का आत्मा उसे चाहता है। स्वतंत्रता में अपने स्वरूप की ही मिठास है। स्वतंत्रता की चाहना से यह ही सिद्ध होता है कि मायिक आवरण आत्मा को वास्तविक आच्छादित नहीं कर सका क्योंकि यदि आच्छादित करता होता तो उसकी स्वतंत्रता की सुगन्ध बाहर न निकलती। अनेक जन्मों की परतंत्रता झूंठी—अज्ञान की होने से वह चाहे जितनी दृढ़ि भूत क्यों न होजाय और चाहे जितने जन्मों की क्यों न हो सत्यस्वरूप की स्वतंत्रता को निर्मूल नहीं कर सकती। अज्ञान से ज्ञान स्वरूप की विशेषता ही उसमें मुख्य कारण है। स्वतंत्रता आत्मा की है, आत्मा में है परन्तु अज्ञान के कारण से अनात्म भाव से युक्त होकर अनात्मा में स्वतंत्रता चाहते हैं। यह अज्ञान कभी भी स्वतंत्रता को प्राप्त नहीं कर सका। यदि अज्ञान की स्वतंत्रता प्राप्त भी हो जाय तो किसी न किसी दूसरी रीति की परतंत्रता उसमें बनी ही रहेगी इसी कारण यदि किसी ने किसी एक मायिक विषय पर स्वतंत्रता प्राप्त करली तो भी अन्य प्रकार की स्वतंत्रता शेष रहने से स्वतंत्रता की चाहना निवृत्त नहीं होगी। स्वतंत्र होने की चाहना स्वतंत्र आत्म स्वरूप की स्थिति रूप ज्ञान से ही निवृत्त होती है। ज्ञान होने पर मालूम होता है कि मैं परतंत्र हूं ही नहीं, कभी परतंत्र नहीं हुआ हूं अज्ञान के कारण मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं परतंत्र हूं, मैं तो नित्य ही स्वतंत्र स्वरूप हूं।

रामेश्वर चक्रवर्ती नाम का एक पुरुष था उसका विवाह लड़कपन में होगया था परंतु विवाह के पश्चात् ही संबंधियों में आपस में झगड़ा होने से रामेश्वर के पिता ने पुत्र बधू को अपने घर नहीं बुलाया था और आयु पर्यन्त उस का त्याग किया था। रामेश्वर का पिता स्वाश्रयी था अपने हाथों से उसने लाखों रुपये पैदा किये थे। कुछ कुल और कुछ धन के अभिमान से उस ने रामेश्वर की प्रथम पत्नीका जिसका नाम सरला था त्याग किया और तुरंत ही दश दिनके भीतर रामेश्वरका दूसरा विवाह होगया। रामेश्वर अपनी प्रथम पत्नी को और सरला अपने पति रामेश्वरको पहिचानते भी न थे। दूसरी स्त्री बड़ी होने से रामेश्वर का घर उससे बस गया। यदि कोई सरला का नाम भी लेता तो रामेश्वर का पिता क्रोधित होता था। बहुत समय बीत जाने से रामेश्वर की प्रथम स्त्री को सब भूल गये थे। रामेश्वर का चाल चलन अच्छा न था यद्यपि उसने एन्ट्रैंस तक विद्या का अभ्यास किया था। जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि के सब अपलक्षण उसमें थे। उसका एक बड़ा भाई था, उसका नाम सिद्धनाथ था। वह चतुर, माता पिता की आज्ञानुसार वर्तने वाला और विद्वान् था। पिता और बड़ा भाई रामेश्वर के चाल चलन सुधारने का बहुत यत्न करते थे परन्तु उसने अपनी चाल न सुधारी। जब पिता और बड़ा भाई उसको खर्चने के लिये दाम न देते तो वह अवसर पाकर घर में से चुरा लेजाता था। इस प्रकार स्त्री का सब जेवर लेकर उसने फूंकदिया। वह स्त्री को मारा भी करता था। उसके एक पुत्र भी होगया था परन्तु दुःख पाकर स्त्री और पुत्र दोनों ही मर गये। बद चलन का और विवाह करना माता पिताने योग्य न समझा। रामेश्वर का पिता उससे अत्यन्त नाखुश रहता था। 'इसके हाथ में आने से मेरी सब मिलकत का नाश होजायगा' ऐसा समझकर जब उसका शरीर अनारोग्य रहने लगा तब उसने अपनी सब मिलकत बड़े लड़के सिद्धनाथ के नाम कर दी और सब मिलकत का मालिक भी सिद्धनाथ ही हो इस प्रकार का हिबेनामा लिखकर रजिस्टर करा दिया। सिद्धनाथ सुपात्र और कमाऊ पुत्र था। उसके एक स्त्री और दो पुत्र थे। एक दिन रामेश्वर और पिता में कलह हुआ। रामेश्वर घर के बाहर निकाल दिया गया और घर में आवे तो आने न पावे इस प्रकार का प्रबन्ध कर दिया गया और 'उसने घर में से कई चोरी की हैं' इसप्रकार सरकार में लिखा कर उसके लिये वारंट निकलवाया गया। यह सब हाल और हिबेनामे का हाल जब रामेश्वर को मालूम हुआ तो उसे देश छोड़ कर भागने के सिवाय और कोई मार्ग न सूझा। प्रथम के चुराये हुये रुपयों में से एक हजार रुपये उसके पास थे, उन्हें लेकर वह कलकत्ते चला गया और थोड़े ही दिनों में उनको फूंक फांक कर भटकने लगा। उसने कई जगह नौकरी भी की परन्तु किसी नौकरी पर वह न टिका और बुरी आदतें होने के कारण कष्ट भोगता और दुःख पाता रहा।

रामेश्वर के निकाले जाने के बाद थोड़े वर्षों में उसके माता पिता मर गये और उनके मरने के छः मास पीछे सिद्धनाथ की स्त्री भी मर गई और उसके जो दो छोटे २ लड़के थे उनकी सम्भाल करने वाला कोई न रहा। "रामेश्वर की स्त्री निरपराध त्यागी गई है, उस बिचारी का कुछ दोष नहीं है।" यह बात सिद्धनाथ जानता था परन्तु पिता की आज्ञा का उलंघन करके उसे बुला नहीं सका था। लोगों के मुख से सरला के माता पिता की दीन दशा, सरला को दुःख और उसका सरल स्वभाव सिद्धनाथ ने सुन रक्खा था। जब घर में संभाल करने वाली कोई स्त्री न रही तब उसने सरला को बालकों की रक्षा के निमित्त बुला लिया। इस प्रकार कई वर्षों के बाद पति रहित सुसराल का घर देखने को उसका भाग्य जागा। वह वहां आकर बच्चों की सेवा पूर्ण रीति से करने

उन्नति का सच्चा मार्ग ।

आधुनिक समय में उन्नति का प्रबल वायु चल रहा है। वायु नहीं, आंधी चल रही है । आंधी में जिस प्रकार अंधेरा छा जाता है, नेत्र, शरीर, धूल से भर जाते हैं, ऐसा ही दृश्य हो रहा है । जिस प्रकार जिस की ...मी में आता है, उसी प्रकार तोप का गोला छोड़ ... है । लोग उन्नति की कामना में अंधे हो कर गोले ... आवाज़ के साथ दौड़ रहे हैं। कई गिर रहे हैं, कई ...ला रहे हैं, और कई मर रहे हैं । ऐसे समय में उन्नति क्या है? किस प्रकार होती है? और किस की होती है ? यह जानना चाहिये । ऐश्वर्य प्राप्ति उन्नति है, या आंतर शान्ति उन्नति है, अथवा दोनों मिल कर उन्नति है ? खाने पीने में उन्नति है या मौज मज़े में है अथवा कुछ और ही है ? आर्यावर्त की उन्नति थी या नहीं ? और थी तो किस प्रकार की थी ? हाल में जैसी उन्नति चाह रहे हैं, ऐसी ही थी या किसी और प्रकार की थी ? वास्तविक उन्नति और नकली उन्नति के फल और टिकाव में क्या अंतर है ? इन सब बातों का पूर्ण विचार किये विना ऊपर की ...मक में लुभाना योग्य नहीं है । जो विना विचारे ...रा देखी, आपस्वार्थी, नामना के हेतु, उन्नति, ...हते हैं वे नीच गति को प्राप्त होते हैं । सब ...णियों से मनुष्य, बुद्धि में विशेष हैं । उस बुद्धि का उपयोग न कर के भेड़ चाल चलना पशुपन दिखलाता है। वृक्ष को सुदृढ़ फैलाव युक्त और फल युक्त बनाना है, यह ही उस की उन्नति कही जाती है । कोई मनुष्य मात्र पत्तों को जल दिया करे, तो पत्ते धोये हुये अवश्य दीखेंगे परन्तु इस से वृक्ष की वृद्धि नहीं हो सक्ती । बीज को चाहे जहां डाल कर जल देना भी वृक्ष की उन्नति नहीं है। जब शुद्ध भूमि ...में बीज को डाल कर, योग्य खात और जल दिया ...जायगा तब ही वृक्ष की उन्नति-वृद्धि की आशा हो ...सक्ती है। इसी प्रकार जल सींचन जड़ में होना चाहिये । आधुनिक उन्नति की इच्छा वाले बहुधा जड़ में जल सींचन नहीं करते । ऊपर से जल सींचना और जल भी गदला सींचना वृक्ष का नाश करने वाला ही होता है । विना नींम का मकान चाहे जितना मजबूत बनाया जाय, चाहे जितने विशेष कारीगर लगाये जांय, टिक नहीं सक्ता, इसी प्रकार बाहर की नाम मात्र की झूठी उन्नति, उन्नति, के कल्पित महल को गिरा ही देगी । जिस वृक्ष की जड़ में दीमक लग रही है उस के ऊपर पत्तों पर जल सींचना जिस प्रकार व्यर्थ है इसी प्रकार कामना रूप घुन लगे हुये की उन्नति का होना ही निष्फल है । जब तक जड़ में लगे हुये जंतुओं को साफ न किया जायगा तब तक सब परिश्रम व्यर्थ है। व्यर्थ परिश्रम वाली, कहने मात्र की उन्नति की देखा देखी चाहना ही प्रबल वायु और आंधी है जो मोह के अंधेरे में शरीर को धूल से मलिन ही करती है। आत्मिक उन्नति सिवाय भौतिक उन्नति से वास्तविक फल नहीं होता। आत्मिक उन्नति रहित भौतिक उन्नति मन का ही मोदक है, उस से कभी भी तृप्ति नहीं होती । आत्मिक उन्नति सहित भौतिक उन्नति ठहरने वाली और कल्याण करने वाली होती है । आत्मिक उन्नति रहित भौतिक उन्नति नरक में ले जाने वाली है । भौतिक उन्नति क्षुद्र और आत्मिक उन्नति महान् है । भौतिक उन्नति बकरा रूप है और आत्मिक उन्नति सिंह रूप है। आत्मिक उन्नति सहित भौतिक उन्नति सच्ची शोभा देती है। आत्मिक उन्नति हीरा है, भौतिक उन्नति कांच है। इतिहासों से भी देखने में आता है कि आत्मिक उन्नति सहित भौतिक उन्नति के सामने केवल भौतिक उन्नति सूर्य के सामने जुगनूं के समान हैं। मन को निर्मळ करना, दृढ करना, आत्म भाव वाला बनाना आत्मिक उन्नति है । खाने पीने और मौज मज़े की वस्तुयें बढ़ाना, जगत् के ऐश्वर्य का एकत्र करना, विशेष भूमी सत्ता का मालिक होना भौतिक उन्नति है । आत्मिक उन्नति पुरुष रूप है, भौतिक उन्नति स्त्री रूप है । आत्मिक उन्नति रहित भौतिक उन्नति वंध्या पुत्र के समान है। तो भी जिन की आंखें

॥ वेदान्त केसरी ॥

पुस्तक १ } कार्तिक सं० १९७७। नवम्बर १९२० { अङ्क १

आत्मस्तुति।

त्रिभंगी छन्द।

(१)

जय आत्म स्वरूपा, नाम न रूपा, अद्भुत शक्ति अमाया।
जय अग जग कर्ता, महा अकर्ता, सुर मुनि पार न पाया॥
निर्गुण, गुणधारी, अज अवतारी, वेद पुराणन गाया।
मन बुद्धि अतीता, परम पुनीता, दशों दिशा यश छाया॥

(२)

जय अचल अकामा, पूरण कामा, भोगी महा अभोगी।
निज इच्छाचारी, शुचि अविकारी, योगी महा अयोगी॥
विधि बन उपजावत, हरि हो पालत, रुद्र रूप संहर्ता।
सत् नीति सिखावत, धर्म सुनावत, मुक्ती कर भव हर्ता॥

(३)

नहिं एक न दो हो, मानो सो ही, सत्यासत्य प्रकाशी।
आवत नहिं जावत, जावत, आवत, अजर अमर अविनाशी
सब ही दर्शावत, दृष्टि न आवत, कारण कार्य विहीना।
बोलत नहिं चालत, तर्क निकालत, वक्ता परम प्रवीणा॥

(४)

नहिं अंश न अंशी, भेद प्रध्वंसी, बोध अबोध बतावत।
नहिं धर्म न धर्मी, कर्म न कर्मी, कर्म अकर्म जतावत॥
घटता नहिं बढ़ता, गिरत न चढ़ता, अकल कला दर्शावत।
देता नहिं लेता, लेता देता, कैसा अचरज आवत॥

(५)

परिपूर्ण असंगी, दीखत संगी, देश काल से न्यारा।
विभु नित्य निरंजन, भव भय भंजन, लीला अपरम्पारा॥
नहिं साधक बाधक, शुद्ध अबाधक, सिद्धन सिद्धी दाता।

(६)

सब का ही अपना, विना कलपना, ज्ञान, ज्ञेय, अरु ज्ञाता।
निज को नहिं जाने, सब पहिचाने, प्रज्ञ अज्ञ बन जाता।
चरणोदक लेवे, सद्गुरु सेवे, तब अज्ञान नशावे
इस विधि कर शुद्धी, मिटा अशुद्धी, निज में निज मिलजावे

(७)

मैं तुझे न चीन्हा, था अति दीना, जब तुझ को पहिचाना
सब ही दुख भागा, सोवत जागा, अस्थिर चित ठहराना
नाशी सब चिंता, हुआ निचिंता, सुख की निद्रा आवत
नहिं भय नहिं प्रीती, सरल सुरीती, द्वंद्व न लेश सतावत

(८)

रवि ज्ञान प्रकाशा, निशा दुराशा, बीती हुआ उजाला
सत् असत् पदारथ, लखे यथारथ, जाना गोरा काला
हे आत्म अनिन्दित, सुर मुनि वंदित, तुझ मुझ में न...
हूं मैं सुख राशी, सर्व प्रकाशी, संशय तू ने...

(९)

नहिं मुझ में मोहा, काम न कोहा, राग द्वेष नहिं किं...
तव शक्ति न जानी, मैं अभिमानी, था यों सुख से वं...
होवे तव सन्मुख, पावे क्यों दुख, विमुख होय दुख
जो तुझ को जाने, सब पहिचाने, सो धोखा क्यों

(१०)

हे आत्म अखंडित, स्वबोध मंडित, तुझे नमन
तुझ को मैं पाया, हुआ अमाया, निर्भय नित्य
जो आत्म विचारत, निज पद धारत, सो कौ...

लगी। बच्चों की माता उनके लिये जितना करती थी उससे विशेष करने लगी। पांच सात दिन में ही बच्चे मा को भूल गये और काकी को ही मा समझने लगे। सरला नौकर चाकरों से रसोई आदिक का काम भली प्रकार लेने लगी। उसकी शुभ व्यवस्था के कारण सिद्धनाथ की घर सम्बन्धी चिंता मिट गई। सिद्धनाथ सरला को देवी समान पवित्र और चतुर समझता था, दिन पर दिन उस पर उसका विश्वास बढ़ता गया। एक बार सिद्धनाथ ऐसा बीमार पड़ा कि वैद्य डाक्टरों ने जवाब दे दिया कि उसके बचने की आशा नहीं है तब सरला सब मिलकत की मालिक बनाई गई, जमीन जायदाद सब उसके नाम करदी गई। पश्चात् सिद्धनाथ का भी देहांत हो गया। सरला बहुत दुखी हुई, रामेश्वर की खोज करती रही परन्तु उसके दुराचरणों का हाल सुन कर वह उसे बुलाना नहीं चाहती थी, ईश्वर की लीला कुछ विचित्र ही है, जो दो बच्चे सिद्धनाथ छोड़ गया था और जो सरला के प्राणजीवन थे, जिनको देखकर वह संतोष धारण किये रहती थी वे भी प्लेग के झपट्टे में अनेक औषधोपचार करने पर भी यम सदन पहुंच गये। अब तो सरला बहुत ही दुखी हुई, घर उसे भयंकर भासने लगा। जिस मकान में कई मनुष्य मर चुके थे उसमें रहना उसने ठीक न समझा और अपनी सब मिलकत बेचकर वह बम्बई को चली गई। वहां जाकर उसने कई मकान, उनके आस पास की आमदनी वाली जमीन और कई बगीचे खरीदे, कई कारखानों के शेयर मोललिये और बेंक में रुपया जमा कराया। इस प्रकार पांच लाख रुपये की व्यवस्था करके बम्बई में रहने लगी और सेठानी के नाम से प्रसिद्ध हुई। सब काम को संभालने वाला एक मैनेजर, कई क्लर्क और नौकर उसने नियुक्त किये। कुछ दिनों में उसे मालूम हुआ कि मैनेजर रुपया खा जाता है, दो एक बार उसको पकड़ कर और अयोग्य समझकर उसने उसे नौकरी से छुड़ा दिया और दूसरे मैनेजर के लिये अखबार में इस प्रकार विज्ञापन छपवाया:—चाहिये है एक जमीन, मकान, आदिक की व्यवस्था करने वाला मैनेजर। सर्टीफिकटों के साथ अर्जी भेजो और तनखा लिखो।

सेठानी ठिः अमुक अमुक।

जाहिर खबर देने के पंद्रह दिन बाद ही दश पंद्रह अर्जियां आई, अर्जी देने वालों में कई एफ ए, बी, ए आदिक पास ग्रेजुएट थे और कई कम्पनियों में मैनेजर रहे हुये थे। सोलहवें दिन एक अर्जी कलकत्ते से आई। सेठानी उसे पढ़कर प्रसन्न हो गई। अर्जी के अक्षर उत्तम न थे, इबारत भी टूटी फूटी थी अर्जी भेजने वाले की योग्यता भी विशेष न थी, मात्र एन्ट्रेन्स तक की थी, उसने बहुत विनति सहित लिखा था और अन्त में रामेश्वर चक्रवर्ती इस प्रकार दस्तखत किये थे। सेठानी को जो कुछ प्रसन्नता हुई इस नाम से हुई थी। सेठानी ने सब अर्जियों को रद्द करके रामेश्वर चक्रवर्ती के नाम पच्चीस रुपये का मनीआर्डर किया और लिखा कि किराया भेजा है, मनीआर्डर मिलते ही चले आओ, यदि तुम योग्य समझे जाओगे तो मैनेजर के कार्य पर नियत किये जाओगे, नहीं तो किराया दे कर कलकत्ते लौटा दिये जाओगे। रुपया मिलते ही अपना प्रारब्ध खुला समझकर रामेश्वर रेल में सवार होकर बम्बई आ पहुंचा और स्टेशन से उतरते ही सीधा सेठानी के यहां चला आया। सेठानी से मुलाकात होने पर सेठानी ने उससे कई प्रश्न किये। उनके उत्तर में रामेश्वर ने अपना नाम, पिता के साथ अनबनाव, स्त्री पुत्र का मृत्यु, वहां से भागना और फिर कहां २ नौकरी की और कैसे २ दुःख उठाये, ये सब वृत्तांत कहा और साथ में यह भी कहा। "अनेक प्रकार के कष्ट पाकर अब मैं सुधर गया हूं, घर पर मेरे नाम का वारंट निकला हुआ होने से, वहां नहीं जा सक्ता और पिता की मिलकत में से मुझे कुछ भी नहीं मिल सक्ता इस

लिये अब तो ईमानदारी के साथ निर्वाह करने का ही निश्चय किया है। आयु भी चालीस वर्ष की होने आई, ईश्वर का भजन भी करना चाहिये नहीं तो उसे क्या जवाब दूंगा।" सेठानी ने कहा "मैनेजरी के लिये बहुत योग्य २ पुरुषों की पत्रियां आई हैं, उनमें कई बी. ए., एम. ए. और मैनेजरी के उत्तम सार्टीफिकेट वाले भी हैं। तुम्हारी अर्जी से मालूम हुआ कि तुम बहुत दुःखी हो, अब तुम पूर्व अयोग्य बर्ताव का पश्चात्ताप भी करते हो, जो प्रतिज्ञा पूर्वक ईमानदारी से कार्य करने को स्वीकार करो तो तुम्हें काम सुपुर्द कर दूं। काम जिम्मेदारी का है तुम्हारा जामिन हो ऐसा कोई नहीं दीखता तो भी बिना जामिन के ही मैं तुम्हें रख लूंगी, बोलो क्या कहते हो" रामेश्वर पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा "सेठानी जी! आप देवी स्वरूप हो, आप ही मेरी परमेश्वरी हो, मैं कसम खाकर कहता हूं, अब मुझमें पूर्व की कोई आदत नहीं है, अब मेरी नौकरी कहीं नहीं लगती है, भूखों मरता हूं, कृपा करके आप ही नौकरी दीजिये, मैं आपकी परतंत्रता न्याय पूर्वक अंगीकार करता हूं। आप ही मारने और जिलाने वाली हो, जब आपका मनीआर्डर पहुंचा तब से ही मालूम हुआ कि मेरे ऊपर आपकी पूर्ण कृपा है।" सेठानी ने रामेश्वर चक्रवर्ती को अपनी मिलकत की व्यवस्था करने को मैनेजर के पद पर नियुक्त किया।

सेठानी बात चीत से समझ गई थी कि यह ही मेरा पति है। अब इसके प्रथम के सब दोष निकल गये हैं, या नहीं यह देखे बिना सच्चा मर्म न देना चाहिये। जो पूर्व के अपलक्षण बने होंगे तो जवाब दे दूंगी और सम्बन्ध न रक्खूंगी। यदि वह वास्तविक सुधर ही गया होगा तो वह मैनेजर नहीं मेरा स्वामी ही है।

दो तीन मास काम करने से सेठानी को मालूम होता गया कि पूर्व का कोई अपलक्षण उसमें नहीं है, किन्तु पूर्व के कर्मों का कष्ट पाकर, पश्चात्ताप करके अब सुधर गया है। तो भी एक महीने तक उसने उसे और देखा। एक दिन एक काम के लिये रामेश्वर चक्रवर्ती सेठानी के पास आया। सेठानी अपने औफिस के कमरे में ही चक्रवर्ती से मुलाकात किया करती थी। आज वह अपने सोने के स्थान पर थी। दासी द्वारा उसने मैनेजर को अपने पास बुलाया। सोने का स्थान साफ था और उत्तम वस्त्र गलीचे आदिक बिछे हुए थे। चक्रवर्ती ने उस कमरे में अपना एक फोटो देखा जो एनलार्ज किया हुआ होने से बहुत बड़ा और रंग दार था। चारों तरफ रामचन्द्र, शंकर, श्री कृष्ण आदिक देवताओं के चित्र थे बीच में फोटो था और नकशेदार उत्तम फ्रेम में मढ़ा हुआ था। ताज़े पुष्पों की एक माला भी ऊपर डाली गई थी। रामेश्वर अपने चित्र को देख कर आश्चर्य से चकित हो गया और कुछ पूछ न सका। जो बात सेठानी से पूछनी थी पूछली पश्चात् चित्रसम्बन्धी बात उसके मुख से निकल ही गई। वह अति नम्रता पूर्वक बोला "सेठानी जी! मैं एक बात आप से पूछता हूं, यदि आप योग्य समझें तो उत्तर दीजिये, सब के बीच में यह जो चित्र है, किसका है?" सेठानी कुछ हंसते मुख से बोली "क्या तुम उसे नहीं पहिचानते?" चक्रवर्ती ने शिर हिलाया। सेठानी ने कहा "यह मेरा पतिराज है।" चक्रवर्ती सोचने लगा "क्या यह मेरी पत्नी तो नहीं है? मेरा प्रथम विवाह हुआ था, उसे मैंने देखा नहीं है कहीं वह ही सेठानी तो नहीं है! अरे! वह सेठानी कहां से होती? उसके माता पिता तो कंगाल थे।" यह विचार कर सेठानी से कहा "यह चित्र तो मेरा ही मालूम होता है!" सेठनी हंसकर बोली "क्या तुम मेरे पति होना चाहते हो? भूखे, भटकते को मैंने मैनेजर बनाया, अब मेरे ही मालिक बनना चाहते हो?" चक्रवर्ती डर गया और हाथ जोड़कर बोला "अविनय क्षमा कीजिये"

सेठानी फिर हंसी और भेद खोलकर बोली "घबराइये मत ! यह तुम्हारा ही चित्र है ! तुम ही मेरे पति हो, तुम्हारी गैर हाजिरी में उसका ही पूजन करती हूं !"

पति पत्नी के इस मिलाप का प्रसंग अवर्णीय था। सेठानी ने सुसराल का हाल, अपना आना सुसराल में किस प्रकार हुआ, और सब माल किस प्रकार हाथ आया यह सब वृत्तांत कह सुनाया। पश्चात् दम्पत्ति आनन्द पूर्वक रहने लगे।

इस लौकिक दृष्टांत से सच्ची स्वतंत्रता का स्वरूप समझना चाहिये। रामेश्वर सेठानी की परतंत्रता में न था। वह जिसकी परतंत्रता में अपने को समझता था वह उसी की थी क्योंकि सेठानी उस की स्त्री थी परंतु अज्ञान के कारण मैं सेठानी का परतंत्र नौकर-मैनेजर हूं वह मेरी मालिकिन है ऐसा चक्रवर्ती मानता था। वास्तविक वह परतन्त्र न था परन्तु अज्ञान-भूल से परतंत्रता का अनुभव करता था। भूल मालिक को नौकर और नौकर को मालिक बना डालती है।

रामेश्वर जीव रूप है। जब वह पंच भौतिक विषयों में जो उसके नहीं हैं खेलने लगा तब अपने कुल धर्म से च्युत हुआ, पिता से अलग हुआ, पिता ने निकाल दिया ऐसा होने से वह दुराचार के कारण पैतृक मिलकत से रहित हुआ। प्रथमवार की स्त्री सरला सुबुद्धि रूप है। बुद्धि की उत्पत्ति अज्ञान से होने से उसके माता पिता अज्ञान स्वरूप थे। रामेश्वर का पिता ज्ञान स्वरूप था इस लिये दोनों में विरोध रहा। अज्ञान दरिद्र है इसलिये सुबुद्धि के माता पिता दरिद्री थे। सुबुद्धि सुबुद्धि होने पर भी अपनी उत्पत्ति के दोष से ज्ञान स्वरूप आत्मा के पास जाने न पाई। ज्ञान स्वरूप से विरुद्ध भाव वाला अज्ञान स्वरूप जीव भाव है इसलिये ज्ञान स्वरूप से जीव भाव का त्याग हुआ, अज्ञान-अविद्या के चक्र में घूमते हुए चक्रवर्ती ने अनेक कष्ट पाये परन्तु शांतिका स्थान कहीं भी न देखा तब सुबुद्धि रूप सरला की नौकरी में रहा। उस सुबुद्धि के प्रसाद से परतंत्रता का भाव निवृत्त होकर जीव आत्मभाव वाला स्वतंत्र हुआ और सुबुद्धि उससे अभिन्न हुई। इस प्रकार जीव भाव के होते हुए भी आत्मा कभी भी परतंत्र नहीं है तत्त्व से स्वतंत्र ही है। 'मैं परतंत्र हूं, स्वतंत्रता चाहता हूं' इस प्रकार का भाव दुःख और दीनता का अनुभव कराता है। जब गुरु कृपासे परतंत्रता और स्वतंत्रता का भेद हृदय से मिटता है तब शांति प्राप्त होती है और तभी मालूम होता है कि मैं अखंडित स्वतंत्र हूं, परतंत्र कभी हुआ ही नहीं, अज्ञान भाव ही अज्ञान से दुखी होता था।

अपना स्वयं स्वरूप जो अखंडित स्वतंत्र स्वरूप है उसके निमित्तही यत्न करना सफल है और भौतिक किसी एक भाव-पदार्थ में मानी हुई स्वतंत्रताके निमित्त यत्न करना तुच्छ है। यदि तुच्छ पदार्थों की स्वतंत्रता की सिद्धि ही चाहते हो तो वह भी स्वतंत्र,अखंडित स्वरूपकी सिद्धिसे सहज में सिद्ध हो सकता है। आत्म बल से बलिष्ट हो कर किया हुआ प्रयत्न सफल होता है। अनात्म की सिद्धि भी आत्मभाव से ही होती है।

जैसे बालमृग अपनी कूद फांद से ही कांटों में फंस जाता है और जब वह बाहर नहीं निकल सका तब अपने को बंधन में पड़ा हुआ परतंत्र मानता है और ज्यों २ उसमें से निकलने को छलांगें मारता है त्यों २ कांटे लगते और हाथ पांव टूटते हैं जो सींग हों तो वे भी फंस जाते हैं इसी प्रकार जीव विषयों के निमित्त कूद फांद रूप प्रयत्न करने से अपने आप ही माया की कांटाबेली में फँस जाता है और न निकल सकने के कारण अपने को परतंत्र, दीन और दुखी मान लेता है।

एक बार एक कुत्ता पहाड़ की गुफा में घुसा घुसते ही थोड़ा प्रकाश मालूम हुआ जिसमें उस की परछाई पड़ी। परछाई देखते ही वह भौंकने लगा

और उसे काटने को उस पर कूदने लगा। गुफा भीतर से बन्द थी इसलिये भौंकने की प्रतिध्वनि होने लगी। कुत्ता प्रतिध्वनि को दूसरे कुत्ते का भौंकना समझ कर और भी जोर जोर से भौंकने लगा। जितने २ जोर से वह भौंकता था उतने उतने जोरसे प्रतिध्वनि होती थी भौंकने में कुत्ता परछाईं को तो भूल गया, भौंकता हुआ काटने को दौड़ा वहां पर तीव्रधार के पत्थर का एक खड्ग था, उसे वह काटने लगा। पत्थर की नोक उसके मुख में घुस गई, जिससे उसके मुखमें से रक्त बहने लगा। उसको चाटता हुआ कुत्ता फिर भौंकने लगा और गुफा भीतर से चौड़ी थी उसमें एक घंटे तक इसी प्रकार चेष्टा करता रहा जिससे वह थक गया और मरण के तुल्य हो गया। बिचारा बाहर जाना चाहता था इसलिये बड़ी देर तक इधर उधर घूमा परन्तु बाहर जाने का मार्ग न मिला। वह समझने लगा कि मुझे किसी ने बंद कर दिया है, मैं परतन्त्र हो गया हूं, बहुत चीखा चिल्लाया परन्तु वहां कौन सुनने वाला था, वहां ही पड़ा रहा, खाने पीने को कुछ न मिला, मुखमें से रक्त जाने से दुर्बलता बढ़ गई, कई दिनों तक कष्ट भोगता हुआ वहां पड़ा रहा और अन्तमें मरण को प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार माया रूपी गुफा में जीव का हाल है। माया में पड़े हुये आभास-परछाईं से द्वैत मान कर दूसरे से द्वेष करने लगता है, माया अंधेरे में अपनी ही क्रियाओं से अनेक प्रकार के कष्ट उठाता है, अपने को परतंत्र समझने लगता है, वारम्बार जन्म मरण को प्राप्त होता है, और अनेक प्रकार के कष्टों के यंत्र रूप माया के चक्रसे उसकी निवृत्ति नहीं होती। मनुष्य आदि आकृतियां उसका ही स्वरूप हैं। परतंत्रता न होते हुए भी अज्ञान परतंत्रता का भाव कराने वाला है और ज्ञान, परतंत्रता नहीं है, ऐसा बोध कराके स्वयं स्वतंत्र स्वरूप का साक्षात्कार कराता है। अपना आत्मा स्वतंत्र रूप होने से सब अज्ञानियों को भी स्वतंत्रता की चाह है।

❋ अज्ञान। ❋

(गतांक से आगे)

ब्रह्म में न तो अज्ञान है और न ब्रह्म से उसकी उत्पत्ति है। जब ब्रह्म साक्षात्कार होता है तब समझमें आजाता है कि अज्ञानका जो कथन है वह मात्र जगत् और जगत् के अनेक प्रकार के दुःखों की निवृत्ति के निमित्त है। आत्मभाव से हट कर भ्रम भाव में आना-स्वरूपका विस्मरण होना अज्ञान है। जब व्यवहार में ही भूल से दुःख होता है तब स्वरूप के भूलने से दुःख क्यों न होगा।

उदयपुर का राणा राजसिंह एक दिन सभा में बैठा था इतने में आधार बिना आश्चर्य जनक खेल करके दिखलाने वाले राजनटों की एक टोली वहां आई। राणा ने कहा "हे सभाजनो! यदि तमाशा देखने की तुम्हारी इच्छा हो तो नटों से दिखाने को कहा जाय।" सरदारों ने अनुमति दी और नटों ने खेल आरम्भ किया।

दोनों तरफ़ के ऊंचे २ वृक्षों पर पृथ्वी से सौ सौ हाथ ऊंचे रस्से बांधे और नाना प्रकार के नट-विद्यात्मक तमाशे करने लगे। उनके कौशल्य को देख कर राणा और सब सरदार प्रसन्न होते थे और पारितोषिक देते थे। इनाम से नटों का उत्साह बढ़ता जाता था। अनेक प्रकार के आश्चर्ययुक्त खेल करनेके बाद नटोंके नायक ने कहा "हे महाराणा और सरदारो! अब मैं एक अलौकिक खेल करता हूं। जब तक मेरी रस्सी आकाश में अधरखड़ी रहे तब तक तमाशे को संपूर्ण हुआ न समझिये। इस खेल में अनेक लीलायें होंगी। जब तक खेल समाप्त न हो तब तक मेरे आदमी और स्त्री जिस प्रकार करें, कहें उस प्रकार कहने देना। मेरी स्त्री की रक्षा करना, तुम्हारे भरोसे स्त्री को छोड़ कर मैं आसमान को जाता हूं। हमारे खेल करने वाली नटी को रोकना नहीं, इस मेरी प्रार्थना को दृढ़ता से याद रखिये। यदि किसी ने किसी बात की रोक की तो खेल

बिगड़ जायगा इतना ही नहीं किन्तु हम लोगों के जीव की भी हानि होगी।"यह बात राणाजी सहित सब सरदारों ने स्वीकार करली। नट नायक ने एक पतली सूत की रस्सी, सिरे को हाथ में रख कर आकाश में बहुत जोर से फेंकी जो बिना आधार आकाश में से पृथ्वी तक लटकती रही। बिना आधार रस्सी को टिकी हुई देख कर सब आश्चर्य युक्त हुये! नट ने कहा "आप आश्चर्य तो आगे करेंगे। आपकी दृष्टि में सूत कहां तक गया है, देखने में नहीं आता। वह मेरा सूत यक्ष लोक में पहुंच गया है। जहां तक मेरा सूत पहुंचा है वहां तक मेरी सत्ता जम गई है। मेरी सत्ता यक्ष के राज में पहुंच गई है? उसे देख कर यक्ष का राजा मेरे साथ युद्ध करने आ रहा है! मैं युद्ध करने जाता हूं?" ऐसा कह कर उसने ढाल तलवार ली और रस्सी को पकड़ता हुआ आकाश को चला। थोड़ी देर तक तो राणा और सभाजन उसे जाता हुआ देखते रहे, बाद दीखना बन्द हो गया। नट चढ़ते समय कह गया था कि जब मेरा यक्ष के राजा से युद्ध आरम्भ होगा तब एक भारी आवाज होगी और रणवाद्य भी बजेंगे। थोड़ी देर में एक बड़ी भारी आवाज के साथ रणवाद्य बजे। सभाजनों ने समझ लिया कि युद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध में जो जो होता था उस का एक नट वर्णन करता जाता था। "यक्ष पति तलवार मारने आया, नट राज तलवार चुका कर तलवार मारने दौड़ा, यक्ष पति दो पैर पीछे हट गया, नट राज की दूसरी तलवार ने यक्ष पति का मुकुट छेदन किया।" इस प्रकार युद्ध का वर्णन करते २ एक दम बोल उठा "हाय! नट राज का बांया हाथ कट गया! हाथ की ढाल गिर पड़ी, दूसरे हाथ से उठाली! सन सन करता हुआ कटा हुआ हाथ आ रहा है! हाय! यक्ष पति ने हमारे मालिक पर चोट की! इतने ही में कटा हुआ हाथ सभाजनों के सामने आ पड़ा! खेल है, यह राणा और सभाजन भूल गये और नट पर करुणा करने लगे! इतने में ही नट ने दोनों पैर कटने का वर्णन किया और वे भी सभा सन्मुख आ कर गिर पड़े। "अब नट नहीं बचेगा, यक्ष पति उसे मार डालेगा!" इस प्रकार सभाजन विचार रहे थे कि इतने में ढाल तलवार सहित दहना हाथ कटने की खबर मिली, वह भी आकर पृथ्वी पर गिर गया। पश्चात् धड़ आ कर गिरा और लोग सोच ही रहे थे कि शिर भी आ कर गिर पड़ा! अब सब को निश्चय हो गया कि नट मर गया। नट रोने पीटने लगे, नट राज की स्त्री भी रोने लगी और राणाजी से हाथ जोड़ कर कहने लगी "अन्नदाता! मेरा अब जीना व्यर्थ है! हम नट का काम करते हैं परंतु हैं क्षत्री, मैं पतिव्रता स्त्री हूं, अब मैं पतिके साथ सती होऊंगी आप लकड़ियां मंगवाइये!" राणा आश्चर्य करने लगा। "तमाशे में एक की जान तो गई, अब स्त्री की हत्या होती है।" सूत खड़ा ही था। राणा ने लकड़ियां मंगाने की आज्ञा दी। लकड़ियां आ गईं। नटों ने चिता बनाई और पूजन आदि कर के नट की स्त्री पति के कटे हुये सब अंगों को गोद में ले कर, आंच लगा कर जलने लगी। नट रो रो कर कुलाहल मचाने लगे। सब सभाजनों के मुख पीले पड़ गये। जब चिता जल चुकी, नटों ने जल डाल कर ठंडी की। इतने में आकाश में जय नाद का बाजा बजा। सब आश्चर्य युक्त हो कर ऊपर की तरफ देखने लगे। क्या देखते हैं कि नटराज सूत के सहारे उतर रहा है। सबको सलाम करता हुआ वह नीचे उतर आया। "राणाजी का यश हो! अन्नदाता की बहुत क्षमा" इस प्रकार कहता हुआ अपने सब नटों को देखने लगा। सब नट दीखे परंतु उसे अपनी स्त्री न दीखी तब वह राणाजीसे कहनेलगा "अन्नदाता! मैं आपको अपनी स्त्री सुपुर्द करगयाथा वह कहांहै?" राणा की अनुमति से एक सरदार ने कहा "जब तेरे एकनटने तेरे मरनेकी खबरदी औरतेरेसब अंग भी गिर पड़े, तब तेरी स्त्री तेरे शरीरको लेकर जल

गई-सती हो गई !" नट ने कहा "हुजूर ! मैं यह बात नहीं मानता, किसी की बदद्यानती हुई होगी उसने मेरी स्त्री को ले लिया है।" इतना कह कर नट राज चिल्लाने लगा "अरी ! ककू की मा ! यहां आजा !" आवाज आई "ककू के दादा ! मैं कोठरी में बन्द हूं ! दीवान साहब ने मुझे बन्द कर रक्खा है ! मैं कैसे आऊं ?" नट राज राणा जी से कहने लगा। "अन्नदाता ! देखा ! आपके दीवान कैसे भले आदमी हैं कि दूसरे की स्त्री पर नीयत बिगाड़ते हैं !" दीवान घबड़ा गया ! नट राज ने कहा "अरी ककू की मा ! मैं यक्षराज को जीत कर आ गया हूं, किवाड़ खुल जायंगे तू चली आ !" पास के मकान के किवाड़ खुल गये और स्त्री निकल कर आगई। उसी समय सूत गिर गया और तमाशा समाप्त हुआ। राणा ने अद्भुत तमाशे का अद्भुत दान दे कर नटों को विदा किया।

अज्ञान का यही स्वरूप है, विना आधार टिकी हुई रस्सी के समान अज्ञान है, असंभवित को संभवित करके विचित्र तमाशा दिखाने वाला अज्ञान है सूत की रस्सी खड़ी रही, नट राज ऊपर चढ़ा, उसके हाथ, पैर, धड़, शिर अवयव कट कर गिर पड़े, स्त्री सती हो गई। नट राज ज्यों का त्यों उतर आया, सती हुई स्त्री कोठरी में से निकल आई। सब कुछ होने पर भी नट नट ही रहा, नट में कुछ भी अन्तर न पड़ा, न कोई मरा न कोई जिया।

इसी प्रकार जीव नट राज है, अज्ञान की रस्सी के सहारे अनेक विचित्र लीलायें किया करता है तो भी लीलाओं से असंग है। सभा जन जो तमाशा देखने का प्रण करके बैठे थे आश्चर्यजनक तमाशा देख कर मोह को प्राप्त हुये इसलिये दो प्राणियों की हत्या हुई ऐसा समझने लगे और जब नट का रूप जैसा का तैसा देखा तब उनका मोह निवृत्त हुआ। इसी प्रकार स्वरूप की प्रगटता से अज्ञान और अज्ञान के कार्यों का अन्त आ जाता है जिस प्रकार नट की लीला कामना सहित थी इसी प्रकार अज्ञान के कारण जीव भी कामना सहित लीला करने में प्रवृत्त होता है और मोह से इतना प्रलित हो जाता है कि लीला का भाव ही उड़ जाता है और अपने को सच मुच लीला का स्वरूप ही मानने लगता है। अज्ञान दुःख है, अज्ञान से दुःख है। अज्ञान की अत्यन्त निवृत्ति और अपने स्वरूप की प्राप्ति ही परम पद है।

——::०::——

द्वैत और अद्वैत।

द्वैत और अद्वैत का झगड़ा अर्वाचीन नहीं है, प्राचीन काल से ही चला आता है, संसार के आरम्भ से, कल्प कल्पांतरों से होता ही रहा है; इस झगड़े को मिटाने के लिये आज तक बहुतों ने प्रयत्न किये हैं परन्तु मिटा नहीं है और उसके मिटने की आशा भी नहीं है। संसार द्वैतमें है, द्वैत से है, इस प्रकार संसारी बुद्धि से संसारी मनुष्यों के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है इसलिये वे द्वैत को छोड़ नहीं सक्ते और द्वैत भाव के त्यागे विना अद्वैत समझ में आना असम्भवित है क्योंकि अद्वैत को समझने के लिये अद्वैत भाव की बुद्धि की आवश्यकता है और संसारासक्ति की निवृत्ति होनी आवश्यक है। देहाध्यास शिथिल होना चाहिये यदि ये सब सामग्री न हो तो अद्वैतका अनुभव नहीं हो सक्ता, अनुभव न होने से द्वैतवादी अद्वैत स्वीकार नहीं कर सक्ते और आत्म साक्षात्कार को प्राप्त, द्वैत भाव से छुटे हुये, अद्वैत अनुभव वाले द्वैत को मथन करके निकाले हुये रहस्य को कभी छोड़ नहीं सक्ते इसलिये द्वैत और अद्वैत वादियों का झगड़ा समाप्त नहीं हो सक्ता। अद्वैत वादी जो पूर्णात्मा हैं वे द्वैत वादियों से झगड़ा करना नहीं चाहते क्योंकि वे जानते हैं कि संस्कार शुद्धि विना, पूर्व पुण्य के संचय विना, वैराग्य विना

और अधिकारी के लक्षणों की संप्राप्ति विना ये लोग अद्वैत को नहीं समझ सक्ते। हमारा जाना हुआ अद्वैत द्वैत का अभाव रूप नहीं है क्योंकि द्वैत दो को और अद्वैत जिसमें दो न हों ऐसे एक को कहते हैं। जो तत्त्व हमने जाना है-जिसका बोध किया है वह कथन से बाहर है-बुद्धि से पर है इसलिये हम जो उसे अद्वैत कहते हैं तो मात्र संज्ञा के रूप से समझने को कहते हैं, वास्तविक तो उसे द्वैत या अद्वैत कुछ भी नहीं कह सक्ते। इसलिये द्वैत वादी अपने माने हुये अद्वैत वादियों से भले ही झगड़ा करें, हमारे बोध में-तत्त्व स्थिति में द्वैत और अद्वैत दोनों ही कल्पना स्वरूप हैं। द्वैत वादी जगत् में रहते हुये जगत् के भाव से जब उसे द्वैत कहते हैं तो उनके द्वैत को, उनकी स्थितिमें तत्त्व ज्ञानी नहीं काटते किंतुमुमुक्षुओंके द्वैत भाव को निवृत्त करने के लिये शास्त्र और गुरुओं ने अद्वैत की स्थापना की है। तत्त्व रूप वस्तु को जाने विना यह झगड़ा नहीं निबटता जिसमेंसे द्वैता-द्वैत का झगड़ा निवृत्त हो जाता है उसके संसार की निवृत्ति हो जाती है यदि कोई ज्ञानी कहला कर भी झगड़े में संयुक्त हो तो समझना चाहिये कि वह अभी वस्तु-तत्त्व को नहीं जानता। द्वैत में संसार है इसलिये उसमें से संसारियों का द्वैत नहीं निकलता और संसार जिसमें अध्यस्त है ऐसा अद्वैत तत्त्व वस्तु रूप है। अधिष्ठान विना अध्यस्त नहीं होता इसलिये ज्ञानियों का लक्ष अधिष्ठानरूप अद्वैतहै। संसारमें ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंहीहैं यदि अज्ञानी ज्ञानियोंको अज्ञानीऔर ज्ञानी अज्ञानियों को अज्ञानी बतावें तो यह स्वाभाविक ही है, इसलिये झगड़ाभी स्वाभाविक है। अज्ञानी झगड़े के पात्र हैं किन्तु पूर्ण ज्ञानी झगड़े के पात्र नहीं हैं। अद्वैत को श्रवण किया हुआ, जिसकी स्थिति अद्वैत में नहीं हुई है, कथन मात्र ही है ऐसा मुमुक्षु, कुछ ज्ञान के भाव वाला अपने को अद्वैतवादी मानकर झगड़े का पात्र हो सकता है।

द्वैत हर एक को अनुभव सिद्ध है, उसको सिद्ध करने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। शास्त्र की प्रवृत्ति कुछ विशेषता वाली है। जो सबको ही सिद्ध है, ऐसे द्वैत को सिद्ध करने में उसकी प्रवृत्ति नहीं है। जिस शास्त्र की प्रवृत्ति केवल द्वैत सिद्धि करने में है, वह तो लौकिकशास्त्रही है। पारमार्थिक शास्त्रोंकी प्रवृत्ति द्वैत में से कुछ उच्च भाव में लेजाने के लिये है इस लिये वे वस्तु के प्रतिपादक हैं। वस्तु रूप ब्रह्म तत्त्व का स्पष्ट वर्णन करना अशक्य है क्योंकि शब्द में ब्रह्म तत्त्व को कथन करने की गम नहीं है और मायिक बुद्धि आदिक को ब्रह्म तत्त्व का प्रत्यक्ष होना भी असम्भव है।

शास्त्र गुरु की प्रवृत्ति द्वैत के हटाने में होती है। द्वैत का हटाना अद्वैत भाव से ही होता है क्योंकि द्वैत से विरुद्ध भाव वाला अद्वैत है, इसी कारण ब्रह्म को अद्वैत कर के समझाया है। द्वैत के हटानेके लिये अद्वैतहै, अद्वैत के स्वरूप की स्थापना के लिये नहीं है। द्वैत और अद्वैत विरुद्ध भाव वाले होने से एक की अपेक्षा से एक है। जब द्वैत है तब इसका विरोधी अद्वैत है और जब अद्वैत है तो उसका विरोधी द्वैत है। जब अद्वैत भाव से द्वैत भाव हट जाता है तब जो तत्त्व शेष रहता है उसे अद्वैत भी नहीं कह सकते क्योंकि जब द्वैत सामने होता है तब अद्वैत कहा जाता है जब द्वैत नहीं तब अद्वैत भी कैसा! प्रथम समझाया हुआ अद्वैत भाव द्वैत का नाश कर के स्वयं भी शान्त हो जाता है इस लिये पश्चात् जो तत्त्व शेष रहता है वह ब्रह्म तत्त्व ही है। अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण नहीं है, मात्र लक्ष पहुँचाने के निमित्त तटस्थ लक्षण है। इस प्रकार तत्वज्ञ द्वैत और अद्वैत दोनों भावों से रहित आत्म स्थिति रूप होता है।

द्वैत में दुःख है। अद्वैत दुःख रहित है। जो दुःख नहीं चाहते, उनको अद्वैत भावना करनी

चाहिये। भेद में भय होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियां द्वैत को तोड़ती हैं। थोड़ी देर के लिये शास्त्र वाक्यों को दूर रख कर भी यदि यह विचार किया जाय तो भी अद्वैत में दुःख का अभाव और द्वैत में दुःख ही निकलेगा। जब कभी दुःख होता है तब दूसरे ही से होता है, अपने को अपने से दुःख कभी नहीं होता। जब आत्मा स्वजाति, पर जाति और स्वगत भेदरहित एक है तो उसको अपने से दुःख होना असंभवित है। जब जब भय होता है, तब भेद भाव अवश्य होता है। जिसमें दूसरा नहीं है, भेद नहीं है, क्रिया नहीं है, विकार नहीं है, जिसका प्रतिपक्षी अन्य नहीं है, जो सर्व में समानता से टिका हुआ है, ऐसे आत्मा के भाव में दुःख नहीं है। इस प्रकार आत्मा का लक्ष पहुंचाने के लिये और द्वैत हटाने में सहायता के लिये गुरु और शास्त्र का अद्वैत कथन अधिकारियों के लिये तो सार्थक है और अनधिकारियों के लिये विपरीत भाव कराने वाला झगड़े का हेतु होता है।

द्वैत दुःख रूप अद्वैत सुख रूप है। द्वैत झमेले रूप, अद्वैत एकांत रूप है। द्वैत विषम है, अद्वैत सम है। द्वैत संसार है, अद्वैत में संसार की निवृत्ति है। द्वैत क्षणिक है अद्वैत अखंड है। द्वैत परिच्छिन्न है, अद्वैत अनंत है। पृथक् व्यक्ति रूप से जब 'मैं' बनता है तब प्रतिपक्षी 'तू' को खड़ा करता है। 'मैं' की सिद्धि से 'मेरे' की सिद्धि है, 'मेरे' की सिद्धि से राग होता है। जब राग होता है तब उसका प्रतिपक्षी द्वेष होता है। इस प्रकार द्वन्द्वों का फैलावा बढ़ता जाता है। ये सब द्वैत रूप द्वन्द्व दुःख का कारण हैं। दुःख रहित निर्मल समान स्थिति चाहने वाला जो सच्चा मुमुक्षु होता है, वह इस द्वैत भाव का त्याग करता है। दत्तात्रयने आत्मस्थिति के निमित्त जिन २ से कुछ बोध संग्रह किया था उन सबको गुरु माना है। उन्होंने जिस किसी से कोई गुण प्राप्त किया था, उसे ही गुरु माना है। इस प्रकार उनके कथन किये हुये गुरुओं में एक कुमारी कन्या भी है।

एक छोटे ग्राम में एक कृषक रहता था। वह बहुत गरीब था। उसकी एक लड़की थी जो विवाह के योग्य हो गई थी परन्तु गरीबी के कारण उसका विवाह नहीं हुआ था। कृषक लड़की का विवाह करना चाहता था। उसने कुटुम्बियों, स्नेहियों, और जान पहिचान वालों से लड़की का वर खोजने और जो योग्य मिले उसके साथ उस का विवाह कर देने को कह रक्खा था। उस ग्राम से दस कोस पर एक दूसरे कृषक का लड़का था, उसने लड़की देख कर विवाह करना अंगीकार कर लिया। लड़की के माता पिता को मालूम हुआ कि वे लोग लड़की को देखने आने वाले हैं। गरीबी इतनी थी कि लड़की के पिता और भाई को प्रतिदिन अपने या दूसरे के खेत में काम करने जाना पड़ता था। लड़की को देखने वाले, पिता पुत्र के अंदाज से एक दिन प्रथम ही आ गये। जिस समय वे आये उस समय लड़की के सिवाय और कोई घर में न था। लड़की समझ गई थी कि मुझे देखने और मेरे विवाह का निर्णय करने आये हैं। उसने खाट बिछा दी, पात्रमें निर्मल जल भरकर रख दिया और तम्बाकू आग का प्रबंध कर दिया और उन लोगोंसे कहा "आप बैठिये, मेरे पिता और भाई दोपहर को घर आ जायगे।" ऐसा कह कर वह घर में चली गई। घर में भोजनों के लिये कुछ न था, धान पड़े हुये थे। आये हुये महमानों के भोजन के लिये कन्या धान कूट कर चांवल निकालने बैठी। उसके एक २ हाथ में चार चार चूड़ियां थीं। धान कूटने के समय हाथ ऊंचा नीचा होने से वे आपस में ठोकर खा कर बजने लगीं। कन्या ने विचार किया 'गरीबी के कारण से मैं अभी तक कुमारी हूं, आये हुये समझेंगे कि घर में कुछ खाने को न होने से हमारे लिये धान कूट रही है। ऐसा समझने से मेरा विवाह रुक जायगा, इसलिये चूड़ियां बजनी न चाहियें। कांच की चूड़ियां बहुत तंग थीं, उतारने से उतर नहीं सक्ती थीं। कन्या

दोनों हाथों की एक २ चूड़ी तोड़ कर धान कूटने लगी। जब एक २ हाथ में तीन २ चूड़ी रहने से भी चूड़ियां बजना बंद न हुआ तब कन्या ने एक एक चूड़ी और फोड़ दी, दो दो चूड़ी रह जाने पर भी बजना बंद न हुआ तब कन्या ने एक एक चूड़ी और तोड़ डाली जब एक २ चूड़ी दोनों हाथों में रह गई, तभी बजना बंद हो गया और उसने सुख पूर्वक धान कूट लिये और चांवल निकाल कर भोजन तैयार किये। इतने में उसके पिता और भाई भी आ गये। सबने भोजन किया और कन्या के विवाह का निश्चय भी हो गया।

इस कन्या की बुद्धि से बोध मिलता है कि दो अथवा दो से विशेष में ही झगड़ा है, शान्ति एक में ही है। जब एक चूड़ी रह गई तब आवाज न हुई इसी प्रकार एक में ही शान्ति है, सब से अलग एकांत में ही सुख है। अद्वैत भाव दुःख, झगड़े और आवाज का नाशक है। दो ठीकरियां होंगी तो उनके आपस में मिलने से अवश्य आवाज होगी। जिसने अद्वैत, एक एकांत भावका निश्चय किया है, उसको ही शांति प्राप्त है, अनेक प्रकार के ऐश्वर्य द्वैत में हैं, उनमें शांति नहीं है। कंगाल भी अद्वैत भावना में स्थित होने से शांतिवान् हो जाता है इसलिये जिसको शान्ति की इच्छा हो, झगड़े से निवृत्त होना हो, उसका अवलम्बन अद्वैत ही है।

शंकाः—दुःख की निवृत्ति के लिये तुमने जो अद्वैत भाव दिखलाया वह ठीक है परन्तु दुःख के साथ सुख भी तो चला जायगा, उसका क्या? अद्वैत भाव में 'मैं' और 'तू' दोनों ही नहीं रहते, भोक्ता, भोग्य का उसमें अभाव है, भोक्ता भाव बिना भोग नहीं होता है और भोग रहित सुख नहीं होता। हम दुःख नहीं चाहते, सुख तो चाहते ही हैं और विशेष २ सुख मिलने की इच्छा करते हैं इसलिये जिसमें सुख का अनुभव ही न हो ऐसा अद्वैतभाव किस कामका?

समाधान—तू ने यह जो कहा कि दुःख की निवृत्ति के साथ सुख भी चला जायगा, वह ठीक है परन्तु जिसको व्यवहारिक मनुष्य सुख मानते हैं, वह वास्तविक सुख नहीं है किंतु वह दुःख का ही दूसरा भाई है! हमारी दृष्टि में तो इस लोक से लेकर ब्रह्म लोक पर्यन्त का सुख दुःखही है। हम ऐसा सुख नहीं चाहते क्योंकि कोई भी जगत् के किसी सुखको नहीं दिखला सकता जिसमें आदि अन्त अथवा मध्य में किंचित भी दुःख न हो तब उस सुख को सुख किस प्रकार कहा जाय? जैसे थोड़े विष वाली और विशेष विष वाली दोनों प्रकार की मिठाइयां विषयुक्त ही हैं इसी प्रकार सब प्रकार के प्रापंचिक सुख केवल सुख न होने से दुःख रूप ही हैं। जितने प्रकार के सुख हैं, सभी अन्त वाले हैं। कोई भी मनुष्य समर्थ नहीं कि प्राप्त हुये सुख का अन्त न होने दे। सुख प्राप्त होने के बाद भी यह चिंता लगी रहती है कि सुख न चला जाय इसलिये जिसमें चिन्ता भरी हुई हो उसको सुख किस प्रकार कहा जाय? जो मनुष्य भौतिक सुख छोड़ना न चाहेगा उसके भौतिक-मायिक दुःखों की कभी भी निवृत्ति नहीं होगी। जो ऐसा कहते हैं कि भौतिक दुःख भलेही बने रहें, हम भौतिक सुख छोड़ना नहीं चाहते, ऐसे घन अज्ञान में पड़े हुओं को हमारा कुछ कहना नहीं है अद्वैत भाव से जगत् के दुखों की निवृत्ति होकर जो शान्ति प्राप्त होती है, वह अवर्णीय है, उसको ही परमानन्द-परम सुख कहते हैं। परम सुख में क्या विशेषता है, यह बात प्रपंचासक्त व्यवहारिक मनुष्य समझ नहीं सक्ते क्योंकि वह स्वानुभव है, अपने आप ही उसे जान सक्ते हैं।

तूने कहा है कि अद्वैत भाव से 'मैं', 'तू' की और कर्ता, भोक्ताभाव की निवृत्ति होजाती है, यह भी सत्य है। सुख दुःख का अनुभव त्रिपुटी में ही होता है, यदि उनमें से एक भी कम हो जाय तो सुख दुःख का अनुभव न हो। भोक्ता भोग और भोग्य ये त्रिपुटी कही जाती है। प्रापंचिक सुखा-

नुभव त्रिपुटी रहित नहीं होता और परमानन्द स्वरूप आत्मा के अनुभव करने में त्रिपुटी की आवश्यकता नहीं है। त्रिपुटी के भाव रहित जो परमानन्द स्वरूप है वह ही अपना आद्य स्वरूप है, जिसके आनन्द-सुख के एक कण से ब्रह्माण्ड भर आनन्दित हो रहा है, जो तुझे सुख की इच्छा है तो जगत् का सुख रूप कंकर जिस पहाड़ का है उस पहाड़ को क्यों नहीं चाहता।

तू ने कहा है कि अद्वैत भाव में सुख नहीं है, यह बात ठीक नहीं है। जो मायिक सुख को तू कहता हो तो मायिक सुख अद्वैत में अवश्य नहीं है परन्तु आत्म सुख चैतन्य सुख है आत्मा सुख स्वरूप है अन्त रहित है, विशेष सुख की इच्छा रहित, ईर्षा द्वेष से रहित और स्वतः अपना स्वरूप है इसलिये जाने वाला नहीं है, जाने की चिंता से रहित है। यदि किसी गौ चराने वाले गोपाल के हाथ में एक हीरे का टुकड़ा आ जाय तो वह उसकी कदर नहीं करता किन्तु उस का जानने वाला जवाहिरी ही उसकी कदर करता है और लाभ उठाता है इसी प्रकार जीव इन्द्रियों का पोषने वाला गोपाल आत्मसुख की कदर नहीं कर सकता किन्तु निर्मल और तीव्र बुद्धि वाला आत्मज्ञानी जवाहिरी ही उसकी कदर करता है और लाभ उठाता है।

अद्वैत अलौकिक शान्ति-सुख, स्वरूप है और द्वैत दुःख रूप है जब तक द्वैत भावना रहेगी तब तक दुःख रहेगा। द्वैत किस प्रकार दुःख पर दुःख उत्पन्न करता है, संग दोष किस प्रकार आपत्ति का हेतु होता है इसका एक दृष्टान्त इस प्रकार हैः—

'एक साधु सरल स्वभाव और वैराग्य वाला था। बस्ती में घूमते रहने से चित्त की चंचलता बढ़ती देख कर वह बस्ती का त्याग करके आत्म स्थिति का अभ्यास करने, अपनी इन्द्रियों और मन को विषयों की तरफ से हटाने और आंतर संस्कारों को रोकने का यत्न करना चाहता था इसके लिये उसे एकान्त स्थान की आवश्यकता थी इसलिये उसने गंगा किनारे एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया। वहां से बस्ती दूर थी कोई एकाद मनुष्य आ पहुंचता था। जब पास वाले ग्राम के लोगों को खबर हुई कि गंगा किनारे साधु रहता है तब कोई न कोई भोजन ले आने लगा। साधु अपने को त्यागी समझता था। दो लंगोटी के सिवाय उसके पास कोई वस्त्र न था। स्नान करके लंगोटी बदल लेता और भीगी हुई को सुखा देता, वृक्ष के नीचे किसी स्थान पर लंगोटी पड़ी रहती थी। उसका त्याग तीव्र था। इसके सिवाय कोई खाने का पदार्थ भी वह सञ्चय नहीं करता था। बची हुई रोटी वृक्ष के नीचे डाल देता, उसे गिलहरी आदिक खा जाया करते इस प्रकार चार महीने हुए होंगे कि रोटी के टुकड़े खाने एक चूहा आने लगा, वह भी कुछ टुकड़े खा जाया करता। एक समय तीन चार दिन तक इतनी कम रोटियां आईं कि गिलहरी आदि को बहुत कम मिलीं और जब चूहा आया तो उसे कुछ भी न मिला तब उसने जब साधु सो रहा था तब उसकी लंगोटी कई स्थान पर काट कर छलनी की समान कर डाली। दूसरे दिन जब साधु स्नान करके लंगोटी लेने लगा तो देखा कि चूहे ने काट डाली है। उसके पास कांछने को दूसरी लंगोटी थी नहीं इसलिये वह चिन्ता करने लगा "लंगोटी बिना काम कैसे चलेगा ?" इस प्रकार शोकातुर होता हुआ जब तक धोई हुई लंगोटी सूखे तब तक जल के किनारे खड़ा रहा। जब लंगोटी सूख गई तब वह उसे कांछ कर वृक्ष के नीचे आया। जो दो एक मनुष्य आये उनके सामने चूहे का चरित्र कह कर दुखी हुआ। वे लोग किसान

थे, उनके पास नये वस्त्र का कोई टुकड़ा न था। उन्होंने ग्राम में जाकर लोगों से लंगोटी के लिये कहा परन्तु ग्राम में भी लंगोटी के योग्य कोई कपड़ा न निकला। साधु रात्रि में ही स्नान करके लंगोटी पहिनने लगा। सरदी भी पड़ने लगी थी। ग्राम के दो प्रतिष्ठित मनुष्यों ने साधु से विनति की कि आपकी लंगोटी के लिये शहर से कपड़ा मंगाया है, जाड़े का मौसम है, आपकी इच्छा हो तो इस स्थान पर एक फूंस की झोंपड़ी बना दी जाय। कुछ हां, ना, करते हुये साधु ने अंगीकार कर लिया और झोंपड़ी बन गई, नई लंगोटी भी आ गई। साधु प्रसन्न हुआ परन्तु उसकी प्रसन्नता मूसे ने अधिक दिनों तक न रहने दी, तीसरे ही दिन नई आई हुई लंगोटी फिर काट डाली। साधु चूहे पर बहुत क्रोधित हुआ, उसे मारने की ताक में रहने लगा परन्तु चालाक चूहा उसके हाथ नहीं आता था। जो कोई मनुष्य आता, साधु उससे चूहे का चरित्र कहने लगता, आत्म भाव-ध्यान आदिक भूल गया और शत्रुता के रूप से हर समय उसे चूहे का ही ध्यान बना रहने लगा। एक मनुष्यने साधु को चूहे से तंग देख कर कहा "मेरे यहां एक बिल्ली का बच्चा है, यदि आप कहें तो आप के यहां बाँध जाऊं, उसकी गंधसे ही चूहा भाग जायगा-उपद्रव नहीं करेगा।" साधु ने स्वीकार कर लिया और वह मनुष्य बिल्ली के बच्चे को साधु की कुटी में बांध गया। बच्चा था बहुत छोटा, रोटी नहीं खाता था और मियाऊं, मियाऊं किया करता था। उसके आने से चूहों का उपद्रव तो मिट गया परन्तु साधु को शान्ति न हुई अब उसे बिल्ली के बच्चे की चिंता लग गई। वह विचारने लगा "बच्चा कुछ खाता नहीं है बिना खाये कब तक जियेगा! यदि मर गया तो मुझे हत्या लगेगी!" ऐसा विचार कर अब जो कोई मनुष्य आता उसके सामने बिल्ली के बच्चे की कथा आरम्भ होती। एक मनुष्य दो तीन दिनतक बच्चेके लिये दूध लाया परन्तु उतनी दूर से वह रोज दूध नहीं ला सका था। उसने साधु से कहा—"महाराज! इतनी दूर से मैं रोज दूध नहीं ला सका, मेरे यहां एक छोटी सी गैया है, बहुत गरीब है, यदि आप कहें तो मैं उसे आप के यहां बांध जाऊं, जंगल में चर आया करेगी और दूध दिया करेगी। बच्चा पी लिया करेगा और आपको भी दूध मिल जाया करेगा।" साधु ने स्वीकार कर लिया और भाविक मनुष्य गैया बांध गया। अब बिल्ली के बच्चे की चिन्ता मिट गई और गैया की चिन्ता ने साधु के हृदय में स्थान लिया। साधु गैया को चराने, पानी पिलाने ले जाने लगा, गोबर इकट्ठी करके कण्डे थापने और सुखाने लगा। इस प्रकार ध्यान तो छुट गया और गैया के साथ वह गैया रूप होगया। जो कोई आता उसके सामने "गैया को खिलाया, पानी पिलाया, गोबर थापा" इस प्रकार कथन किया करता और यह भी कहा करता कि मेरा ध्यान छुट गया तब एक दिन एक मनुष्य ने कहा "मेरा एक छोटा भाई है, आपके पास रहा करेगा, गैया को चरा लाया करेगा और मेरे मकान पर जाकर भोजन कर आया करेगा।" साधु ने गैया की खट पट छुट जाने के लिये यह बात स्वीकार करली। लड़का साधु के पास रहने लगा और गैया का दूध बढ़ने लगा। रोटियां भी अधिक आने लगीं। साधु लड़के को दूध, रोटी खिलाने और आप भी खाने लगा इस प्रकार रोटी खा खाकर और दूध पी पीकर दोनों तगड़े होने लगे, लड़के का घर जाना बन्द होगया। एक दिन लड़केने कहा "बाबा! गैया सीधी है, अपने आप चर आती है, कहीं जाती नहीं, मैं दिन भर खाली बैठा रहता हूं, आप कहें तो थोड़ी सी धरती खोद कर तरकारी बो दूं तो तरकारी का सुख होजाय!" साधु ने स्वीकार कर लिया। लड़का अपने घर से कुदाल, खुरपी आदिक ले आया और उसने जमीन साफ करके तरकारी बोदी। तरकारी खूब होने लगी। दूसरे वर्ष लड़के ने मूंग

बाजरा बोया, वह भी बहुत हुआ, बेचा गया और उसके दाम से दो बैल खरीद लिये गये। इस प्रकार खेत की वृद्धि हुई। राजा के नौकरों ने खेत देखकर भेज मांगी। साधु पैदावारी में से भेज देने लगा। इस प्रकार बस्ती छोड़ कर आये हुए साधु की सब गृहस्थी फैल गई। गैया का विस्तार हुआ, बैल भी कई होगये और झोंपड़ी के बदले पक्का मकान बन गया। इस प्रकार साधु पूरा जमींदार बन गया।

एक वर्ष अल न वर्षा। साधु के खेत में अन्न घास कुछ भी न हुआ, गैया और बैल भूखे मरने लगे। सरकार में सब जमीन साधु के नाम लिख गई थी इस लिये राजा के कामदारोंने साधुसे ज-मीनकी भेज मांगी, साधुके पास कुछथा नहीं भेज न दी गई। जिन २ जमींदारों ने भेज नहीं दी थी उनको पकड़कर राजा के सामने लेजाने का हुक्म हुआ। साधु भी उनमें पकड़ा गया। राजा के सामने दो घंटे तक धूप में खड़ा रक्खा गया तब साधु विचारने लगा "हाय! कैसी आपत्ति आई! मैं साधु हूं, त्यागी हूं, घरबार भजन करने के लिये छोड़ा, फिरभी यह आपत्ति क्यों आई?" एक ठट्ठे बाज गंवार जिसको साधु का सब वृत्तांत मालूम था पास खड़ा हुआ था, साधु को सोच में देखकर कहने लगाः—

पद।

ध्यान करन को बस्ती छोड़ी, जंगल कीन्हा वासा।
ऊंदर काट लंगोटी डाली योगी हुआ उदासा॥
ऊंदर मारन बिल्ली पाली, बिल्ली के हित गैया।
गाय चराने लड़का रक्खा, रोटी दूध खिलैया॥१॥
लड़के ने तरकारी बोई, साधू मन ललचाया।
खेती कीन्ही बैल खरीदे, पक्का महल चुनाया॥
सूखा पड़ी भेज नहिं दीन्हीं राजा पकड़ बुलाया।
ठाड़ा किया धूप के मांही तब साधू पछताया॥२॥

साधु समझ गया कि गंवार सच कहता है, यह सब लंगोटी का ही विस्तार है, ऐसा विचार कर एक दम जोश में आ गया और बंधन तोड़, लंगोटी फाड़, राजाके सामने धरकर बोला "राजा! यह लंगोटीही सब उपाधिका कारण है, इसको दंड दे, मैं तो शुद्ध आत्मस्वरूप, असंग, अद्वैत हूं, ये जितनी उपाधियां हैं सब लंगोटीकी हैं।" ऐसा कहकर वहां से भागकर वह महान् अरण्य में चला गया और एकान्त में जाकर अकेला ही सुखी हुआ।

अकेले में जैसी शांति-सुख है, ऐसी शांति-सुख अनेक के संग, सहवास; द्वैत में नहीं है। उस में दुःख ही है इसलिये जो दुःख रहित होना चाहे, उसे अद्वैत भावना करनी चाहिये। कन्या को एक चूड़ी के भाव से शांति हुई। साधु को द्वैतभाव, अनेकके संग, सहवास से कष्ट हुआ, जब प्रबलता पूर्वक सब को छोड़ा तब अकेला रह कर सुखी हुआ। शरीर धारियों को द्वैत का सर्वथा नाश करना अशक्यहै परन्तु द्वैत भावके नाश करने और अद्वैत भाव की भावना करने से भी बहुत प्रकार की आपत्तियों की निवृत्ति हो जाती है। अद्वैतभाव से आत्माका अनुभव होता है, द्वैतभाव में आत्मानुभव होना किसी प्रकार संभव नहीं है। द्वैत भाव और द्वैत में स्थिति वाला संसारी है, अद्वैत की इच्छा करने वाला और द्वैत में स्थिति वाला मुमुक्षु है। द्वैत का अभाव करते हुये, प्रारब्ध वश द्वैत की भावना वाला प्रारम्भक ज्ञानी है और अन्य की दृष्टि से प्रारब्ध-द्वैत वाला और स्वयं अद्वैत भावना से निवृत्त, स्वरूप स्थिति वाला जीवन् मुक्त है।

❀ मणि रत्नमाला । ❀

इन्द्र वज्रावृत्तम् ।

शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो,
जागर्ति को वा सदसद्विवेकी ।
के शत्रवः संति निजेन्द्रियाणि,
तान्येव मित्राणि जितानिकानि ॥४॥

अर्थः—प्रश्नः—सुख से कौन सोता है ? उत्तरः—जो समाधि निष्ठ है वह । प्रश्नः—जागता कौन है ? उत्तरः—सत् असत् का विवेक करने वाला । प्रश्नः—शत्रु कौन हैं ? उत्तरः—अपनी इन्द्रियां । प्रश्नः—मित्र कौन हैं ? जब वे जीती जाती हैं तब मित्र हो जाती हैं । ४ ।

भाषा छप्पय ।

सुखसे सोवे नित्य, कौन सुकृती नर ऐसा ।
नित्य समाधीनिष्ठ, सुखी कोई नहिं तैसा ॥
कौन जागता नित्य, नहीं क्षण भर भी सोता ।
विवेक सत्यासत्य, जिसे सम्यक् है होता ॥
शत्रु हमारे कौन हैं, इन्द्रिय शत्रू जानिये ।
जब वश में हो जांय वे, मित्र उन्हें ही मानिये ॥४॥

विवेचन ।

जगत् में अनेक प्रकार की कामनायें होने से और उनसे मनुष्य घिरा हुआ होने से उसको चिन्ता रूप अग्नि जलाया ही करती है, इस लिये रजोगुण की वृद्धि होती है और रजोगुण की वृद्धि वाला नित्य चिन्ताग्रस्त रहने से कभी सुखी नहीं रहता । चिन्ता नींद नहीं आने देती, यदि नींद आभी जाती है तो तीव्र भाव वाली कामनाओं के संस्कार स्वप्नरूप से उदय होते हैं और सोते में भी शान्ति नहीं होने देते, भयंकर स्वप्न दीखते हैं अथवा अपने अहित का स्वप्न देख कर स्वप्न में भी वह दुखी होता है । कभी थकावट के कारण अथवा विशेष आहार के कारण सुषुप्तिमें किंचित् समय भले ही प्राप्त हो किन्तु विशेष कर के सुषुप्ति अशान्तिमय ही होती है इसलिये उसका सोना सुखरूप सोना नहीं कहलाता इस कारण शिष्य का प्रश्न है कि कौन पुण्यात्मा ऐसा है जो सुख पूर्वक निद्रा लेता है उस पर गुरु का कथन है कि संसार के विषयों में लिप्त हुआ कोई भी मनुष्य सुख पूर्वक नहीं सो सकता और विषयासक्ति निवृत्त हुये बिना सुख से सोना असम्भवित है परन्तु जिस की समाधि में परिपूर्ण निष्ठा होती है ऐसा कोई एक ब्रह्मनिष्ठ ही निश्चिन्त होकर सुख पूर्वक सोता है—जगत् में निद्रा लेता है । जगत् में जो जन्म हुआ है वह सोने के निमित्त नहीं हुआ है किन्तु परम पुरुषार्थ प्राप्त करने के निमित्त है । जब तक परम पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता तब तक मनुष्य निश्चिन्त नहीं हो सकता, कृत कृत होकरही निश्चिन्त होता है, वह सोना ही वास्तविक सोना है । जगत् निद्रारूप है, उस में निद्रा का अनभव करना ही सुख से सोना है । समाधि में निष्ठा वाला ज्ञानी ही सुख से सोता है । समाधि अनेक प्रकार की हैं परन्तु वे सब यथार्थ समाधि नहीं हैं, यथार्थ समाधि निर्विकल्प समाधि है, अन्य समाधियां उसका साधन रूप हैं । ज्ञान समाधि निर्विकल्प समाधि कही जाती है । अथवा सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की समाधि हैं, सविकल्प हठ की समाधि है और निर्विकल्प ज्ञान की समाधि है । अन्य समाधियां खंडित हैं और ज्ञान समाधि अखंडित है । ध्याता और ध्यान को अनुक्रम से त्याग कर एक ध्येय ही जिसका विषय है ऐसा, पवन रहित स्थान में रही हुई दीप शिखा के समान जब चित्त हो जाय तब निर्विकल्प समाधि कहलाती है । निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था को समाधि कहते हैं । जब निदिध्यासन का अभ्यास बहुत वृद्धि को प्राप्त हो जाता है तब ध्याता

और ध्यान छूट जाता है, उनका बोध नहीं रहता जो वहां रहता है वह 'तत्त्वमसि' महा वाक्य का निःसन्देह अर्थ रूप ब्रह्म ही ध्येय है, उस में चित्त की स्थिरता हो जाना ही समाधि है।

ज्ञान के मुख्य अन्तरंग साधन 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य हैं। श्रवण मनन आदिक बहिरंग साधन हैं क्योंकि युक्ति से वेदान्त वाक्यों के तात्पर्य का निश्चय होना श्रवण है, जीव ब्रह्म की अभेदता और दोनों के भेद की अभिन्नता का चिन्तवन करना मनन है, अनात्माकार वृत्तियोंकी बाधारहित ब्रह्माकार वृत्ति की स्थिति होना निदिध्यासन है और इन तीनोंके अभ्यास से समाधि की जो पूर्ण स्थिरता है वह निदिध्यासन की परिपक्व अवस्था है, वह निर्विकल्प समाधि है इसलिये निदिध्यासन का भी समाधि में अन्तरभाव है। सविकल्प समाधि के आठ अङ्ग हैं:–यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। अपरोक्षानुभूति में निर्विकल्प समाधि के पंद्रह अङ्ग कहे हैं:–यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि। सब जगत् ब्रह्म है, ऐसा निश्चय करके सब इन्द्रियों के निग्रह करने को यम कहते हैं। सजातीय यानी 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार ज्ञान का प्रवाह होना, विजातीय अनात्मभाव का तिरस्कार, और ब्रह्म से सिवाय सब संसार मिथ्या है ऐसे ज्ञान को नियम कहते हैं। चैतन्य स्वरूप तत्व के अवलोकन में प्रापंचिक पदार्थों के भाव का त्याग, त्याग कहा जाता है। महात्माओं का सादर सत्कार करना सद्य मोक्षदाता है, जिसको मन वाणी जान नहीं सके, योगी लोग ही जानते हैं, ऐसे परब्रह्म में स्थिति होना मौन्य है। पंडित उस ब्रह्म का, 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा अनुसन्धान करते हैं, जिसको वाणी नहीं पहुंच सकी, उसका वर्णन कौन कर सका है? इसलिये जानकर भी न कहा जाना मौनहै, यह मौनसाधु पुरुषोंको स्वाभविक सिद्ध है। अंतःकरण की प्रवृत्ति विशेषता से प्रपंच की तरफ न होना मौन है। जहां आदि, अन्त और मध्य में कोई भी मनुष्य न हो ऐसे देश को निर्जन देश कहते हैं, जिससे सब संसार व्याप्त है ऐसे ब्रह्म देश का नाम निर्जन देश है। सदा शून्य स्थान में योग साधन में युक्त होना योग्य है। जिस के निमेष में ब्रह्मादिक सब भूतों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है, इस कारण से अखंड, आनन्द स्वरूप, अद्वय ब्रह्म ही काल शब्द से कहा जाता है। जिसमें उत्तम प्रकारसे ब्रह्म चिन्तवन हो, उस को आसन कहते हैं उसके सिवाय ब्रह्म विचार नहीं हो सकता इसलिये इसके सिवाय अन्य आसन सुखकर नहीं हैं किंतु सुख के नाश करने वाले हैं, जिस करके सिद्ध पुरुष सिद्ध कहलाता है, जिसमें लीन रहता है, और जो विश्व का अधिष्ठान स्वरूप, अव्यक्त है; वह सिद्धासन कहलाता है। जो आकाशादिक पंच भूतों का आदि कारण और चित्त की एकाग्रता का मूल कारण है, वह मूलबंध कहलाता है, ऐसा मूलबंध राजयोगियों को हमेशा सेवन करने योग्य है। जो सब प्राणियों में समान दृष्टि करके, समान ब्रह्म में लीन होता है, वह देह साम्य कहलाता है। सूखी लकड़ी के ठूंठ के समान समता नहीं कहलाती, दृष्टि को ज्ञानमय करके जिससे सब जगत् को ब्रह्ममय देखता है, वह दृष्टि परमउदार और मंगल को देने वाली है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि को दृष्टि नहीं कहते किंतु जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों विराम को प्राप्त होजायँ, वह दृष्टि कहलाती है, ऐसी दृष्टि करना योग्य है। चित्तादिकसे लेकर सब पदार्थों में ब्रह्मभावना करके इन्द्रियों की सब प्रकार की वृत्तियों को रोकना प्राणायाम है। सब प्रपंच का मिथ्यात्व निश्चय करके त्यागना रेचक प्राणायाम है, एक ब्रह्म ही सर्वरूप है, ऐसी वृत्ति पूरक प्राणायाम है और सब ब्रह्मरूप है इस भाव को टिकाना कुंभक प्राणायाम है। इस प्रकार का

रेचक, पूरक और कुंभक ज्ञानियों का होता है। सब विषयों में आत्म तत्व देखकर—जगत् को ब्रह्ममय देखकर चैतन्य स्वरूप आत्मामें चित्त लगाना प्रत्याहार कहलाता है, मुमुक्षुओं को इस प्रकार का प्रत्याहार अवश्य करना योग्य है। जिस जिस स्थान पर मन जाय उस उस स्थान से ब्रह्म स्वरूप के दर्शन पूर्वक मन को निश्चल करना सर्वोत्तम धारणा है। सब बाधाओं को दूर करके देहानुसंधान के परित्याग पूर्वक, सब ब्रह्ममय है, ऐसा जान कर ब्रह्म स्वरूप का अवलंबन करके स्थिति करना आत्मध्यान है इससे परमानन्द की प्राप्ति होती है। निर्विकार चित्त वाला होकर ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान से सब प्रपंच का त्याग करना, समाधि कहलाती है।

इस प्रकार निर्विकल्प समाधि वाला सुख पूर्वक सोता है। इस सोने में जो अनुभव होता है उसे समाधि वाला ही जानता है, दूसरे नहीं जान सकते क्योंकि उसके जानने को बाहर का कोई चिन्ह नहीं है। समाधिस्थ बाहर की चेष्टायें किया करता है, तो भी उसकी समाधि उतरती नहीं है इसको समझने के लिये दृष्टांतों से समझाते हैं। वे समझने मात्र को सहाय रूप हैं:— जैसे गाय चरती है, चलती है, बाहर जाती है और पानी पीती है किन्तु ये सब चेष्टायें करते हुये उसका चित्त बछड़े में लगा रहता है। जैसे नट खेल करता है, अनेक प्रकार की कसरत करता है, रस्से के ऊपर चलता है, परन्तु उसका चित्त रस्से के समतोल रहने पर ही रहता है। जैसे स्त्री शिर पर पानी का घड़ा भर कर चलती है, सखियों से बोलती चालती है, हास्य करती है, तालियां बजाती है और आने जाने वाले मनुष्यों को देखती भी है परन्तु उसका चित्त घड़े में होता है इसी प्रकार समाधि वाले की सब क्रियायें होती हैं तो भी उसका चित्त समाधि में रहता है। ऐसी ज्ञान समाधि वाला सुख पूर्वक सोता है, अन्य व्यवहारी मनुष्य इस प्रकार की सुख की निद्रा नहीं ले सके। जिसमें प्रपंचासक्ति, देहाध्यास आदिक हैं, उसको सुख कहां है!

जागता कौन है? ऐसा जो शिष्य ने पूछा था उसका उत्तर गुरु ने यह दिया कि जिसने सत् असत् का विवेक किया है, वह ही जागता है। ऊपर जिसको सुख पूर्वक सोने को कहा है, वह ही विवेकी है और वह ही जागता है। एक ज्ञानी को ही सोनेवाला और जागनेवाला कहा है क्योंकि विवेकी और समाधिनिष्ठ एक ही होता है। इसको इस प्रकार समझना चाहिये:—जिसमें से जगत् का भाव निवृत्त हो गया है, वह जगत् में सोता है और आत्म तत्त्व में स्थिति वाला होने से आत्म तत्त्व में जागता है। आत्म स्थिति रहित जड़ता को प्राप्त होना समाधि नहीं है, उससे न तो किसी फल की प्राप्ति होती है, न वह विवेक है।

एक नट सब स्थानों पर अपना तमाशा किया करता था। उत्तम रीति से तमाशा करने के कारण बहुत स्थानों से उसे अच्छे २ इनाम मिला करते थे। एक समय वह एक राजा के पास गया और वहां उसने आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला अपना तमाशा किया। राजा ने प्रसन्न होकर बहुत सा इनाम दिया परन्तु नट का दिल उसके इनाम से प्रसन्न न हुआ तब राजा ने कहा "क्यों! क्या इनाम लेना चाहता है?" नट ने कहा "महाराज! मैं एक ही वस्तु की प्रार्थना करता हूं, वह वस्तु आपके बैठने का घोड़ा है!" राजा को वह घोड़ा बहुत प्रिय था, उसे वह किसी को देना नहीं चाहता था। राजा ने कहा "नट! तेरा तमाशा अद्भुत था, इसमें कुछ संदेह नहीं है, तू ने योग के चौरासी आसन कुशलता पूर्वक दिखलाये, परन्तु समाधि नहीं दिखाई, यदि तू समाधि कर के दिखला दे तो मैं तुझे घोड़ा दे दूंगा।" नट ने कहा "अन्न दाता! समाधि दिखाने की योग्यता इस समय मुझ में नहीं है, यदि आप अपने चढ़ने का

घोड़ा देना स्वीकार करें तो साल भर बाद आकर मैं आपको समाधि दिखला सका हूं।" राजाने स्वीकार कर लिया, नट वहां से चला गया और प्राणायाम करने वाले साधु के पास पहुंचा। यद्यपि वह योग्यता रहित था तो भी साधु की सेवा कर के उसने प्राणायाम सीखा और प्राण को मस्तक में ले जा कर रोक रखना भी सीख लिया। साधु ने सब सिखा दिया परन्तु प्राण चालू करने की विद्या न सिखाई। नट समाधि लगाया करता और अन्त में साधु उतारा करता। नट समझा कि मैं समाधि लगाना सीख गया हूं, अब राजा के पास जा कर और समाधि दिखला कर उससे घोड़ा लेना चाहिये। यह विचार कर नट राजा के पास पहुंचा। उसे आता हुआ देख कर राजा घबराया परन्तु वह अपने वचन को भंग करे ऐसा न था। नट ने समाधि लगाई और वह लकड़ी के समान जड़ हो गया! राजा ने दो चार घंटे राह देखी, नट की समाधि न उतरी। एक मास बीतगया समाधि न उतरी! राजा ने नट के आसपास एक छोटासा मंदिर बनवादिया। नट बैठा रहे इतना ही बड़ा मन्दिर था। इस बात को दो, चार; दश वर्ष बीतगये, नट की समाधि न उतरी। नट को जिस घोड़े के लेने की इच्छा थी, वह घोड़ा मर गया, राजा भी मर गया। संयोग ऐसा बना कि जहां नट वाला मंदिर था, उसके पास का मकान टूट कर गिर गया और मंदिर उसके नीचे दब गया। बहुत दिन होने से 'नट ने समाधि लगाई है' यह बात भी लोग भूल गये। इस बात को दो सौ वर्ष हो गये। एक मनुष्य टूटे मकान को बनवाने लगा। जब मकान खोदा गया तब मंदिर के नीचे भी खोदा गया और नट के पैर में चोट लगने से उसकी समाधि खुल गई, और वह पुकार उठा "घोड़ा लूंगा, घोड़ा लूंगा!" बहुत से मनुष्य एकत्र हो गये। एक मनुष्य ने पूछा "तू कौन है और क्या कहता है?" नट ने जो बात थी सब कह दी। एक मनुष्य ने पूछा "तुझे कौन से राजा ने घोड़ा देने को कहा था?" नट ने कहा "पृथ्वीराज महाराज ने!" लोग आश्चर्य करने लगे! उसी मनुष्य ने कहा "उसको मरे हुये तो दो सौ वर्ष हो गये! उसकी पांचवीं पीढ़ी पर उसका वंशज राज कर रहा है!" नट निराश हुआ। घर पर जाता तो घर का पता न था, न किसी मनुष्य का पता था!

इस प्रकार की समाधि, समाधि नहीं है, ज्ञान समाधि ही अखंड समाधि है। वह ही सुख रूप है।

अपने शत्रु कौन हैं, इसके उत्तर में कहा है कि अपनी इन्द्रियां ही अपनी शत्रु हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं और वाणी, हाथ, पग, पायु और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। ये दशों अपने २ विषयों में आसक्त होती हैं। इन्द्रियों का विषयों में आसक्त होना ही उनकी शत्रुता है। जिस प्रकार शत्रु अहित करता है इसी प्रकार विषयासक्त इन्द्रियां जीव का अहित करती हैं। वे आत्म मार्ग में विघ्न करने वाली हैं इसलिये इन्द्रियों को वश करके मन को जीतने का यत्न करना चाहिये "हे अर्जुन! महा प्रयत्न करते हुये भी मन को व्याकुल करने वाली इन्द्रियां बलात्कार से बुद्धिमान् पुरुषों के मन को भी अपनी तरफ़ खेंच लेती हैं" यदि मन वश में न हो तो समुद्र रूप संसार से पार नहीं हो सके।

एक व्यापारी एक जहाज में बहुत प्रकार का सामान लेकर समुद्र मार्ग से दूसरे देश में जा रहा था। ज्योंही जहाज बंदर के बाहर निकला त्योंही तोफान आया। जहाज घूमने लगा और कहीं का कहीं चला गया। जिधर को जहाज गया उधर लोह चुम्बक का एक पहाड़ था। जहाज में बहुत सा लोहा कीलादि जड़ा हुआ था। ज्योंहीं वह पहाड़ की तरफ गया त्योंही लोहा चुम्बक की तरफ खिचने लगा और उसके साथ

सम्पूर्ण जहाज भी खिंचता चला। उसमें रक्खा हुआ माल और बैठे हुये मनुष्य सब ही खिंच चले। अंत में जहाज ने पहाड़ में बहुत जोर से टक्कर खाई और वह चूरा चूरा हो गया। सब माल समुद्र में चला गया और बैठे हुये मनुष्यों में से कोई डूब कर, कोई टक्कर खा कर, और कोई भय से, इस प्रकार सब मर गये।

समुद्र संसार है, उसमें चलता हुआ जहाज शरीर है, व्यापारी जीव है, माल अनेक प्रकार के शुभ कर्म हैं, कीलें इन्द्रियां हैं, पटरियां मन है, और चुम्बक पत्थर विषय हैं। जब इन्द्रियां अपने विषय को देखती हैं तब चुम्बक के समान विषयों की तरफ खिंचती हैं, उनके आकर्षण से क्रमानुसार सब का आकर्षण होता है और अंत में जीव का नाश होता है–नीच गति को प्राप्त होता है।

जैसे मांस में लुब्ध होने से मछली, लोहे के कांटे को नहीं देखती इसी प्रकार विषय सुख में लुब्ध हुआ मनुष्य यमराज का पाश नहीं देखता। जब मन और इन्द्रियां जीत ली जाती हैं तो वे मित्र हो जाती हैं और न जीती हुई शत्रु होती हैं इसलिये मुमुक्षुओं को प्रयत्न करके उन्हें अवश्य जीतना चाहिये। प्रथम इन्द्रियों को वश करके फिर मन को वश करना चाहिये और फिर बुद्धि को। बुद्धिको ज्ञान भाव वाली करके आत्मा को जानना चाहिये और उसको जान कर महान् शत्रु जो काम है उसको मार देना चाहिये। कामनाओं के कारण इन्द्रियां शत्रु हैं और कामना रहित इन्द्रियां मित्र हैं। जैसे जब कोई राजा अन्य देश जीतने को जाता है और सामने वाला राजा हार जाता है तो वहां की प्रजा भी नवीन राजा को मान देने लगती है। जैसे सैन्य में मुख्य आधार सैन्यनायक–राजा होता है इसी प्रकार इन्द्रियों का मन आधार है क्योंकि वह इन्द्रियों का राजा है। शतरंज के खेल में भी राजा के कैद होने से खेल समाप्त हो जाता है इसी प्रकार मन वश में आ जाने से इन्द्रियां वश में आ जाती हैं। विषयों के बदले इन्द्रियों का अवलम्बन बदल देना चाहिये। यह इस प्रकार होता है:—श्रोत्रेन्द्रिय गुरु के सदुपदेश में लगावे, हस्त गुरु सेवा में, पैर गुरु कार्य में, नेत्र गुरु दर्शन और शास्त्र पढ़ने में और जिह्वा शास्त्र कथन में लगावे। घ्राण को आत्म गंध में, मनको संकल्प विकल्प रोकने में, बुद्धि को ब्रह्म विचार में, चित्त को अखंड ब्रह्म के चिन्तवन में और अहंकार को ब्रह्माभिमान धारण करने में लगावे।

जैसे कोई एक व्यापारी बहुत सा माल लेकर पृथ्वी मार्ग से जा रहा है। मार्ग में उसे कोई ठग मिल जाय और ठगई के विचार से व्यापारी के साथ मित्रता करके उसके साथ साथ चलने लगे। संयोग वश कोई तीसरा मनुष्य वहां आ पहुंचे, जो व्यापारी और ठग दोनों को पहिचानता हो और स्वयं भलामानस हो, वह एकान्त में व्यापारी को लेजा कर कहदे कि यह मनुष्य जो तेरे साथ है, ठग है, इससे सावधान रहना, ठग भी अपने जी में समझ जाय कि मेरा ठगपना व्यापारी को मालूम हो गया है. अब वह ठगई में नहीं आवेगा, और यदि अन्य कोई ठगई कर जायगा तो मेरा ही नाम होगा, इसलिये अब तो व्यापारी को सही सलामत मुकाम पर पहुंचा कर ही जाना चाहिये, ऐसा विचार कर वह व्यापारी का मित्र हो जाय इसी प्रकार जीव व्यापारी है, इन्द्रियां ठग हैं, सद्गुरु दोनों को पहिचानने वाला तीसरा मनुष्य है, जब सद्गुरु द्वारा ज्ञान होता है तब इन्द्रियां जो अपनी शत्रु हैं, मित्र हो जाती हैं–जीती जाती हैं कहा भी है "मन के जीते जीत है, मनके हारे हार" "मनुआ मर गया, (उसका) खेल बिगड़ गया" "मन ही संसार है, मनका अमन होना संसारका पार है" "चाह चमारी, चूहड़ी, सब नीचन से नीच, तू तो सत् परब्रह्म है, चाह न हो यदि बीच।"

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका ।

(गताङ्क से आगे)

प्रतिबिम्बात्मा, या विज्ञानात्मा है, अथवा इन्द्रियों का अधिष्ठाता देवता है या ईश्वर है।

प्रतिपक्षीः-पुरुष का प्रति रूप छायात्मा आंखों में रहने वाला है क्योंकि वह दृश्यमान है, यह प्रसिद्ध है और 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (आंख में यह जो पुरुष दीखता है) इस प्रकार का उपदेश है। अथवा विज्ञानात्मा कहना ठीक है क्योंकि यह आंख में रह कर आंखों से रूप को देखता है। इस पक्ष में आत्म शब्द भी अनुकूल है। अथवा आंख पर अनुग्रह करने वाले-आंख के अधिष्ठाता देवता की प्रतीति होती है क्योंकि 'रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः [बृह० ५-५-२] (किरणों द्वारा यह इसमें प्रतिष्ठित है) ऐसी श्रुति है और देवनात्मा में अमृतत्व आदि का होना भी संभव है। परन्तु यहां ईश्वर की प्रतीति नहीं होती क्योंकि अमुक स्थान का कथन है।

सिद्धान्तीः—यह बात नहीं है, आंख में रहने वाला पुरुष यहां परमेश्वर को ही कहा है। क्यों कहा है ? यदि ऐसा कहो तो सुनोः-उपपत्ति से परमेश्वर को ही कहा है। जो जो गुण समूह यहां उपदेश किये गये हैं वे परमेश्वर के विषे युक्त हैं।

प्रथम तो मुख्य वृत्ति से आत्मत्व परमेश्वर के विषे ही युक्त है क्योंकि 'स आत्मा तत्त्वमसि' (वह आत्मा वह तू है) ऐसी श्रुति है। श्रुति में अमृतत्व और अभयत्व उस (आंख में रहने वाले पुरुष) के विषे वारम्वार कथन किया है। इसी प्रकार आंख का स्थान भी परमेश्वर के अनुरूप है। जैसे परमेश्वर सर्व दोषों से अलिप्त है, क्योंकि श्रुति में पाप रहितपना आदि धर्म परमेश्वर के बताये हैं इसी प्रकार आंख का स्थान सर्व लेप रहित उपदेश किया गया है क्योंकि 'तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति' (जो इसमें घी अथवा पानी सींचता है तो वह पलकों में ही जाता है) ऐसी श्रुति है।

सकल कामना प्राप्त कराने का हेतु इत्यादि धर्म का उपदेश भी उसी (परमेश्वर) में ही घटता है। 'एतं संयद्वाम इत्याचक्षते एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति'। [छान्दो० ४-१५-२] (इसको संयद्वाम ऐसा कहते हैं क्योंकि सर्व कर्म फल इसके जानने वाले को उत्पन्न होते हैं), 'एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति' [छान्दो० ४-१५-३] (यह ही वास्तविक वामनी है, क्योंकि यह सर्व फल प्राप्त कराता है) और 'एष उ भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' [छान्दो० ४-१५-४] (यह ही वास्तविक भामनी है, क्योंकि यह सर्व लोकों में प्रकाशता है) इत्यादि इस (परमेश्वर) के विषे ही घटते हैं इसलिये उपपत्ति से आंख के भीतर रहने वाला पुरुष परमेश्वर है ॥ १३ ॥

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और स्थानादिव्यपदेशात् [ध्यान के लिये] स्थानादि के कथन से [धरमात्मा का स्थान नेत्र भी हो सकता है।]

टीका:—शंका:-परन्तु आकाश की समान सर्वव्यापक ब्रह्म का अल्प स्थान नेत्र किस प्रकार युक्त है ?

समाधान:—यह दोष नहीं है। जो ब्रह्म का एक यह ही स्थान बताया होता तो यह असम्भव होता परन्तु पृथ्वी आदि अन्य स्थान भी ब्रह्म के बताये हैं जैसे कि 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्' [बृह० ३-७-३] (जो पृथ्वी में रह कर) इत्यादि श्रुतियों से विदित है इसी प्रकार 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' (जो आंख में रह कर) इत्यादि से आंख भी स्थान बताया है। 'स्थानादिव्यपदेशात्' इस सूत्र में 'आदि' कहने से सूत्र कार यह दिखलाता है कि

ब्रह्म के केवल स्थान ही का अनुचित कथन देखने में नहीं आता किन्तु जिस ब्रह्म के नाम और रूप नहीं हैं उसके नाम और रूप का भी अनुचित उपदेश देखने में आता है—'तस्योदितिनाम' हिरण्य श्मश्रु: [छान्दो० १-६-७-६] (उसका उद् ऐसा नाम है, सुवर्ण जैसी मूंछों वाला) इत्यादि से निर्गुण ब्रह्म का उपासना के लिये स्थल स्थल पर नाम और रूप में रहने वाले गुणों द्वारा सगुण हो ऐसा उपदेश किया गया है यह भी कहा ही है यद्यपि ब्रह्म सर्व व्यापक है तो भी उपलब्धि-प्राप्ति के लिये ब्रह्मका विशिष्ट स्थान शालग्राममें विष्णु के समान विरुद्ध नहीं है, ऐसा भी कहा ही है ॥१४॥

सुख विशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः– च और सुखविशिष्टाभिधानात् सुख गुणयुक्तके कथन से [नेत्रों के भीतर परमात्मा] एव ही [है]

टीकाः—इस वाक्य में ब्रह्म का कथन है अथवा नहीं है इसके विषय में विवाद करना युक्त नहीं है क्योंकि सुखगुण युक्त के कथन से ही ब्रह्मत्व सिद्ध है। "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) इस प्रकार वाक्य के उपक्रम–आरम्भ में सुख विशिष्ट का जो उपक्रम–प्रारम्भ है उसका ही यहां कथन है क्योंकि प्रकृत का ग्रहण ही न्याय्य है। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' [छान्दो० ४। १४। १] (आचार्य तो तुझसे गति कहेगा) इस प्रकार गति मात्र के कथन की प्रतिज्ञा की है।

शंकाः—परंतु वाक्यके प्रारंभमें सुख विशिष्ट ब्रह्म का विज्ञान होता है,यह आप कैसे कहते हैं ?

समाधानः—'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (प्राण ब्रह्म है, कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) अग्नियों का यह वचन सुनकर उपकोसल ने कहा 'विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कंचतु खं च न विजानामि' (प्राण ब्रह्म है यह तो मैं समझता हूं, परंतु कं को और खं को नहीं जानता हूं) तब इसका उत्तर यह मिला–'यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कम्' [छान्दो० ४। १०। ५] (वास्तविक जो कं है वह ही खं है, जो ही खं है वह ही कं है) इस में खं शब्द लौकिक भाषा में भूताकाश के विषे प्रसिद्ध है। जो खं के विशेषण समान सुख वाची कं शब्द का ग्रहण न किया जाय तो ऐसा होने से भूताकाश के अर्थ में ब्रह्म शब्द लगाया गया है, ऐसी प्रतीति हो और इसी प्रकार विषय और इन्द्रियों से उत्पन्न हुए दोष युक्त सुख के अर्थ में कं शब्द प्रसिद्ध होने से जो कं के विशेषण समान खं शब्द का ग्रहण न किया जाय तो लौकिक सुख ही ब्रह्म है ऐसी प्रतीति होवे परंतु यदि कं और खं शब्दों को परस्पर विशेषण युक्त लेते हैं तो वे सुख स्वरूप ब्रह्म की प्रतीति कराते हैं। यदि इसमें ब्रह्म शब्द का ग्रहण न करें और 'कं खं ब्रह्म' (कं और खं ब्रह्म) इतना ही कहें तो कं शब्द का विशेषण की समान उपयोग होनेसे सुख गुण भूत होनेसे ध्यान करने योग्य न होवे ऐसा न होवे इसलिये कं और खं दोनों शब्दों के साथ कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (कं ब्रह्म है, खं ब्रह्म है) इस प्रकार ब्रह्मशब्दका प्रयोग किया है। यद्यपि सुखगुण है तो भी गुणी के समान ध्यान करने के योग्य हो सकता है, यह कहना ठीक है इसलिये इस प्रकार से वाक्य के उपक्रम में सुख विशिष्ट ब्रह्म का उपदेश किया है।

और गार्हपत्य आदि अग्नियों में से प्रत्येक ने अपनी २ महिमा का उपदेश करके 'एषासोम्यतेऽस्मद्विद्यात्म विद्याच' (हे सोम्य, यह तुझसे हमारी विद्या और आत्मविद्या कही) इस प्रकार उपसंहार किया है। इसमें पूर्व में कहे हुये ब्रह्म को जनाते हैं। 'आचार्यस्तु ते गतिं वक्ता' (आचार्य तो तुझ से गति कहेगा) यह गति मात्र के कहने की प्रतिज्ञा अन्य अर्थकी विवक्षा को रोककर

है। 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एव मेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यत' [छान्दो० ४। १४। ३] (जैसे पद्मपत्र में पानी नहीं ठहरता, ऐसे ही इस प्रकार जानने वाले को पाप कर्म स्पर्श नहीं करता) यह श्रुति अक्षिगत पुरुष के जानने वालों को पाप का संबन्ध नहीं होता ऐसा कहकर अक्षिस्थ पुरुष का ब्रह्मत्व दिखलाती है। इसलिये ब्रह्म के अक्षिस्थता (आंख में रहना पना) और संयद्वामता (जिसको उद्देश करनेसे कर्म फल उत्पन्न होता है वह संयद्वाम, उसका भाव संयद्वामता) आदि गुण कहकर उसके जानने वाले की अर्चि आदि गति कहेगी ऐसा उपक्रम करती है— 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एषआत्मेति होवाच' [छान्दो० ४। १५। १] (आंख में यह जो पुरुष दीखता है, यह आत्मा है ऐसा कहा) ॥ १५ ॥

श्रुतोपनिषत्क गत्याभिधानाच्च ॥१६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः— च और श्रुतोपनिषत्क गत्याभिधानात् उपनिषद् के रहस्य के (सगुण ब्रह्म की उपासना के) अनुष्ठान करने वाले की गति के कथन से [अक्षि पुरुष परमात्मा है]।

टीकाः—अक्षिस्थ पुरुष परमेश्वर है क्योंकि जिसने उपनिषद् सुना है अर्थात् जिसे रहस्य विज्ञान हुआ है ऐसे ब्रह्म ज्ञानी की श्रुति और स्मृति में देवयान नाम की गति कही है। श्रुति यह है—'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्त्तन्ते' [प्रश्न० १। १०] (पीछे तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मा का ध्यान कर के उत्तर मार्ग द्वारा आदित्य को प्राप्त करता है। यह प्राणों का आश्रय है, अमृत है, अभय है, यह परागति है, इससे संसार में पुनरावर्त्तन नहीं करता)। और स्मृति यह है:—'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्म विदोजनाः॥ [गी० ८। ‥] (अग्नि देवता, ज्योतिर्देवता, दिन की अभिमानिनी देवता, शुक्ल पक्ष की देवता और छः मास उत्तरायण की अभिमानिनी देवता है, इस मार्ग में मरे ब्रह्मोपासक पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं)। इ‥ गति का यहां भी कथन है—यह गति अक्षि पु‥ जानने वालों की बताई है ऐसी प्रतीति होता ‥ 'अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्ति' (पीछे इसके लिये वे संस्कार करें अथवा न करें तो भी अर्चि आदि देवता को प्राप्त होता है) ऐसा उपक्रम करके 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमंमानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते [छान्दो०४-१५] (आदित्य से चन्द्रको और चन्द्र से विद्युत को [प्राप्त होता है] वहां अमानव पुरुष इसको ब्रह्म तक पहुंचता है। यह देवपथ, ब्रह्म पथ है, इससे जाने वाला जन्म मरणादि आवृत्ति वाले इस मानव लोक में फिर नहीं लौटता)। इसलिये यहां ब्रह्म ज्ञानी की प्रसिद्ध गति से अक्षिस्थ पुरुष ब्रह्म है ऐसा निश्चय होता है ॥ १६ ॥

अनवस्थितेरसम्भवाच्च नेतर ॥१७॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अनवस्थितेः [सर्वदा] स्थिति न होने से च और असम्भवात् [अमृतत्वादि गुणोंके] असम्भवसे इतर दूसरा छायात्मादि न [इस वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य] नहीं [है]

टीकाः—अक्षिस्थ पुरुष छायात्मा, विज्ञानात्मा अथवा देवतात्मा है ऐसा जो कहा है उस का उत्तर यह है:-छायात्मा आदि दूसरों का ग्रहण करना यहां युक्त नहीं है क्योंकि उनकी स्थिति सर्वदा नहीं रहती। छायात्मा का आंखों में नित्य रहना सम्भव नहीं है क्योंकि जब कोई पुरुष आंखों के पास जाता है तभी आंखों में पुरुष की छाया दीखती है जब वह दूर चला जाता है तब नहीं दीखती।

अपूर्ण

कौषीतकि उपनिषद्।

(गताङ्क से आगे)

जब इस शरीर में से प्राण का उत्क्रमण होता तब प्राण (शरीर) में से प्राण रूप वाणी सब नामों का त्याग करती है, वाणी की सहायता से सब नामों की प्राप्ति होती है। प्राण सर्व गंधोंका त्याग करता है। प्राण की सहायता से सब गंध शरीर को प्राप्त होता है। चक्षु शरीर में से सब रूपों का त्याग करता है, शरीर को चक्षु से सर्व रूपों की प्राप्ति होती है। मन शरीर में से सर्व संकल्पों का त्याग करता है, मनसे उसको सर्व संकल्पों की प्राप्ति होती है। प्राण की विद्यमानता से शरीर को इन सब की प्राप्ति होती है। प्राण प्रज्ञा रूप है और जो प्रज्ञा रूप है सो प्राण है। अब जिस प्रकार प्रज्ञा में सब भूतों का लय होता है, उसका वर्णन करते हैं॥ ४॥

श्रोत्र देवता ने अपना एक अंश निकाल लिया इस से उसका विषय शब्द भूत मात्रा रूप से बाहर जाता रहा। जिह्वा ने अपना एक अंश निकाल लिया इससे उसका विषय रस भूत मात्रा रूप से बाहर जाता रहा। हाथ ने एक अंश निकाल लिया इससे उसका विषय सुख और दुःख मात्रा रूप से बाहर जाता रहा। उपस्थेन्द्रिय ने अपना एक अंश निकाल लिया इससे उसका विषय आनन्द, रति, और प्रजोत्पत्ति भूत मात्रा रूप से बाहर जाता रहा। पादों ने अपना एक अंश निकाल लिया इससे उनका विषय गति भूत मात्रा रूप से बाहर जाती रही। प्रज्ञा ने अपना एक अंश निकाल लिया इससे उसका विषय बुद्धि, ज्ञान और काम भूत तन्मात्रा रूप से बाहर जाता रहा॥ ५॥

प्रज्ञा वाणी से आरुढ़ होने से-वह ही रूप बनने से वाणी से सब नामों को प्राप्त करती है। प्रज्ञा से प्राण में आरोहण होने से प्रज्ञा प्राणों से सब गंधोंको प्राप्त करती है। प्रज्ञासे चक्षु में आरोहण होने से प्रज्ञा चक्षु से सब रूपों को प्राप्त करती है प्रज्ञासे श्रोत्र में आरोहण होने से प्रज्ञा श्रोत्र से सब शब्दों को प्राप्त करती है। प्रज्ञासे जिह्वा में आरोहण होने से प्रज्ञा जीभ से सब रसों को प्राप्त करती है। प्रज्ञासे हस्तों में आरोहण होने से प्रज्ञा दोनों हाथों से सब कर्मों को प्राप्त करती है। प्रज्ञा से उपस्थेन्द्रिय में आरोहण होने से प्रज्ञा उपस्थसे आनन्द, रति, और प्रजोत्पत्ति की शक्ति प्राप्त करती है। प्रज्ञा से दोनों पैरों में समारोहण होने से प्रज्ञा पैरों से सर्व गति को प्राप्त करती है। प्रज्ञा से मन में आरोहण होने से प्रज्ञा मन से विज्ञान और काम को प्राप्त करती है॥ ६॥

प्रज्ञासे रहित वाणी किसी नामको भी नहीं जना सकती। उस समय ऐसा कहाजाता है कि मेरा मन दूसरे ठिकानेथा मैंने उस नामको नहीं जाना। सच है कि प्रज्ञा से रहित प्राण किसी गंध को भी नहीं जना सका, ऐसा कहा जाता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं ने गंध को नहीं जाना। प्रज्ञा से रहित चक्षु किसी रूप को भी नहीं जना सका, वह कहता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं ने रूप को नहीं देखा। प्रज्ञा से रहित श्रोत्र किसी भी शब्द को सुन नहीं सक्ता, वह ऐसा कहता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं ने शब्द नहीं सुना। प्रज्ञा से रहित जीभ रस के स्वाद को नहीं जना सक्ती, वह कहता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं ने रस को नहीं जाना। प्रज्ञा से रहित हाथ किसी भी कर्म को नहीं जना सक्ता, वह कहता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं ने कर्म को नहीं जाना। प्रज्ञा से रहित शरीर किसी भी सुख दुःख को नहीं जानता, ऐसे कहता है कि मेरा मन दूसरे ठिकाने था इसलिये मैं इस सुख दुःख को जान न सका। प्रज्ञासे रहित उपस्थ रति, आनन्द और प्रजोत्पत्ति को नहीं जना सक्ता, वह कहता है कि मेरा मन अन्यत्र था जिससे मैं आनन्द, रति और प्रजोत्पत्ति को जान न सका। प्रज्ञा से रहित पाद

किसी गति को नहीं जना सके, वह कहता है कि मेरा मन अन्य ठिकाने था इसलिये मैं गतिको जान न सका। प्रज्ञा से रहित बुद्धि किसीको नहीं जना सकी और जानने योग्य जाना नहीं जा सका ॥७॥

मनुष्य वाणी को जानने की इच्छा न करे, वक्ता को जानना चाहिये। मनुष्य गंध जानने की इच्छा न करे गंध के ज्ञाता को जानना चाहिये। मनुष्य रूप देखने की इच्छा न करे, रूप के ज्ञाता को जानना चाहिये। शब्द जानने की इच्छा न करे, श्रोता को जानना चाहिये। रस जानने की इच्छा न करे, रस के ज्ञाता को जानना चाहिये मनुष्य कर्म जानने की इच्छा न करे, उसके कर्ता को जानना चाहिये। मनुष्य सुख दुःख जाननेकी इच्छा न करे सुख दुःख के ज्ञाता को जानना चाहिये। मनुष्य को आनन्द, रति और प्रजोत्पत्ति के ज्ञाता को जानना चाहिये। मनुष्य गति को जानने की इच्छा न करे, गमन करने वाले को जानना चाहिये। मनुष्य को मन को न जानना चाहिये, मनन करने वाले को जानना चाहिये। सच ही ये दश भूत मात्रायें प्रज्ञा की अधिष्ठित हैं और प्रज्ञा की दश मात्रायें भूतों के अधिष्ठित हैं। जो भूत मात्रायें न हों तो प्रज्ञा मात्रायें न होनी चाहिये और जहां प्रज्ञा तन्मात्रायें न हों वहां भूत मात्रायें भी न होनी चाहियें ॥ ८ ॥

इन दोनों में से एक करके किसी रूपकी भी सिद्धि नहीं होती। इस एकता का कभी विभाग नहीं होता। जैसे रथ के चक्र के आरे में नेमि रहती है और नेमि में आरे रहते हैं इसी प्रकार भूत मात्रायें प्रज्ञा मात्राओं में रहती हैं और प्रज्ञा मात्र प्राण में रहती है। यह प्राण ठीक प्रज्ञा रूप है, वह आनन्द रूप है, वह अजर और अमृत रूप है। वह शुभ कर्मों से महान नहीं होता और अशुभ कर्मों से छोटा नहीं होता। यह प्रज्ञा ठीक २ जिस मनुष्यको इस लोकमें से उच्च से उच्च गतिको पहुंचाने की इच्छा करती है उससे शुभ कर्म कराती है और इस लोक में से जिस मनुष्य को नीच गति में पहुँचाने की इच्छा करती है उससे अशुभ कर्म कराती है। वह लोकों का पति रूप है, वह लोकों का अधिपति रूप है। यह प्रज्ञा सर्वेश्वर रूप है। वह मेरा आत्मरूप है ऐसा जाने, मेरा आत्म रूप है ऐसा जाने ॥ ९ ॥

चौथा अध्याय।

(चौथे अध्याय में गार्ग्य और बालाकि का सम्वाद है जो बृहदारण्यक उपनिषद् के दूसरे अध्याय प्रथम ब्राह्मण में है, उसके बीस मंत्र हैं, उनकी भाषा वहां देख लेना)

ॐ

वेदान्त केसरी

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } फाल्गुण सं० १९७७। मार्च १९२१ { अंक ५

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३)　　　　एक प्रति का मूल्य ।-)

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।-) लिया जायगा । नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा ।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द … … … मूल्य रु० ३।-)
" द्वितीय " " " ३।-)
" प्रथम " बिना जिल्द " ३)
" द्वितीय " " " ३)
डाक महसूल ग्राहकों को देना पड़ेगा ।

प्रकाशक ।

पुस्तक ३ | फाल्गुण सं० १९७७ । मार्च १९२१ | अंक ५

❀ आत्म बोध की मुख्यता । ❀

* हरिगीत छन्द *

(१)

विद्या, प्रतिष्ठा प्राप्त हो, सन्मान हो जहँ जाइये ।
विद्वान, पण्डित, शूरमा, दानी, गुणी कहलाइये ॥
कीजे खुशामद राज की, तगमे कई लटकाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शान्ति अविचलपाइये

(२)

आचार में चातुर्यता, व्यवहार में कौशल्यता ।
धन पूर्ण कुल की श्रेष्ठता, पुत्रादि की बाहुल्यता ॥
आरोग्य तनु, पूरी उमर, सौ वर्ष तक जी जाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचल पाइये

(३)

धर्मादिहित धन खर्चिये, मन अर्पिये, तनु तोड़िये ।
हित चिंतवनमें जातिके, दिन रातिही शिरफोड़िये ॥
संसार उन्नति के लिये, बहु मूल्य आयु गँवाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचलपाइये

(४)

स्वर्गादि पानेके लिये, पूजा भजन सब कुछ करो ।
यश कीर्त्ति फैलाओ घनी, शतयज्ञ चाहे कर मरो ॥
तजि देह चँवरादिकसहित, चढ़ि दिव्य वाहन जाइये
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचल पाइये

(५)

कविहोय लिखियें लेख रोचक, दिव्य चित्र बनाइये
सबठौर होवे वाह ! वा ! बहु भांति मान बढ़ाइये ॥
स्वामी, महात्मा, सिद्ध, मुनि, योगी यती बनजाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचलपाइये

(६)

हो मान्य सारे लोक में, नेता बनो या चौधरी ।
दुख दर्द मेटो, दुख सहो, या धर्म की धारो धुरी ॥
मन्दिर बनाओ धर्मशाला खोल पुण्य कमाइये ।
जब तक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये

(७)

धन धान्य पुत्र सुपात्र हो, नारी सुशीला सुन्दरी ।
शारद विशारद नीतिवित् बुद्धी सकल गुण मंदिरी ॥
शुभ कर्म करिये आयु भर विद्वान साधु जिमाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचल पाइये

(८)

सुख भोग होवे स्वर्ग का, सेवा करें सुर अप्सरा ।
हो सैर नन्दन बाग की, नहिं कार्य कुछ तो भी सरा ॥
करि भोग पूरा अंत में गिर कर यहां ही आइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचल पाइये

(९)

हो दास दासी सैकड़ों, हो राज्य सारी भूमि का ।
मिल राज्य जावे स्वर्ग का फिर भी नहीं कुछ कामका
पाताल से आकाश तक, अपनाहि हुक्म चलाइये ।
जबतक न आतम बोधहो, नहिं शांति अविचल पाइये

(१०)

सब विधि प्रतिष्ठा से रहित, निर्धन दरिद्रि अपंगहो
दुर्गंधि युत हो कुष्ठ से, भोजन रहित नग्नांग हो ॥
हो बोध जिसको आत्म का, कौशल्य सोहि सराहिये
जबतक न आतम बोध हो, नहिं शांति अविचल पाइये

❀ कुटुम्बी। ❀

जिसको लोग देश कहते हैं, वह देश नहीं है! जिसको लोग प्रांत कहते हैं, वह प्रांत नहीं है! जिसको लोग ग्राम कहते हैं, वह ग्राम नहीं है! जिसको मोहल्ला कहते हैं, वह मोहल्ला नहीं है! जिसको मकान कहते हैं, वह मकान नहीं है! जिनको माता पिता कहते हैं, वे माता पिता नहीं हैं! जिसको अपन कहते हैं, वह अपन नहीं है! जिनको स्त्री, पुत्र, बाल बच्चे कहते हैं, वे स्त्री आदिक नहीं हैं! जिनको जाति, वर्ण, आश्रम कहते हैं, वे जाति आदिक नहीं हैं! जिनको आचार्य, गुरु, पूज्य, बड़े, राजा, महाराजा, देव, ऋषि, पितृ कहते हैं, वे आचार्यादिक नहीं हैं! जिनको ऊंच, नीच, रंक, श्रीमान् कहते हैं, वे ऊंच नीचादि नहीं हैं! जो शरीर दीखता है, वह नहीं है! न हाथ है, न पैर है, न शिर है, न धड़ है, न मुख है, न नाक है, न आंख हैं, न कान हैं, न मैं हूं, न तू है, न जगत् है, न ईश्वर है, जो कुछ है सो एक ही है और जो कुछ है, दीखता है, वह सभी कुछ भी नहीं है। जो कुछ है, उसमें ही सब कुछ जो नहीं है वह दीखता है। तब प्रश्न होता है कि जिन जिन को बताया कि नहीं हैं वे हैं क्या? तो उसका उत्तर सीधासट और झट पट यह है कि वे सब ही तुम्हारे मन की कल्पनायें हैं। ये सब मनो विलास मन से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है यदि यह कहो कि प्रथम तो तुमने सब का निषेध किया था तो मन कहां से आया। इसका उत्तर सुनोः—तुमने ठीक कहा मन भी कुछ नहीं है तो भी उसे तुम्हारे समझने के लिये अभी कायम रक्खा है। अब तुम पूछते हो कि वे क्या हैं, तब हम मन की कल्पनायें कहते हैं। कल्पना समुदाय रूप बना हुआ ही मन है। जब तुम कल्पनाओं का अभाव कर दोगे तब रहा हुआ मन वह ही तत्व हो जायगा जो सब वस्तुओं में एक, अनादि, अचिक्रिय तत्व सब स्थान पर भरा हुआ है जिसका अज्ञान में पड़े हुए, देह धारण किये हुये ऋषि मुनि ध्यान करते हैं। जो इस तत्व सिवाय अज्ञान से दूसरे को धारण करके, उस तत्व के बोध रहित हैं वे अज्ञानी हैं और कुछ नहीं जानते क्योंकि जानना अन्य में होता है, अन्य झूंठा है, अपने में जानना नहीं होता इसलिये 'जानना है, जानने को बाकी है' यह सब भाव मन का है और जब तक मायिक मन की स्थिति है तब तक अज्ञान है, दुःख की निवृत्ति नहीं है। दुखों की निवृत्ति एक स्वस्वरूप सिवाय अन्य में नहीं है।

जब कुछ नहीं है तो अपना खाने, पीने, सोने और सैर करने वाला शरीर भी नहीं है। न होते हुये भी शरीर को 'मैं' और 'मेरा' इस भाव से अज्ञानी मानते हैं। अज्ञान की नींव को अज्ञानी ऐसे दृढ़ भाव से पुष्ट करते हैं कि कमरे, दालान, कोठरियां, किवाड़, झरोखे, जाली आदिक के समान कुटुम्बियों को मानते हैं। उनके लिये दुखी होते हैं, आप कष्ट सहते हैं। कुटुम्ब के भाव से राग द्वेषादिक विस्तार से फैलते हैं। अज्ञान के भाव से यह माना हुआ कुटुम्ब ही मानने वाले को दृढ़ बन्धन करता है। जिस प्रकार एक ही अन्तःकरण स्वप्नावस्था में एक से अनेक भाव को प्राप्त हो कर जीव को भय, द्वेष और दुःख का कारण होता है इसी प्रकार जाग्रत् कुटुम्ब भी दुःख देने वाला है। जो कोई मोक्ष मार्ग में रोक करने वाला है तो एक कुटुम्ब ही है। कुटुम्बियों का प्रेम, ईश्वर-आत्मबोध से हटाता है। अनात्म प्रेम-अनात्मभाव वाला होने से आत्मा को भी अनात्म भाव में युक्त करता है और बारम्बार जन्म स्थिति और मरण का, अनेक प्रकार के कष्टों का अनुभव कराता है। वस्तुतः देखा जाय तो जिसको कुटुम्ब समझते हैं वह कुटुम्ब नहीं है।

मुमुक्षु भाव से देखा जाय तो जिनको कुटुम्बी-हितकर-प्रेमी मानते हैं वे सब ही अकुटुम्बी हैं और प्रेम पात्र नहीं हैं किन्तु अहितकर हैं। जो कुटुम्बियों के भाव को अपना शत्रु समझता है, और उसे अपने में स्थान नहीं देता वह मोक्ष के मार्ग में आगे बढ़ सकता है। जिसको कुटुम्ब का भाव है, वह मानों शत्रुओं के समुदाय से घिरा हुआ है और सिंहों की टोली में एक भेड़ के समान है। उसको क्षण २ में भय है। जैसे सिंहों की टोली में से भेड़ भाग नहीं सकती, सिंहों का स्वार्थ होने से वे उसे भागने नहीं देते इसी प्रकार कुटुम्बी स्वार्थी होने से मनुष्य को अपने से भिन्न नहीं होने देते। व्यवहार में देखा जाय तो भी विशेष दुःख कुटुम्बियों से ही होता है। जो कुटुम्बी बन बैठे हैं, वे अपने स्वार्थ को लेकर ही बने हैं। यदि उनका स्वार्थ न हो तो कुटुम्बियों के साथ अकुटुम्बी के समान वर्तते हैं। अदालत में मामले मुकदमों की जांच की जाय तो विशेष प्रमाण में कुटुम्बियों की ही संख्या दिखाई देगी। पिता, पुत्र में शत्रुता, चाचा ताऊ के लड़कों में द्वेष, भाई, बहिन में विरुद्धता, मामा भानजे में विमुखता, दामाद से अन बनाव, संबंधियों में परस्पर ईर्षा ये तो आज कल सामान्य है और कहावत भी है:—"शत्रु कहां रहता है? मा के पेट में।" जब व्यवहार में ही ये सब कुटुम्बी दुःख-भय के हेतु हैं. तब परमार्थ में दृढ़ बाधक हों तो आश्चर्य ही क्या है! ऊपर दिखलाये हुये स्थूल शरीर के कुटुम्बिओं का जैसा हाल है वैसा ही सूक्ष्म शरीर के कुटुम्बियों का हाल है जो अंतःकरण में टिके रहते हैं वे भी ऊपर के समान राग द्वेष वाले, दुःखकर और ब्रह्मपथ के विरोधी हैं।

पुराणों में विष्णु, महादेवादिक मुख्य देवताओं का साकार रूप से वर्णन है और घर, बाहर स्थान ऐश्वर्य और कुटुम्ब, वाहन आदिक का भी वर्णन है। ऐसा वर्णन साकार में ही दृढ़ भाव है। ऐसा वर्णन अभ्यास वाले मन्द बुद्धियों के उपकार निमित्त है क्योंकि वे अपने समान ही अपने देव को समझ सकते हैं; केवल ऐश्वर्य की विशेषता रखते हैं। उनको किसी प्रकार ईश्वर के भाव वाला बनाया जाय यह ही इतिहासकारों का सिद्धान्त मालूम होता है एक पंडित ने महादेव और विष्णु की कुटुम्ब संबंधी बातचीत का कथन इस प्रकार किया है:—एक बार बहुत दिनों तक विष्णु के पास बैकुंठ में महादेव का जाना न हुआ, ऐसा देख विष्णु विचारने लगे "मेरा बंधु बहुत दिनों से मिला नहीं है, न उसका कोई समाचार कैलाश स्थान से आया है, उसकी खबर लेना चाहिये। कैलाश का हाल जाने बिना मुझे चैन नहीं पड़ेगा!" ऐसा सोच, गरुड़ पर सवार हो कर मंजिल दर मंजिल मार्ग चल कर विष्णु कैलाश में पहुंचे। महादेव ने उनका बहुत सन्मान किया। दोनों मिले और बैठ कर कुशल वर्त्तमान पूछने के अनंतर विष्णु बोले—"बंधु! बहुत समय हो जाने पर भी आप बैकुंठ में मुझ से मिलने क्यों नहीं आये? मुझे चिंता हुई इस कारण मैं तुम्हारे पास आया हूं, यहां देखता हूं तो सब बात की कुशल है, आप ऐसे कौन से कार्य में रुक गये जिससे मुलाकात न हुई, क्या मुझ पर आप का प्रेम नहीं रहा? क्या मेरा प्रेम अब आप से कम हो गया है? ऐसा आपको मालूम हुआ! आप मुझ से मिलने क्यों नहीं आये?" महादेव बोले "भाई! मैं क्या कहूं! गृह-कुटुम्ब के जंजाल के कारण मैं अपने स्थान से खिसक नहीं सका! (विष्णु से बातचीत करते हुये भी महादेव का चित्त गरुड़ पर ही था कि हमारी दृष्टि चूक जाय तो गरुड़ मेरे आभूषण रूप सर्पों को भक्षण न कर जाय) मैं कुटुम्ब में इस प्रकार इतना फँस रहा हूं कि यदि मेरी दृष्टि थोड़ी सी भी चूक जाय तो सारे कुटुम्ब का नाश हो जाय!" विष्णु बोले "कुटुम्बी तो हितकर कहे जाते हैं, जब वे आपत्तिकर हों तो कुटुम्बी किस प्रकार कहे जांय

थोड़े समय के लिये कुटुम्बियों को छोड़ कर आने में किस प्रकार आपत्ति है? इसका पूर्ण विवेचन कीजिये।" महादेव बोले "भाई! आप जानते हैं कि मेरी दो स्त्रियां हैं, जिसकी दो स्त्रियां होती हैं, उनकी कलहरूप आपत्ति वह ही पुरुष जानता है। एक स्त्री पार्वती और दूसरी गंगा है, वे आपस में द्वेष रखती हैं। दोनों को हमेशा अलग २ रखना पड़ता है। यदि दोनों एक स्थान पर हो जांय तो मार पीट करनी हैं। पार्वती को जांघ पर बैठा रखता हूं और गंगा को शिर पर रखता हूं, इस प्रकार दोनों स्त्रियां मुझे दबाये बैठी हैं! यदि गंगा पार्वती के पास आ जाय तो आपत्ति और यदि पार्वती खड़ी हो कर गंगा के पास पहुंच जाय तो आपत्ति इस कारण पार्वती को भुज दंड से दबाये रहता हूं और गंगा को जटाओं की दीवारसे लपेटे रहता हूं। मेरे मस्तक में चन्द्र रहता है यदि गंगा का प्रवाह चन्द्र की तरफ हो जाय तो उसे बहा ले जाय! मेरे आभूषण सर्प हैं, मेरे अंग में रहते हैं, दूसरी तरफ मेरा पुत्र कार्तिक्य स्वामी है, उस का वाहन मोर है, जो मेरी दृष्टि चूक जाय तो मोर सर्पों को भक्षण कर जाय! मेरा दूसरा पुत्र गणपति है, उसका वाहन मूसा है, जो अवसर मिल जाय तो सर्प मूसे को भक्षण कर जाय! दोनों भाई कार्तिक्य स्वामी और गणपति भी आपस में लड़ पड़ते हैं। हर एक चाहता है कि मेरा ही विवाह हो! एक दूसरे को शत्रुता की दृष्टि से देखता है! दोनों लड़ न पड़ें, इस की सँभाल रखनी पड़ती है! मेरा वाहन नन्दीश्वर है, पार्वती का वाहन सिंह है; मेरी दृष्टि चूक जाय तो सिंह नंदीश्वर को खा जाय! इस प्रकार की देखा भाली में मुझे आप से मिलने का अवकाश कहां! कुटुम्ब की आपत्ति के कारण मुझ से रात्रि को सोया भी नहीं जाता! सोना क्या, निश्चिन्तता से भोजन भी नहीं कर सकता! हे बंधु! यदि आप कुटुम्ब के जाल से मुक्त होने का कोई उपाय जानते हो तो बताइये, कुटुम्ब के कारण मैं बहुत दुखी हो रहा हूं!" विष्णु बोले "हे त्रिपुरासुर! हे महादेव! आप सर्वज्ञ हैं। आप सब देवताओं के देव महान् देव हैं! आपको कुटुम्ब दुःख नहीं दे सक्ता! विनोदार्थ आप ऐसा कथन करते हैं!"

मंद बुद्धि वालों को समझने के लिये इस में एक रहस्य और भी है, वह यह है:—देवों में महान् देव सृष्टि का अधिष्ठान स्वरूप भी कुटुम्बियों के भाव से, कुटुम्बियों का विचित्र स्वभाव होने से जब दुखी होता है तब सामान्य मनुष्य की क्या सामर्थ्य है कि अपने कुटुम्बियों के भाव से देखते हुये उन के झगड़ों से पृथक् रहे। कुटुम्ब भाव के त्याग और रागद्वेष रहित कर्तव्य कर्म की निष्ठा से ही ज्ञान संस्कार वाले पुरुष कई अंश में अलिप्त रह सक्ते हैं। 'मेरा कुटुम्ब' यह भाव ही कुटुम्ब वाले के भिन्न भिन्न आचार विचार आदिक की आपत्तियों को पकड़ लाता है इसलिये मुमुक्षुओं को पंचभौतिक शरीर के सम्बन्ध वाले कुटुम्बियों की तरफ की आसक्ति को हटाना चाहिये-कुटुम्ब का यथाशक्ति त्याग करना चाहिये। देहाध्यास देह की शाखा उपशाखा ही कुटुम्ब हैं। देहाध्यास के त्याग से ही कुटुम्ब का त्याग हो जाता है।

कुटुम्ब भाव से बंधी हुई जाल महा भयंकर है। जिस प्रकार कोई मनुष्य एक भारी पिंजरे में कबूतर, सर्प, मूसा, नौला, बिल्ली, बैल, बकरी सिंहादिक को रख कर सब का हित चाहे तो असंभवित है उस मनुष्य की सब वस्तुयें होने से उसकी ममता सब पर होती है. वह किसी का अहित नहीं चाहता इस लिये ऐसी हालत में पिंजरा रख कर शांति से बैठ नहीं सक्ता, सब को अपनी इच्छानुसार, संभाल नहीं सक्ता इसी कारण वे ही वस्तुयें उसकी अशांति-दुःख का कारण होती हैं। ऐसी ही कुटुम्ब की जाल है।

एक कुत्ता कुत्ते की योनि में पैदा हो कर भी कुछ विलक्षण था। उसके पूर्व संस्कार कुछ तीर्थ यात्रा करने के पड़े थे। इसी कारण कुत्ता हो कर भी तीर्थ जाने की इच्छा उसे बनी थी। जहां वह रहता था वहां से काशी जी समीप थी, कोई पांच दिन का ही मार्ग था। बहुत दिनों से इच्छा करते २ एक समय उसने काशी जी जाने का निश्चय किया। परदेश जाने में सामान की गठरी बांध कर साथ ले जाने की उसे कोई आवश्यकता न थी क्योंकि कोई २ कहते भी हैं कि बिना लंगोटी झोली का साधु कुत्ता है। दृढ़ निश्चय कर के, माने हुये मित्रों का संग छोड़, वह कुत्ता अपना मोहल्ला छोड़ कर दूसरे मोहल्ले में आया। दूसरे कुत्ते को अपने मोहल्ले में आया देख कर दूसरे कुत्ते उससे लड़ने आये। कुत्तों का शब्द रूप बिगुल सुनकर उस मोहल्ले में जितने कुत्ते थे सब दौड़ आये। यात्री कुत्ता एक था, मार्ग रोकने वाले उसके साथ लड़ने वाले कुत्ते बहुत थे इसलिये यात्री कुत्ते के शरीर में बहुत चोट आई। बिचारा लोहू लुहान होकर एक गढ्ढे में जा गिरा तब मोहल्ले वाले कुत्ते शांत हुये। दो दिन तक यात्री कुत्ता वहीं पड़ा रहा, थोड़ी शक्ति और चेत होने पर जाने लगा तो फिर मोहल्ले के कुत्ते रोकने को दौड़ आये। तब अपनी दुम दबाता हुआ, दीन होता हुआ मानों ऐसा कहता हो कि भाइयो, जाति बिरादरो, मुझे, जाने दो, मैं तुम्हारे मोहल्ले में रहना नहीं चाहता, मैं तुम्हारी मिलती हुई रोटियों के टुकड़ों में हिस्सा नहीं बटाऊंगा, इस प्रकार जाने लगा। तो भी दो चार छोटे कुत्तों ने निर्बल समझ कर चोट की। जब एक बड़े कुत्ते ने देखा कि वह हमारे स्वार्थ में हानि करने वाला नहीं है अपने मोहल्ले में से जाने दिया और सब कुत्ते इस प्रकार पीछे लगे कि वह उस मोहल्ले में ठहरने न पावे अंत में उसे अपने मोहल्ले से बाहर निकाल दिया। अब यात्री कुत्ता जिस मोहल्ले में जाय वहां यह ही हाल हो। खाने को रोटी न मिले, कोई खाने को न दे, कोई परोपकारी दुर्बल जान कर दे दे तो कुत्ते छीन लें इस प्रकार मोहल्ले २ ग्राम २ में उसकी दुर्दशा होती गई यहां तक कि वह बहुत ही दुर्बल और घायल हो गया। पांच दिन के रस्ते में पचास दिन हो गये परन्तु काशी धाम नहीं आया अंत में घाव पक जाने और भोजन न मिलने से वह मार्ग में ही मर गया।

कुत्ते को काशी की यात्रा करने का भाव ही होना कठिन है, भाव हो तो अपना मोहल्ला और मित्र छोड़ना कठिन है, उन्हें भी छोड़ दे तो जाति बिरादरी, मोहल्ले २ और ग्राम २ के रोकने को तैयार हैं, गरीब बिचारा कुत्ता सब संबन्धियों और बिरादरी से मुक्त हो कर किस प्रकार अपनी मुक्ति प्राप्त करे!

व्यवहार में अति आसक्ति करके फँसे हुये मनुष्यों का भी ठीक २ यही हाल है। कुलका कुल-कुटुम्ब स्वर्ग जाने में रोक करने वाला है, बांधी हुई बिरादरी आत्म प्राप्ति में आड़ है। सब अपना २ स्वार्थ चाहते हैं। मूर्ख वे ही हैं जो अपने आत्म प्राप्ति के सुख को छोड़ कर दूसरों के स्वार्थ में अपने को होम देते हैं।

शंका:—वाह! कुटुम्बियोंकी इतनी निन्दा क्यों? कुटुम्बियों से तो सब जगत् का काम चलता है। माता, पिता, भाई बहिन आदिक को शास्त्रों में पूज्य बताया है, यदि वे निन्दा के पात्र होते तो पूजने योग्य क्यों बताये जाते। माता, पिता, बहिन आदिक के सत्कार, पूजन, पोषण का महा फल बताया है। मरने के बाद भी उनके निमित्त श्राद्धादिक क्रिया फल देती है, क्या यह व्यर्थ है? दुख बीमारी आदिक में कुटुम्बी सहायता करते हैं। पिता बीज दाता और माता पोषण करने वाली है। उनके इन महान् उपकारों के बदले क्या कृतघ्न होना चाहिये? शास्त्र में पितृ आदिका ऋण दिखलाया है, क्या यह झूठ है? क्या ऋण न चुका कर ऋणी बने रहना चाहिये?

समाधानः—मेरे कथन का पूर्ण रहस्य न समझने से तेरी ये सब शंकायें हैं। मैंने तेरे कुटुम्बियों की निन्दा नहीं की है किन्तु स्वयम् तेरी ही निन्दा की है। जो वे तेरे वास्तविक कुटुम्बी सम्बन्धी होते तो यह सम्बन्ध बिना बताये हुये ही प्रत्येक को मालूम हो जाना चाहिये था किन्तु बिना बताये सम्बन्ध मालूम नहीं होता इसलिये मान कर ही दृढ़ किया हुआ है। तेरा कुटुम्ब का भाव ही तुझे दुःख देने वाला है। ऐसा मेरा कथन है। तू जगत् में कुटुम्बियों को क्षुद्र भाव से मानता है इसलिये तेरा क्षुद्रभाव ही कुटुम्ब के अवलम्बन से तुझे दुखी करता है, यदि तू इस प्रकार माने कि सब का जन्म एक तत्व ईश्वर से हुआ है, ईश्वर ही सबका माता पिता है, इस भाव से व्यवहार करे तो ब्रह्मांड भर ही तेरा कुटुम्ब है। ऐसा करने से तू सम भाव में आजायगा और दुःख न होगा। माता, पिता, भाई, बहिन आदिक को जो पूज्य बताया है, सो औरों को अपूज्य बताने के लिये नहीं है। तू जगत् भाव वाला है, वे जगत् के हैं जगत् में तेरा समझा हुआ हित उनसे होता है इसलिये वे पूज्य हैं। तू उन्हें पूजेगा तो वे तुझे पूजेंगे-लाभ देंगे इस कारण उनको पूज्य बताया है। शास्त्र का उन लोगों को पूज्य बताना तेरे बन्धन के निमित्त नहीं है तू उन्हें बन्धन कारक पूज्य भाव से समझता है—कुटुम्ब भाव समझता है, यह शास्त्रकारों का सम्मत नहीं है। जीते हुये या मरने के बाद जो कुछ उनके निमित्त करना है वह बदले रूप है और बदले में तुझे बदले की ही प्राप्ति है। शास्त्रानुकूल व्यवहार न करना यह हमारा मंतव्य नहीं है न तुझे कृतघ्न होने की शिक्षा देते हैं किन्तु तेरी कृतघ्नता निवारण का उपदेश देते हैं वह इस प्रकार हैः—तेरे शुभ कर्मों से तुझे मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, शुभ कर्मों ने तुझ पर उपकार किया है, उनका बदला तब ही हो सका है कि तू मोक्ष प्राप्त करले नहीं तो तू मनुष्य जन्म देने वाले अपने शुभ कर्मों का कृतघ्नी है। पूजन करना आदिक शास्त्रों की युक्ति व्यवहार निमित्त है। यथा शक्ति व्यवहार करते हुये कुटुम्ब के भाव त्यागने का उपदेश है क्योंकि स्थूल शरीर के संबन्धी-स्थूल कुटुम्बी इतने दुःखदायक नहीं हैं जितना तुम्हारे भीतर भरा हुआ कुटुम्ब भाव दुःख देने वाला है इसलिये स्थूल कुटुम्ब के त्याग की अपेक्षा कुटुम्ब भाव ही त्यागना आवश्यक है। यदि भाव त्यागना कठिन मालूम हो और मुमुक्षुता की तीव्रता हो तो स्थूल कुटुम्ब का त्याग स्थूल और भाव दोनों से हो सकता है। भाव रहते हुये स्थूल कुटुम्ब का त्याग फल दायक नहीं होता, हां! केवल भाव का त्याग फल दायक हो सका है। शास्त्र मर्यादानुसार पितृ ऋण, देव ऋण और ऋषि ऋण अवश्य चुकाना चाहिये। ये ऋण और उनका चुकाना कर्म फल मर्यादा रूप है। ज्ञान स्थिति में तो सब प्रकार का ऋण एक क्षण भर में चुक जाता है परन्तु पूर्ण स्थिति न हो तब तक ऋण समझकर वर्तना चाहिये। तू कर्म मर्यादा की चिंता में पड़ा है परंतु सब से विशेष जो आत्म ऋण है वह चक्र वृद्धि सूत्र के समान तुझ पर बढ़ता जाता है इसे चुकाने की तुझे चिंता नहीं है! मनुष्य जन्म आत्म प्राप्ति रूप ऋण चुकाने के निमित्त है, उसको जो नहीं चुकाता और पंच भौतिक भाव को पंच भूतों को नहीं सोंपता वह अनेक जन्मों तक महान् ऋणी बना रहता है और ऋणी कहलाने के सिवाय बद-नीयत, अधर्मी, कृतघ्न भी कहलाता है।

जिस प्रकार स्थूल सम्बन्ध वाले कुटुम्बी भाव सहित दुःखदायक हैं इसी प्रकार सूक्ष्म सम्बन्धी और हैं जो अपने माने हुये शरीर में ही बसते हैं। जो सच्चे हितकर हैं वे तो अप्रिय हो रहे हैं और जो अप्रिय करने वाले हैं, वे हितकर समझे जाते हैं। जो हितकर मालूम होते हुये भी अनेक प्रकार से दुःख देने वाले हैं, वे इस प्रकार हैंः—माता वासना, पिता काम, बन्धु लोभ,

भार्या अशांति, पुत्र क्रोध, और मोह, सखा मद, पुत्री ईर्षा, इत्यादिक इन की शाखा उपशाखा अनेक हैं इन कुटुम्बियों का प्रयत्न जीव को हमेशा प्रपंच में फंसाये रखने का रहता है। जब जीव प्रपंच में फंसा रहता है तब ही वे पुष्ट होते हैं। इन कुटुम्बियों को शत्रु समझ कर त्यागने वाला सुखी होता है। मुमुक्षुओं को उनके बदले सच्चे और हित करने वाले सूक्ष्म कुटुम्बी इस प्रकार समझने चाहियेः—माता शुभेच्छा, पिता ज्ञान, बन्धु वैराग्य, भार्या श्रद्धा, पुत्र विवेक और विचार, सखा शिष्य भाव, पुत्री उपरति इत्यादि। सच्चे और हितकर सूक्ष्म कुटुम्बियों से सम्बन्ध रखने वाला परिणाम में सुख प्राप्त करता है। जितने भक्त, ज्ञानी और आत्मयोगी हुये हैं वे सब इन सम्बन्धियों से सम्बन्ध रख कर ही कल्याण को प्राप्त हुये हैं। जिसको अपने पूर्ण कल्याण की इच्छा हो उसे इनको कुटुम्बी, मित्र, हितकर समझ कर ग्रहण करना चाहिये इसके सिवाय कल्याण का दूसरा मार्ग नहीं है। जो नीच गति को प्राप्त होने वाले होते हैं वे अहितकर, चोर स्वार्थी और डाकू कुटुम्बियों को अपना हितकर समझते हैं। जब तक उनकी संगति रहेगी तब तक कोई भी अपना कल्याण नहीं कर सक्ता किंतु नीचे ही गिरता जायगा। पुराणादिक इतिहासों में ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। काम ही जीव का पिता है, काम से ही जीव का जन्म होता है। वासना जन्म देने वाली होने से माता है। जब कोई प्रपंच के पदार्थों-ऐश्वर्य के लोभ को ही अपना बन्धु समझता है तब ऐसी अवस्था में अशांति ही उसकी स्त्री है क्योंकि वह उसके साथ ही रहती है। उससे जिन पुत्रों की उत्पत्ति होती है वे क्रोध और मोह हैं, और पुत्री ईर्षा है। जैसे का साथ होगा उससे वैसे ही का मिलाप संभव है इसलिये उसका सखा मद है। जो मद से मित्रता रखता हो भला ऐसे जीव-कुटुम्ब वाले की आपत्ति का क्या वर्णन किया जाय! दैत्य, राक्षस, असुर आदिक की उत्पत्ति का यह ही कुटुम्ब है अथवा दैत्य, राक्षस, असुर स्वभाव वाले का यह ही कुटुम्ब होता है। इन कुटुम्बियों में जिसके जितने कुटुम्बी कम होंगे अथवा जो इनसे कम सम्बन्ध रखता होगा वह क्रम से कम आपत्ति वाला होगा परन्तु जब उनमें से कोई भी अपने प्रभाव संयुक्त रहता है तब तक वह कल्याण के मार्ग में जाने नहीं देता इसलिये भूल चूक से भी उनसे सम्बन्ध न होने पावे इस कारण मुमुक्षुओं को सचेत रहना चाहिये अथवा शांति को माता, ज्ञान को पिता, धर्म को बन्धु, क्षमा को भार्या, विवेक और वैराग्य को पुत्र, धैर्य को सखा आदि समझने वाला शीघ्र हित को प्राप्त कर लेता है।

जो व्यवहारिक सम्बन्धी हैं वे व्यावहार के निमित्त हैं सब व्यवहार भौतिक स्वार्थ मूलक हैं। उस व्यवहार और उन सम्बन्धियों को जो व्यवहार में रखता है और आंतरिक भाव में उन व्यवहारिक सम्बन्धियों और कुटुम्बियों को दाखिल नहीं करता है वह सुखी होता है। आंतरिक और बाहर के भाव को सब मनुष्य जल्दी नहीं समझ सक्ते, उनके समझने के लिये शुभ कर्मादिक से अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिये।

प्रपंच के कार्य के स्वार्थ में भी जो कुटुम्बी आड़ रूप हानिकर्ता मालूम होते हैं मनुष्य उनका त्याग कर देते हैं-कुटुम्बियों के समान उनसे व्यवहार नहीं करते इतना ही नहीं किंतु उनको अपना शत्रु समझते हैं। जब व्यवहार में बाधा पहुँचाने वाला भी त्याग दिया जाता है तब परमार्थ-आत्मिक भाव में विघ्न रूप कुटुम्बी और उनका भाव अवश्य छोड़ना चाहिये। जिनका दृढ़ भाव ईश्वर प्राप्ति निमित्त था ऐसे बहुत से ध्रुव, प्रहलाद, आदिक ने माता पिता आदिक का त्याग किया था। उनकी आज्ञा का उल्लंघन किया था। उनके उस कार्य निमित्त व्यवहार में

भी कोई उनकी निन्दा नहीं करता किंतु प्रशंसा ही करता हैं।

कुटुम्बी वे ही हैं जिनसे अन्तिम कल्याण हो। अधिकार के अनुसार कुटुम्बियों को समझने में अवश्य अन्तर पड़ेगा परन्तु जिस अवस्था में बुद्धि के संयोग में जिससे हित हो उसे कुटुम्बी समझ क्रम २ से उसमें उन्नति करते हुए ज्ञानमार्ग में जो सहायक हैं वे ही कुटुम्बी हैं। जिस स्थानमें वास करते हैं उसे देश कहते हैं। एक ही पुरुष के ऐसे देश अनेक हैं। जिस खाट पर सोते हैं, उस खाट को, जिस कमरे में सोते हैं उस कमरे को, जिस मकान में रहते हैं उस मकान को, जिस मोहल्लेमें रहते हैं उस मोहल्ले को, जिस प्रांत में रहते हैं, उस प्रांत को, जिस मुल्क में रहते हैं उस मुल्क को, और जिस खंड में रहते हैं उस खंड को देश कहते हैं। जिस गोलार्ध में रहते हैं वह गोलार्ध, जिस ग्रह नक्षत्र में रहते हैं वह ग्रह, जिस मायामें रहते हैं वह माया, और माया और उसके विकार जिस अधिष्ठान रूप ब्रह्म में हैं वह भी देश है। अब इन सब देशों में कौन से देश को अपना देश समझना चाहिये। व्यक्तिभाव का विकाश अनेक अवस्थाओं में होता हुआ समष्टि-ब्रह्म तक पहुंचता है। वास्तविक ये सब किसी एक के ही देश हैं। जिसके सब देश हैं वह ही स्वदेश है। उस स्वदेश को छोड़कर किंचित् भाव के देश को स्वदेश समझना जन्म मरण का हेतु है। व्यक्ति-किंचित् में अहं-अपने को देश-शरीर समझने से मनुष्य मायिक चक्र में पड़ता है और इस चक्र में अपने मन माने संकल्प के दृढ़िभूत भाव से अपने कुटुम्बी बना डालता है। इन सब भाव-भावनाओं को तोड़े बिना, आत्म प्रदेशका निवासी हूं, ऐसा महान् भाव किये बिना अखंडित कल्याण नहीं होता। किंचित् को अपना देश मानने वाला अन्य दूसरा समझेगा, अन्य से द्वेष करेगा, द्वेष से दृढ़ किया हुआ द्वैत कभी भी निवृत्त न होगा। व्यवहार ही जिसका लक्ष्य है वह चाहे न समझे, उसका समझना, न समझना शास्त्रोक्त अन्तिम हिसाब से सब भूल ही है। स्त्री पुत्र बाल बच्चे ऋषि, मुनि आदिक का ब्रह्म देश में अभाव है वे सब मायिक प्रदेश में हैं। जिनका भाव मायिक प्रदेश से हटगया है उनकी दृष्टि में वे सब खिलौने हैं और तुम्हारी कल्पना का ही विस्तार रूप हैं। कुटुम्बी भी स्वार्थवश शत्रु का काम किस प्रकार करते हैं उसका एक दृष्टांत इस प्रकारहै:-

भोंदूलाल नाम का एक ब्राह्मण था। उसके कुल में व्यापार का काम होता आया था जिस समय उसका जन्म हुआ था तब उसका पिता श्रीमान् था। श्रीमान् के घर जन्म होने से बचपन से ही वह श्रीमानता के गर्व में भरगया था। वह क्रमसे बड़ा होता गया और धन भी बढ़ता गया। जो कोई उसकी प्रशंसा करता, उससे वह प्रसन्न होता था और ऐसे खुशामदियों का काम उससे निकला करता था। भोंदूलाल कुटुम्बियों पर बहुत प्रेम रखता था। वह प्रेम इतना था कि वह जानता हो या न जानता हो, जिस किसी ने अपना सच्चा या झूंठा कुछ संबंध बता दिया, उस पर वह मुग्ध होजाता था और उसे अपना समझने लगता था, कुटुम्बी समझकर विश्वास कर लेता था, और बने हुए कुटुम्बी के हानिकारक कार्य को भी नहीं समझता था। लोग जान गये थे इसलिये कई मनुष्य उससे मिलने को आते और उसे अपना संबंधी बताते, कोई कहता 'मैं तुम्हारे फूफा के भाई का लड़का हूं, कोई कहता 'मैं तुम्हारे साले के ताऊ का बेटा हूं' कोई कहता 'मैं तुम्हारी मौसी के भतीजे का बेटा हूं' कोई कहता 'मेरी मां और तुम्हारी मां साथ की खेली हुई हैं इसलिये मैं तुम्हारी मौसीका बेटा हूं' कोई कहता 'मैं आपके चाचा के साले की लड़की का लड़का हूं' इस प्रकार बहुत से रिश्तेदार बनते। ऐसे रिश्तेदारों में भी कई झूंठे होते थे। भोंदूलाल सच्चे झूंठे नाते का विचार न करता, कहने से ही नाता मान लेता था और इन्हें संबन्धी समझ

कर उनपर विश्वास कर लेता था। उसका धंधा बहुत ही बढ़ा, अनेक स्थानों में, दुकानें, गोदाम, कार्यालय चालू हुये। समझे हुए नातेदार बहुत से भरलिये। वे लोग उसके धन का दुरुपयोग करने लगे। कोई भोंदूलाल से कहता कि अमुक गुमाश्ता, अमुक मैनेजर रुपया खाजाता है तो वह नहीं मानता। यदि कोई बहुत समझाता और दिखला भी देता तो भोंदूलाल कहता "क्या हरजा है ? मेरा कुटुम्बी है, मेरा ही है, मेरा धन लेता है तो क्या हुआ !" इस प्रकार अन्धाधुन्धी में आठ वर्ष में सब धन का नाश होगया। बने हुए कुटुम्बी अपना २ घर भरके अलग होगये। भोंदूलाल की हालत कंगाल होगई, खाने पीने तक की चिंता होने लगी।

विचारा लाचार होकर एक नातेदारके पास गया और कहने लगा "मेरी सहायता करो, आप मेरे कुटुम्बी हैं।" तब कुटुम्बी ने मुख मोड़ लिया। भोंदूलाल ने कहा "तुम कहते थे कि तुम मेरे फूफा के लड़के हो !" वह बोला "वाह ! भोंदूलाल ! यह कोई नातेदारी नहीं है, ऐसे के मरने से स्नान, सूतक भी नहीं लगता। क्षमा करो, मैं तुम्हारी सहायता नहीं कर सक्ता"। भोंदूलाल दूसरे नातेदार के पास गया और बहुत प्रार्थना करके कहने लगा "आप मेरे नातेदार हैं, मेरी दशा बिगड़ गई है, आप कुछ सहायता दीजिये, आप तो कहते थे कि मैं तुम्हारे साले के ताऊका बेटा हूं !" तब वह बोला "भोंदूलाल ! आप अभी तक भोंदूलाल ही रहे, यह कोई नातेदारी नहीं है, आप श्रीमान् थे, जो आप के पास नातेदार बनकर आता था, उसका स्वार्थ सिद्ध होता था इसलिये स्वार्थ सिद्ध करनेकी वह नातेदारी थी, समझे, आप किसी और नातेदार की खोज कीजिये।" वहां से निराश होकर भोंदूलाल तीसरे नातेदार के पास गया जो मौसी के भतीजे का बेटा बना था। उसने कहा "मैं तो जाति का खत्री हूं, तुम्हारे नाना के पड़ोस में रहता था इस लिये तुम्हारी मा को मैं मौसी कहता था, मैं तुम्हारी बिरादरी का नहीं हूं, आप किसी और कुटुम्बी के पास जाइये !" विचारा भोंदूलाल इस प्रकार सब कुटुम्बियों के पास पहुंचा, किसी ने कुछ मदद न दी और एक ने तो साफ कह दिया "भोंदूलाल ! तुम से रुपया लेने को ये सब नातेदारी थी !" भोंदूलाल की स्त्री के पास धन था परन्तु उसने भी उसे न दिया। चाचा ताऊ के बेटों ने भी दगा दी, कुछ न दिया। हरएक ने यही कहा "मैं तेरा कुटुम्बी-साथी नहीं हूं, जगत् में कौन किसका कुटुम्बी है, सब अकेले आते हैं, अकेले ही चले जाते हैं"। भोंदूलाल निराश हुआ, स्त्री और भाई आदिक ने उसे घर से निकाल दिया, अन्त में भटकता हुआ, दुःख पाता हुआ, मर गया !

जगत् में सब कुटुम्बी स्वार्थ के हैं। भोंदूलाल रूप अज्ञानी जीव की यही दशा होती है।

———:*०*:——

सच्चिदानन्द ।

ब्रह्म का कोई नाम नहीं है, कोई रूप नहीं है, कोई गुण नहीं है क्योंकि ब्रह्म अनामी, अरूप और निर्गुण कहा जाता है तो भी उपदेश के निमित्त, लक्ष पहुंचाने के लिये कुछ न कुछ कहना ही पड़ता है। इसी कारण ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं। जैसे शास्त्रों में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा है ऐसे ही सच्चिदानन्द रूप से आत्मा का वर्णन है। गुण में और स्वरूप में कुछ अंतर है। गुण गुणी में होता हुआ भी गुणी से कुछ पृथक् होता है और स्वरूप वस्तु ही होती है। जैसे तेज घोड़े में तेजी का गुण उससे कुछ पृथक् है क्योंकि तेजी घट और बढ़ भी सक्ती है इसलिये वह गुण है और घोड़ा रूप वस्तु घोड़े का स्वरूप है जो उससे पृथक् नहीं हो सक्ता। ऐसे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं परन्तु वे ब्रह्म स्वरूप ही हैं।

यदि घोड़ा प्रत्यक्ष में न हो-न दीखता हो और उसका बोध कराना हो तो जिन शब्दों से

बोध कराया जाता है वे शब्द दो प्रकार के होते हैं एक विधि वाक्य और दूसरे निषेध वाक्य। जैसे और प्राणियों से गधेकी आकृति घोड़ेकी आकृति से विशेष मिलती है इसलिये कहा जाता है कि गधे की आकृति से मिलता जुलता घोड़ा होता है, गधे से कुछ लम्बा होता है, गधे के जैसे लम्बे कान होते हैं, घोड़े के इतने लम्बे कान नहीं होते। गधे के समान चार पैर, मुख, पूंछ होते हुये भी घोड़ा गधा नहीं है किन्तु घोड़ा है। जैसे भैंसा, बैल आदिक के सींग होते हैं ऐसे अथवा और किसी प्रकार के सींग घोड़े के नहीं होते। इन दो प्रकार के वाक्यों में से जिन में घोड़ा ऐसा है यह कहा है वे विधि वाक्य हैं और जिन में घोड़ा ऐसा नहीं है ऐसा कहा है वे निषेध वाक्य हैं। आत्मा का बोध कराने के लिये ऐसे दोनों प्रकार के वाक्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार की युक्ति से उसका बोध होना संभव है। आत्मा किसी गुण का गुणी नहीं है, आत्मा का कोई गुण नहीं है, आत्मा अवाच्य है इसलिये उसके समझने के लिये सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिये। जैसे जब कोई अंधा किसी मनुष्य से मार्ग पूछता है तो मार्ग दिखलाने वाला मार्ग से दूर खड़ा हो कर, शब्द से इस प्रकार मार्ग बताता हैः—सीधा चला जा, दहने हाथ को घूम जाना, बायें हाथ को न जाना, दस कदम सीधा चल। मनुष्य के बताये अनुसार जब अंधा चलता है तब अपने इष्ट मार्ग को पहुंच जाता है। इस में चल, सीधा चल आदिक विधि वाक्य हैं और न जाना निषेध वाक्य हैं। ऐसे ही जिन में सीधा स्वरूप दर्शक वर्णन है वे विधि वाक्य हैं, जिन में अकार, नकार लेकर वर्णन है वे निषेध वाक्य हैं। अनादि, अनन्त, अभेद्य, अनामी, निर्गुण, निष्क्रिय, निरंजन निर्लेप, निरामय, अव्यक्त अद्वैत आदिक निषेध वाक्य हैं और सत्, चित्, आनन्द, सर्वव्यापक, ज्योति स्वरूप, बोध स्वरूप, साक्षी, सर्वाधिष्ठान, ब्रह्म, शाश्वत इत्यादिक विधि वाक्य हैं।

शंकाः—सत्, चित्, और आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है, ब्रह्म को अद्वैत बताते हो तो अद्वैत में ये तीन भेद कहां से आये? और ऐसा भी सुना है कि ब्रह्म सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित है, जब उसमें तीन भेद हैं तब स्वगत भेद रहित किस प्रकार हो? अपने में भेद होना स्वगत भेद है। सत्, चित् और आनन्द तीनों का स्वरूप भिन्न २ है इसलिये वह एक नहीं है। यदि एक ही होता तो तीन शब्दों करके भेद कथन नहीं किया जाता। जब तीन कहते हो तो वे तीन उसके गुण हैं इस से ब्रह्म को निर्गुण कहना नहीं बनता। यदि निर्गुण ही माना जाय तब वह सत् चित् आनन्द वाला नहीं कहा जा सका।

समाधानः—ब्रह्म सत्, चित् आनन्द वाला नहीं है किन्तु सत् चित् आनन्द स्वरूप है। वस्तु ही वस्तु का स्वरूप कहा जाता है। सत् चित् और आनन्द के कहने से जो तू अद्वैत की हानि बतलाता है, ऐसा नहीं है और अद्वैत में वे तीन भेद भी नहीं हैं। भेद न होने से स्वगत भेद रहितता की हानि नहीं होती। सत् चित् और आनंद ये तीन भेद एक दूसरे से भिन्न भी नहीं हैं। तीनों शब्द कर के कही हुई वस्तु स्वरूप से एक ही है एक ही वस्तु के बोध के निमित्त तीन प्रकार के भाव से एक ही का कथन है। उपदेश के निमित्त अकथ्य का कथन करने में आता है इसलिये ब्रह्म के निर्गुणपने की हानि नहीं है।

सत् का अर्थ 'है' चित् का अर्थ 'प्रकाश', और आनन्द का अर्थ 'प्रिय', है। जैसे एक लालटेन पर इन तीनों का प्रयोग इस प्रकार होता हैः—लालटेन है, प्रकाशती है, और अन्धेरे में प्रिय है। यहां लालटेन में रहने वाले, है, प्रकाश और प्रिय को किस प्रकार भिन्न कर सके हैं क्योंकि वे तीनों एक ही का स्वरूप हैं। जो है सो प्रकाशती है, जो है और प्रकाशती है वहही प्रियहै। इन तीनों शब्दों का भाव लालटेन के सिद्ध करने में हेतु है। वे तीनों एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं क्योंकि उन तीनों में से एक को भी हटा नहीं सके। एक

के हटाने से तीनों हट जाते हैं और एक कायम रखने से तीनों कायम हो जाते हैं। तीन शब्द होते हुये, तीनों का अर्थ भिन्न होते हुये तीनों एक को ही सिद्ध करते हैं इसलिये ये तीनों वस्तु का गुण नहीं हैं किन्तु स्वरूप हैं।

जैसे कोई चन्द्र का वर्णन करे कि चन्द्र शीतल प्रकाश वाला है, गरमी को शांत करता है, आनन्द दायक है तो ये तीनों भाव एक चन्द्र को ही सिद्ध करते हैं। यदि शीतल प्रकाश वाला निकाल दिया जाय तो गरमी को शांत करने वाला और आनन्द देने वाला न रहे। गरमी को शांत करने वाला निकाल दिया जाय तो शीतल प्रकाश वाला और आनन्द देने वाला न रहे और आनन्द देने वाला निकाल दिया जाय तो शीतल प्रकाश वाला और गरमी को शांत करने वाला न रहे इसलिये ये तीनों चन्द्र के गुण न समझने चाहियें। किन्तु चन्द्र का स्वरूप समझना चाहिये। ये तीनों हों तो चन्द्र है वे न हों तो चन्द्र नहीं है इसी प्रकार सत् चित् आनन्द हो ब्रह्म है।

सत्यवती नगरी में निर्मलचन्द नाम का एक पुरुष रहता था उसका एक पुत्र पुरुषोत्तम था जब उस की उमर बीस वर्ष की हुई तब उस की एक बहिन का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने उसका जन्म अत्यंत अशुभ समझा और उस के माता पिता से हमेशा के लिये उस का त्याग करने को कहा और यह भी कहा कि यदि तुम उसका त्याग न करोगे तो वह पुत्री तुम्हारा घात करेगी। पुरुषोत्तम अपने पिता निर्मलचन्द और माता महा देवी के कहने से अपनी बहिन को जंगल में ले गया और वहां उसे छोड़ दिया। छोड़ते समय उस के दिल में दया ने प्रवेश किया और वह सोचने लगा "बहिन जंगल में अकेली है, जंगली जानवर उसे खा जांयगे तो उस की हत्या मेरे शिर पर पड़ेगी इसलिये उस को पास के सूर्यपुर नगर में जा कर किसी को सौंप आऊं तो अच्छा है।" ऐसा वचार कर उसने बहिन को फिर उठा लिया और सूर्यपुर में जा कर उसे एक मनुष्य के यहां रख दिया और सब प्रबन्ध कर दिया। कुछ बड़ी होने के बाद उसने उसे एक अलग मकान में रख कर और दास दासियों का प्रबन्ध कर के श्रीमान्ता युक्त कर दिया। समय पाकर पुरुषोत्तम का पिता निर्मलचन्द अदृश्य हो गया। उस की माता महा देवी पुरुषोत्तम को बहुत ही चाहती थी क्योंकि पुरुषोत्तम योग्य पुत्र था, धंधे में उसने बहुत धन पैदा किया था, दान, धर्म, पुण्य कर्मादिक में वह बहुत ही उदार था, सब लोग उस की अत्यन्त प्रशंसा करते थे। ग्राम के लोग उसे ग्राम की नाक समझते थे। यों तो माता का प्रेम पुत्र पर होता ही है परन्तु महादेवी का प्रेम पुरुषोत्तम पर अवर्णीय था। वह उसे मात्र अपना ही आत्मा न समझती थी परन्तु सब शहर का आत्मा और सब का कल्याण करने वाला समझती थी। वास्तविक रीति से पुरुषोत्तम सत्यवती नगरी का एक महा रत्न था। वह अपनी बहिन के पास भी जाया करता था किन्तु माता को बहिन की और बहिन के पास जाने की कुछ खबर नहीं देता था, देशावरों में दूर दूर तक उस का काम काज चलने से कहीं का नाम ले देता था। महादेवी को निश्चय था कि पुत्री को जङ्गली जानवर मार कर खा गये होंगे। पुरुषोत्तम ने एक युक्ति और भी कर रक्खी थी, बहिन को उसने अपना नाम प्रकाशचंद बता रक्खा था और सूर्यपुर में वह प्रकाशचन्द के नाम से प्रसिद्ध था। उसने अपनी बहिन का नाम चेतना देवी रक्खा था। जब वह बहिन के पास रहा करता तब भी उसकी उदारता जैसी की तैसी रहती थी। जब बहिन योग्य वय की हुई तब उसने उसका विवाह रजेशचन्द नामक एक योग्य पुरुष के साथ कर दिया। रजेशचन्द के साथ भी प्रकाशचन्द का बहुत मेल रहता था। रजेशचन्द के पास जो कुछ ऐश्वर्य था वह प्रकाशचन्द का ही दिया हुआ था। सूर्यपुर में प्रकाश-

चन्द की कीर्ति बहुत ही फैल गई थी और वहां के लोगों का यह निश्चय था कि मनुष्य में जितने शुभ गुण हो सकते हैं वे सब ही प्रकाशचन्द में हैं और पृथ्वी पर कोई भी मनुष्य प्रकाशचन्द के समान न होगा। माता के पास जो पुरुषोत्तम कहलाता था वह ही बहिन के ग्राममें प्रकाशचन्द के नाम से प्रसिद्ध था। जब वह बहिन के पास आता था तब एक ग्राम में होकर आना होता था वहां एक युवा कन्या से उसकी मुलाकात हुई। दोनों में प्रेम ने निवास किया। वह कन्या हीन जाति की थी इसलिये उस के साथ प्रत्यक्ष रूप से उसका विवाह नहीं हो सक्ता था। कन्या के माता पिता की आज्ञा से विवाह कर लिया गया और इस स्थान पर उसने अपना नाम प्यारेलाल और व्याही हुई कन्या का नाम मदनमंजरी रक्खा और वह तीनों ग्रामों में चार चार महीने रहने लगा। जिस ग्राम में उसने विवाह किया था उस का नाम बिलासपुर था। प्यारेलाल की कीर्ति बिलासपुर में अत्यन्त फैल गई। वहां के लोग महामान्य की दृष्टि से उसे देखते थे। मदनमंजरी का प्रेम बहुत था, वह प्यारेलाल के सिवाय अन्य कोई सामर्थ्य वाला, सद्गुणी, ऐश्वर्य वाला हो ऐसा नहीं मानती थी किंतु मनुष्य रूप में वह ईश्वर ही है ऐसा उसका दृढ़ निश्चय था। पुरुषोत्तम माता वाले स्थान में बहिन और पत्नी के स्थान का, बहिन के स्थान में माता और पत्नी के स्थान का और पत्नी के स्थान में माता और बहिन के स्थान का कथन नहीं करता था। बहिन माता की छोड़ी हुई होने से, और हीन कुल की पत्नी माता को अप्रिय होने से माता के सामने उनका जिकर न करता। बहिन भी उच्च कुल में व्याही थी इसके सामने हीन कुल की पत्नी का जिकर करना नहीं चाहता था और माता की जिकर करने से बहिन को रंज होता इसलिये माता की जिकर वहां नहीं करता था। पत्नी के सामने माता और बहिन की जिकर करने से कोई फल न था। पत्नी के सामने उच्च कुल का हो कर तुझ से विवाह किया है ऐसा नीच बनना नहीं चाहता था।

कुछ दिनों तक पुरुषोत्तम का व्यवहार युक्ति पूर्वक चलता रहा। एक समय सूर्य ग्रहण पड़ा तब पत्नी ने प्यारेलाल से कुरुक्षेत्र स्नान करने की आज्ञा ली और वह वहां ग्रहण में स्नान करने गई। सत्यवती नगरी से महादेवी और सूर्यपुर से चेतना देवी ये दोनों भी उसी पर्व पर कुरुक्षेत्र में स्नान करने आईं। पर्व के समय पर तीनों ही एक स्थान पर स्नान कर रही थीं। महादेवी ने किसी एक मनुष्य के सामने अपने पुत्रकी प्रशंसा की। श्रीमानता का पूर्ण अभिमान उसमें भरा था वह कहने लगी "मेरा पुत्र पुरुषोत्तम ही सद्गुण मूर्ति है! उसके समान कोई पुरुष अथवा स्त्री आज तक सुनने या देखने में नहीं आई। वह पूर्ण ईश्वर का अवतार है! पुराणों में राम, कृष्ण, परशुराम आदिक को ईश्वरावतार सुना है परन्तु उन सम्पूर्ण अवतारों का एक पूर्ण रूप पुरुषोत्तम है!" यह बात पास खड़ी हुई चेतनादेवी सुनरही थी, वह भी ऐश्वर्य के मद से कम अभिमान वाली न थी, बोल उठी "अरी डोकरी! झूठ क्यों बोलती है? मेरे भाई प्रकाशचंदके समान तेरा पुत्र कभी भी न होगा! उसकी कीर्ति के सामने किसी की कीर्ति टिक नहीं सकती!" अपने पुत्रको तुच्छ वचन कहती हुई देखकर महादेवी सिंह के समान बोली "अरी! तू मेरे पुत्र को तुच्छ वचन कहने वाली कौन? उद्धत लड़की! तू कोई पूर्ण नीच है! अपनी जीभ को बन्द कर नहीं तो मैं अपने नौकरों को आज्ञा देकर तेरी जीभ खिंचवा डालूंगी!" पास खड़ी हुई मदनमंजरी दोनों की लड़ाई देख रही थी उससे रहा न गया, बोल उठी "शोक! तुम दोनों आपस में क्यों लड़ती हो? दोनोंही झूठ बकने वाली हो! मेरे पति प्यारेलाल के समान सद्गुणी, प्रतापवान् प्रतिष्ठित जगत् भर में कोई नहीं है, उसके परोपकारों से विक्रमा-

दित्यका मुख श्याम पड़ गया है, राजा कर्णका दान तृण समान तुच्छ लगता है। (डांकरी की तरफ देख-कर) तेरा पुरुषोत्तम और (चेतना देवी की तरफ देख कर) तेरा प्रकाश चन्द मेरे पति प्यारेलाल के सामने रुपये में एक कौड़ी दाम का भी न होगा !" ऐसे वचन सुनकर महादेवी और चेतनादेवी क्रोधित हुईं और क्रोधित वचन बोलते २ तीनों में हाथा पाई होने लगी। बहुत लोग जमा हो गये। पुलिस भी आगई, तीनों के चोट आई हुई देखकर तीनों को बंदीवान् करके ले गये।

प्यारेलाल बिलासपुर में था। जब अपनी पत्नी को कुरुक्षेत्र जाने को रेल में बैठाकर आया तब इच्छा हुई कि मैं भी कुरुक्षेत्र जाऊँ ऐसा विचार कर वह दूसरी रेलगाड़ी में सवार होकर चल दिया। जब पुलिस तीनों को पकड़ कर ले जारही थी तब वह रेल से उतर कर आता हुआ मार्ग में मिला। दूर से आता हुआ देखकर महादेवी पुकार उठी "हाय पुरुषोत्तम ! तू आ गया ! अब तू ही मुझे छुड़ा लेगा और इन दोनों को झूठी सिद्ध करेगा !" चेतना देवी बोल उठी "भाई प्रकाशचन्द आ रहा है !" मदन मंजरी बोली "अब मेरे प्यारे-लाल आ गये !" पुरुषोत्तम कौतुक देखता हुआ पास पहुंचा। उसने पुलिस को समझाकर तीनों को छुड़ा लिया, उनसे सब बात सुन कर माता की तरफ देखकर बोला "माता ! सत्यवती में रहने वाला तेरा पुत्र पुरुषोत्तम मैं हूं ! (बहिन की तरफ देखकर) बहिन ! सूर्यपुर में रहने वाला तेरा भाई प्रकाशचंद मैं हूँ ! (पत्नी की तरफ देखकर) हे मदनमंजरी ! बिलासपुर में रहने वाला तेरा पति प्यारेलाल मैं हूं। (सब से) मेरा यथार्थ ज्ञान न होने से तुम आपस में लड़ मरीं-झगड़ा उत्पन्न हुआ, तीन ग्राम, तीन नाम, और तीन संबंधों से वर्तने वाला पुरुष रूप वस्तु मैं एक ही हूं !"

इसी प्रकार सत् चित् आनन्द तीन नहीं हैं परंतु वस्तुतः एक ही हैं।

शंकाः—जब सच्चिदानन्द एक ही हैं, तीन नहीं हैं तब तीन शब्दों की क्या आवश्यकता है ? ऊपर के दृष्टान्त में उपाधि से भेद था। ब्रह्म में उपाधि है नहीं तब तीन क्यों ? सच्चिदानन्द उसका स्व-रूप बताते हो, स्वरूप में उपाधि का कुछ काम ही नहीं है।

समाधानः—सच्चिदानन्द तीन शब्द देखते हुये एक ही हैं। यद्यपि ब्रह्म में उपाधि नहीं है तो भी समझने वाले उपाधि में समझते हैं इसलिये इन तीन शब्दों की योजना है। यदि एक ही शब्द कहें तो ठीक लक्ष नहीं पहुंच सका। प्रथम शब्द सत् है, सत्का अर्थ "झूठ नहीं है" ऐसा नहीं है हमेशा रहने वाला सत्य है। ऐसे सत्य प्रकृति ब्रह्म दोनों ही हैं तब किसका लक्ष किया जाय। सत्य कहने से प्रकृति का ग्रहण न किया जाय इस कारण दूसरा शब्द चित् है। चित् का अर्थ चेतन है। जो हमेशा रहने वाला और चेतन है वह ब्रह्म है। प्रकृति हमेशा रहने वाली तो है परंतु चेतन नहीं है जड़ है। दोनों शब्द कहने से प्रकृति का ग्रहण न होते हुये ब्रह्म का ही ग्रहण है। सूर्योपासक सूर्य को सत् और चेतन कहते हैं। इसका ग्रहण न हो इस लिये आनन्द शब्द है। तब ब्रह्म स्वरूप यह हुआ—जो हमेशा रहने वाला है, हमेशा चेतन रूप है और हमेशा आनन्द रूप है ऐसा जो एक तत्व है सो ब्रह्म है वही ऐसा तत्व है जो किसी की अ-पेक्षा रहित अपने आप में टिका हुआ है। सत्य चित् आनन्द से लेकर जितने विधेय विशेषण हैं और अव्यक्त अनादि, अजन्म आदिक जितने निषेध विशेषणों का कथन है वह जिज्ञासु के बोध नि-मित्त है—सच्चा बोध होने के लिये है, ब्रह्म के भेद निमित्त नहीं है।

अथवा ब्रह्म निवृत्ति रहित होने से सत् है, सत् एक मुख्य तत्व को कहते हैं। इस कारण सब का जो एक मुख्य तत्व है सो सत् है। जगत् के सत्य और असत्य से विलक्षण ऐसा सत् है।

जड़ से विलक्षण जो प्रकाश रूप है सो चित् है। जिसका प्रकाश कभी लुप्त न हो ऐसे प्रकाश वाला है सो चित् है। स्थूल और सूक्ष्म चैतन्य के समान प्रकाश वाला नहीं है क्योंकि वे उत्पत्ति नाश वाले हैं और चित् अलुप्त प्रकाश है। दुःख से विलक्षण जो मुख्य प्रीति का विषय है वह आनन्द है जो कभी भी विकार को प्राप्त न हो वह आनन्द है। इस प्रकार तीनों रूप जिस एकमें ही सिद्ध होते हैं वह ब्रह्म है। ऐसा ही आत्मा है ऐसा शास्त्र कहते हैं और अनुभवियों को भी ऐसा ही बोध होता है।

ऊपर के तीन पृथक २ नहीं हैं यह इस प्रकार समझना चाहिये:—जैसे एक चमकता हीरा एक स्थान पर रक्खा है तीन पुरुष उसे देख रहे हैं। प्रथम पुरुष दस कदम, दूसरा बीस कदम और तीसरा तीस कदम दूर खड़ा है। तीनों पुरुष उस एक ही हीरे को देख रहे हैं परन्तु हरएक की दूरी भिन्न २ होने से हीरे का प्रकाश भिन्न २ मालूम होता है, अंतिम पुरुष को मंद, दूसरे को मध्यम और प्रथम को तेज दीखता है। जैसे एक ही प्रकाश तीन रूप से दीखता है इसी प्रकार सच्चिदानन्द है। अन्तिम को सत्, मध्यम को चित् और प्रथम को आनन्द है। आनन्द घन आनन्द है, आनन्द में कुछ कम प्रतीति चित् है और चित् की कुछ कम प्रतीति सत् है। इस प्रकार माया की दूरी लेकर मुमुक्षुओं के समझने के निमित्त कथन किया गया है। आनन्द अद्वैतता में, चित् द्वैत में, और सत् का भान अनेक में होता है। आनन्द का भान आनन्दमय कोश में, चित् का भान विज्ञानमय कोश में और सत् का भान मनोमय कोश में विशेषता से होता है। स्थूल पदार्थों को जानने वाला मन है, जब मन सत्य जानता है तब आनन्द का प्रकाश चित् में हो कर मन में आता है क्योंकि स्थूल में जितनी चेष्टा होती है वह सब कारण और सूक्ष्म सहित होती है परन्तु भान स्थूल में होता है, कारण और सूक्ष्म में भान नहीं होता। इसी प्रकार चित् का भान आनन्द सहित चित् में होता है। इस प्रकार भान होने में ही भेद है, वस्तु एक ही है। जिस को सत् चित् आनन्द कहते हैं वह ही अस्ति, भाति और प्रिय है, वह ही ॐ तत् सत् है। यह सब भौतिक पदार्थों का आधार है। भौतिक पदार्थ नाम रूप से जाने जाते हैं। नाम रूप सत् चित् आनन्द में टिके हुये हैं। सब का कारण-आधार-अधिष्ठान ब्रह्म है इसलिये ब्रह्म बिना नाम रूप नहीं रह सके। यदि नाम रूप में से ये तीन भाव हटा लिये जांय तो नाम रूप की सिद्धि नहीं होगी। नाम रूप मायिक दर्शन है वस्तु रूप नहीं है, वस्तु रूप सत् चित् आनन्द है। सब पदार्थों में होना पना सत् है, भासित पना चित् है और प्रिय पना आनन्द है।

शंका:—पांच पदार्थों में तीन पदार्थ ब्रह्म के और दो माया के बताये और सत् चित् आनन्द निकाल लेने से पदार्थ नहीं रहेगा ऐसा कहा तब मैं पूछता हूं कि यदि नाम रूप को निकाल लिया जाय तो सत् चित् आनन्द कहां रहेगा? नाम रूप सत् चित् आनन्द को स्थिर रखते हैं। ब्रह्म भी नाम रूप के आधार पर ही दीखता है।

समाधान:—नाम रूप हटा देने से सत् चित् आनन्द कहां रहेगा, यह तेरा कहना तेरी बुद्धि के अनुसार है। यदि मैं पूछूं तू ही बता क्या रहेगा तो तू कहेगा कुछ नहीं रहेगा। अब विचार कुछ नहीं है इस में भी तो वह है। 'है' अस्ति-सत् को सिद्ध करता है, 'कुछ नहीं' यह भास-प्रकाश बिना कैसे मालूम हो सक्ता है? यह ज्ञान जिसमें होता है वह ही चित्-भाति है और 'कुछ' तूने मायिक समझा है, वह मायिक नहीं है तब क्या रहा? तत्व रूप आनन्द-प्रिय ही रहा जैसे तू सुषुप्ति से जाग कर कहता है, "वहां कुछ नहीं था, आनन्द मालूम होता था" इसी प्रकार यह है।

जैसे नाव पर चढ़ा हुआ मनुष्य नाव को चलती न जान कर किनारे के वृक्षों को चलता हुआ समझता है ऐसे ही तू चलने वाले को समझ कर न चलने वाले का चलना अंगीकार करता है, ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप है, वह कभी हटने वाला नहीं है। ज्ञान, अज्ञान और शरीर की तीनों अवस्थाओं में वह ज्यों का त्यों ही रहता है। उसके लिये हटने को स्थान नहीं है। माया के नाम रूप ऐसे नहीं हैं, वे काल्पनिक, उत्पत्ति नाश वाले और विकारी हैं, उनका ही हटना बन सका है। सत् चित् आनन्द का आधार नाम रूप नहीं है। नाम रूप परिच्छिन्न हैं, सत् चित् आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपरिच्छिन्न है। परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न का आधार किस प्रकार हो? तू नाम रूप की स्थिति के भाव वाला है। तुझको नाम रूप सत् चित् आनन्द को स्थिर करने वाला जो मालूम होता है वह तेरे अज्ञान का भ्रम है।

शंका:—ॐ तत्सत् ये सत् चित् आनन्द रूप किस प्रकार हैं?

समाधानः—ॐ आनन्द स्वरूप है, तत् ईश्वर स्वरूप होने से चित् है और सत् सत् है। ब्रह्मवादी-ज्ञानी-जीवन्मुक्त का लक्ष-भाव-स्वरूप ॐ स्वरूप है वह ही परमानन्द है। सत्का स्थूलमें, चित् का सूक्ष्म में और आनन्द का कारण में बोध होता है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ॐकार स्वरूप हैं। ये ही उत्पत्ति, स्थिति और लय रूप हैं। ये ही ॐ कार की अकार, उकार और मकार मात्रा हैं। 'सब एक ही ब्रह्म है' ऐसा परिपूर्ण बोध ज्ञानी को होता है इसलिये वह आनन्द स्वरूप है।

दूसरा जो मुमुक्षु है, वह बोध की इच्छा वाला है परन्तु अभी बोध को प्राप्त नहीं हुआ। मुमुक्षु ऐश्वर्य स्वरूप ईश्वर समष्टि भाव वाला होता है। ईश्वर चित् रूप-ज्ञान रूप है, अन्तःकरण शुद्धि के भाव वाला है, अभी विचार की पराकाष्ठा को प्राप्त नहीं हुआ इसलिये सूक्ष्म है चित् है।

कर्म का फल सत् है, वैदिक धर्म कर्म श्रद्धा सहित किये हुये फल देने वाले हैं। फल की इच्छा हो या न हो वे अवश्य फल देते हैं इसलिये वे सत्य हैं। यदि उन्हें असत्य समझें तो कर्म-यज्ञादिक का लोप हो जाय।

इस प्रकार ये तीनों नाम ब्रह्म के हैं। अधिकारी भेद से-लक्ष्य की भिन्नता से तीन दिख लाये गये हैं ये तीनों भाव अपने २ अधिकार के अनुसार कल्याण करने वाले हैं। इसके सिवाय ॐकार में जो तीन अकार, उकार और मकार मात्रा रूप कथन किये गये हैं वे सब ही ब्रह्म स्वरूप हैं, ब्रह्म के अङ्ग या विभाग बताने के निमित्त कथन नहीं किये गये हैं, भिन्न २ कथन किये जाने पर भी एकता का हेतु हैं।

एक ही वस्तु के काल्पनिक तीन भाग करके एक को तीन समझने वाले किस प्रकार की भूल करते हैं इसका एक लौकिक हास्य जनक दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक स्थान पर जहां रुई बहुत पैदा होती थी, वहां तीन साहूकार रहते थे। उन तीनों का नाम क्रम से आनन्दशंकर, चेतराम और सत्यगुप्त था। इन तीनों ने मिल कर रुई खरीदने का धंधा चालू किया। तीनों ने एक २ लाख रुपये धंधे में लगाये। तीनों का मिलकर मूल धन तीन लाख रुपये हुआ। वे रुई खरीदते और कुछ भाव बढ़ जाने पर बेच देते। मंदे भावमें खरीदते रहते थे। एक वार उन्होंने तीन लाख रुपये की रुई खरीद की और एक गोदाम में भर दी। गोदाम के बाहर रात्रि को एक चौकीदार रहता था। गोदाम में चूहे बहुत हो गये थे। उपाय करने पर भी किसी प्रकार कम न हुये, रुई का बड़ा नुकसान करने लगे। रुई में

रहा हुआ कोई २ बिनौला खाने को वे रुई का नुकसान करते थे। उन्हें पकड़ने को कई चूहेदान भी रक्खे गये, उनमें कोई २ पकड़ा भी गया परन्तु कम न हुये। गोदाम वालों ने चूहों के लिये अपनी सब बुद्धि खर्च करदी। चूहे अपनी बुद्धि का उपयोग करते रहे चूहेदानी में फंस जाने के बाद निकलने का प्रयत्न करते और थोड़ी देर बन्द रह कर किसी न किसी युक्ति से निकल ही जाते थे। चूहा खाने के लालच से घुसता और खा कर निकल जाता था। इस प्रकार चूहों ने गोदाम वालों को तङ्ग कर दिया जब वे बहुत ही तङ्ग आ गये तब उन्होंने निश्चय किया कि एक बिल्ली लाकर रख दें तो चूहों का सब उपद्रव मिट जाय। ऐसा विचार कर वे एक बिल्ली के बच्चे को पकड़ लाये। प्रथम तो चूहे बिल्ली को देख कर उसकी गंध से डरते रहे। बिल्ली को बांध कर रखने से बिल्ली चिल्लाया करती परन्तु चूहों की तरफ न लपकती, तब चूहे समझ गये कि बिल्ली हमको पकड़ नहीं सकती क्योंकि वह स्वयं बंधी हुई है। फिर तो चूहे अपनी धमा चौकड़ी मचाने लगे। बिल्ली को बंधी रखने से चूहे भागते नहीं हैं ऐसा देख और कई दिन हो गये अब बिल्ली भाग न जायगी ऐसा सोच गोदाम वालों ने बिल्ली को छोड़ दिया। बिल्ली थी छोटी, चूहे थे बड़े २ इसलिये बिल्ली के पंजे में बहुत कम फंसते थे और उसे देख रुई में घुस जाते थे। यद्यपि बिल्ली का वश बहुत कम चलता था तो भी उसे कुछ न कुछ भोजन मिल ही जाता था। बहुत कूद फांद करने से बिल्ली के बहुधा चोट लग जाती थी नौकर अथवा मालिक उसको ठीक २ न देखते। भला! साझे के धन्धे वालों की बिल्ली की सार संभार कौन करता!

एक समय उसके गले में चोट लगगई। घाव सड़गया और उसमें जीव भी पड़ गये, दुर्गंध देने लगा। सबने मिलकर और ठीक इलाज करके उस घाव को अच्छा कर लिया। 'बिल्ली बारंबार चोट लगा लेती है, उसकी संभाल नित्य २ कौन करे' ऐसा सोच आनन्द शंकर, चेतराम और सत्यगुप्त ने यह निर्णय किया कि बिल्ली के अंग तीनों हिस्सेदारों को बांट दिये जांय, जिसके हिस्से में चोट लगे वह ही हिस्सेदार उसकी संभाल करे। बिल्ली के तीन अंग इस प्रकार बांटे गयेः—शिर और आगे के दहने एक पैर का हिस्सा आनंदशंकर का, आगे का बांया एक पैर और पीठ का हिस्सा चेतराम का, और पिछले दोनों पैर और पूंछ का हिस्सा सत्यगुप्त का। अब तीनों निश्चिन्त हुये जिसके हिस्सेमें आये हुये बिल्ली के अंग में चोट लगे वह उसकी संभाल किया करे। कई दिन तक बिल्लीकी संभाल इस प्रकार होती रही। यद्यपि चूहे अब कम होगये थे परन्तु चले नहीं गये थे और बिल्ली को कुछ समझते भी न थे। एक समय बिल्ली के आगे के पैर में चोट लगी। हिस्सेदारों के बांट किये हुये अनुसार उस चोट की संभाल आनन्दशंकर के जिम्मे पड़ी। उसने पैर को धोया और मल्लम का फाया बाँधा। फाया पैर पर ठहरता न था इसलिये बार बार बांधना पड़ता था। एक मनुष्य ने कहा कि पैर पर फाया नहीं ठहरेगा, नीम के तेल में कपड़े को तर करके बांध दे, वह ठहर जायगा और आराम भी जल्दी हो जायगा। आनन्दशंकर ने उस मनुष्य के कहे अनुसार तेल में कपड़ा भिगो कर बिल्ली के पैर में बांध दिया और बचा हुआ कपड़ा पैर में लपेट दिया। रात्रि में बिल्ली चूहों की खोज में कूदने लगी। जब कोई चूहा न मिला तब वह पास के एक मकान में घुस गई और वहां एक चूहे को देख कर लपकी। वहां एक जलता हुआ दीपक रक्खा था। बंधा हुआ कपड़ा कुछ खुल सा गया था, दीपक की आग लगने से कपड़ा जलने लगा। बिल्ली घबरा कर कूदती हुई रुई के गोदाम में घुस गई और रुई पर दौड़ने लगी। जहां २ बिल्ली जाय वहां २ की रुई में आग लगती जाय। जैसे हनूमान जी ने लंका

जलाई थी इसी प्रकार बिल्ली ने गोदाम की सब रुई जलादी और आप भी जल मरी। इस प्रकार तीन लाख की भरी हुई रुई का क्षण भर में नाश हो गया। बिल्ली जलती हुई भी जब तक जान रही फड़ फड़ाती हुई बाहर आकर ठंडी हो गई। सब हिस्सेदार एकत्र हुये और आग किस प्रकार लगी इसका निर्णय करने लगे। बिल्ली के पैर में का कुछ कपड़ा देख कर सब ने निश्चय किया कि बत्ती से कपड़े में आग लग गई, बिल्ली भागकर गोदाम में आई और रुई का नाश किया। चेतराम बोला "आनन्दशंकर! बिल्ली के तुम्हारे वाले पैर ने आग लगाई है, वह पैर तुम्हारा था! इसलिये हम दोनों हिस्सेदारों का रुपया तुमको देना होगा। तुम्हारे तेल के बांधे हुये कपड़े से आग लगी है!" आनन्दशंकर जी में विचारने लगा "क्या करूं? घर का सब धन गया! दो लाख रुपये और कहां से लाऊं? आग तो अवश्य मेरे वाले पैर से ही लगी है!" ऐसा विचारता हुआ और दुखी होता हुआ आनन्दशंकर घर आया और अपने एक मित्र से गोदाम जलने का हाल कह कर बोला "मित्र! दोनों हिस्सेदार मुझ से सब रुपया वसूल करना चाहते हैं, मैं यह रुपया कहां से दूं? आग मेरे वाले पैर से ही लगी थी!" मित्र बोला "तू मुझे अपने हिस्सेदारोंके पास ले चल, मैं न्याय करदूंगा" आनन्दशंकर ने ऐसा ही किया। मित्र ने जाकर दोनों हिस्सेदारों से कहा "तुम लोग आनन्दशंकर से रुपया नहीं ले सक्ते किंतु तुम दोनों आनन्द-शंकर का रुपया दो!" चेतराम बोला "क्यों, किस न्याय से?" मित्र बोला "सुनो, आनन्दशंकर वाला बिल्ली का एक पैर बीमार था, जमीन पर खड़ा नहीं हो सक्ता था, उस हिस्से में चलने की शक्ति ही न थी, वह चला-कूदा नहीं है, (चेतराम से) बिल्लीका तुम्हारा वाला पैर और शरीर और (सत्यगुप्त से) तुम्हारा पिछला पैरही कूदा है, तुम दोनों के हिस्से ने गोदाम जलाया है, आनन्दशंकर वाले पैर का कुछ दोष नहीं है इसलिये तुम दोनों मिल कर उसके हिस्से के रुपये भर दो!" चेतराम और सत्यगुप्त सोचने लगे "है तो ठीक! पर रुपया देंगे कहां से?" इतने में एक पांचवां पुरुष आ गया और यह सब वृत्तान्त सुन कर कहने लगा "न तो चेतराम का किया हुआ न्याय ठीक है और न मित्र का, बिल्ली के तीनों हिस्से बिल्ली का स्वरूप ही है, हिस्से कल्पित होने पर भी बिल्ली स्वरूप से एक ही है, सब की बिल्ली है इसलिये सब को ही टोटा भुगतना पड़ेगा! बिल्ली के हिस्से संभाल के लिये किये गये थे, हानि लाभ के लिये नहीं किये गये थे, यह बात सर्वसम्मत हुई। इसी प्रकार सत् चित् आनन्द तीन हिस्से समझने के लिये हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वस्तु स्वरूप ब्रह्म एक ही है।

---:o:---

मणि रत्नमाला।

इन्द्र वज्रावृत्तम्

को वा दरिद्रो हि विशाल तृष्णाः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ति तोषः।
जीवनमृतो कस्तु निरुद्यमो यः
कोवाऽमृतः स्यात्सुखदा निराशा ॥५॥

अर्थः— प्रश्नः- दरिद्री कौन है? उत्तरः- अधिक तृष्णा वाला। प्रश्नः- श्रीमान् कौन है? उत्तरः- जो सन्तोषी है। प्रश्नः- जीतेजी मुरदे समान कौन है? उत्तरः-जो उद्यम रहित है। प्रश्नः-अमृत समान सुख देने वाली कौन है? उत्तरः-निराशा अमृत समान सुख देने वाली है।

भाषा छप्पय।

कौन दरिद्री दीन, अधिक तृष्णा से दूषित;
को जग में श्रीमान, सदा सन्तोष विभूषित;
नर ऐसा है कौन, मरा जीते जी होई;
जीवत मुरदा सोहि, करे उद्यम नहिं कोई;

अमृतसम सुखदायनी, कौन दुःख दारिद्र हर,
एक निराशा सुखद अति, नर निराश जानो अमर५

विवेचनः-जिस किसी के पास धन नहीं होता, उसे लोग दरिद्री कहते हैं परन्तु वास्तविक दरिद्री तो कोई और ही है। जितना विशेष धन होता है उतनी ही अधिक तृष्णा का होना संभव है। जैसे २ मनुष्य बढ़ता जाता है वैसे २ उसकी तृष्णा भी बढ़ती जाती है इसलिये जिसको जितनी विशेष तृष्णा हो उसे उतना ही विशेष दरिद्री समझो। गरीब की भूख-तृष्णा पांच पच्चीस रुपये की होती है और लक्षाधिपति की भूख लाखों रुपयोंकी होती है। दरिद्र चिन्ताका स्वरूप है। विशेष तृष्णा होने से विशेष चिन्ता होती है इसलिये जिसको अधिक तृष्णा हो उसे दरिद्री समझना चाहिये। जैसे धनकी तृष्णा होती है वैसे ही भोग की तृष्णा होती है। धनकी तृष्णा इस कारण से होती है कि उससे सब प्रकार के भोग प्राप्त हो सकते हैं। तृष्णा महा मोह उत्पन्न करने वाली, भय देने वाली, और विकलता रूप है इसलिये अधिक तृष्णा वाले को ही कंगाल कहना चाहिये, उसकोही चेंटी समान क्षुद्र समझना चाहिये। जैसे चेंटी कितनेक चांवल के दाने और गुड़ आदिक खाकर अपने बिल में जमा करती है, उनका उपयोग नहीं करती, मरण प्राप्त मक्खी को खेंचने जाती है, वहां कोई लघुशंका करने को बैठा होता है तो उसके मूत्र में बहती चली जाती है, यदि ज्यों त्यों करके उस में से निकलने पाती है तो घर मूत्र से भर जाने के कारण उसमें जाने नहीं पाती, इसी प्रकार अधिक तृष्णा वाले का हाल है।

एक साधु था। उसका यह नियम था कि वह दिन भर मांगता रहता, जो खाने की वस्तु आती खा लेता और बची हुई बांट देता था और जो पैसे आते थे उनको भी सायंकाल को अपने स्थान पर बांट देता था, जो गरीब कंगाल दीखते उनकी तरफ फेंक देता था। बहुत दिन का शहर में रहने वाला होने से सब उसे पहिचानते थे और वह 'कंगालों को पैसे बांटने वाला साधु' इस नाम से प्रसिद्ध था। एक दिन उसके स्थान की तरफ से वहां का राजा निकला। राजाने उसको देखा और उसकी दृष्टि भी राजा पर पड़ी। तुरन्त ही साधु ने चार पैसे राजा की तरफ फेंक दिये। राजा विचार में पड़ गया और घोड़े से उतर कर, साधु के पास जा प्रणाम करके बैठ गया और कहने लगा "महाराज! मैंने सुन रक्खा है कि आप कंगालों को पैसे बांटते हैं, आपने मेरी तरफ पैसे क्यों फेंके? क्या मैं कंगाल हूं? मैं तो राजा हूं!" साधु ने कहा "राजा! हमारा न्याय और विचार तेरे न्याय और विचार से कुछ और ही प्रकार का है! तू अपने को राजा मानता है, सब प्रजा भी तुझे राजा और श्रीमान् जानती है परन्तु मेरी दृष्टि में तू श्रीमान् नहीं है। जिसमें तृष्णा होती है, मैं उसे कंगाल समझता हूं! गरीबों को तृष्णा दो चार पैसों की होती है, तुझे लाखों, करोड़ों और नये २ मुल्क बढ़ाने की तृष्णा है इसलिये मेरे विचार से तू महा तृष्णा वाला होने से महा-दरिद्री-कंगाल है! इस प्रकार तुझे कंगाल समझ कर मैंने तेरी तरफ पैसे फेंके थे!" राजा धर्म-निष्ठ था, साधुके युक्ति पूर्वक वचन सुनकर संतोष को प्राप्त हो कर चला गया।

अपनी आवश्यकता के योग्य प्राप्त होने पर भी जो, विशेष प्राप्ति की इच्छा करना, उस के निमित्त अत्यन्त चिन्ता करना और व्याकुलता के साथ प्रयत्न करना है, इस का नाम तृष्णा है। जीव का ऐसा स्वभावसा पड़ गया है कि उसकी संतुष्टि नहीं होती, जब नहीं मिलता है तब कहता है कि इतना मिल जाय तो मेरा काम भली प्रकार चले। यदि संयोगवश, उसकी कामना के अनुसार मिल जाय तो वह वहां नहीं टिकता-सन्तोष प्राप्त नहीं करता। अब इतना मिले तो ठीक हो ऐसे कहता है। इस प्रकार जितना मिलता जाता है उससे विशेष प्राप्ति की इच्छा करता ही चला

जाता है। इस प्रकार की अत्यन्त व्याकुल करने वाली इच्छा तृष्णा कहलाती है।

जिसको सन्तोष होता है वह ही लक्ष्मीवान् है। जिस पुरुष को सम्यक् तोष-तुष्टि है वह श्रीमान् है। जिसके पास बहुत धनहो यदि वह धन की इच्छा न करे, जिस के पास बहुत वस्त्र हों वह वस्त्र की इच्छा न करे और जिस के पास जवाहरात हों, वह उनकी इच्छा नहीं करे तो इन सब की गिनती व्यवहारिक दृष्टि से सन्तोषियों में है परन्तु जिसके पास कुछ भी नहीं हो तो भी किसी पदार्थ की इच्छा न करे वह सच्चा सन्तोषी है। सन्तोष के समान एक भी सुख नहीं है और असन्तोष के समान कोई दुःख नहीं है इसीलिये कहा है "संतोषी सदा सुखी" संतोष के साथ पवित्रता भी होती है। सच्ची पवित्रता आंतर की है। जो मनुष्य अपने अन्तःकरण में अनेक प्रकार की तृष्णा-असंतोष के कूड़े को नहीं रखता वह आंतर पवित्र है। "संतोषी ब्राह्मणः शुचि" संतोष वाला ब्राह्मण पवित्र होताहै और "असंतुष्टा द्विजा नष्टा" असंतोषी ब्राह्मण नष्ट होतेहैं और जो कोई अन्य भी ब्राह्मण के समान सन्तोष धारण करता है वह भी पवित्र और सुखी होता है। जिस को आत्म बोध से संतुष्टि प्राप्त हुई है वह परम संतोषी है। ऐसा मनुष्य त्रयलोक के ऐश्वर्य को भी तुच्छ समझता है। जब संतोष रूप सूर्य का उदय होता है तब तृष्णा-इच्छा रूप अंधेरी रात्रि का नाश होता है। संतोषवान् का हृदय प्रफुल्लित रहता है, सन्तोषी कान्तिवान् होता है। जिस को तीनों लोकों का ऐश्वर्य्य प्राप्त होने पर भी संतोष नहीं है वह दरिद्री है और निर्धन हो कर भी जो संतोषवान् है वह ,सबका ईश्वर है। जो अप्राप्त वस्तु की इच्छा न करे और प्राप्त वस्तु का उपभोग राग द्वेष रहित करे उस को संतोषी कहते हैं। असंतोषी को कभी सुख नहीं मिलता और संतोषी को कभी दुःख नहीं होता।

भजनलाल नाम का एक ब्राह्मण अयाचक हो कर भी ब्राह्मण को वृत्ति से रहता था। आत्मबोध होने से उसका संतोष पूर्ण दशा को प्राप्त हो गया था। वह ईश्वर के ऊपर निष्ठा वाला था और व्यवहार का किसी प्रकारका सुख अथवा दुःख आ पड़ता तो वह व्याकुल नहीं होता था। उसे सुख दुःख का हर्ष शोक कभी नहीं होता था और ऐसे प्रसंगों में स्त्री आदिक के सामने कहा करता था "ईश्वर जो कुछ करता है, सब अच्छा ही करता है।" वह बोधवान् होने पर भी आलसी नहीं था, समय प्राप्त कर्म अच्छी प्रकारसे किया करता था, दुःख में अन्यों को समझाया करता "जीव भाव की तुच्छ बुद्धि, निमित्त को नहीं समझ सकी, दुःख को भी सुख मानना चाहिये, दुःख महान् सुख का कारण होता है। दुःख विना सुख की पहिचान नहीं होती, दुःख ही ईश्वर प्राप्ति की तरफ ले जाने वाला दूत है, इसलिये दुःख को सुख समझना चाहिये और सुख तो अच्छा लगता ही है फिर दुःख रहा ही कहां? जगत् संतोष विना दुखी होता है!"

भजनलाल के पास कुछ विशेष माल न था तो भी कुछ था ही। एक रात्रि को चोर घर में घुस आये। घर वाले नींद में थे। चोर सौ, सवा सौ रुपये का गहना और वस्त्र जो कुछ मिला ले कर चल दिये। सवेरे उठने पर मालूम हुआ कि चोरी हो गई। भजनलाल की स्त्री रोने पीटने और हाय हाय करने लगी। पड़ौसी भी गरीब संतोषी ब्राह्मण का नुकसान हुआ देख कर करुणा करने लगे परन्तु भजनलाल के चित्त पर चोरी का कुछ भी असर न हुआ। वह स्त्री को समझाने लगा "प्रिये! तू दुखी क्यों होती है? ईश्वर जो कुछ करता है अच्छा ही करता है। हमारी चोरी होने में ईश्वर का कुछ और ही संकेत होगा! संतोष कर!" स्त्री क्रोधित होकर बोली "अजी! तुम्हें तो

संतोष ही संतोष सुहाता है। संतोष हो ही गया! ज्यों त्यों करके दो वस्त्र और चीजें बनी थीं अब बनना ही कठिन है! तुम संतोष धारण करके अपने साथ मुझे भी दुखी कररहे हो!"भजनलाल हँसकर कर कहने लगा "मैं कब दुखी हूं? तू भी दुखी नहीं है! अपने को दुखी मानती है इसी कारण दुःख तुझे सताता है, ईश्वर पर निष्ठा और यथा प्राप्त में संतोष रख।" थोड़े दिन पीछे थोड़ी दूर पर रात्रि में चोरोंका हल्ला हुआ बहुत से मनुष्य चोरों को घेरने दौड़े। चोर भजनलाल के मकान की छतपर से जान लेकर भागे और जवाहरात और दागीनों की गठरी जो कि किसी साहूकार के यहां से चोरी करके बांध लाये थे, पटक गये। सुबह भजनलालने गठरी देखी,जाकर साहूकार को खबर की और राज दरबार में ले जाकर देदी। उसमें सवालाख की कीमत का माल था। राजा भजनलाल की ईमानदारी से अत्यन्त प्रसन्न हुआ। साहूकार बुलाया गया और उसका माल उसे सुपुर्द किया गया। साहूकार ने प्रसन्न होकर एक हजार रुपये भजनलालको भेंट दिये।

भजनलाल के एक दो वर्ष का और दूसरा छः मासका दो पुत्रथे। बड़ा लड़का कभी२ घरके बाहर निकल जाया करता था। एकदिन वह कहीं बाहर चलागया और दिनभर खोजनेपर भी उसका पता न लगा। ब्राह्मणी बहुत शोक करने लगी। भजनलाल ने अपना यह ही सूत्र सुनाया "ईश्वर जो कुछ करता है, सब भले के लिये ही करता है" स्त्री ने रोना बन्द न किया। बहुत खोज करने पर भी लड़का न मिला। एक दिन राजा के यहां से स्त्री पुरुष दोनोंका भोजनके निमित्त न्योता आया। भजनलाल किसी के यहां भोजन करने जाना पसंद नहीं करता था तो भी राजा का न्योता मानना ही पड़ा। जब दोनों स्त्री पुरुष राजा के यहां गये तो राजा रानी ने उनको एकांत में बुला कर कहा "पंडित जी! हमने सुना है कि आपका कोई दो वर्ष का लड़का खोगया है, इससे आप दुखी होंगे।" भजनलाल ने कहा "महाराज! ईश्वर जो कुछ करता है, सब भले के लिये ही करता है, यह मेरा निश्चय है इसलिये मुझे तो कुछ भी दुःख नहीं है, हां! ब्राह्मणी इस बात का बहुत दुःख मानती है।" राजा प्रसन्न होकर बोला "धन्य साधु पुरुष भजनलाल! मैं तुम से कुछ मांगना चाहताहूं।" भजनलालने कहा "महाराज! हम आपकी प्रजा हैं, जो प्रजा का है सो सब आपका ही है, आप खुशी से ले लीजिये।" राजा ने कहा "मैं तुम्हारे बड़े लड़के को लेना चाहता हूं!" ब्राह्मणी बोल उठी "राजा साहब! वहहै ही कहां! जो हम दें!" भजनलाल बोला "आप ले लीजिये, दे दिया!" राजा ने पुत्र को बुलाया। उसको देखकर ब्राह्मण, ब्राह्मणी, रानी राजा चारों प्रसन्न हुए। राजा ने इस प्रकार वृत्तांत सुनाया:— "मेरी वृद्धावस्था में एक राजकुमार हुआ था, दो वर्षका होकर वह मरगया, दूसरी संतान होने की आशा नहीं है, तुम्हारे लड़के के समान ही उसका चेहरा था, इसलिये तुम्हारा लड़का हमनें चुरा लिया है, अब आपकी आज्ञा से वह हमारा हुआ है, यह ही भविष्य का राजा होगा, आप दुखी होते थे इसलिये आपका लड़का आपको दिखला दिया है, यह बात किसी को मालूम नहीं है, इस गुप्त बात को आप भी गुप्तही रखियेगा, जब जब आप की इच्छाहो यहां आकर देख जाया कीजिये। आप के सिवाय और कोई इस बात को जानने न पावे।"

संतोषी भजनलालने संतोषके कारण व्यवहार में भी सुख पाया,तो आत्म संतोषके अनिर्वचनीय सुख का कहना ही क्या है! सवा सौ रुपये के माल के बदले उसे हजार रुपये का माल मिला और पुत्र गुम होने के बदले प्रथम उसे राजकुमार और फिर राजा होते हुए देख दम्पति प्रसन्नता को प्राप्त हुए। संतोष किसी हालत में दुःखदायक नहीं होता। जिनको संतोष नहीं वे संतोष को नहीं समझ सके। कोई कोई कहते हैं कि संतोष

आलसी बना देता है, यह झूठ है क्योंकि जो आलसी बना देवे वह संतोष ही नहीं है। सन्तोष तो खांड़ के खिलौने के समान बाहर, भीतर ऊपर नीचे सब तरफ से सुख रूप ही होता है।

जिस शरीर में प्राण रूप धौंकनी चल रही हो वह जीवित नहीं है परन्तु जीता हुआ वह ही है जिस से किसी प्रकार के अर्थ की सिद्धि हो। प्रश्न है कि जीते जी मुरदा कौन है? उसका उत्तर है कि उद्यम रहित जीता हुआ भी मरे के समान है क्योंकि वह किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करता इसलिये निरुद्यमी का जीता रहना और मर जाना समान ही है। जीवित दो प्रकार के समझो, एक ऐहिक अर्थ की सिद्धि करने वाला और दूसरा पारमार्थिक सिद्धि करने वाला। जो जगत् में अपने या दूसरों के निमित्त कुछ भी नहीं कर सक्ता वह मरा हुआ है। जो ईश्वर-आत्म को नहीं पहिचानता, जो अंतःकरण की शुद्धि अथवा वर्णोचित धर्माचरण नहीं करता, जो तत्व दर्शन निमित्त श्रवण मननादि नहीं करता, वह मरा हुआ है। इसी प्रकार जो मनुष्य संसारासक्त हो कर बहुत द्रव्योपार्जन करता है, बड़े २ मकान बनवाता है, लड़के लड़कियों के विवाह में नामना के निमित्त बहुत आडम्बर रचता है और अपने धर्म कर्म से चूक जाता है, लोभ की कीचड़ में फँसा होता है, धर्माधर्म के भय रहित द्रव्य प्राप्त करता है, वह मरा हुआ है क्योंकि इस प्रकार के उद्यम उद्यम नहीं हैं। अधर्म युक्त द्रव्योपार्जन में अनेक प्रकार का अनर्थ रहता है। जैसे धन प्राप्ति में दुःख, वृद्धि करने में दुःख, रक्षण में दुःख, उपयोग में दुःख, नाश में दुःख, उपभोग में परिश्रम, त्रास, चिन्ता और भय। चोरी, हिंसा, मिथ्या भाषण, दम्भ, काम, क्रोध, विस्मय, मद, वैर, अविश्वास, स्पर्धा, स्त्रियों का व्यसन, जुआ और मदिरापान जो इस प्रकार के उद्यमों में प्रवर्त हैं और आत्मा को नहीं पहिचानते वे जीते जी मुरदे हैं।

सब दुःखों की जड़ आशा है। चाहे अमीर हो चाहे फकीर हो, आशा सब को होती है इसीलिये सब दुखी होते हैं। करोड़ों में कोई एक ही पुण्यवान् आशा रहित होता है। जो आशा रहित है वह ही महा सुखी है। पिंगला वेश्या आशा त्याग कर ही सुखी हुई थी। उसकी कथा इस प्रकार है:-

पूर्व में विदेह राजा जनक के नगर में पिंगला नाम की एक वेश्या रहती थी। एक दिन वह किसी नगर निवासी को अपने शयन गृह में लाने के लिये सुन्दर शृङ्गार करके सायङ्काल को अपने घर के दरवाज़े पर खड़ी हुई। धनके लालच से वह जिस किसी मनुष्य को मार्ग में आता देखती उसी को अपने यहां आकर धन देने वाला समझती थी और जब मनुष्य चला जाता था तब निराश होकर विचारती थी कि और कोई विशेष धन देने वाला धनाढ्य पुरुष मेरे पास आता होगा। इस प्रकार आशा करती हुई वह बहुत रात तक न सोई किन्तु द्वार के सहारे वहां ही खड़ी रही। जब कोई आता देखती तो आशा करती और जब चला जाता तब निराश हो दुखी होती थी और भीतर चली जाती थी, फिर आशा बाहर खींच लाती थी। इसी प्रकार आधी रात बीत गई, कोई भी न आया। धन की आशा से खड़े २ उसका मुख सूखने लगा और चित्त में बड़ा ही दुःख होने लगा, ऐसी अवस्था में उसे कुछ विचार उत्पन्न हुआ "अहो! मुझे कुछ भी विवेक नहीं है, मेरा चित्त क्षण भर भी मेरे वश नहीं रहता! मैं बड़ी ही बेसमझ हूँ! तुच्छ मनुष्य की कामना करती हूं! अपने हृदय के भीतर रहने वाले सर्वदा समीप, नित्य रति और धन देने वाले, आत्म स्वरूप परम पुरुष को छोड़ कर, जो कामना पूर्ण करने में असमर्थ है, दुःख, शोक, भय, चिन्ता और मोह आदिक का देने वाला है, ऐसे तुच्छ पुरुष का भजन करती हूं! मुझे दुराशा ने मोहित कर रक्खा है!" इस प्रकार वैराग्य और विवेक उत्पन्न होने से "अब मैं आत्म

सिवाय अन्य का भजन न करूंगी" ऐसा निश्चय कर परम शांति को प्राप्त हुई और अपनी शय्या पर जाकर सुख से सो गई।

निराशा अमृत के समान सुख देने वाली है, अमृत सजीवन बूटी है। मरण दुःख है और दुःख रहित स्थिति अमृत है। आशा विष समान और निराशा अमृत समान है। आशा में अनेक प्रकार के दुःख होते हैं। आशा रहित जो निराशवान् है उसे कोई दुःख नहीं होता। कहा भी है "आशा का मरे निराशा का जीवे।" जीव भाव आशा है और ब्रह्मस्वरूप निराशा है।

वस्तु-भोग के प्राप्त करने की इच्छा-कामना आशा है और प्राप्त होते हुये भी विशेष प्राप्त करने की तीव्र इच्छा का नाम तृष्णा है। आशा और तृष्णा मा बेटी हैं। आशा से तृष्णा की उत्पत्ति है। मुमुक्षुओं को प्रपंच भाव की आशा और तृष्णा दोनों ही त्यागनी योग्य हैं और उसके बदले आत्म प्राप्ति-बोध की आशा करनी चाचाहिये। आत्म बोध में तृष्णा की आवश्यकता नहीं है। बोध कुछ मिला हो और कुछ वृद्धि करना हो ऐसा नहीं है। तृष्णा अप्राप्त विशेष पदार्थ-भोग में होती है, स्वबोध में तृष्णा की आवश्यकता नहीं है। वास्तविक में तो स्वबोध में आशा की भी आवश्यकता नहीं है परन्तु वह आशा प्रपंच का बाध अन्तःकरण की शुद्धि और अज्ञान की निवृत्ति करनेवाली होने से मुमुक्षुओं को मुमुक्षु दशा में कर्तव्य है। सम्पूर्ण पदार्थों की सम्पूर्ण भाव से सूक्ष्म संस्कार रहित जो निराशा है, वह स्वबोध पश्चात् ही होती है। वह ही अमृत स्वरूप-परमपद-मोक्ष है।

आशा और तृष्णा की उत्पत्ति अज्ञान-मोह से है और वह अज्ञान के परदे को दृढ़ करती है। जिनको अज्ञान निवृत्त करने और परम सुख-शांति प्राप्त करने की इच्छा हो उनको तीनों लोक की आशा, तृष्णा का त्याग करना उचित है।

हैहय देश का सुमित्र नाम का राजा एक वार मृगया खेलने गया, उसने एक मृग को तीक्ष्ण वाणों से बेधा परन्तु अत्यन्त बलिष्ट मृग वाण लेकर भाग गया। राजा भी अपनी सैन्य और साथियों से भिन्न होकर उसके पीछे दौड़ा। मृग क्षण में नीचे दौड़ता और क्षण में उसी भूमिकी सपाटी पर आ जाता। ज्यों २ मृग भागता था, उसके पीछे राजा भी भागता था। बड़े २ नद, नदियां तालाब, पहाड़ और वनों को उल्लंघन करते हुये राजा ने उसका पीछा न छोड़ा। उसने बहुत परिश्रम किया और बहुत से वाण मारे परन्तु मृग न मरा और अन्त में बहुत दूर निकल गया। राजा अरण्य में घुसा, वहां उसे एक तपस्वी का आश्रम दिखाई दिया। राजा वहां गया। श्रम से पीड़ित और क्षुधातुर राजा को देख कर तपस्वी ने भोजन दिया परन्तु राजा ने ग्रहण न किया और वन में किस प्रकार आना हुआ इसका वृत्तांत सुनाया "मैं हैहय कुल में उत्पन्न हुआ सुमित्र नाम का राजा हूं। मृगपतियों को प्रहार करता हुआ विचरता हूं, बड़ी सैन्य, प्रधान और अंतःपुर को लेकर मृगया खेलने निकला हूं, वाण लेकर भागे हुए मृग के पीछे पड़नेसे श्रमसे क्षुधित, आशा भंग और लक्ष्मी रहित हुआ हूं, दैवयोग से इस स्थान पर आ पहुंचा हूं, इससे बढ़ कर दूसरा दुःख क्या होगा! राजधानी का त्याग हुआ, मृग की आशा भंग हुई, हे तपोधन! मैंने राज्य लक्षण का त्याग नहीं किया है, तो भी आशा भंग होने से मुझको तीव्र दुःख हुआ है! बड़े पर्वत हिमालय, महासागर और आकाश की लम्बाई चौड़ाई भी आशा के समान नहीं है। हे मुनि! मैंने आशा का अन्त न पाया, इसलिये मैं पूछता हूं—आकाश और आशा दोनों में बड़ा कौन है? इस लोक में आशा से बढ़ कर दूसरा दुर्जय क्या है? तब सब ऋषियों में श्रेष्ठ ऋषभ ऋषि कहने लगे "मैं पूर्व में तीर्थ यात्रा करता हुआ एक ऋषि आश्रममें पहुंचा। वहां तनु नाम का एक ऋषि निवास करता था, उसका

शरीर बहुत ही पतला था। उसी समय वहां बड़े वेग वाले अश्व पर सवार होकर महा पराक्रमी वीर द्युम्न राजा अपने पुत्र भूरिद्युम्न को जो गुम हो गया था, खोजता हुआ आया। आशा से खींचा हुआ वह राजा भटकता २ वहां आया था। वह कहने लगा "आशा से घिरा हुआ मैं इस स्थान पर आया हूं, यदि मेरा पुत्र न मिलेगा तो मैं अवश्य मरण को प्राप्त हूंगा ! हे महात्मन् ! जगत् में दुर्लभ क्या है ? आशा से बड़ा कौन है ? कृपा करके कहिये" तब ऋषि कहने लगे "हे वीर-द्युम्न ! आशा को प्राप्त करना दुर्लभ है। आशा आकाश से बड़ी और सुमेरु से भी कृष है ! हे राजन् ! जिसने आशा जीती है वह पुष्ट और जिसको आशा ने जीत लिया है वह कृष है ! जो पुरुष द्रव्यवान् न होकर भी संतोष धारण करता है ऐसा पुरुष दुर्लभ है, और जो अर्थवान् पात्र की अवज्ञा नहीं करता है वह अत्यंत दुर्लभ है। जिसने सब प्राणियों, भोगों और ऐश्वर्यों की आशा बांध रक्खी है वह कृष है। जो कृतघ्न, दुर्जन, आलसी और अनुपकारी पर आशा करने वाला हो वह अत्यन्त कृष है !"

——:*:——

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

"य एषोऽक्षिणी पुरुषः" (जो यह आंखों में पुरुष) यह श्रुति समीप से अपने नेत्रों में दीखने वाले पुरुष को उपास्य उपदेश करती है और उपासना के समय कोई नेत्र के पास आये हुये छाया पुरुष की आंख की उपासना करता है ऐसी कल्पना करना ठीक नहीं है।

'अस्यैव शरीरस्यनाशमन्वेष नश्यति' [छान्दो० ८-९-१] (इस शरीर के नाशके पीछे ही यह (छायात्मा (नाश को प्राप्त होता है।) यह श्रुति छायात्मा की एक स्थिति न रहना दर्शाती है। और असंभव से (छायातमा आदि दूसरे का ग्रहण करना युक्त नहीं है)। अमृतत्व आदि गुणों की प्रतीति उस छायात्मा में नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानात्मा का सम्पूर्ण शरीर और इन्द्रियों के साथ साधारण संबंध होते हुये भी वह नेत्रों में ही स्थित है ऐसा नहीं कह सके। यद्यपि ब्रह्म व्यापक है तो भी हृदय आदि देशों में उसके ध्यान के लिये श्रुति में संबंध देखने में आता है और अमृतत्व आदि गुणोंका असंभव तो विज्ञानात्मामें छायात्मा के समान है ही। यद्यपि विज्ञानात्मा परमात्मासे अनन्य-अभेदहै तो भी अविद्या, काम और कर्म से उसमें मरण और भय अध्यारोपित हैं इसलिये अमृतत्व और अभयत्व विज्ञानात्मा में नहीं है। संयद्वामत्व आदि गुण ऐश्वर्य के न होने के कारण विज्ञानात्मा में अयुक्त ही हैं।

देवतात्माकी यदि 'रश्मि भिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठितः' (किरणों द्वारा यह इस में प्रतिष्ठित है) इस श्रुति से नेत्रों में स्थिति मानी जाय तो भी उसका आत्मत्व संभव नहीं होता क्योंकि पराग्रूपबाहर है। अमृतत्व आदि भी संभव नहीं हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति और प्रलय श्रुति में कही है। देवताओं का अमरत्व बहुत समय तक रहता है परन्तु सर्वदा नहीं रहता। ऐश्वर्य भी परमेश्वर के आधीन है, स्वाभाविक नहीं है क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' [तैत्ति० २।८] (भय के कारण इससे-ईश्वर से वायु चलता है भयसे सूर्य उदय होता है, भय से अग्नि और इन्द्र पांचवां मृत्यु दौड़ता है) इस प्रकार इस मंत्र में कहा है इसलिये अक्षिस्थ पुरुष से परमेश्वर ही ग्रहण करना युक्त है और इस पक्ष में 'दृश्यते' (दीखता है) ऐसा जो प्रसिद्ध के समान ग्रहण किया है उस को विद्वद्विषयक शास्त्रादि की अपेक्षा है और अभिरुचि के लिये है ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥ १७ ॥

(५) अन्तर्याम्यधिकरण ।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-अधिदैवादिषु अधिदैवादि में [जो] अन्तर्यामी अन्तर्यामी [सुना जाता है, वह परमात्मा है] तद्धर्मव्यपदेशात् उसके (परमात्मा के) धर्म के कथन से ।

टीकाः—'य इमं च लोकं परं च लोकं सर्वाणि च भूतान्यन्तरो यमयति' (जो इस लोक को और परलोक को और सर्व भूतों के अभ्यन्तर रह कर नियम में रखता है) ऐसा उपक्रम करके श्रुति प्रतिपादन करती है कि—'यः पृथिव्यांतिष्ठन् पृथिव्याअन्तरो यं पृथिवी नवेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' [बृह० ३।७।१, २] (जो पृथिवी में रह कर पृथ्वी के अभ्यन्तर है, उसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो अभ्यन्तर रह कर पृथिवी को नियम में रखता है यह तेरा आत्मा, अन्तर्यामी, अमृत है) इत्यादि । यहां देवता, लोक, वेद, यज्ञ, भूत और आत्मा को कोई अभ्यन्तर रह कर नियम में रखने वाला अंतरर्यामी है ऐसी श्रुति है । वह अंतर्यामी कौन है ? अधि दैवादि का अभिमानी कोई देवतात्मा है, अथवा जिसको अणिमा आदि सिद्धियां प्राप्त हैं ऐसा कोई लौकिक योगी है, अथवा परमात्मा है; अथवा कोई अन्य पदार्थ है ? ऐसा संशय होता है क्योंकि अपूर्व–जो पहले न देखी हो ऐसी–संज्ञा देखने में आती है ।

पूर्वपक्षीः-संज्ञा–नाम अप्रसिद्ध होने से संज्ञी–नामी भी कोई एक अप्रसिद्ध अन्य पदार्थ होना चाहिये, ऐसा मालूम पड़ता है । अथवा जिसके रूप का निरूपण नहीं हुआ है ऐसा अन्य पदार्थ स्वीकार नहीं कर सके, और अन्तर्यामि शब्द, अन्दर से नियम में रखना यह योग–व्युत्पत्ति से प्रवृत्त हुआ अत्यन्त अप्रसिद्ध नहीं है । इसलिये पृथिवी आदि का अभिमानी कोई एक देव अन्तर्यामी होवे । श्रुति भी ऐसी ही है–'पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनो ज्योतिः' [बृह० ३–९ १०] (पृथिवी ही जिसका शरीर, अग्नि नेत्र और मन ज्योति है) इत्यादि और उसकी कार्य इन्द्रियां होने से पृथिवी आदिके अन्दर रहकर नियम में रखता है इसलिये देवतात्मा नियम में रखने वाला है, यह युक्त है परन्तु परमात्मा की प्रतीति नहीं होती क्योंकि उसके कार्य इन्द्रियां नहीं हैं ।

सिद्धान्तीः—परमात्मा के धर्म के कथन से अधि दैव आदि जो अन्तर्यामी श्रुति में कहा है वह परमात्मा ही है अन्य नहीं है । यहां पर परमात्मा के धर्म ठीक २ कहे हुये दीखते हैं । अधिदैवादि भेद से भिन्न पृथिवी आदि समस्त विकार समूह के अन्दर रह कर परमात्मा उनको नियम में रखता है इसलिये परमात्मा में यमन करने का धर्म युक्त है क्योंकि जो सर्व विकार का कारण है वह सर्वशक्तिमान है । 'एषत आत्मान्तर्याम्यमृतः' (यह तेरा अन्तर्यामी आत्मा अमृत है) यह आत्मत्व है और अमृतत्व मुख्य अर्थ में परमात्मा के विषे युक्त है । 'यं पृथिवी न वेद' (जिसको पृथिवी नहीं जानती) यह श्रुति, पृथिवी देवता से अन्तर्यामी नहीं जाना जाता, ऐसा कह कर देवतात्मा से अन्य अन्तर्यामी को दर्शाती है क्योंकि पृथिवी देवता 'मैं पृथिवी हूं' ऐसे आत्मा को जाने । इसी प्रकार 'अदृष्टोऽश्रुतः' (अदृष्ट अश्रुत) इत्यादि कथन रूपादि विहीन परमात्मा को ही युक्त है ।

कार्य इन्द्रिय रहित परमात्मा को नियामकपना युक्त नहीं है, यह जो कहा सो यह दोष नहीं है । जिनको वह नियम में रखता है उनकी कार्य इन्द्रियों द्वारा ही उसमें कार्य इन्द्रियां हैं, यह युक्त है । उसका भी अन्य नियन्ता होना चाहिये ऐसा अनवस्था दोष सम्भव नहीं है क्योंकि भेद का अभावहै । यदि वास्तविक भेद होवे तो अनवस्था दोष युक्त होवे परन्तु वास्तविक भेद है नहीं इसलिये परमात्मा ही अन्तर्यामी है ॥१८॥ (अपूर्ण)

आत्मप्रबोध उपनिषद् ।

प्रत्येक आनन्द रूप और ब्रह्म पुरुष प्रणव रूप है। अकार, उकार और मकार ये तीन अक्षर प्रणव रूप हैं, इसको ॐकार कहते हैं। इसका उच्चारण करने से योगी जन्मरूप संसार बंधन से मुक्त होता है। शंख चक्र और गदा को धारण करने वाले नारायण को नमस्कार। नमोनारायण इस मंत्र की उपासना करने वाला वैकुण्ठ में जायगा। जो ब्रह्मरंध्र रूप कमल है, वह बिजली के समान प्रकाशता है। यह ब्रह्मण्य देवकीपुत्र रूप से, मधुसूदन रूप से, पुण्डरीकाक्ष रूप से, विष्णु रूप से और अच्युत रूप से है। सब प्राणियों में, एक नारायण स्थिति करते हैं। वह कारण रूप पुरुष, कारण से रहित, परब्रह्म रूप ओंकार, शोक मोह रहित, और विष्णु रूप है। इस विष्णु के ध्यान करने वालों का नाश नहीं होता। वह द्वैत से अद्वैत रूप और अभय रूप हो जाता है। जो भिन्नता को देखता है, वह अनेक प्रकार के मृत्यु को प्राप्त होता है। यह विष्णु भगवान् हृदयकमल में सब रूप से रहते हैं, उनकी स्थिति प्रज्ञा में है। नेत्र लोक रूप से, प्रतिष्ठा रूप से और ब्रह्म रूप से है। इस प्रज्ञा से इस लोक का उत्क्रमण करके दूसरे लोक अर्थात् स्वर्ग में मनुष्य सब कामनायें प्राप्त करता है। वह अमृत रूप होता है। उसमें सतत ज्योति है। जिस लोकमें यह ज्योति रहती है वह लोक मुझको दीजिये। यह अक्षत लोक मान से रहित और अच्युत रूप है। जो इस लोक को प्राप्त होता है, वह अमृत होता है ॥ १ ॥ मुझमें से माया का नाश हुआ है, स्वच्छ दृष्टि रूप वस्तुमात्र मैं हूं। अस्मिता का नाश करने वाला, जगत्, ईश और जीव के भेद से रहित हूं (१) प्रत्यक् अभिन्न रूप हूं, विधि निषेध का नाश रूप हूं, परमानन्द रूप हूं, समुदाय का आश्रय रूप हूं, पूर्ण संवित् रूप हूं (२) अपेक्षा रहित साक्षी हूं, अपनी महिमा में स्थित हूं, अचल हूं, अजर हूं, अव्यय हूं, पक्ष विपक्ष भेद से रहित हूं। (३) एक रस ज्ञानस्वरूप हूं, मोक्ष आनन्द का एक सिन्धु भी मैं ही हूँ, सूक्ष्म हूं, अक्षर हूं, गुण समूह से रहित केवल आत्मा हूं, (४) तीन गुणों से रहित पद हूं, कुक्षी स्थान में लोक कलना रूप हूं, कूटस्थ चैतन्य हूं, निष्क्रियमान-हूं, तर्क से रहित हूं। (५) एक हूं, कला से रहित हूं, निर्मल, निर्वाण मूर्त्ति भी हूं, निरवयव हूं, अज हूं, केवल सन्मात्र सार भूत हूं। (६) अवधि रहित, निज बोध रूप हूं, शुभतर भाव रूप हूं, अभेद्य हूं, विभु हूं, निन्दा से रहित, अवधि रूप हूं, परमतत्त्व मात्र हूं। (७) जानने योग्य हूं, वेद में आराधन करने योग्य, सब भुवनों का हृदय हूं, परमानन्द घन हूं, परमानन्द का एक भूमा रूप हूं। (८) शुद्ध हूं, अक्षय हूं, सर्व भाव रूप हूँ, आदि शून्य हूं, शमनमें तीसरा हूं, बंध मुक्त हूं, अद्भुत आत्मा हूं, (९) शुद्ध हूं, अन्तर हूं, शाश्वत विज्ञान एक रस आत्मा हूं, शोधनक्रिया हुआ परम तत्व मैं हूं, बोध, आनन्द एक मूर्ति भी हूं। (१०) विवेक और युक्ति की बुद्धि वाला हूं, अद्वय आत्मा को जानता हूं तो भी बंध मोक्ष आदि व्यवहार प्रतीत होता है। (११) मैं निवृत्त हूं तो भी प्रपंच मुझको सत्य की समान सर्वदा सत्य भासता है। जैसे सर्प आदि में रज्जु की सत्ता है, ऐसे प्रपंच में केवल ब्रह्म सत्ता ही है। (१२) मैं प्रपंच का आधार रूप हूं तो भी मुझ में जगत् नहीं है, जैसे ईख में रस रूप से शक्कर रहती है तैसे ही (१३) अद्वितीय ब्रह्म रूप से तीनों लोकों में व्याप्त हूं, ब्रह्मा से लेकर कीट-पर्यन्त सब प्राणी मुझ में कल्पित हैं। (१४) बुद्-बुदे से लेकर तरङ्ग तक जितने विकार समुद्र में दीखते हैं, उन तरङ्गों में स्थित विकारों को जैसे सिंधु नहीं चाहता तैसे ही (१५) आनन्द रूप होने से मुझे विषयानन्द की इच्छा नहीं होती, जैसे धनवान् को दरिद्र होने की इच्छा नहीं होती तैसे ही (१६) मुझ ब्रह्मानन्द में निमग्न को विषय की आशा नहीं होती, विष और अमृत को देख कर बुद्धिमान् पुरुष विष को त्यागता है। (१७) तैसे ही आत्मा को देख कर मैं अनात्मा का त्याग करता हूं, घट में प्रकाशने वाले सूर्य का घट के नाश से नाश नहीं होता (१८) तैसेही देहको प्रका-शने वाले साक्षी का देह के नाश होने से नाश नहीं

होता, मुझको बंध, मोक्ष, शास्त्र और गुरु कोई नहीं है। (१९) मैं माया का विकाश करने वाला माया से रहित अद्वय हूं, उसके धर्मोंसे प्राण चला करो, और मन कामना से मरता रहो। (२०) आनन्द बुद्धि से पूर्ण मुझ को दुःख कहांसे हो ? मैं आत्मा को जनता हूं, मेरा अज्ञान नष्ट हुआ है। (२१) मेरा कर्तृत्व नष्ट हो गया है, अब कर्त्तव्य कुछ नहीं है, ब्राह्मणपना, कुल, गोत्र, नाम, सौन्दर्य, जाति (२२) ये स्थूल देह में रहते हैं, स्थूल देह से भिन्न मुझ में नहीं रहते. भूख, प्यास, अंधा पना, बहिरा पना, काम, क्रोधादि सम्पूर्ण (२३) ये लिङ्ग देह में होते हैं परन्तु मैं लिंग देह से रहित होने से, मुझ में कुछ भी नहीं है, जड़पना, प्रिय, मोद, आदि धर्म कारण देह के हैं। (२४) परन्तु मैं नित्य निर्विकारी हूं, इसलिये वे मेरे नहीं हैं। जैसे घुग्घू को सूर्य अन्धकार रूप से दीखता है। (२५) तैसे मूढ़ को स्वप्रकाश परानन्द में अज्ञान दीखता है, चक्षु दृष्टि की बादल से रोक होने के कारण सूर्य नहीं है, ऐसा माना जाता है (२६) तैसे ही अज्ञान से ढका हुआ जीव 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा मानता है। जैसे अमृत विष से भिन्न है और विष के दोषों से लिपायमान नहीं होता (२७) तैसे ही जड़ से भिन्न मुझको जड़ादि दोषों का स्पर्श नहीं होता, जैसे एक छोटे से दीपक की ज्योतिं बहुत अन्धकार का नाश करती है (२८) तैसे थोड़ा सा भी ज्ञान महान् अज्ञान् का नाश करता है। जैसे तीनों काल में रज्जु में सर्प नहीं है, वैसे ही मुझ में। (२९) अहंकारादि देह वाला जगत् नहीं है। मैं अद्वय रूप हूं, मैं चेतन रूप होने से मुझ में जड़ता नहीं है। मैं सत्य रूप होने से मुझ में असत्य नहीं है (३० मैं आनन्द रूप होनेसे मुझमें दुःख नहीं है, अज्ञान से मुझ को दुःख सत्य रूपसे भासता है। आत्म प्रबोध उपनिषद् की जो एक मुहूर्त भी उपासना करता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, पुनरावृत्ति नहीं होती।

कालाग्नि रुद्र उपनिषद्।

एक समय भगवान् कालाग्नि रुद्र से सनत्कुमार ने पूछा "हे भगवन्! मुझे त्रिपुण्ड्र की विधि श्रवण कराइये। त्रिपुण्ड्र क्या है, उसका स्थान कौन है, प्रमाण क्या है, कौनसी रेखा है, मंत्र कौन से हैं, कौनसी शक्ति का दैवत् कौन कर्ता है और उसका क्या फल है ?" भगवान् कालाग्नि रुद्र ने कहा "जो द्रव्य है, सो अग्निहोत्र की भस्म है, 'सद्यो जातादि' पांच मंत्र से इस भस्म को ग्रहण करना, 'अग्नि भस्म, वायु भस्म, व्योम भस्म, जल भस्म, और स्थल भस्म इस मंत्र से अभिमन्त्रित करके 'मान स्ताके' इस मन्त्र से अंगुली पर लेकर 'मानो महान्' इस मंत्र से जल लेकर 'त्रियायुष' इस मंत्र से शिर, ललाट वक्ष और स्कंध पर 'त्रियायुष' और 'त्र्यंबक' इस मंत्र से तीन रेखा करना। यह शांभव व्रत कहलाता है। सब देवताओं में इस व्रत को वेद वेत्ताओं ने कथन किया है। इस के धारण करने वाले का फिर से जन्म नहीं होता।" सनत्कुमार ने पूछा "तीन रेखा करने में आती हैं इसका क्या कारण है ?" उत्तरः—"तीन रेखाओं में से प्रथम रेखा गार्हपत्य रूप, आकार रूप, रजो रूप, भूलोक रूप, स्वात्म रूप, क्रिया शक्ति रूप, ऋग्वेद रूप, प्रातः सवन रूप और महेश्वर रूप है। दूसरी रेखा दक्षिणाग्नि रूप, उकार रूप, सत्व रूप, अन्तरिक्ष रूप, अंतरात्मा रूप, इच्छा शक्ति रूप, यजुर्वेद रूप, मध्य दिन सवन रूप, और सदा शिव रूप है, तीसरी रेखा अद्वितीय रूप, मकार रूप, तम रूप, द्योलोक रूप, परमात्मा रूप, ज्ञान शक्ति रूप, साम वेद रूप, तृतीय सवन रूप और महादेव रूप है। जो कोई विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थाश्रमी, वानप्रस्थाश्रमी, अथवा यति हो और वह जो त्रिपुण्ड्र को धारण करे तो महापातकों और उपपातकों से मुक्त होता है, सब तीर्थों में उसने स्नान किया कहलाता है, उसने सब वेदों का अध्ययन किया कहलाता है, सब देवताओं का वह ज्ञाता होता है, वह सब रुद्र के मंत्रों का जप करने वाला होता है, वह सब भोग का भोगता है, देह त्याग करके वह शिवपने को प्राप्त होता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती।" इस प्रकार कालाग्नि रुद्र ने कहा। जो इसका अध्ययन करता है, वह भी उसके समान होता है।

Registered No. A. 860.

* ॐ *

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } चैत्र सं० १९७८। अप्रैल १९२१ { अंक ६

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,

बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा । बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा ।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) लिया जायगा । नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा ।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द	... ...	मूल्य रु०	३।–)
,, द्वितीय ,, ,,		,,	३।–)
,, प्रथम ,, विना जिल्द		,,	३)
,, द्वितीय ,, ,,		,,	३)

डाक महसूल ग्राहकों को देना पड़ेगा ।

प्रकाशक ।

वेदान्त केसरी।

पुस्तक ३ | चैत्र सं० १९७८। अप्रैल १९२१ | अंक ६

संग्रह वृत्ति।

छप्पय छन्द।

(१)

संग्रह दुख का हेतु, केतु ग्रह सम उत्पातिन।
करे बुद्धि का नाश, आश उपजावे दिन दिन॥
कार्याकार्य विचार, धार बुद्धी नहिं सक्ती।
भूले इष्ट अनिष्ट, दुष्ट विषयन में फँसती॥
संग्रह में दुःख होत है, रक्षण में नर हो दुखी।
दुःख प्रत्यक्ष हि नाश में, कैसे कोई हो सुखी॥

(२)

संग्रह ग्राह बलिष्ट, पुष्ट डाढ़ें है रखती।
उलटी सुलटी डाढ़, गाढ़ जीवन कूं भखती॥
जो आ जावे पास, ग्रास उसका ही करती।
सक्ता नहिं सो छूट, ऊंट ज्यों गला पकड़ती॥
संग्रह वृत्ति महान विष, तृषा न भूख विचारती।
एक वार मारत गरल, जन्म जन्म यह मारती॥

(३)

संग्रह अनरथ खानि, मान अभिमान बढ़ावे।
उपजावे अज्ञान, ज्ञान विज्ञान नशावे॥
निज पर देह बनाय, हाय! यह कैसा अनरथ।
आंतर संग्रह मुक्त, युक्त सोही है समरथ॥
दया दान शुभ वासना, संग्रह वृत्ति नशावती।
मोह अन्धकरि जीव को, जन्म २ भटकावती॥

(४)

स्वार्थ हेतु मोहांध, बन्धु बान्धव कूं मारत।
देवे नाना कष्ट, भ्रष्ट नहिं धर्म विचारत॥
संग्रहयुत को चोर, डाकू, लोभी ठग तकते।
राजा मन्त्री आदि, दांत निश दिन हैं रखते॥
वृष्टि, अग्नि, भूकम्प, जल, इन सबसे भय खाय है।
संग्रह भय की भूमि है, चतुर तहां नहिं जाय है॥

(५)

संग्रह का अभिमान, मान वृद्धों का ढावे।
बोय बीज मद मोह, द्रोह की बेल बढ़ावे॥
संग्रह दुख की मूल, शूल नाना उपजावे।
करे शत्रु को मित्र, मित्र को शत्रु बनावे॥
बोतल बीस शराब की, नशा इतना नहिं लावती।
संग्रह मदिरा तीक्ष्ण अति, भूमि मंदिर हिलावती॥

(६)

संग्रह नदी अधर्म, धर्म मर्यादा तोड़े।
नाशे बोध, प्रबोध क्रोध से नाता जोड़े॥
बढ़ा काम, मद, लोभ, क्षोभ बुद्धी में लावे।
चिन्तातुर करि चित्त, नित्य विनु अग्नि जलावे॥
जो संग्रह को त्यागता, सो ही होता है सुखी।
जो संग्रह अनुरागता, दुखियों में अति ही दुखी॥

(७)

संग्रह से हो मुक्त, चित्त निर्मल हो जावे।
निर्भय, रहे निशंक, जहां चाहे तहँ जावे॥
संग्रह रक्खे दूर, शूर सो मुक्त मुमुक्षू।
वही साधु वहि सिद्ध, वही निज परहित इच्छू॥
संग्रह है दलदल महा, जो उसमें फँस जाय है।
ज्यों ज्यों चाहे निकलना; त्यों त्यों नीचा जाय है॥

(८)

संग्रह महा समुद्र, छिद्र छल कपट भरा है।
सुख जल की नहिं गन्ध, अन्ध बन जीव गिरा है॥
संग्रह दुख कर जैल, मेल कर मूढ़ मरा है।
पावे नाना कष्ट, इष्ट से दूर पड़ा है॥
संग्रहवान मनुष्य को, मित्र कुटुम्ब खसोटते।
संग्रह रहित कौशल्य! नित, सुख शय्या पर लोटते॥

मन क्या है ?

जब तक मन को समझा नहीं जाता तब तक मन के ऊपर अधिकार रखना अशक्य है, सामान्य मनुष्य मन को न जानते हुये भी हमारा मन ऐसा है, हमारा मन ऐसा कहता है. ऐसा कथन करते हैं परन्तु मन क्या है और हम क्या हैं, इसका विवेक उनको नहीं होता। जब थोड़ी सी शास्त्र की बात सुनते हैं अथवा किसी साधु पुरुष द्वारा मन लगा के भजन करना सुनते हैं और इस प्रकार करना चाहते हैं, तब मन चंचल है, ठहरता नहीं ऐसा उन्हें मालूम होता है। वे मन की अति चंचलता से दुःखी भी होते हैं परन्तु मन का वास्तविक बोध उन्हें नहीं होता इसलिये मन को जानना, रोकना और वश करना उनसे नहीं बनता। प्रथम तो उन्हें मन के जानने वाले. वशवर्ती करने वाले ही का पता नहीं है. तो मन किस प्रकार मापा जाय! कोई भी वस्तु मापने को हमें अपने एक मुख्य बिन्दु को निश्चित करना पड़ता है। स्थिरता वाला स्थिरता से अस्थिरता को जान सक्ता है। जिसने अपने को सिद्ध नहीं किया है, वह मन को किस प्रकार सिद्ध कर सक्ता है। ग्रहों, उपग्रहों की जो २ चाल है उसका माप स्थिर ऐसे ध्रुव को कायम करके ही किया जाता है इसी प्रकार ध्रुव, आत्मा से ही सबका माप लिया जाता है। मन को जानने के लिये प्रथम अपने को जानने की आवश्यकता है, यदि अपने को न जानते हुये मन के जानने का प्रयत्न करेंगे–जानेंगे तो वह ठीक न होगा। शास्त्र में कथन है:—मन ही मनुष्य है, बंधन और मोक्ष मन के हाथ में हैं। अब सोचना चाहिये कि जब मन ही मनुष्य है, तब मन ही आत्मा हुआ, मन के सिवाय आत्मा न रहा, तो भी मेरा मन, ऐसा कहा जाता है, ऐसा क्यों कहा जाता है. क्योंकि मन को न जानते हुये भी उसे अपने से पृथक् समझते हैं। मन मनुष्य है, यह बात सत्य है क्योंकि जैसा जिसका मन है, वैसा वह मनुष्य है। मन मनुष्य रूप से वर्तता है परन्तु मनुष्य आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं है। न होता हुआ, माया के भाव का मन है, ऐसा मन ही आत्मा का बन्धन है, इसी से मन को बन्धन कहा है। माया है तो माया के भाव का मन है, माया नहीं तो माया के भाव का मन नहीं। जब आत्मा के सामने मन की आड़ नहीं, तो बंधन नहीं, और बंधन नहीं तो मोक्ष स्वतः सिद्ध है। इसलिये ही बंध और मोक्ष दोनों में मनको कारण रूप कहा है, यह मुमुक्षुओं के निमित्त है। मन आत्मा से अत्यंत पृथक् वस्तु नहीं है किन्तु अज्ञान के वस्त्र सहित आत्म प्रकाश ही मन है और अज्ञान के वस्त्र रहित आत्म प्रकाश आत्म स्वरूप है। मन और आत्मा दो पदार्थ नहीं हैं, एक ही हैं। उपाधि सहित आत्मा मन है और उपाधि रहित आत्मा आत्मा है इसलिये जो मनको यथार्थ जानता है.वह आत्मा को यथार्थ जानता है और जो आत्मा को यथार्थ जानता है, वह मन को यथार्थ जानता है। यदि दोनों भिन्न २ होते तो दोनों का भिन्न २ बोध होना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता, जब मन अपने कार्य में प्रवर्त होता है, तब आत्मा–अपन का बोध नहीं होता, और जब आत्मा को जानते हैं तब मन का पता नहीं चलता इसलिये ये दोनों भिन्न २ नहीं हैं। जब मन कोई कार्य करता है तब मन को जानने का भाव नहीं रहता, जब मन कार्य कर चुकता है, पश्चात् जाना जाता है कि मन ने ऐसा २ कार्य किया। इस समय मन करने वाला नहीं होता, मन ने ऐसा किया, यह ज्ञान स्मृति रूप है। जैसे जागृत् अवस्था में स्वप्नावस्था नहीं होती और स्वप्नावस्था में जागृत् अवस्था नहीं होती इसी प्रकार मन और अपन एक क्षण में एक साथ नहीं रहते। स्वप्नावस्था और जागृतावस्था जैसे एक को होती है ऐसे ही अपना पना और मन पना दोनों एक के हैं इसलिये एक समय में दोनों एक साथ नहीं होते। अपना पना भी शुद्ध आत्मा का नहीं है, क्योंकि

शुद्ध आत्मा व्यक्तिभाव से रहित व्यापक है, उसका पृथक् बोध नहीं हो सक्ता, त्रिपुटी में पृथक्ता से बोध होता है। जिसे अपन पना कहते हैं, वह भी उपाधि का स्वरूप है। स्वच्छ उपाधि में प्रकाश की विशेषता होती है, सामान्य मनुष्य उसे ही अपन समझते हैं और कुछ समझने वाले रजोगुण की प्रवृत्ति रूप उपाधि को मन कहते हैं। एक ही आत्मा तीन प्रकार के गुणों की उपाधि से तीन प्रकार का मन होता है। सतोगुण की उपाधि वाला आत्मा सतोगुणी मन कहलाता है. अपन शब्द का उसमें उपयोग होता है। अंग्रेजी में इसे कौन्शेन्स (conscience) कहते हैं। रजोगुण की उपाधि वाला आत्मा रजोगुणी मन कहलाता है, जो अनेक प्रकार की प्रवृत्ति और दुःख का हेतु है। तमोगुण की उपाधि वाला आत्मा तमोगुणी मन कहलाता है, जो प्रमाद, मोह, आलस्य और निद्रा का हेतु है। इन तीनों प्रकार वाला मन उपाधि वाला आत्मा ही है। जब उपाधि का त्याग कर दिया जाता है, तो वह ही मन शुद्ध आत्मा रह जाता है जैसे रेलवे की लालटैन में एक सफेद, दूसरा लाल और तीसरा हरा तीन कांच होते हैं। ये तीनों रङ्ग के कांच ज्योति के सामने उपाधि—परदे हैं उसमें से ज्योति बाहर उपाधि युक्त होती है। सफेद कांच में से बाहर पड़ा हुआ प्रकाश सतोगुणी मन है, लाल कांच में से बाहर पड़ा हुआ प्रकाश रजोगुणी मन है और हरे कांच में से बाहर पड़ा हुआ प्रकाश तमोगुणी मन है। प्रकाश ज्योति है और बाहर पड़ा हुआ प्रकाश मन है। जिस प्रकार ज्योति अन्य और प्रकाश अन्य नहीं है इसी प्रकार मन ही उपाधि वाला आत्मा है। उपाधि वाले आत्मा के बदले उसे मन कहते हैं। उपाधि निवृत्त होने पर मन ही आत्मा है। मनको अज्ञान-अविद्या, माया, भ्रम, कल्पना आदिक समझना चाहिये। उसी का नाम अन्तःकरण है। संकल्प, विकल्प, अन्तःकरण की वृत्ति रूप संकुचित भाव से ऊपर का कथन मन का नहीं है। कूटस्थ का आभास जो अविद्या में से प्रवर्त्त होता है, उस आभास वाला अन्तःकरण मन होता है। आभास में विशेष चैतन्य है, यह विशेषता अविद्या की उपाधि जनित है। जो कर्त्ता भोक्ता के भाव युक्त बनता है, वह ही मन, अहंकारादि कहा जाता है। जिसके सहारे विशेषता टिकी है, अविद्या सहित विशेषता हटा देने पर वही आत्म स्वरूप है। मन को विशेषता वाला आभास समझो, मन के आधार से बनी हुई व्यक्ति की विशेषता जब चली जाय तब वह ही मन आत्मा है।

राजा भर्तृहरि ने रानी पिंगला के प्रपंच से अपने छोटे भाई विक्रमादित्यको देश निकाला किया था। विक्रमादित्य जंगलों में भटकता रहा और जंगल की अनेक आपत्तियोंको सहन करता रहा। जब राजा भर्तृहरिको पिंगलाके व्यभिचारकी खबर पड़ी तब उसे वैराग्य हुआ और वह राजपाट छोड़कर त्यागी होगया। उस समय उज्जैनीनगरी को बिना राजा की देखकर एक नये राजा को सरदारों ने राज्यारूढ़ कर दिया परंतु वह दूसरे ही दिन मर गया। दूसरा, तीसरा, चौथा इस प्रकार कितने ही राजा गद्दी पर बैठाये गये और दूसरे दिन मरे हुए मिले। अब राज्यासन पर बैठना कोई नहीं चाहता था। यदि कोई राजा बनने को कहता तो लोग कहते 'एक दिन का राजा' यह खबर विक्रमादित्य को मिली, वह जंगल को छोड़कर उज्जैनी नगरीमें आया तो एक मनुष्य उसने डोंडी पीटता हुआ देखा "जिसको राजा बनना हो, वह प्रधान के पास आकर स्वीकार करे, उसको राजा बनाया जायगा।" यह सुनकर कंगाल भेष वाला विक्रमादित्य प्रधान से मिला। प्रधान ने उसे न पहिचाना परंतु राज्यारूढ़ कर दिया। पश्चात् विक्रमादित्य एकांत में जाकर विचारने लगा "जो जो राजा होते हैं, वे दूसरे दिन महल से मरे हुए निकलते हैं इसका कारण किसी को मालुम नहीं है। कोई बलिष्ट

दैत्य अथवा देव राज्य पर असंतुष्ट होगा, इसके बिना राजा की मृत्यु होना संभव नहीं है। इसका कारण क्या है? मारने वाला कौन है? यदि कोई देवता हो तो उसे संतुष्ट कर देना चाहिये, राजा न रहने से राज्य का भी नाश होगा।" राजा ऐसा विचार कर एक तेज घोड़े पर सवार होकर जंगल की तरफ चला गया। उसके पूर्व शुभ कर्मों के प्रभाव से उसे जंगल में एक अवधूत संत मिला। विक्रम ने उसे प्रणाम किया। फिर दोनों में यह बात चीत हुई:—

विक्रमः—महाराज! मैं आपसे कुछ सहायता लेना चाहता हूं यदि आप आज्ञा करें तो मैं अपनी आपत्ति की वार्ता सुनाऊं।

अवधूतः—बच्चा! तू राजा दीखता है, तुझ में शौर्य और पुण्य का प्रभाव भी है, तू अपनी कथा कह. यदि तुझे सहायता देने की मुझ में कुछ सामर्थ्य होगी तो मैं तेरी सहायता करूंगा।

विक्रमः—मैं उज्जैनी नगरी का राजा विक्रमादित्य हूं, आजही राजा बना हूं, मुझसे पूर्व कितने ही राजा एक २ दिन के राजा बनकर यम सदन में पहुंच गये। यदि कोई उपाय न मिला तो मेरी भी वही गति होगी। मुझे अपने मरण का भय नहीं है परन्तु परंपरा से चले आये हुये हमारे राज्यका नाश होगा। यह मुझे बहुत खटकता है।

अवधूतः—(स्मित हास्य करते हुए) बच्चा! मैं तुझे उपाय बताऊंगा, तेरी और राज्य दोनों की रक्षा होगी। बोल! राजाओं को मारने वाला कौन है? तुझे क्या अनुमान होता है?

विक्रमः—राज्य से असंतुष्ट हुआ कोई देव अथवा पिशाच होगा।

अवधूतः—तू सच कहता है, ऐसाही है! उसकी उत्पत्ति राजा से होती है और राजा उससे ही मारा जाता है।

विक्रमः—महाराज! यह आप क्या कहते हैं? राजा उसे उत्पन्न करने वाला कैसे होता है? अपने मरणके निमित्त उसे क्यों उत्पन्न करता है?

अवधूतः—बच्चा! जैसा मैं कहता हूं ऐसा ही है! सुनः—राजा के शयन मंदिर में एक विचित्र प्रकार का दर्पण जड़ा हुआ है, जब राजा शयन करने को जाता है, तब अपने मुकुट आदि आभूषणों सहित जाता है। आभूषणों में अनेक प्रकार के रत्न जड़े हैं, और हथियारों में भी रत्न जड़े हुए हैं। राजा और आभूषणों से रत्न जब दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं तब तीनों के मेल से एक भयंकर पिशाच उत्पन्न होता है। प्रथम धुवें का गुब्बारा निकलता दीखता है, फिर उसमें ज्वाला दीखती है और विचित्र आकृतिके भयंकर भूत का स्वरूप दीखता है लंबे २ हाथ पैर और डाढ़, जिह्वा बड़ी भयंकर दीखती है। राजा उस स्वरूप को देखकर भयभीत होता है, साथ ही एक प्रकार का नाश कारक वायु उत्पन्न होताहै जिससे राजा मूर्छितहो जाताहै और मर जाताहै। यह सब चिह्न रात्रि के समय आभूषणों सहित राजा के शयन मंदिरमें घुसते ही होते हैं। जो अन्य नौकर आदि उस मंदिर में जाते हैं, उनके साथ आभूषण नहीं होते इसलिये ऊपर बताये हुए दर्पण में इस प्रकार की विक्रिया नहीं होती। पूर्वके किसी एक राजाने दर्पण रखवाया और बहुमूल्य रत्न मुकुट में जड़वाये तब से यह उपद्रव खड़ा हुआ है। यदि तू मुकुट आदि आभूषणों को छोड़कर शयन मंदिर में जायगा तो वह पिशाच उत्पन्न ही न होगा और तेरा मृत्यु भी न होगा। तू सद्‌गुण सम्पन्न है इसलिये मैंने तेरे मरण की निवृत्ति होने का सदुपदेश दिया है।

विक्रमादित्य चतुर था संमेल का रसायनिक प्रभाव उसकी समझ में आगया। अवधूत का कोटिशः उपकार मानकर प्रणाम करके राज महल में चला आया। मुकुट आदि आभूषणों को

छोड़कर जाने से किसी प्रकार का पिशाच अथवा विक्रिया उसे दिखाई न दी।

बनने वाला राजा आत्मा है, मुकुट आदि आभूषण अज्ञानादि उपाधि हैं। दर्पण अंतःकरण रूप विकृति है। उसमें पड़ा हुआ आभास-मन पिशाच है। वह ही पिशाच राजारूप आत्मा को मारडालता है-आत्मभाव हटाकर अनात्मभाव कर देता है। अनात्म भाव में ही वारंवार मृत्यु और दुःख हुआ करता है जीवन्मुक्त अवधूत-महात्मा सद्गुरु है। परम पुरषार्थ साध्य करने वाला पराक्रमी राजा विक्रम है। सद्गुरु के उपदेश द्वारा उत्तम अधिकारी पिशाच रूप मन के उपद्रवों से निवृत्त होता है। मन क्या है, कैसे बनता है, और कैसे उपद्रव करता है, यह सब ऊपर के दृष्टान्त से समझ में आगया होगा। जब तक मन को वस्तु रूप से नहीं समझते तब तक वह दुःख देने वाला ही होता है। अपने से बना हुआ मन अपने को ही नाश करता है।

अथवा यों समझोः—रुई है, रुई में से तन्तु निकलकर, बल देकर सूत बना, सूत एक दूसरे के ऊपर नीचे जाने से कपड़ा बना। रुई आत्मा है, तंतु निकलना, बल खाना उपाधि हैं। उपाधियों का एक दूसरे के ऊपर नीचे होना मन है अर्थात् कपड़ा मन है। यदि कपड़े रूप मन की सब उपाधियां हटा ली जांय तो वस्तु रूप से रुई रूप आत्मा ही है। मन ही आत्मा है, उपाधियां हटाने से ही शुद्ध आत्मा का बोध होता है।

"मन बहुत बलिष्ट है, हमको अनेक पदार्थों-विषयों में हमारी इच्छा न होते हुये भी भटकाता है, मेरा मन मेरे वश में नहीं है, मन को वश करना कोई सहज बात नहीं है" इत्यादिक वचन बहुत मनुष्यों के मुख से सुने जाते हैं। मन को वश करने के कार्य में कई मनुष्य लगे भी रहते हैं, तो भी ठीक रीति से मन वश नहीं होता। मन के वश करने को ईश्वर प्रेम, ईश्वरार्पण शुभ कर्म तपश्चर्या, दान, व्रत, आचार, विचार, भक्ति, उपासना, ज्ञान आदिक सब का प्रयोग किया जाता है तो भी मन का वश होना दुष्कर मालूम होता है। विद्वान्, चतुर और शूरवीर ऐसे अर्जुन ने भी मन को वश करना कठिन समझा था और श्री कृष्ण भगवान् से मन को वश करने की युक्ति पूछी थी जिसके उत्तर में भगवान् ने वैराग्य और अभ्यास से मन का वश होना बताया था। योगशास्त्रमें पातंजलि महर्षिने भी मनके एकाग्र होने का उपाय वैराग्य और अभ्यास कथन किया है। ये सब उपाय मन को निर्मल करने में मदद देने वाले हैं परन्तु मन का पूर्ण वश होना तभी होता है जब मन को और आत्मा को ठीक २ जाना जाता है। वैराग्य और अभ्यास आत्मा को न जानने तक ही होते हैं। वे आत्म स्वरूप जानने में जो घन अंधकार का परदा है, उसेघिसने का काम करते हैं। अविचार से सिद्ध जो मन है, उसकी निवृत्ति विचार से ही होती है। अविवेक से मन और आत्मा में क्या अंतर है, और किस प्रकार है' यह जाना नहीं जाता। विवेक से मन की निवृत्ति और आत्मस्थिति होती है। अज्ञान भाव में रह कर अज्ञानी मनुष्य मन के रहस्य को समझ नहीं सके और अनेक जन्मों तक प्रयत्न करते हुये भी अज्ञान की निवृत्ति हुये बिना मन यथार्थ वशीभूत नहीं होता।

एक राजा के नगर में एक चोर बहुत ही उपद्रव किया करता था। अनेक प्रकार की चालाकी के साथ वह चोरी किया करता था। उसके पकड़ने को राज्य कर्मचारियों ने बहुत प्रयत्न किये परन्तु चोर पकड़ने में न आया। जो जो कोतवाल आदिक चोर को पकड़ने की प्रतिज्ञा करते थे वे सब प्रतिज्ञा भंग हो कर अपनी हानि करते थे। वह चोर उन सब लोगों को चुन २ कर छल, चालाकी, वेष बदली, लालच आदिक से ठग चुका था और चोरी कर चुका था। अंत में वहां का राजा जो अपने को चतुर और साहसिक

शूरवीर समझता था, राजसभा में कहने लगा "बहुत समय से चोर पकड़ने में नहीं आता है इसलिये अनेक प्रकार का दुःख प्रजा को हो रहा है. आज रात्रि को मैं ही चोर को पकड़ने जाऊंगा और सब अधिकारी भी अपने २ स्थानपर रात्रि भर सचेत रहें।" रात्रि को राजा शस्त्रों से युक्त हो कर अपने उत्तम घोड़े पर सवार हो कर, सब शहर में गश्त लगाता हुआ जा रहा था इतने में उसे शुभा हुआ कि कोई मनुष्य शहर के दरवाजे के बाहर जा रहा है। राजा उसके पीछे चला। थोड़ी दूर पर एक साधु धूनी लगाये बैठा था। राजा ने जा कर साधु को प्रणाम किया और पूछा "क्या आपने किसी मनुष्य को यहां से जाते देखा है ?" साधु बोला "जी हां महाराजा ! अभी एक मनुष्य कुछ लेकर गया है, वह वह ही चोर था जो कितनेक दिनों से शहर में उत्पात मचा रहा है, मैं योग के बल से उसकी सब चेष्टाओं को यहां बैठे २ जान सक्ता हूं. वह बड़ा ही पक्का चोर है !" राजा ने कहा "क्या वह पकड़ा नहीं जायगा ?" साधु बोला "महाराज ! उसका पकड़ा जाना कुछ असंभवित नहीं है, आप उत्तर दिशा को चले जाओ, वह उधर ही गया है !" राजा गया और घूम घाम कर आधे घंटे में लौट कर साधु से कहने लगा "इस तरफ तो कोई नहीं मिला !" साधु बोला "जैसे ही आप यहां से गये वैसे ही थोड़ी देर में वह यहां तम्बाकू पीने आया था और पी कर चला गया !" राजा बोला "तब तुमने उसे पकड़ क्यों न लिया ?" साधु बोला "मैं कैसे पकड़ता ? मेरी दृष्टि में तो राजा, रंक, चोर और साहूकार समान हैं, मैं तुम्हारे राज्य में बसता हूं, इसलिये अपने धर्म को छोड़ कर मैंने उसके जाने की दिशा आप को बतला दी थी ! जब तुम ही उसे पकड़ न सके तब वह मुझ से किस प्रकार पकड़ा जाता ! इसके सिवाय भजन पूर्ण किये बिना मैं अपने आसन से उठ भी नहीं सक्ता !" राजा बोला "फिर ! चोर को पकड़ने का क्या उपाय करना चाहिये ? मैं उसे ढूंढते २ बहुत थक गया हूं. संभव है कि तुम उसे किसी रीति से पकड़वा सकोगे !" साधु बोला "हां! उसके पकड़ने का एक ही उपाय है, तुम मेरे वस्त्र पहिन लो और भभूति रमा कर इस स्थान पर बैठे रहो, मेरे आश्रम को किसी प्रकार की हानि न पहुंचना चाहिये। तुम अपने वस्त्र और घोड़े को मुझे दो, मैं लेकर दूर चला जाऊं, जब चोर यहां आवे तब उसे पकड़ लेना, अथवा मेरे काबू में आ गया तो मैं पकड़ कर तुम्हारे पास ले आऊंगा।" राजाने यह बात स्वीकार की। साधु राजा की पोशाक पहिन, घोड़े पर सवार हो कर चल दिया। वेष धारी राजा सीधा राजमहल में पहुंचा। राजस्थानी द्वारपालों ने उसे राजा समझ कर नमन किया, रोका नहीं। वह सीधा रानी के पास शयन मन्दिर में चला गया। रानी भर नींद में थी. उसे टटोल कर कहने लगा "तुम अपने वस्त्राभषण मुझ को दे दो। चोर का बहुत भय है, कोतवाल के यहां से सब जेवर ले गया है, कदाच तुम्हारे पास से भी ले जाय !" रानी की नींद पूर्ण न खुली, आधी नींद में ही उसने सब जेवर उतार दिये। वेष धारी राजा जेवर ले कर राजमहल के बाहर निकला और द्वारपालों से कहा "देखो, खबरदार ! सुबह होने तक कोई महल में आने न पावे, जो कोई आवे उसकी एक भी बात सुने बिना उसे चूने की कोठरी में बन्द कर देना, वह आने वाला चाहे पुरोहित, योगी, प्रधान या राजा भी अपने को क्यों न बतावे तो भी घुसनें न देना !" द्वारपाल बोला "जैसी महाराज की आज्ञा !" वेषधारी राजा सब माल सहित अपने घर पर जा कर निश्चिन्तता से सो गया।

राजा चोर की राह देखता रहा। चोर न आया और साधु भी लौट कर न आया तब राजा विचारने लगा "कहीं साधु ही चोर न हो, मेरा घोड़ा और वस्त्र मुझ से छल कर ले गया है।"

यह विचार कर राजा वहां से उठ कर चला और ज्योंही राजमहल में जाने लगा, त्योंही द्वारपाल ने उसे रोका और कहा "गुलाम का बच्चा! इस समय कौन आया?" राजा ने पास जाकर धीरे से कहा "मैं राजा हूं!" द्वारपाल हँसी करता हुआ बोला "हां! तू राजा है!(चपरासी से) चपरासी! आओ, इसे चूने की कोठरी में बन्द कर दो!" राजा कुछ कहना चाहता था परन्तु किसी ने कुछ न सुना और चपरासी ने पकड़ कर चूने की कोठरीमें बन्द कर दिया। राजा शिर पर हाथ रख कर बन्दी होकर बैठ गया और विचारने लगा "हो न हो साधु ही चोर था! ऐसा चालाक चोर कभी देखने में नहीं आया! मेरी आंखों में धूल डाल कर मेरी पोशाक और घोड़ा मेरी अनुमति से लेकर राजमहल में चक्कर लगाता हुआ चला गया! धूर्तता की हद कर दिखलाई है! न मालूम राजमहल में जाकर उसने क्या २ उत्पात किया होगा!

सूर्योदय होने के दो घंटे बाद द्वारपाल ने आकर चूनेकी कोठरी का ताला खोला तो वहां चोर के बदले स्वयं अपने राजा ही को देखा। बिचारा भय से कांपने लगा, जीवन का अन्त आया समझ राजा के चरणों में गिर कर अनेक प्रार्थना करने लगा। राजा ने कहा "द्वारपाल! भयभीत होने का कोई कारण नहीं है, रात्रि को जो कुछ हुआ हो, मुझे ठीक २ सुना।" द्वारपाल ने सब वृत्तांत कह सुनाया। राजा वस्त्र बदल कर रानी के पास गया। रानी ने भी जो कुछ हुआ था कह सुनाया। राजा बड़े आश्चर्य में पड़ा और चोर के पकड़े न जाने का पश्चात्ताप करने लगा।

मनुष्य उपाधि से जो राजा बना था, वह ही साधु की उपाधि धारण करके साधु बना और वहां से चोर होकर चूने की कोठरी में बन्द हुआ। मनुष्य आत्मा है, राजा रूप जीव बना, साधु रूप अन्तःकरण बना और प्रसंग से जो चोर हुआ वह मन है। उपाधि छोड़ कर वह पुरुष का पुरुष ही रहा। राजा और साधु के वस्त्रादि धारण करने पर भी वस्तु रूप से वह पुरुष ही था और चोर की उपाधि होते हुये भी वह पुरुष ही था। इसी प्रकार पुरुष ही चोर था, वह ही साधु बन कर बैठा था। चालाकी से वह राजा के वस्त्र और घोड़ा लेकर राजा बना और राजमंदिर में राजा होकर ही घुसा, द्वारपालों को राजा होकर आज्ञा दी और घर पर आकर जैसे का तैसा ही रहा। वह पुरुष उपाधि से चोर, साधु और राजा हुआ। पुरुष आत्मा, चोर जीव, साधु अन्तःकरण और राजा मन हुआ। हर हालत में राजा में और चोर में पुरुषपना एक ही रहा इसी प्रकार मन आत्मा को छोड़ कर दूसरा पदार्थ नहीं है। उपाधि के भाव से आत्मा ही मन होकर प्रतीत होता है। चोर राजा के समीप था, राजा को साधु का भाव होने से चोर न मिला इसी प्रकार आत्मा को जीव का भाव होने से मन का पता नहीं लगता आश्चर्य तो यह है कि राजा और चोर भिन्न २ थे ऐसा होते हुये पता न चला, फिर जहां आत्मा और मन एक ही हों वहां मन का पता किस प्रकार लगे! जब द्रष्टा भाव से मन को देखने लगते हैं तब मन नहीं रहता है और जब मन रूप होकर संकल्प सृष्टि में विचरते हैं, तब द्रष्टा—साक्षी का भाव कहां से आवे? मन को जगत् वाले लोग बहुत बलिष्ट कहते हैं परंतु विचारना चाहिये कि मन में वह बलिष्टता कहां से आई, मन में तुम ही घुसे हुये हो, इसलिये वह बलिष्ट है। मन सूक्ष्म और प्रतिबंध रहित विचरने से समझना चाहिये कि यह अणु का प्रभाव नहीं है, आत्मा का ही है। एक ही मन गुणों की विशेषता से द्रष्टा, दर्शन और दृश्य रूप बनता है, जब द्रष्टा बनता है तब दर्शन और दृश्य नहीं दीखते, ऐसे ही दर्शन होने में द्रष्टा और दृश्य नहीं रहते और दृश्यमें द्रष्टा और दर्शन का अभाव होता है। बहुत सूक्ष्मता-निर्मलता से देखा जाय तब ही यह मालूम होगा। जीव अविद्या आच्छा-

दित होने से शुद्ध आत्मा का तो उसे पता ही नहीं है, अब रहा जो अशुद्ध आत्म मन वह ही अपन बनता है और वह ही मन बनता है। मनुष्य बहुधा यह चाहता है कि मन अमुक एक विषय में लगा रहे, ऐसा मन नहीं रहता इसका कारण अर्जुन ने भगवान् से पूछा था "हे भगवन् मैं नहीं चाहता तो भी मन की प्रवृत्ति पापाचरण में कौन कराता है?" भगवान् ने उत्तर दिया "काम और क्रोध" पूर्व की अनेक कामनायें प्रबल हैं उसके विरुद्ध कोई कामना मनुष्य ने की कि ऐसा न होना चाहिये तो पूर्व कामना यदि दृढ़बल वाली होती है और नवीन कामना अल्पबल वाली होती है तो दृढ़ बल अल्प बल को काटकर अपने बल का कार्य कराता है यदि नवीन बल पूर्व बल से दृढ़ होगा तो नवीन बल का ही विजय होगा। इसी प्रकार दोनों बल आपस में एक दूसरे से विरुद्ध कामना के बल को दबाते हैं। जब पूर्व कामना का बल नवीन कामना के बल से विरुद्ध और बलिष्ट होता है तब नवीन कामना के फलकी सिद्धि नहीं होती तब मनुष्य कहते हैं कि इच्छानुसार नहीं हुआ परंतु यह सोचना चाहिये कि जो कुछ हुआ है वह हमारी पूर्व इच्छा के अनुसार ही हुआ है। जब पूर्व वासना अल्प होतीहै और नवीन वासना दृढ़ होती है तब नवीन वासना की सिद्धि होती है तब मनुष्य कहते हैं कि हमारी इच्छानुसार हुआ। इसी प्रकार वासना-इच्छा-संकल्प का होना मन जीव का कार्य है। मन और मनोकल्पित जितने पदार्थ हैं वे सब माया के हैं और जिस में प्रतीत होते हैं वह अविचल तत्त्व आत्मा है। आत्मा अधिष्ठान और संसार-मन-जीव अध्यस्त है। अध्यस्त के विकार से अधिष्ठान कभी दूषित नहीं होता तो भी अध्यस्त भाव रहित सत्य समझने वाले को अध्यस्त के सब दुःख सत्य ही अनुभव में आते हैं। अनुभव के भाव वाला जीव और अनुभव में आने वाला मन-संसार एक ही अवस्था में दीखते हैं इसलिये झूंठ वाले को झूंठ सत्य ही दीखता है।

उपाधि रहित मन आत्मा से भिन्न नहीं है तो भी भिन्न मानकर वर्तने वाले के लिये दुःख का ही अनुभव कराता है इसी कारण आत्म को न प्राप्त हुए, प्राप्त करने की इच्छा वाले मुमुक्षुओं को शुद्धि के निमित्त मन को आत्मा से भिन्न समझाया है। मन को मलिन कहा है और उसकी शुद्धि के निमित्त वैराग्य और अभ्यास दिखलाया है। जब तक आत्म बोध न हो तब तक मन की चंचलता हटाने के-मन को वश में करने के प्रयत्न में मुमुक्षुओं को अवश्य लगना चाहिये। बोध होने पर मन की पृथक्ता नहीं रहती और मन कल्पित संसार भी इसको संसरण रूप न रहते हुये आत्म रूप ही भासित होता है। अंतिम यह भाव सिद्ध हुआ कि विकारी मन संसार रूप है और विकार रहित मन ही आत्मा है।

——::०::——

आत्मा के विशेषण।

आत्मा ब्रह्म है, ब्रह्म का कोई विशेषण नहीं है, ब्रह्म किसी का विशेष्य नहीं है इसलिये आत्मा का भी कोई विशेषण नहीं है, आत्मा किसी का विशेष्य नहीं है तो भी अनात्म भाव में पड़े हुए जीवों को अनात्म भाव की निवृत्ति द्वारा आत्मा की प्राप्ति कराने के हेतु-उपदेश के हेतु शास्त्र और आचार्यों ने आत्मा के विशेषणों का कथन किया है। ये विशेषण आत्मा के गुण नहीं हैं, आत्मा का स्वरूप है। आत्मा के विशेषण विधेय और निषेध्य दो प्रकार के हैं। जो विधि रूप से, आत्मा ऐसा है, इस भाव से जिनका कथन है वे विधेय विशेषण हैं और जो नकार भाव से, आत्मा ऐसा नहीं है इस भाव से जिन का कथन है वे निषेध्य विशेषण हैं। हकार के भाव से टिका हुआ विधेय और नकार के भाव वाला निषेध्य है। जैसे जिस किसी मनुष्य को किसी ने देखा न हो तो इसका बोध कराने के लिये, जो

कुयेके पास है,ऊंचाहै,गोरा है वह अमुक पुरुष,और जो कुये के पास नहीं है,ऊंचा नहीं है, गोरा नहीं है वह अमुक पुरुष, इस प्रकार दोनों विशेषणों से समझाने वाला समझाताहै इसी प्रकार आत्माको समझानेके लिये विधेय और निषेध्य विशेषण हैं। जो आत्मा के साक्षात् बोध का हेतु हैं, वे विधेय हैं और जो प्रपंच के निषेध-बाध द्वारा आत्मा का बोध कराने वाले हैं वे निषेध्य हैं।

सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, स्वयं प्रकाश, कूटस्थ, साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा, एक आदिक विधेय विशेषण हैं और अनन्त, अखंड, असंग, अद्वितीय, अज, निर्विकार, अव्यक्त अव्यय, अक्षर इत्यादि निषेध्य विशेषण हैं।

जिसकी ज्ञान से अथवा और किसी प्रकार से भी निवृत्ति न हो उसे सत् कहते हैं, आत्मा ऐसा होने से सत् है। जो प्रकाश कभी भी नाश को प्राप्त न हो, ऐसे प्रकाश को चित्-चैतन्य कहते हैं, आत्मा ऐसा होने से चित् है। जो सबसे अधिक प्यारा हो-प्रीति का विषय हो ऐसे परम प्यारे को आनन्द कहते हैं, आत्मा ऐसा होने से आनन्द स्वरूप है। आत्मा सत्, चित्, आनन्द रूप है यह बात श्रुति, स्मृति, युक्ति और अनुभव से सिद्धहै। शास्त्रमें ब्रह्मको भी इसी प्रकार का कहा है इसलिये आत्मा ही ब्रह्मरूप है।

व्यापकको ब्रह्म कहते हैं,जिसका किसी देश करके अन्त न हो उसे व्यापक कहतेहैं। यदि आत्मा ब्रह्मसे भिन्नहो तो उसका देश करके अन्त होजाय। जिस का देश से अन्त होजाता है, उसका काल से भी अन्त होजाता है और जिसका कालसे अन्त होता है उसको अनित्य कहते हैं। आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है क्योंकि जो आत्मा ब्रह्मसे भिन्न होतो आत्मा अनात्मा होजाय। जिस प्रकार घटादिक जड़ अनात्मा हैं इसी प्रकार आत्मा भी जड़ होजाय। आत्मा को अनात्मा और जड़ कोई नहीं मानता और यह बात श्रुति, स्मृति से भी विरुद्ध है इस लिये आत्मा ब्रह्म रूप ही है।

जो अपने प्रकाश के लिये किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा न रक्खे उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं अथवा जो हमेशा अपरोक्ष रूप से हो और किसी ज्ञान का विषय न हो उसे स्वयं प्रकाश कहते हैं। आत्मा ऐसा होने से स्वयं प्रकाश है।

कूट नाम माया का है, स्थ टिके हुये को कहते हैं। माया में टिका हुआ हो कर भी जो माया के सब विकारों से रहित है, उसे कूटस्थ कहते हैं अथवा कूट नाम लोहार की अहरनका है, जिसके ऊपर लोहा कूटा जाता है उसे अहरन कहते हैं, वह एक ही स्थान पर गड़ा रहता है, हजारों मन लोहे को कूटता है तो भी न तो वह अपने स्थान से चलित होता है और न विकार को प्राप्त होता है इस प्रकार स्थ टिका हुआ आत्मा कूटस्थ है। कूटस्थ कहनेसे अचल अक्रिय और अविकारी समझना।

लोक व्यवहार में साक्षी की व्याख्या इस प्रकार है:-जो राग द्वेष से रहित, उदासीन, पास और चैतन्य हो उसे साक्षी कहते हैं। दो मनुष्य जो लेन देन आदिक व्यवहार करते हों उनके पास रहकर जो किसी एक के भाव वाला न हो कर सामान्यता से देखने वाला हो वह साक्षी है। देह की क्रियाओं से उदासीन, देह के समीप और चैतन्य-अजड़-प्रकाश स्वरूप आत्मा साक्षी है। अन्तःकरण उपाधि वाला चैतन्य साक्षी कहा जाता है अथवा अन्तःकरण और अन्तःकरण की वृत्तियोंमें वर्तमान केवल चैतन्य साक्षी कहलाता है।

देखने वाले को द्रष्टा कहते हैं, आत्मा सर्व का देखने वाला है, इसलिये द्रष्टा है। समीप से देखने वाले को उपद्रष्टा कहते हैं। जैसे यज्ञ-शाला में १५ ऋत्विज, १६वां यजमान, १७वीं यज-मान की स्त्री होती है और कुछ न करता हुआ,यज्ञ शालाके पास बैठकर, इन सबकी क्रिया को देखने वाला जो अठारहवां होता है वह उपद्रष्टा कहाता है इसी प्रकार स्थूल शरीर की चेष्टा रूप यज्ञ-शाला में पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और

पांच प्राण १५ ऋत्विज हैं, सोलहवां मन यजमान है और सत्तरहवीं बुद्धि यजमान की स्त्री है, ये सब अपने २ विषय भोग रूप यज्ञ को करते हैं, इन सबके समीपमें रहने वाला उपद्रष्टा आत्माहै।

आत्मा का सजातीय और आत्मा न होने से आत्मा एक है।

किसी मनुष्य ने सोना नहीं देखा था और उसे दिखाने के लिये वर्तमान में सोना नहीं था ऐसी स्थिति में सोने को पहिचानने के निमित्त जिसने सोना देखा था ऐसे किसी एक पुरुष ने इस प्रकार उपदेश कियाः—सोना पीला और चमकदार है, क़सौटी पर घिसने से पीला कस आजाता है, वज़न में भारी होता है, अग्नि में डालने से अपना रंग नहीं बदलता। इस प्रकार सुनने वाले के हाथ में पीतल का टुकड़ा आ गया, उसे देख कर उसे ऐसा भाव हुआ कि यह सोना है। यद्यपि पीतल सोने के समान भारी न था तो भी धातु होने से भारी था इसलिये उसने उसे सोना समझा परन्तु जब उसने उसे कसौटी पर घिसा तो पीला कस न निकला इसलिये उसे शंका हुई कि यह सोना नहीं है। तब चौथी परीक्षा करने के लिये उसने उसे अग्नि में डाला, अग्निमें डालते ही वह काला पड़ गया। तब उसे निश्चय हो गया कि यह सोना नहीं है, कोई और ही वस्तु है क्योंकि सोना होनेके सब लक्षण उसमें नहीं मिलते। इसी प्रकार आत्मा को पहचानने के निमित्त ऊपर बताये हुये विधेय विशेषण हैं। अज्ञात वस्तु को जानने के लिये विशेषण होते हैं। वस्तु को जो विशेष भाव से दिखलावे उसे विशेषण कहते हैं।

कोई एक शिष्य आत्मा के विधेय विशेषण गुरु मुख से सुन कर एकांत में जा इस प्रकार विचारने लगाः—

गुरुजी ने आत्मा को सत् बताया है और सत् के ये लक्षण दिखलाये हैं कि जिसकी ज्ञान से अथवा अन्य किसी प्रकार से निवृत्ति न हो वह सत् है। यदि शरीर को आत्मा मानूं तो शरीर इस प्रकार सत् नहीं है, क्योंकि शरीर का नाश देखने में आताहै। क्या वृक्ष आत्मा है? नहीं! वृक्ष भी आत्मा नहीं है, इसकी भी उत्पत्ति और नाश है। इस प्रकार अनेक वस्तुओं का सत् के साथ मिलान किया, उनमें से कोई भी उसे सत् न मालूम हुई। अन्त में उसकी दृष्टि पृथ्वी पर पड़ी। पृथ्वी को देख कर उसने विचार कियाः—यह ही आत्मा है। ज्ञान से अथवा किसी प्रकार से भी उसका नाश नहीं होता। शरीरों का नाश है परन्तु भूमि का नाश नहीं। अनेक प्रतापी राजा पूर्व में हुये हैं, ईश्वर के भी बहुत अवतार हुये हैं, वे सब नाश को प्राप्त हो गये परन्तु पृथ्वी जैसी की तैसी बनी है इसलिये पृथ्वी सत् है और जो सत् है सो आत्मा है। अब आत्मा चित् है। यदि पृथ्वी आत्मा हो तो चैतन्य होनी चाहिये। बहुत विचार करते हुये जब उसे पृथ्वी में चैतन्यता न मालूम हुई तो कहने लगाः— पृथ्वी सत् हो तो भले हो परन्तु चैतन्य न होने से आत्मा नहीं है। इसी प्रकार कई अन्य वस्तुओं को उठा कर आत्मा की कसौटी पर कसा तो कोई भी वस्तु आत्मा के कस वाली न निकली। जिस किसी वस्तु को वह भूल से आत्मा मानता जब उसे गुरु को जा कर बताता तब गुरु उसमें भूल दिखलाता। अन्त में कोई भी वस्तु आत्मा न निकली।

इस प्रकार आत्मा की पूर्ण रूप से पहिचान करने के लिये एक से एक विशेष विशेषण हैं वे सब विशेषण आत्मा में ही लगते हैं, आत्मा के सिवाय दूसरे में लग नहीं सक्ते।

हर एक विशेषण एक इस प्रकार का हिसाब है जो दी हुई विशेषता से विशेष को ढूंढ निकालता है। जैसे किसी ने कहा कि छोटी से छोटी एक ऐसी संख्या बताओ जिसको दो से लेकर सात तक भाग देने से शेष कुछ भी न बचे। ऐसी

संख्या चार सौ वीश है। इसी प्रकार जिसमें दिये हुये सब निषेध विशेषण अशेष युक्त हों ऐसा जो एक पदार्थ है, वह आत्मा है।

अनन्त, अखंड, असंग, अद्वितीय, अज, निर्विकार, निराकार, अव्यक्त, अव्यय, अक्षर, इत्यादि आत्मा के निषेध्य विशेषण हैं।

आत्मा का व्यापक होने के कारण देश से अन्त नहीं होता, अमुक स्थान-देश में आत्मा अन्त हो गया, आगे आत्मा नहीं है, ऐसा नहीं है, आत्मा नित्य होने से, काल करके भी आत्मा का अन्त नहीं होता। आत्मा अमुक काल में हो, अमुक काल में न हो ऐसा नहीं है। आत्मा सब का अधिष्ठान होने से वस्तु से भी उसका अन्त नहीं होता। अमुक वस्तु में आत्मा हो, अमुक वस्तु में आत्मा न हो ऐसा नहीं है। आत्मा का देश, काल, वस्तु किसी से भी अन्त नहीं होता इसलिये वह अनन्त है।

आत्मा के कोई खंड-टुकड़े नहीं कर सक्ता। ईश्वर और जीव जो उसमें प्रतीत होते हैं, वे उपाधि भेद को प्राप्त होने से खंडित हैं। इसी प्रकार जीव का जीव से परस्पर भेद होने से जीव खंडित है। जीव और जड़ का भी भेद है जड़ और ईश्वर का भेद है। आत्मा इन पांचों प्रकार के भेद से रहित होने से अखंड है। अथवा आत्मा में सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद नहीं है इसलिये वह अखंड है।

संग संबन्ध को कहते हैं। सजातीय, विजातीय, स्वगत तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं। अपनी जाति वाले से जो सम्बन्ध होता है, वह सजातीय सम्बन्ध है जैसे ब्राह्मण का ब्राह्मण से। दूसरी जाति वाले से जो सम्बन्ध है वह विजातीय सम्बन्ध है जैसे ब्राह्मण का शूद्र से। एक शरीर के भिन्न २ अङ्गों का जो एक दूसरे से सम्बन्ध है वह स्वगत सम्बन्ध है, जैसे हाथ, पैर, नाक, कान, मस्तक, धड़ आदि का। आत्मा एक होने से उसकी जाति नहीं है, जाति न होने से उसका कोई स्वजाति नहीं है। आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है, आत्मा अद्वैत और सत् है, उससे भिन्न जो माया दीखती है और माया में जो भिन्नता दीखती है, वह मिथ्या है। माया का कार्य जो स्थूल और सूक्ष्म पदार्थ-प्रपंच में मालूम होता है असत् है। असत् कोई वस्तु नहीं होती इसलिये आत्म रूप वस्तु से अन्य वस्तु रूप न होने से आत्मा का किसी के साथ विजातीय सम्बन्ध भी नहीं है। आत्मा के अवयव नहीं हैं। आत्मा सच्चिदानन्द रूप है इससे यह न समझना चाहिये कि सत्, चित्, आनन्द आत्मा के अवयव हैं क्योंकि जो सत् है वह ही चित् है और जो चित् है वह ही आनन्द है। इस प्रकार आत्मा अवयव रहित होने से उसका किसीके साथ स्वगत सम्बन्ध नहीं है, इसलिये आत्मा असंग है।

द्वैत दो पने को कहते हैं। द्वैत में सब संसार है। संसार स्वप्न की समान कल्पना का होने से वास्तविक नहीं है जैसे स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा एक होते हुये भी कल्पना से द्रष्टा, दर्शन, दृश्य रूप विस्तार को प्राप्त होता है इसी प्रकार एक ही में कल्पना के विस्तार वाला जो संसार है, उसे द्वैत कहते हैं। ऐसे द्वैत से रहित एक आत्मा है, इस कारण आत्मा अद्वैत है।

जन्म स्थूल देह का होता है, सूक्ष्म देह का भी धर्म नहीं है तब जन्म आत्मा का धर्म किस प्रकार हो? यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा का जन्म होता है तो उसका मरण भी मानना पड़ेगा। जन्मे हुए का मरण अवश्य होता है। जो आत्मा मरण धर्म वाला होगा तो अनित्य होगा। परलोक की सिद्धि वालोंको इस प्रकार का आत्मा मानना इष्ट नहीं है। जो मरने वाला होता है उसका जन्म के आदि में और मरण के अन्त में अभाव होता है। जब आत्मा पूर्व न था और अब है तो उसके पूर्व जन्म का कोई कर्म न होने

इस जन्म में उसे जो भोग होगा वह बिना कर्म ही होगा। ऐसे ही जब मरण के पश्चात् आत्मा न रहेगा तो इस जन्म में किये हुए कर्मों का भोग ही न होगा। ऐसा होने से वेद में बताये हुए कर्म व्यर्थ हो जांयगे। इसलिये जन्म आत्मा का धर्म न होने से आत्मा अज है, अज कहने से अजर, अमर समझ लेना चाहिये।

प्रथम शरीर का जन्म होता है ऐसा दीखता है, वृद्धि को प्राप्त होता है, फिर उसका विशेष परिणाम होता है, बुढ़ापे में अपक्षय होता है और अन्त में नाश होजाता है इस प्रकार जन्म, अस्ति, वृद्धि, विशेष परिणाम, अपक्षय और नाश ये षट् विकार शरीर के जन्म के साथ हैं। आत्मा का जन्म नहीं होता इसलिये ये विकार उसमें नहीं हैं आत्मा देह का जानने वाला और देह से भिन्न है। ये धर्म आत्मा के न होने से आत्मा निर्विकार है सुख दुःखादिक करके जो विकार होता है, वह सूक्ष्म देह का है, आत्मा का नहीं है इसलिये आत्मा निर्विकार है।

जगत् में चार प्रकार के आकार मुख्य हैं स्थूल, सूक्ष्म, लंबा और चौड़ा। उनकी मिश्रितता के अनेक भेद हैं। आत्मा, मन और इन्द्रियों का विषय न होने से सूक्ष्म है इसलिये स्थूल नहीं है, व्यापक होने से स्थूल नहीं है और सब में ओत प्रोत होने से लम्बा अथवा चौड़ा भी नहीं है। इस कारण से आत्मा निराकार है। आकार रूप वाले और परिच्छिन्नता वाले पदार्थ का होता है, आत्मा ऐसा न होने से निराकार है।

आत्मा मन और इन्द्रियों से अगोचर होने से अस्पष्ट है इसलिये अव्यक्त है। व्यक्ति रूप न होने से भी आत्मा अव्यक्त है।

जैसे खजाने में भरा हुआ धन खर्च करने से घट जाता है, इस प्रकार आत्मा नहीं घटता इस लिये अव्यय है। इसी प्रकार अपनी स्थिति में ज्यों का त्यों रहने से आत्मा घटता नहीं है इसलिये उसे अव्यय कहते हैं।

क्षर नाश होने वाले को कहते हैं। आत्मा नाश से रहित होने के कारण अक्षर कहा जाता है। अक्षर को ही अक्षय, अमृत और अविनाशी कहते हैं।

ये सब विशेषण भिन्न २ हैं परंतु एक ही वस्तु के जताने के निमित्त कथन किये गये हैं। विधेय विशेषण आत्मा के स्वरूप हैं, निषेध्य ऐसे नहीं हैं किंतु अपना बाध करके बोध में लेजाने वाले-बोध कराने वाले हैं। जैसे दो मनुष्य द्वितीया का चन्द्र देखने को हों, उन में से एक को प्रथम चन्द्र दीख जाय और दूसरे को न दीखे तो प्रथम पुरुष दूसरे से इस प्रकार कहता है कि चन्द्र सामने के वृक्ष के ऊपर है। इस प्रकार कहने पर दूसरा पुरुष वृक्ष के ऊपर देखता है तो चन्द्र दीख जाता है, यद्यपि चन्द्रमा वृक्ष के ऊपर नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा के विशेषण न होते हुये भी मात्र बोध के निमित्त हैं। जैसे वृक्ष और वृक्ष के ऊपर की शाखा चन्द्र के संबन्ध वाली नहीं हैं इसी प्रकार आत्मा के विशेषण आत्मा से संबन्ध वाले नहीं हैं क्योंकि जिन विशेषणों की मन कल्पना करता है ऐसे विशेषण मन वाणी से अगोचर ऐसे आत्मा के संबंधी कैसे हो सकते हैं।

"यमुना की माता मरते समय जब मरण पथारी में पड़ी थी अपनी पुत्री को शिक्षा देने के निमित्त बोली-"बेटी! तुझ पर चाहे जितना कष्ट पड़े तो भी तू धर्म मार्ग से चलित मत होना। तू अपने पास ही रहने वाली अपनी विमला मौसी से रक्षित रहेगी।"

इतना कहकर यमुना की माता मर गई। यमुना के पिता ने दूसरी स्त्री की। उससे दो पुत्रियां उत्पन्न हुईं। वे यमुना को जितना दे सकें उतना कष्ट देने लगीं। यमुना का दुःख ऐसा था कि उसे देखकर पाषाण भी पिघल जाता परंतु वाह री यमुना! वह सब को सहन कर लेती।

जब कभी यमुना का पिता परदेश चला जाया करता तो उसपर और भी अधिक दुःख आ पड़ता था। यमुना की दूसरी माता अपनी लड़कियों को उत्तम और यमुनाको फटे पुराने चिथड़े पहिनाया करती थी। यमुना सब घरका, पर माता का और दोनों बहिनों का काम किया करती, तो भी वे उससे कुढ़ा ही करती थीं।

उस ग्राम का जिमीदार वहां राजा के समान था। एक दिन उसने ग्रामकी सब लड़कियां अपने घर भोजन करने को बुलाईं। उसने प्रथमही प्रगट कर दिया था कि उनमें से जो लड़की पसंद होगी उसके साथ मैं अपने पुत्र का विवाह कर दूंगा इसलिये ग्राम के सब लोगों ने अपनी २ कन्याओं को सुन्दर वस्त्राभूषण पहना २ कर जिमींदार के यहां भेजा। यमुना की परमाता अपनी दोनों लड़कियों को वस्त्राभूषण पहिना कर, अपने साथ भोजन कराने को ले चली और यमुना को घर पर ही छोड़ दिया। तब यमुना ने रोते हुये करुणोत्पादक शब्दों में कहा "माता! मुझे भी अपने साथ ले चल! जब ग्राम की सब कन्यायें बुलाई गई हैं तो मुझे क्यों छोड़े जाती है?" परमाता की बड़ी लड़की बोली "रांड! शंखिनी! जिमीदार के यहां जाने की अपनी सूरत तो देख, तेरे लूगड़े पर सत्तर तो थेगड़े हैं! ऐसे कपड़ों से हमको लजाने को हमारे साथ चलेगी?" यमुना दुखी होती हुई चुप खड़ी रही परमाता बोली "मेरी लड़की क्या झूंठ कहती है? सुन्दर वस्त्र और गहनों बिना बड़े लोगों के यहां किस प्रकार जाया जाय?" यमुना नीचा मुख करके बोली "अम्मा! घरमें तो बहुत लूगड़े और गहने हैं! मुझको पहिना कर अपने साथ ले चल!" यह सुनते ही परमाता आग बबूला हो चंडी का स्वरूप धारण करके बोली "रांड! घर कौन संभालेगा? देख! घर में कितना काम करने को पड़ा है? मेरी लड़कियों को लूगड़ा पहिन कर जिमीदार के लड़के की बहू बनना है! कुजात! तकदीर को ठोक! मैं आकर जब तक लौटकर आऊं, तबतक घरमें झाड़ू बुहारी देकर, बासन सफाकर, रसोई की तैयारी कर।" इस प्रकार, कहकर परमाता अपनी दोनों लड़कियों को साथ लेकर जिमीदार के यहां चली गई। यमुना विमला मौसी के यहां गई। मौसी ने कपड़े, गहने पहिना दिये। उन्हें पहिन कर यमुना जिमीदार के यहां पहुंची। वह अत्यन्त रूप वाली थी, उसे देखकर जिमीदार का लड़का मोहित होगया। यमुना भोजन करके सीधी घरपर लौट आई और वस्त्राभूषण विमला को सौंप परमाता का बताया हुआ काम करने लगी। जिमीदार के लड़के ने कई स्त्री पुरुषोंसे पूछा कि वह बाला कौन थी परंतु किसी ने उसका पता न बताया क्योंकि कोई उसे जानता नहीं था। कन्या पसंद होगई परंतु जब यह न मालूम हुआ कि वह किसकी कन्या है तब जिमीदार ने दूसरी वार लड़कियों का न्योता किया। इस समय भी यमुना विमला के दिये हुए वस्त्राभूषण पहिन कर पहुंच गई। जिमीदार और जिमीदार का पुत्र उसे देख कर उसकी पहिचान करने गये इतने ही में यमुना अदृश्य-गायब होगई। दूसरी वार भी मनोर्थ सफल न होने से तीसरी बार न्योता किया गया और यमुना उसी प्रकार पहुँच गई। उसे देखते ही जिमीदार का पुत्र आगे आकर कहने लगा "बाले! मैं तीन दिन से तेरा परिचय करने को व्याकुल हूं! बोल! तू किसकी लड़की है? तू मेरे साथ विवाह करेगी या नहीं?" यमुना शरमा गई, कुछ न बोली! जिमीदार के पुत्र ने हाथ पकड़ कहा "चल! मेरी माता के पास चल, और उसे अपना परिचय दे।" यमुना ने जिमीदार के पुत्र का हाथ छुड़ाने की चेष्टा की और खेंचातान में उसके हाथ की अंगूठी जिमीदार के पुत्र के हाथ में रह गई और यमुना हाथ छुड़ाकर अपने घर चली आई।

जब अंगूठी हाथ में आगई तब जिमीदार के पुत्र ने सोचा कि अंगूठी वाली कन्या की खोज किस प्रकार करनी चाहिये। उसने यमुना को

तीन बार देखा था, उसके खोजने के लिये उसने खोज करने वाले मनुष्यों को उसके जो छः विशेषण बताये, वे इस प्रकार थे—जो कन्या है, जो सौन्दर्य वाली है, जिस की अंगुली में यह अंगूठी ठीक आ जाता है जो बहुत ऊंची नहीं है, बहुत पतली नहीं है, और बहुत मोटी नहीं है वह ही कन्या मेरी स्त्री होने के योग्य है। जिमीदार ने उपरोक्त लक्षण बताकर और अंगूठी देकर अपने मनुष्यों को घर २ पर कन्या की खोज करने भेजा और साथ में कहलाया कि जिसमें उपरोक्त छः लक्षण घटित होजांयगे, वह ही मेरी पुत्र वधू होगी। जिमीदार के मनुष्य सब ग्राम में फिरे, किसी के अंगूठी ठीक न आवे और जो किसी के अंगूठी ठीक आजाय तो उपरोक्त लक्षण न मिलें। अन्त में वे यमुना के पिता के घर पर आये। यमुना की परमाता ने यमुना को छुपा रक्खा और अपनी पुत्रियों के अंगूठी ठीक आने का बहुत यत्न किया, यहांतक कि बड़ी लड़की की अंगुली तक छील डाली परंतु सब लक्षण न मिलने से वे लोग लौट गये। इस प्रकार बहुत खोज करने पर भी यमुना का पता न चला। तब तो जिमीदार का पुत्र हाथ में अंगूठी लेकर पागल के समान ग्राम में घूमने लगा क्यों कि उसके सौन्दर्य से वह विस्मित, विमुग्ध और स्तंभित हो गया था। एक दिन सायंकाल को वह नदी किनारे घूम रहा था, वहां यमुना उसकी दृष्टिमें पड़ गई। उसने उसका नाम ठाम पूछा। यमुना ने अपना ठीक २ पता बताया और विशेष में परमाता का कष्ट देना भी वर्णन किया। वर्णन करते हुये उसकी आंखों में आंसू भर आये। जिमीदार पुत्र ने अपने रूमाल से उसके आंसू पोंछे और फिर दोनों अपने २ मकान पर चले गये। दूसरे दिन जिमीदार ने पालकी सहित अपने मनुष्यों को अंगूठी लेकर यमुना के पिता के स्थान पर भेजा और वहां उन्होंने सब स्थान खोज कर यमुना को ढूंढ निकाला। अंगूठी उसकी अंगुली में ठीक आ गई और अन्य पांच लक्षण भी मिल गये। तब मनुष्य उसे पालकी में बैठा कर जिमीदार के यहां ले आये। जिमीदार के पुत्र से उसका विवाह हुआ। भारी बरात निकली, बहुत प्रकार की आतिशबाजी छोड़ी गई। धूल गोले भी छूटे। परमाता और उसकी दोनों लड़कियां छत पर से देख रही थीं, उनको बहुत द्वेष हुआ और आतिशबाजी लगने से उनके चरम आ गया और वे अन्धी हो गईं। यमुना आनन्द से जिमीदार पुत्र के यहां रहने लगी। जो बहुत दिनों से अत्यन्त दुःखी थी अब सुखी हुई!!!

यमुनाको जिसने नहीं देखाथा, जिसको उसकी पहिचान न थी, उसको खोजने के लिये जिमीदार पुत्र ने तीन विधेय विशेषण और तीन निषेध्य विशेषणों की योजना की थी। (१) अंगूठी ठीक आ जाय (२) कन्या (३) सौन्दर्य वाली ये तीन विधेय विशेषण थे और ये तीन विशेषण नकार रूप से थे (१) बहुत ऊंची नहीं (२) बहुत पतली नहीं (३) बहुत मोटी नहीं। जिस प्रकार ये विशेषण यमुना के पहिचानने के निमित्त थे इसी प्रकार आत्मा की पहिचान के निमित्त विधेय और निषेध्य विशेषण हैं। जो आत्मा को नहीं जानता, यदि वह उन विशेषणों से उसकी खोज करे तो जिसमें वे विशेषण युक्त हों, उसे आत्मा जाने। आत्मा मन वाणी का अविषय होने से उसका पता बहुत युक्ति और सूक्ष्म, तीव्र और निर्मल बुद्धि से लग सका है। विशेषण आत्मा की तरफ ले जाने के लिये चिह्न रूप, हैं जैसे जब किसी अन्धे को मार्ग दिखलाना होता है तो कहते हैं कि सीधे हाथ जाओ, बांये हाथ न जाओ। इसी प्रकार आत्मा के विशेषण हैं। जो पूर्व संस्कार वाला, अधिकारी के लक्षण वाला, और विवेक वैराग्य वाला है वह ही इन विशेषणों को विचार कर आत्मा को जान सका है।

* ऊपर का दृष्टान्त अध्यात्म भाव में इस प्रकार युक्त होता है;—यमुना का पिता काम है।

काम की पूर्व पत्नि सुबुद्धि और दूसरी पत्नि अशुद्ध बुद्धि है। सुबुद्धि से उत्पन्न हुई सतोगुण वृत्ति यमुना है और अशुद्ध बुद्धि से उत्पन्न हुई दो पुत्रियां रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियां हैं। जिमीदार परमात्मा है, उसका पुत्र जीव है। जब जीव संस्कारी होता है तब रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का त्याग करता है और सतोगुणी वृत्ति से संलग्न होता है, यह ही उसका आनन्द पूर्वक विवाह होना है। जब सतोगुणी वृत्ति की उन्नति होती है तब अशुद्ध बुद्धि और उसकी रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों का सतोगुणी वृत्ति पर द्वेष होता है और द्वेष के कारण सतोगुणी वृत्ति को जीव से संलग्न देखकर वे अन्धी हो जाती हैं यद्यपि वे मरती नहीं हैं परन्तु अंधी हो जाने से प्रभावहीन हो जाती हैं।

आतम ज्ञान प्राप्त कराने के लिये शास्त्र की अनेक युक्तियां हैं। उन युक्तियों में आत्मा के विशेषण भी एक प्रबल युक्ति है। जो काम बल से नहीं हो सका, कल से सहज में हो जाता है। जब व्यवहारिक कार्यों में भी युक्तियों की आवश्यकता है तब आतम ज्ञान रूप महान् कार्य में महान् युक्तियों की आवश्यकता हो तो उसमें कहना ही क्या है! जब सतोगुण से शुद्ध सतोगुण में गुणातीत भाव को प्राप्त होता है तभी ज्ञानी कहलाता है।

——::०::——

मणि रत्न माला।

उपजाति वृत्तम्।

पाशो हि को यो ममताभिधान
सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री।
को वा महांधो मदनातुरो यो
मृत्युश्च को वा पयशः स्वकीयम् ॥६॥

अर्थ—प्रश्नः—पाश (बन्धन) क्या है? उत्तरः—ममता है सोई पाश है। प्रश्नः—मदिरा की समान मोह उत्पन्न करने वाली कौन है? उत्तरः—स्त्री। प्रश्नः—महा अंध कौन है? उत्तरः—जो कामातुर है सो। प्रश्नः—मृत्यु क्या है? उत्तरः—अपना अपयश ही मृत्यु है।

भाषा छप्पय।

फांसी कौन महान खानि दुख की कहलाती,
ममता फांसी जान, योनि नाना भटकाती;
मदिरा जैसा मोह कौन देखत उपजावे,
तीक्ष्ण मदिरा नारि, ज्ञान विज्ञान नशावे;
महा अंध जग कौनसा, कामातुर नर जानिये,
मृत्यू क्या कहलाय है, अपयश मृत्यू मानिये ॥६॥

विवेचनः—पाश बंधन को कहते हैं, पाश का अर्थ फांसी भी है। इस प्रकार का पाश क्या है? ऐसा जब शिष्य ने पूछा तब गुरु ने उत्तर दिया कि ममता पाश है। ममत्व-मेरा भाव को ममता कहते हैं। अहंता से ममता की उत्पत्ति है इसलिये जब अहंता होती है तब ही ममता होती है। 'मैं हूं' यह अहंता है, पश्चात् 'मेरा है' यह भाव ममता है। बंधन तो अनेक प्रकार के हैं परन्तु ममता रूप बन्धन की अपेक्षा सब बन्धन क्षणिक हैं। सब से विशेष बलिष्ट और सब बन्धनों का उत्पत्ति स्थान रूप अज्ञान का अहं मम भाव ही पूरा बन्धन है। घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुल, शील और जाति आठ पाश हैं, परन्तु ये सब ममता के अन्तरगत हैं। जैसे पाश गले में पड़ती है इसी प्रकार अहं, मम की पाश जीव के गले में पड़ी हुई है। 'मैं स्वरूपवान् हूं, धनवान् हूं, कुटुम्बी हूं, मेरे भाई बन्धु और मित्र बहुत हैं, मैं भाग्यशाली हूं, चतुर हूं, घर और जागीर वाला हूं, अपनी जाति में सब से बड़ा हूं,' इत्यादि भाव पाश रूप बन्धन करने वाले हैं। अपनी मानी हुई झूंठी प्रतिष्ठा के हेतु अनेक कष्ट सहना परन्तु ममता न छोड़ना यह ही पाश है। संसार प्राप्ति का हेतु ममता है। ममता के कारण अनेक योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है। ममता के कारण अनेक प्रकार के छलछिद्र

करने पड़ते हैं। ममता के कारण महान् चक्रवर्ती महाराजों का क्षय होना इतिहासों में प्रसिद्ध है। रावण ममता के कारण मारा गया, कौरवों का नाश भी इसी से ही हुआ। ममता सब दुःखों की जड़ है। जिस को सुख की इच्छा हो उसे ममता का त्याग अवश्य करना चाहिये।

एक समय ठाकुर बलभद्र सिंह हाड़ा कुलका अधिपति था उस के एक कन्या ही थी, पुत्र कोई न था। उस कन्या का नाम माननी था। वह रूपवती और शौर्य में पुरुषों के समान थी। वह पिता के साथ सभा में बैठा करती और मृगया खेलने को भी जाया करती थी। एक समय वह पिता के साथ मृगया खेलने को गई। किसी कारण से बलभद्र सिंह कुछ पीछे रह गया। एक व्याघ्र माननी ने देखा और अपने घोड़े को कुदा कर, कटार उस व्याघ्र की कमर में घुसेड़ दी। कटार लगते ही व्याघ्र दो तीन पैर हट कर माननी पर झपटा और उसे मार डालने को ही था कि इतने में पीछे से एक सवार की तलवार ने व्याघ्र का शिर धड़ से अलग कर दिया। माननी सावधान होकर उपकार करने वालेको देखने लगी। सवार घोड़ा दौड़ा कर चल दिया। थोड़ी देर में जब माननी का पिता आया तब माननी ने अपने प्राण बचने का वृत्तान्त सुनाया। बलभद्रसिंह सुन कर प्रसन्न न हुआ क्योंकि माननी के बचाने वाले को उसने आते हुये देखा था, वह हीन कुल का था बलभद्र सिंह उसे धिक्कारता था। माननी ने प्रत्युपकार करने का विचार चित्त से निकालने का प्रयत्न किया परन्तु यह विचार उसके चित्त से न निकला। एक वार अरवली पर्वत के जंगल में बारह घोड़े सवार एक घोड़े सवार को क्रूरता से घेरने लगे। भला! बारह के प्रहार के सामने एक क्या कर सक्ता था, वह घायल हो गया। वे लोग उस का शिर काटने को ही थे, इतने में पीछे से एक बाण टोली के नायक के लगा, जिसके लगने से वह पृथ्वी पर गिर गया और उसके प्राण निकल गये। उसके अनुयायियों ने इधर उधर दृष्टि की और एक सवार को आते हुये देख कर वे सब भाग गये। घायल हुआ पुरुष माननी का बचाने वाला था और नायक के बाण मारने वाली मृगया खेलने आई हुई माननी थी। घायल पुरुष की मरहम पट्टी करने के लिये माननी पालकी में बैठाकर उसे अपने घर ले आई। जब ठाकुर बलभद्रसिंह घर पर आया और उसे यह मालूम हुआ कि उसकी कन्या, एक तरुण मनुष्य को जो घायल और वह ही है जिसने माननी की जान बचाई थी, घर पर ले आई है तो यह सुनकर वह बहुत क्रोधित हुआ परन्तु उपकार का प्रत्युपकार होना चाहिये यह समझकर उसने उस पुरुष की सार संभाल होने दी। ठाकुर यह चाहता था कि किसी प्रकारसे वह न बचे तो अच्छा! कन्या का चित्त उस तरुण पर आगया मालूम होता है, तरुण मेरे कुल का शत्रु है, नीच है,माननी का प्रेम उसपर होना ठीक नहीं है,ऐसा विचारकर ठाकुर माननी से वारंवार कठोर शब्द कहा करता। एक दिन माननी युवा की सँभाल में थी तब दोनों का मनोभाव जानने में आया कि वे एक दूसरे को चाहते हैं परंतु बलभद्र सिंह की ममता के कारण उन दोनों का विवाह होना अशक्य था। वह युवक आरोग्य होकर अपने घर चलागया। वह राठौर कुल का राजकुमार भारतसिंह था। उसने अपनी राजधानी में पहुंचकर बलभद्रसिंह से माननी के साथ विवाह करने की याचना की। बलभद्र सिंह इस पत्र को पढ़कर अग्नि स्वरूप होगया। उस ने पत्र के टुकड़े करके फेंक दिये और माननी को बहुत कठोर वचनों में कहा कि जब तक मैं जीता हूं तब तक ऐसा होना कभी संभव नहीं है। एक दिन माननी बलभद्र सिंह के साथ मृगया खेलने गई थी, भारतसिंह उसे उठा कर वहां से अपनी राजधानी में ले आया। बलभद्रसिंह बहुत क्रोधित हुआ और उसने अपने

स्थान पर जाकर सेना एकत्र करके भारतसिंह पर चढ़ाई की। भारतसिंह के यहां विवाह का उत्सव होरहा था उसमें भंग पड़गया। भारत सिंह अपनी सेना लेकर युद्ध करने को आया और उसकी सब सेना मारी गई अकेला वह ही युद्ध से भागकर घर लौटआया। घर पर हार कर आया हुआ जानकर माननी ने किवाड़ न खोले और वह अग्नि में जलकर भस्म होगई। यह दृश्य देखकर भारतसिंह पर शूर चढ़ आया और वह केसरिया वस्त्र पहनकर रात्रि में बलभद्र सिंह के तम्बू में घुस गया। वे लोग भारतसिंह को मरा हुआ समझते थे, उन्होंने उसी समय बलभद्र सिंह को जगाया। बलभद्र सिंह जागकर अपनी तलवार पर हाथ डालने लगा, इतने ही में भारतसिंह ने उसे मार डाला। उसके मरते ही सेना में कुलाहल मच गया और अन्य सैनिकों ने भारतसिंह को मार दिया। इस प्रकार अनेक मनुष्यों की हत्यासहित बलभद्रसिंह भारतसिंह और माननी मरण को प्राप्त हुये! इस सब हत्या का कारण कुलाभिमान और ममता ही थी। ऐसे अनेक दृष्टांत मिल सक्ते हैं।

मदिरा मोह उत्पन्न करती है परंतु स्त्री रूप मदिरा इस से भी विशेष मोह उत्पन्न करती है। स्त्री विषयक मोह के आवेश में धर्माधर्म का विचार नहीं रहता। कर्तव्य अकर्तव्य भूल जाते हैं और सत् असत् का विवेक भी जाता रहता है। मदिरा पान करने से विह्वल करती है परंतु स्त्री रूप मदिरा तो स्मरण मात्रसे विह्वल कर देती है, दर्शन, वचन, स्पर्श, हास्य, और भाषणसे विलासी पुरुषों को विलास के महामोह में पटकती है! रात्रि दिन उसका ही चिन्तवन हुआ करता है। मदिरा का नशा थोड़े समय में उतर जाता है परन्तु स्त्री रूप मदिरा का नशा जल्दी नहीं उतरता किंतु अनेक प्रकार के कष्टोंको भुगवाता और बहुधा मार भी डालता है। स्त्री के मोह से चतुर पुरुष मूर्ख बन जाते हैं, देखते हुये अन्धे और सुनते हुये बहरे बन जाते हैं। स्त्री के नशे में प्रतिष्ठा का भान नहीं रहता, खाना, पीना नहीं सुहाता, रात्रि को नींद भी नहीं आती, व्यवहार के कार्यों में प्रवृत्ति नहीं होती, कोई बात अच्छी नहीं लगती। हजारों मनुष्यों के सामने अकेला लड़ने वाला शूरवीर काम के बाण से हत होकर गिर जाता है और दीन हो जाता है। महा योगेश्वरों को भी स्त्रियों ने भ्रष्ट कर दिया है इसलिये मुमुक्षु पुरुषों को स्त्री रूप मदिरा की गंध तक भी न लेना चाहिये।

स्त्री के मोह से वर्तमान जन्म में ही कष्ट नहीं होता परंतु अन्य जन्मों में भी इसी कारण अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं। रावणका नाश इसी से हुआ। महा प्रतापी महाराजा पृथ्वीराज के संयुक्ता के मोह पाश में पड़ने से मुसलमानों ने चढ़ाई की, जिससे आर्यावर्त की पवित्र भूमि मुसलमानों के हाथ में चली गई। राजा भर्तृहरि स्त्री के मोह में लुब्ध था इसलिये उसने पराक्रमी छोटे शुद्ध भाई को देश से बाहर निकाल दिया। ये लोग तो पराक्रमी परंतु सामान्य मनुष्य थे; श्री वेदव्यास के पिता पाराशर भी स्त्री के मोह में फँस गये थे। संसार के आवागमन के चक्र में से निवृत्ति न होने देने वाली जो महाबलिष्ट वस्तु है वह स्त्री ही है। मात्र स्त्री ही मोह में डालने वाली है, इतना ही नहीं किंतु स्त्री संबंधी वस्तुयें भी मोह को प्राप्त करती हैं जैसे नूपुर और चूड़ी का शब्द। वस्त्र, आभूषण आदिक भी स्त्री की स्मृति कराके मोह में डालते हैं। स्त्री का हास्य, गति, चेष्टा, मुख, हाथ, छाती, जंघा आदिक सब अवयव मोह को उत्पन्न करने वाले हैं। ब्रह्मा का पुत्र नारद भी विश्व मोहिनी से मोहको प्राप्त हुआ था। शंकर, ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्रादिक देवता भी मोह को प्राप्त होकर कलंकित हुये हैं इसलिये संसार से पार होने की इच्छा वाले मनुष्यों को इससे बचते रहना चाहिये।

विवेकी पुरुष के हृदय में विवेक का निर्मल दीपक तब तक ही प्रकाश करताहै जब तक स्त्रीके

चंचल नेत्रों का कटाक्ष न लगे, अर्थात् विवेकी पुरुषों को भी स्त्री का मोह विवेक से भ्रष्ट कर देने वाला है। नरक द्वार को खोलने वाली चाबी के समान स्त्री की भृकुटी जब तक जगत् में है तब तक शास्त्रों का जानने वाला भी सद्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। पुरुष जब तक स्त्री के मोह में नहीं फँसता तबतक उसमें सब गुण रहते हैं तब तक ही उसमें महत्व, पांडित्व, विवेक और कुलीनता रहती है। यदि काला सर्प काट खाय तो उसकी औषधि हो सक्ती है परंतु स्त्री रूप काली सर्पिणी जिसको काटती है, उसके बचने का कोई उपाय नहीं है। स्त्रियों को ये सब लक्षण पुरुष में घटित करने चाहियें।

रुद्रपुर की स्वतंत्रता नष्ट होजाने से वहां का समरसिंह नामी एक सरदार पास के एक ग्राममें खेती बाड़ी करके अपना गुजारा किया करता था। एक पुत्री सिवाय उसके और कोई न था, उसका नाम सुरबाला था। एक बार वीराष्टमी के मेलेमें बहुत से मनुष्य एकत्र हुये। मेले में वीर पुरुष अपनी २ कलायें दिखलाने आया करते थे और उस समय यह रुद्रपुर की यात्रा योद्धाओं में अति प्रसिद्ध थी। समरसिंह की पुत्री सुरबाला भी इस मेले में आई थी। समरसिंह मल्ल युद्ध करने वाला था, इतने में प्रबल पवन चलने लगा और वर्षा भी होने लगी। सब लोग भागे और आश्रय ढूंढ़ने लगे। स्त्रियों का भी धनुर्विद्या का प्रयोग होने वाला था परंतु विधि को दोष देती हुईं वे भी घर की तरफ भागीं। इतने में आवाज आई "अन्धे को बचाओ, अन्धेका कोई हाथ पकड़ो!" सुरबाला ने यह शब्द सुनकर देखा तो समीप के एक वृक्ष के पास एक भीगा हुआ अन्धा दिखाई दिया। सुरबाला दौड़कर उसके पास गई और बोली "चलो! मैं तुमको जहां कहोगे, पहुंचादूंगी" अन्धे की अन्य इन्द्रियां तीव्र होती हैं। उसने सुरबाला का मधुर स्वर सुना और हस्तस्पर्श से जान लिया कि लेजाने को आई हुई कोई युवा बाला है। यह जानते ही उसमें आश्चर्यजनक विद्युत् संचार हुआ। यह भी सर्वाङ्ग सुन्दर एक तरुण था, मात्र नेत्रों की ही कमी थी। चलते हुये अन्धा बोला "मेरे सब साथी तूफान से घबरा कर भाग गये, ईश्वर ने तुम्हें सद्बुद्धि दी, नहीं तो मुझे बहुत कष्ट भोगना पड़ता।" सुरबाला ने अन्धे को अपने घर पर लाकर कहा "मेरा पिता आकर तुमको तुम्हारे स्थान पर पहुंचा देगा।" अन्धेने अपने अन्धे होनेकी कथा इस प्रकार कही-

मेरा पिता अंबर देश में एक बहुत श्रीमान् और वीर पुरुष था। मैं उसका पुत्र अमरसिंह हूं, मेरे पिता का नाम केसरीसिंह था। एकदिन मेरे ग्राम में बहुत बड़ी आग लगी। मेरा मकान और जो कुछ था सब स्वाहा होगया। मैं भी झुलस गया था। औषधि करने से आरोग्य होगया परंतु नेत्र गये सो गये।

सुरबाला ने इस युवान् पुरुष को पहिचान लिया, परन्तु अपनी पहिचान न दी, वह बोली "हमारे ग्राम में सन्यासी बाबा रहते हैं और अन्धों का इलाज उत्तम प्रकार से करते हैं।" अन्धे ने इलाज कराने की सम्मति दी और दूसरे दिन सुरबाला अन्धे को सन्यासी के पास लेगई। सन्यासी ने औषधि लगाना आरम्भ किया और थोड़े दिनों में अन्धा दोनों आखों से देखने लगा।

एक दिन अमरसिंह ने सुरबाला से कहा "इस दीन दास को दृष्टि देकर तूने आभारी किया है अब प्राण दान देकर आभारी कर, जब तू मुझसे प्रथम मिली थी, तब तेरे वचनों से मेरा चित्त चलित होगया था, तेरे स्पर्श से मैं पागल सा बन गया था, और तेरे दर्शन और गुणों ने मेरा सर्वस्व हरण कर लिया है, मेरी गृहणी होने को तू सब प्रकार योग्य है।" सुरबाला क्रोध करके कहने लगी "अमर सिंह! इस प्रकार अयोग्य याचना करते हुये तू ने कुछ विचार नहीं किया, तू एक ऐसी कन्या के साथ बातें कर रहा है जिसके

गरीब पिता ने तेरे श्रीमंत् पिता को एक समय जा कर तेरे साथ मेरा विवाह करने की याचना की थी। धन के मद में मस्त हुये तेरे पिता ने मेरे गरीब पिता को तुच्छकार देकर निकाल दिया था। यह बात हम इस जन्म में नहीं भूल सके। मेरा पिता सम्मान की बात चीत को विशेष समझता है। उसकी विशेष हीन स्थिति कराने वाला भी तेरा पिता ही था। मेरा पिता जो वृद्ध और गरीब है उस के मान की रक्षा करना और उस की सँभाल करना मेरा धर्म है इसलिये तेरी अयोग्य याचना को मैं स्वीकार नहीं कर सकी।" सुरबाला का दृढ़ वाक् प्रवाह सुन कर अमरसिंह अत्यंत करुणा जनक शब्दों से बोला "हे सुरबाले! मुझ को क्षमा कर, मेरे पिता के अविचारी वर्ताव की मैं तुझ से हजार बार माफी मांगता हूं, तेरे पिता के हृदय में जो आघात हुआ उस की मैं कल्पना कर सका हूं, वे सब बातें भूल जाने को मैं विनति करता हूं।"

सुरबाला तिरस्कार करती हुई चली गई। अमर सिंह विचारने लगा "यदि मैं दृष्टि न प्राप्त करता तो अच्छा था जैसे पकवान का स्वाद लेने के बाद ज्वार बाजरे का टुकड़ा अच्छा नहीं लगता इसी प्रकार इस को देख कर सब संसार मुझे निरस मालूम होता है, अब तो मर जाना ही अच्छा है!" इस प्रकार विचार कर आवेश में आकर उस ने कमर से कटार निकाली और कहा "धन्य है क्षत्राणी तेरी टेक को! पिता की उद्धत्ता का बलिदान रूप और तेरे मोह दीपक में आज मैं पतंग स्वरूप स्वाहा होता हूं, हे जगन्नियंता! दूसरे जन्म में तुझ जैसी पत्नि ही मुझ को प्राप्त कराना, यह मेरी अंतिम प्रार्थना है।" इतना कह कर तुरन्त ही कटार अपनी छाती में भोंक दी और यम सदन को प्राप्त हुआ।

स्त्री रूप मदिरा से उन्मत्त हो कर अमर सिंह ने अपने प्राण को दिये। आत्मा अमर होते हुये भी स्त्री के मोह से मरने का अनुभव किया करता है।

अन्धा मात्र नेत्रों से ही अन्धा होता है परन्तु जो मदनातुर होता है, वह दशों इन्द्रियों से अन्धा होता है इसी लिये मदनातुर को महा अन्ध कहा है। जिस की वृत्ति विषयेन्द्रियों के पोषण में ही लगी है वह विवेक भ्रष्ट महा अन्ध है। ऐसा पुरुष पाप और निंद्य कर्म से नहीं डरता, भक्ष्याभक्ष्य का विचार छोड़ देता है, सुरापान में दोष नहीं देखता। मदनातुर हो कर चन्द्र ने गुरु पत्निगमन करके कलंक को ग्रहण किया है, विश्वामित्र उर्वशी के वश हुये। भर्तृ हरिने कहा है:—कृष, काना, लंगड़ा, कानकटा हुआ, पूंछ रहित, अनेक व्रण वाला, पीप से भरा हुआ, अनेक कीड़े जिसके शरीर में पड़े हैं, ऐसा क्षुधा से दुर्बल, घट का मुख जिस के गले में फंस रहा है ऐसा, वृद्ध कुत्ता भी कुत्ती के पीछे दौड़ता है, यह प्रभाव कुत्ता, कुत्ती का नहीं है, यह प्रभाव काम देव का है। काम देव मरे हुये को भी मारता है।

एक राजा का प्रधान अत्यन्त कामी था। जब उस की स्त्री सगर्भ होती थी तब भी वह नव मास पर्यन्त स्त्री संग से रहित नहीं होता था। बालक के जन्म पश्चात् बालक का स्तन पान करना उसे नहीं रुचता था, एक दिन उसने अपनी स्त्री से कहा "प्रसव होते ही बालक को मार दीजो, जिससे अपने रंग भोग में खलल न पड़े, बच्चा जीता रहेगा तो तेरे स्तनों को पान करेगा, तू कृष रहेगी, रोकर काम क्रीड़ा में विघ्न करेगा, जो तू बच्चे को मार न देगी तो मैं दूसरी स्त्री कर लूंगा!" पति के ये वचन सुन कर स्त्री सौत के दुःख से डर गई और विचारने लगी "स्त्रियां कहती हैं कि सौत चित्र की भी अच्छी नहीं" इस प्रकार विचार कर परवश होकर उसने पति की आज्ञा पालन की। प्रसव होते ही बालक को उसने मार डाला! हाय! कैसा शोचनीय हत्या का कार्य!" सच कहा है "कामांध

पुरुष कुछ नहीं देखता !" हम कितना पाप कर रहे हैं यह बात स्त्री पुरुष दोनों ने नहीं जानी। वे बाल हत्या से न डरे। इसीलिये देखते हुये भी न देखने के कारण महा अन्ध थे। व्यभिचार, विधवागमन, अगम्यागमन, सृष्टि विरुद्ध गमन, आदिक में बाल हत्या, गर्भहत्या, होती है, ये सब हत्यायें कामातुर से ही होतीं हैं।

मनुष्य शरीर आत्मा को पहिचानने के निमित्त ही है, अस्वाभाविक विषय भोगके निमित्त नहीं है. गाड़ी-वाहन, स्त्री संग और बाग बगीचों में सैर करने के लिये नहीं है। अपनी स्त्री में भी विशेष आसक्ति बन्धन का कारण है तो पर स्त्री के पीछे घूमने वाले का कल्याण तो हो ही नहीं सक्ता। ऐसे पुरुष इस लोक में ही धिक्कार के पात्र होते हैं क्योंकि भले मनुष्य ऐसों को अपने पास आने नहीं देते। कामातुर मनुष्य तुच्छ जीवों की समान अमूल्य मनुष्य शरीर को व्यर्थ ही गंवाते हैं। जो विषयी अथवा विषयीका स्नेही हो उसकी परछाईं में खड़े रहना न चाहिये। करोड़ों प्रकार के पूजन किये हों, करोड़ों मंत्रों का जाप किया हो, कठिन २ तप भी किये हों, जो परयोनि में अपने बिन्दु को डालता है उसके सब जप तप और पूजा का नाश हो जाता है, उसे पद पद पर ब्रह्म हत्या लगती है। इसलिये अन्ध अन्ध नहीं है परंतु जानते हुए देखती आंखों से भी जो मदनातुर-कामातुर है वह ही अन्ध, महा अन्ध कहा जाता है।

जगत् में रहने की शोभा कीर्ति है, अपकीर्ति में जीना बुरा है। जो प्रतिष्ठावान् है, जिसकी कीर्ति फैल रही है, ऐसे की अकीर्ति होना मरण से भी विशेष है। संसार में मनुष्यों का मुख्य कर्तव्य है कि स्वधर्म के सेवन पूर्वक बहुत काल तक रहकर यश रूप चन्द्रमा के उदय होने का प्रयत्न करे। इस से बढ़कर यहां और परलोक में अन्य विशेष सुख नहीं है। अपने वर्णाश्रम के धर्म को त्यागकर, मद्यपान, मांस भक्षण, पर स्त्री संग, ऐसा कर्म करने वालों की संगति आदिक दुष्टाचरण से अकीर्ति होती है। सन्मार्ग में चलने वालों का लोग गुण गाते हैं, सबके हृदय में ऐसों की प्रतिष्ठा होती है। अपने कानों से अपनी अपकीर्ति सुननेसे मरना अच्छा है क्योंकि अपयश कीर्ति का नाश करने वाला है। एक समय की अपकीर्ति निकालने से भी नहीं निकलती। अपकीर्ति वाले का कोई विश्वास नहीं करता, आदर नहीं करता और सब उसे तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। विचार कर देखा जाय तो शरीर नाशवान् मालूम होता है और उसकी अपेक्षा कीर्ति अमर दीखती है। राम, रावण को बहुत समय हो गया है तो भी राम की प्रशंसा और रावण की अपकीर्ति जगत् में प्रसिद्ध है। अपकीर्ति का लगा हुआ दाग छोड़े से भी नहीं छूटता इसका एक दृष्टांत इस प्रकार है:—

भगवानदास नाम का एक वैश्य अति श्रीमान् था। उसकी कई दुकानें और कोठियां चलती थीं। उसके यहां जाति भोजन आदिक बहुत उत्तम प्रकार से हुआ करते थे। वह दयालु था और लोगों में उसकी विशेष प्रतिष्ठा थी। एक दिन उसने अपने जाति भाइयोंको भोजन कराया। यह भोजन कराना किसी एक प्रसंग के निमित्त था। भोजन के लिये खीर पूरी बनाई गई थी, साथ में रायता, चटनी, पापड़ आदिक अनेक प्रकार के नमकीन मीठे मुरब्बे आदिक पदार्थ भी थे, पूर्ण उत्साह और पूरे दाम लगाकर भोजन बनवाया था। सब ख्यातिजन शाम को चार बजे भोजन के निमित्त आ बैठे। प्रथम कुछ ब्रह्म भोजन हुआ तब मालूम हुआ कि खीर खट्टी होगई है। अब क्या होसक्ता था, मनुष्य बहुत थे। हजार मनुष्यों की खीर का दूध इस समय मिल नहीं सक्ता था, लाचार वह ही खट्टी खीर सबको खिलानी पड़ी। भगवानदास को बहुत बुरा मालूम हुआ परंतु कुछ इलाज न था। अनेक पीढ़ियों से चली आई हुई

प्रतिष्ठा आज जारही है,हमारे यहां कभी भी ऐसा भोजन नहीं हुआ है कि किसी को कुछ कहने का अवसर मिले" ऐसा विचार करता हुआ भगवान्-दास बहुत दुखी हुआ।

सब लोग भोजन करके चले गये। ग्राम भर में खट्टी खीर की कथा फैल गई। कोई मनुष्य ऐसा न था जिसने खट्टी खीर की कथा न सुनी हो। भगवान्दास बहुत बड़ा साहूकार होने से बहुत लोग उसके यहां आया जाया करते थे। छोटे बड़े, जाति और परिजाति वाले, सबका इस से कुछ न कुछ प्रसंग पड़ता था। लोगोंने अब उस का नाम तो लेना छोड़ दिया और खट्टीखीर वाला नाम रख दिया। इस नाम की प्रसिद्धि किसी अखबार और इश्तिहार बिना ही बहुत जल्दी होगई। सब स्थानों पर यह ही नाम प्रसिद्ध हो गया। जब भगवान्दास को खबर हुई कि लोगों ने मेरा नाम खट्टी खीर वाला रक्खा है तो उसने इस नाम के निकाल देने को जाति के सब मनुष्यों को एकत्र किया और बहुत प्रार्थना की कि एक खीर के भोजन के बदले चार खीर का भोजन देता हूं आप लोग मेरा नाम खट्टी खीर वाला न रखिये। कितनेक अच्छे मनुष्योंके कहने से सब ने चार वार भोजन जीमकर खट्टी खीर वाला नाम निकाल देने को स्वीकार किया। दूसरे दिन से खीर पूरी का भोजन आरंभ हुआ। चौथे दिन जब कई लोग भगवान्दास के यहां से भोजन कर घर लौट रहे थे तब मार्ग में एक मनुष्य मिला उसने पूछा कि आज आप कहां से भोजन करके आरहे हैं। तब उन्हों ने कहा कि भगवान्दास साहूकार के यहां से। उस मनुष्य ने पूछा कि कौन भगवान्-दास? तब लोगों ने कहा कि जो अमुक २ स्थान पर रहता है, अमुक स्थान पर कोठी है उस के यहां भोजन करके आरहे हैं। फिर भी वह न समझा तब एक मनुष्य बोल उठा कि खट्टी खीर वाले के यहां भोजन करने गये थे।

नाम पड़गया सो पड़गया। बहुत खर्च करके भी नाम न निकला। अब भी वहां के लोग उसके वंशजों को इसी नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार अकीर्ति की निवृत्ति नहीं होती। तब अकीर्ति करना ही न चाहिये, सद्वर्ताव करना और शुभ कार्य करना चाहिये। कीर्ति का अभिमानी भी न होना चाहिये। सद्कार्य करने वाला शुद्ध अन्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जन्मकी सार्थकता आत्म ज्ञानही वास्तविक कीर्ति है। मनुष्य जन्म पाकर परम पुरुषार्थ न साधे तो यह ही महा अपकीर्ति है और अनेक जन्म मरण का हेतु है।

———::०::———

काशी पंचक स्तोत्र।

उपजाति छन्द।

मनो निवृत्तिः परमोप शान्तिः
सा तीर्थवर्या मणिकर्णिका च।
ज्ञान प्रवाहा 'विमलादि गंगा
सा काशिकाहं निज बोध रूपा ॥१॥

अर्थः—जहां मन की निवृत्ति रूप परम उप-शान्ति है, वह ही तीर्थों में श्रेष्ठ मणिकर्णिका है और वह ही ज्ञान रूप प्रवाह वाली, निर्मलता आदिक गुणों वाली गंगा है, वह ही निज बोध स्वरूप काशी मैं हूं ॥१॥

(जिस स्थान पर मन की परम उपशान्ति है, वह आत्मस्थान है। जब मन अपनी सब वृत्तियां जो प्रपंच की तरफ प्रवर्त हो रही हैं, समेट कर अपने अधिष्ठान में लय को प्राप्त होता है तब वह आत्मस्थ है, वह ही मणिकर्णिका का घाट है-मणि की समान प्रकाश वाला है और जहां ज्ञान के प्रवाह वाली ब्रह्माकार की अखंड धारा बहती है, जो अत्यन्त निर्मल, सब प्रकार के पाप और

संसार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति करने वाली, पवित्र गंगा वहन करती है वह काशी स्वरूप मैं हूं। शंकाः—तब क्या प्रसिद्ध काशी काशी नहीं है? और जहां आत्मा का प्रकाश होता है वह ही यथार्थ काशी है? समाधानः—लौकिक काशी प्रपंचासक्त मनुष्यों को सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने के लिये एक अवलम्बन रूप है। जो स्थूल स्थान को ही काशी मानता है उसको उस काशी से जो फल होता है वह स्थूल ही होता है। काशी को शंकर ने त्रिशूल के ऊपर रक्खा है, प्रलय में उसका नाश नहीं होता, जिस काशी का प्रलय में भी नाश नहीं होता, वह काशी स्थूल किस प्रकार हो सकी है? शंकर कल्याण रूप है, उसके माया रूप त्रिशूल तीनों गुण हैं, उनके ऊपर अर्थात् गुणातीतभाव में काशी को रक्खा है गुणातीत काशी का ही प्रलय में नाश नहीं होता इसलिये आत्माकार वृत्तिरूप स्थान ही मुख्य काशी है। और भी कहा हैः—जैसे स्थूल काशी में स्थूल गंगा का प्रवाह है ऐसे उस काशी में ज्ञान प्रवाहरूप गंगा है। जैसे गंगा अति निर्मल होने से दूसरों को भी निर्मल करती है इसी प्रकार ज्ञान प्रवाह रूप पवित्र करने वाली गंगा जहां वहन करती है वह काशी स्थान मैं ही हूं. मैं आत्मा रूप हूं. आत्मा काशी रूप है,मैं ही अपना बोध स्वरूप काशी हूं।)

यस्यामिदं कल्पितमिंद्र जालं ।
चराचरं भाति मनो विलासम् ॥
सच्चित्सुखैका परमात्म रूपा ।
साकाशिकाहं निज बोध रूपा ॥२॥

अर्थः—जिस विषे यह सब कल्पित इन्द्र-जाल मन का विलास रूप चराचर भासता है और जो सच्चिदानन्द रूप एक परमात्मा तत्व है वह निज बोध रूप काशी मैं हूं ॥२॥

(ब्रह्मांड रूप सब इन्द्रजाल के समान है, इन्द्र जाल जादू को कहते हैं, जैसे जादू की वस्तुयें देखने में आती हैं, परन्तु जैसी वे दीखती हैं, वस्तु रूप से वैसी नहीं होतीं, इसी प्रकार सब ब्रह्मांड है, मन का विलास रूप है, जितना चर और अचर-स्थावर जंगम है वह मन रूप जादूगर की कृति है। ऐसा होता हुये भी मन और उस का किया हुआ विस्तार वस्तु रूप से सच्चिदानन्द रूप एक परमात्मा स्वरूप है। वह परमात्मा ही काशी है और वह-आत्म बोध वाली काशी मैं हूं।)

इन्द्र वज्रा छन्द ।

कोशेषु पंचस्वधि राजमाना ।
बुद्धिर्भवानी प्रति देह गेहम् ॥
साक्षी शिवः सर्वगतोऽन्तरात्मा ।
सा काशिकाहं निज बोध रूपा ॥३॥

अर्थः—जो पंच कोशों में विराजमान है, और जहां प्रत्येक देह में बुद्धि रूप भवानी है, और सब स्थान में भर पूर सब का अन्तर आत्मा साक्षी रूप शिव है, वह निज बोध स्वरूप काशी मैं हूं ॥ ३ ॥

(स्थूल शरीर पंच कोश का कहा जाता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पांच कोश हैं, इन पांचों कोशों में आत्मा विराजमान है। प्रत्येक शरीर में बुद्धि होती है, वह बुद्धि भवानी—पार्वती रूप है। बुद्धि परिच्छिन्न है परन्तु जो आत्मा सब स्थान में भरा हुआ है, सब किसी का अन्तर आत्मा-अपना आप साक्षी रूप है, वह शिव है। वह निज बोध स्वरूप काशी मैं हूं)

अनुष्टुप छन्द ।

काश्यां हि काशते काशी
काशी सर्व प्रकाशिका ।
सा काशी विदिता येन
तेन प्राप्ता हि काशिका ॥४॥

अर्थः—प्रसिद्ध काशी विषे चेतन रूप काशी प्रकाश करती है, वह चेतन रूप काशी सब की प्रकाशक है जिसने वह काशी जानली है उसने काशी की प्राप्ति की है ॥ ४ ॥

(प्रसिद्ध काशी जो शरीर है अथवा जो काशी शहर है, वे दोनों ही जड़ हैं । जिसके प्रकाश से ये दोनों प्रकाशित होते हैं; वह चैतन्य रूप काशी सब की प्रकाशक है—सब देहों, और सब शहरों को, सब लोकों को, सब पदार्थों को प्रकाश करने वाली है । चैतन्य काशी का जानना कठिन है क्योंकि यद्यपि एक ही सब की प्रकाशक है तो भी सब के प्रकाश में भिन्नता है । जब प्रकाश की भिन्नता त्याग कर के सामान्य प्रकाश रूप ग्रहण किया जाता है, तब ही काशी जानी जाती है और जो जान जाता है वह जानने का स्वरूप ही हो जाता है इस लिये काशी उसी को प्राप्त होती है। जो काशी के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते उन को यथार्थ रूप काशी की प्राप्ति नहीं होती । प्रकाशक तत्व सब स्थानों में भरा हुआ होने से काशी सब का स्थान है परन्तु जो कोई सूक्ष्म बुद्धि से उसे जानता है, उसको ही वह प्राप्त होती है)

स्रग्धरा छन्द ।

काशी क्षेत्रं शरीरं त्रिभुवन जठरे
व्यापिनी ज्ञान गंगा ।
भक्तिः श्रद्धा गयेयं निज गुरु चरणः-
ध्यान योगः प्रयागः ॥
विश्वेशोऽयं तुरीयः सकल जन्मनः
साक्षिभूतोऽन्तरात्मा ।
देहे सर्वं मदीये यदि वसति पुन-
स्तीर्थमन्यत्किमस्ति ॥५॥

अर्थः—शरीर रूप काशी क्षेत्र है, और तीनों भुवनों के जठर में व्यापने वाली ज्ञान गंगा है, भक्ति रूप और श्रद्धा रूप गया है, निज गुरु के चरणों का ध्यान योग प्रयाग है । सब मनों का साक्षी भूत अन्तर आत्मा तुरीय तुर्य रूप विश्वेश्वर है । जब सब मेरे देह में ही बसते हैं तब मुझे अन्य तीर्थ की क्या आवश्यकता है ।

(काशी क्षेत्रको मुक्तिदायक कहाहै,इसी प्रकार मनुष्य शरीर रूपी क्षेत्र भी परम पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष प्राप्त कराने के योग्य हैं । जैसे काशी में गंगा बहती है इसी प्रकार तीनों भुवनों के शरीर के मध्य में रहने वाली जठर में ज्ञान रूप गंगा है अर्थात् हृदय में रहने वाले का प्रकाश ज्ञान रूप है, उसी के प्रकाश से सब चेष्टा वाले होते हैं । तीर्थों में गया भी तीर्थ है इसी प्रकार शरीर में रहने वाली भक्ति और श्रद्धा गया है अब प्रयाग तीर्थ को बताते हैं कि निज गुरु के चरणों का ध्यान रूपी जो योग है, वह ही प्रयाग है । निज गुरु कहने से ब्रह्मनिष्ठगुरुका ही बोध होता है.ब्रह्म निष्ठ गुरु के दो चरण हैं इसी प्रकार परब्रह्म का बोध एक और जगत् की निवृत्ति दूसरा चरण है उनका ध्यान करने से परमपद की प्राप्ति होती है । जैसे प्रयाग में त्रिवेणी संगमहै इसी प्रकार इस ध्यान के करने से त्रिपुटी का नाश होकर अद्वैत में एकता होती है । अब इन तीर्थों के पीछे मुख्य देव को बताते हैं:—सब के मन का साक्षी रूप जिस करके मन मनन क्रिया में प्रवर्त हो सकता है, सब का अन्तरात्मा तुर्य त्रिपुटी से भिन्न चौथा सब विश्व का ईश्वर है । जब सब तीर्थ और महान् देव भी मुझ में ही वास कर रहे हैं तब मुझ को अन्य तीर्थ की क्या आवश्यकता है ? अभिप्राय यह है कि सर्वोच्च आत्मा तीर्थ का जब मुझ को पूर्ण बोध है तब लौकिक तीर्थों से मुझे कुछ प्रयोजन नहीं है । लौकिक तीर्थ, महान् तीर्थ आत्मा की प्राप्ति में सहाय रूप हैं । जब मुझे आत्मतीर्थ की ही प्राप्ति है तब सब तीर्थों का समन्वय उसमें ही हो जाता है)

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका ।

[गतांक से आगे]

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और स्मार्तं स्मार्त (सांख्य स्मृति में कहा हुआ प्रधान) [भी] न [अन्तर्यामि शब्द द्वारा कहा हुआ] नहीं [है] अतद्धर्माभिलापात् अप्रधान के (चेतन के) धर्म के कथन से ।

टीकाः—प्रतिपक्षीः—ऐसा हम मानते हैं परन्तु अदृष्टत्व (न दीखनापना) आदि धर्म सांख्य-स्मृति कल्पित प्रधान के भी युक्त हैं क्योंकि वे (सांख्य वाले) प्रधान को रूपादि रहित स्वीकार करते हैं । वास्तविक 'अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' [मनु० १.५] (तर्क न की जा सके ऐसा, जाना न जा सके ऐसा, सर्व प्रदेश की तरफ से सोता हो ऐसा) ऐसा वे स्मरण करते हैं । सर्व विकार का कारण होने से उसमें भी नियन्तापना धर्म युक्त होता है । इसलिये अन्तर्यामि शब्द से प्रधान कहा हो, यह हो सक्ता है ।

सिद्धान्तीः—'ईक्षतेर्ना शब्दम्' [ब्रह्मसू०१-१-५] (ईक्षति से प्रधान जगत् का कारण नहीं है क्योंकि वह अशब्द है) इसमें कथन किया हुआ होने पर भी यहां पर अदृष्टपना आदि के कथन से फिर भी शंका होती है इसलिये उसका उत्तर यह है कि अन्तर्यामि शब्द से स्मृति में कहे हुये प्रधान का ग्रहण करना युक्ति नहीं है क्योंकि अन्य के धर्मों का कथन है । यद्यपि अदृष्टपना आदि धर्म प्रधानके भी हो सकतेहैं तोभी दृष्टपना आदि धर्म प्रधान में संभव नहीं है क्योंकि वे प्रधान को अचेतन मानते हैं । यहां पर 'अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतोऽमन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता' [बृह० ३-७ २३] (अदृष्ट है परन्तु द्रष्टा है, अश्रुत है परन्तु श्रोता है, अमत है परन्तु मन्ता है, अविज्ञात है परन्तु विज्ञाता है) ऐसे वाक्य शेष हैं । आत्मत्व भी प्रधान को युक्त नहीं है इसलिये अन्तर्यामि शब्द से प्रधान का ग्रहण युक्त नहीं है परमात्मा का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १६ ॥

शंकाः—जो आत्मत्व, द्रष्टात्व आदि के असंभव होने से प्रधान को अन्तर्यामी मानना युक्त नहीं है तो शारीर (जीव) को अन्तर्यामी क्यों न मानें क्योंकि शारीर (जीव) चेतन होने से द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, और विज्ञाता है और प्रत्यक् (अभ्यन्तर) होने आत्मा भी है और अमूर्त है क्योंकि धर्म और अधर्म के फल के उपभोग युक्त है । अदृष्टत्व आदि धर्म भी शारीर (जीव) के विषे प्रसिद्ध हैं क्योंकि दर्शन आदि क्रिया की प्रवृत्ति का कर्ता के विषे विरोध है और 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः [बृह० ३-४-२] (दृष्टि के द्रष्टा को तू न देख सकेगा) इत्यादि श्रुतियां हैं । और कार्य कारण संघात को नियमों में रखने का उसका स्वभाव है क्योंकि वह भोक्ता है इसलिये शारीर (जीव) अन्तर्यामी है ।

इस शंका का समाधान आगे के सूत्र से करते हैं ।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥२०॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—शारीरः जीवात्मा च भी [अन्तर्यामी नहीं है] हि क्योंकि उभये दोनों (काण्व शाखा वाले और माध्यंदिन शाखा वाले) अपि भी एनम् इसको (जीव को) भेदेन भेद द्वारा (परमात्मा से भिन्न) अधीयते अध्ययन करते हैं ।

टीकाः—नहीं (यह पूर्व सूत्र में से लगाया जाता है) शारीर (जीव) अन्तर्यामी युक्त नहीं है यद्यपि दृष्टत्व आदि धर्म उसके हो सकते हैं तो भी घटाकाश की समान उपाधिसे नियमित परिच्छिन्न होनेसे पृथ्वी आदिके अन्दर उसका रहना अथवा उन्हें नियम में रखना संभव नहीं है और काण्व और मध्यंदिन शाखा वाले दोनों अन्तर्यामी के भेद से पृथिवी आदि की समान अधिकरण और नियम्य ऐसा इस शारीर का अध्ययन करते हैं । (अपूर्ण)

तुरीयातीति उपनिषद्।

पितामह ब्रह्मा, भगवान् और पिता रूप नारायण के समीप आकर पूछने लगे "तुरीयातीत अवधूत का मार्ग कैसा है और उसकी स्थिति कैसी होती है ?" भगवान् नारायण ब्रह्मा से कहने लगे "जो अवधूत मार्ग में होता है, ऐसा पुरुष दुर्लभ्य है, ऐसा पुरुष बहुत रूप से नहीं होता, एक रूप से होता है। वह हमेशा पवित्र है, वैराग्य मूर्ति रूप है, ज्ञानाकार रूप से है, और वेद पुरुष रूप से है, ऐसा ज्ञानी मानते हैं। जो महा पुरुष है, वह अपना चित्त मुझ में स्थित करके रहा हुआ है और मैं उसमें स्थिति करके रहा हुआ हूं। वह प्रथम कुटीचक सन्यासी रूप होता है, पीछे बहूदक होता है। बहूदक हंस सन्यस्त का अवलम्बन करके पीछे परम हंस रूप होता है और स्वरूपानुसंधान से सब प्रपंच को जान कर, दंड, कमंडलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन और विधि अनुसार कही हुई सब क्रियादिक का जल में त्याग करके दिगम्बर रूप होकर, विवर्ण, जीर्ण, वल्कल, अजिन तथा सब परिग्रह का त्याग करके असंग की समान स्थिति करता है। वह चौर, अभ्यंग स्नान और ऊर्ध्व पुंड्रादिक का त्याग करता है। वह पुण्य, अपुण्य से रहित होता है। वह ज्ञान और अज्ञान का भी त्याग करता है, उसको शीत, उष्ण, सुख दुःख मान और अपमान नहीं होता। तीन वासनाओं सहित, निन्दा, अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दंभ, दर्प, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया, और आत्मा के संरक्षण आदिक का उसने दहन किया होता है। वह अपने शरीर को कछुए के आकार के समान देखता है। वह यत्न से रहित होता है, नियम से रहित होता है, उसको लाभ हानि सब समान होते हैं। इन्द्रियों की वृत्ति से प्राण का जो कुछ प्राप्त हो, उससे निर्वाह करता है, वह लालच से रहित होता है। उसने सब विद्या और पांडित्य रूप प्रपंच का त्याग किया होता है, वह अपने शरीर को गूढ़ रखता है, वह ज्येष्ठ और कनिष्ठ से रहित होता है और सर्वोत्कृष्ट और सर्वात्मक अद्वैत रूप से कल्पना करता है। 'मुझसे अन्य कुछ भी नहीं है,' ऐसा वह मानता है वह देव, गुरु आदि धन का आत्म में उपसंहार करता है। वह दुःख से दुखी नहीं होता, सुख से हर्ष नहीं मानता। उसे राग में प्रीति नहीं होती, उसकी सब इन्द्रियां शुभाशुभ से उपराम को प्राप्त हुई होती हैं। पूर्व प्राप्त हुये आश्रम, आचार, विचार, विद्या, धर्म प्रभाव आदि की स्मृति उसको नहीं होती। उसने वर्णाश्रम और आचार का त्याग किया हुआ होता है। रात्रि और दिन उसको समान होता है। वह स्वप्न से रहित होता है। सदाचरणशील होता है, देह मात्र करके रहा हुआ होता है। उसको जल और स्थल कमंडलु रूप से हैं और वह हमेशा उन्मत्तपने से रहित है तो भी बालक, उन्मत्त और पिशाच के समान अकेला विचरता है, किसी से बोलता नहीं परन्तु स्वरूप के ध्यान में रहा हुआ होता है। वह सर्व प्रकार के अवलम्बन से रहित होता है। आत्मनिष्ठा के योग्य वह सब विस्मरण करता है, ऐसा तुरीयातीत अवधूत वेष वाला अद्वैत निष्ठा में तत्पर, प्रणवात्मक से देह का त्याग करता है वह अवधूत है। वह ही कृत कृत्य कहलाता है॥ॐ तत्सत्॥

———::०::———

योगी अरविन्द का संदेश।

तुम अपने घर लौट जाओ, तुम्हारे भीतर जो कुछ है उसी को प्राप्त करो अर्थात् आत्मस्थ होओ, तुम्हारा देश किस बात की पुष्टि करता है यह देश के अन्तरतम प्रदेश में घुस कर देखो। उस पर अटल विश्वास रख उसकी प्राप्ति के लिये अविराम उद्योग करो, उसकी प्राप्ति के बाद समस्त बाह्य विषय स्वयं तुम्हारे पास आ जायंगे। उसकी प्राप्ति न होने पर तुम्हारा संपूर्ण अधःपात हो जायगा, तुम्हारे देश का फिर उद्धार नहीं होगा।

मैं नहीं समझता कि नवीन भारत मुझे चाहता है। मेरी धारणा है कि देश बारह वर्ष पहले के अरविन्द को चाहता है, आज के अरविन्द को देश नहीं पहचानता। अब मुझ में बहुत परिवर्त्तन हो गया है अपने कर्म जीवन के पहले भाग में मैंने पाश्चात्य सभ्यता ... भारत वासियों का

आदर्श नहीं बताने में अपनी शक्ति लगाई थी और यह दिखाया था कि भारत में बहुत बड़े २ गुण हैं। पर अब मैं समझता हूँ कि मुझे अपने दोषों की आराधना और स्वाभिमान को बड़ा बताने के विरुद्ध संग्राम करना होगा।

"नायक"

———:।o।:———

श्रीमद्भगवद्गीता में उत्पन्न हुई शंकायें

प्रिय सम्पादक महाशय,

मैं श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ता हूं, उसमें मुझे नीचे की शंकायें उत्पन्न हुई हैं। कितनी ही टीकायें मैंने देखी हैं परन्तु संतोषजनक उत्तर न प्राप्त होने से आपके सुप्रसिद्ध, उच्च रहस्य वाले मासिक पत्र में प्रगट करने की इच्छा से शंकायें लिख भेजी हैं, कोई अनुभवी विद्वान् अथवा आप ही उसका यथोचित् उत्तर देकर उन्हें निवृत्त कीजिये। मेरे समान औरों को भी लाभ पहुंचे इसलिये इन शंकाओं और उनके उत्तर को आप प्रसिद्ध करने की कृपा कीजिये।

(१) गीता वेदों को मानती है या नहीं? यदि मानती है तो किस दृष्टि से? अः २ श्लोक ४२ ४५, ४६ और ५३ में वेद का तुच्छता की दृष्टि से क्यों कथन किया है?

(२) गीता वर्ण आश्रम धर्म को मानती है या नहीं? मानती है तो किस प्रकार? नहीं मानती है तो वर्णाश्रम धर्म का मंडन क्यों करती है और मानती है तो सर्व धर्मों को छोड़ कर अः १८ श्लोक ६६ का सच्चा अर्थ क्या है? जब शूद्रों और पाप योनियों को परमगति प्राप्त होना, वर्णित है तब वर्णाश्रमधर्म किस निमित्त है? यदि वर्णाश्रम धर्म लौकिक है तो अन्य देश वासियों का भी वर्णाश्रम धर्म रहित विवाह होता ही है।

(३) गीता शास्त्र कर्म प्रतिपादक है या ज्ञान प्रतिपादक? या दोनों? यदि केवल कर्म प्रतिपादक है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञान प्रतिपादक है तो कर्म निष्फल हैं। ज्ञान ही बताती है तो कर्म का आग्रह क्यों करती है? कर्म और ज्ञान दोनों के बताने में आपस में दोनों का विरोध है।

(४) गीता मूर्ति पूजा मानती है या नहीं? यदि नहीं मानती तो अ० ९ श्लोक २६ का क्या अर्थ है? यदि मूर्ति पूजा मानती है तो किस प्रकार मानती है? यह निर्गुण प्रतिपादक शास्त्र है या सगुण?

(५) श्रीकृष्ण अपने को परब्रह्म स्वरूप से कथन करते हैं, यह किस प्रकार घटित हो सक्ता है? श्रीकृष्ण का मनुष्य शरीर चार हाथ वाला था या दो हाथ वाला? चार हाथ वाला कहा जाय तो इस प्रकार होना सृष्टिक्रम से विरुद्ध है। यदि कोई यमल (साथ जुड़े हुये दो) जन्मता है तो चार हाथ के साथ पैर भी चार और दो शिर होते हैं।

(६) विराट् सृष्टि का अर्थ क्या है? क्या वह वास्तविक परब्रह्म स्वरूप है अथवा उपासना के निमित्त है? वैराट् ने अपने परब्रह्म होने का किस प्रकार कथन किया है?

(७) मुमुक्षु भाव के योग्य शिष्य हुये बिना ज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता। क्या अर्जुन मुमुक्षु था? क्या अर्जुन को उपदेश देने से ज्ञान प्राप्त हुआ? क्या वह परमपद को प्राप्त हुआ? यदि वह परमपद को प्राप्त न हुआ तो अन्य को परमपद प्राप्त होने की आशा क्यों की जाय?

(८) श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर वैराट स्वरूप दिखलाया, क्या वह हाल के जमाने का प्रचलित मेस्मिरेजम तो नहीं था? श्रीकृष्ण ने यह भी कहा था कि मेरी योग सामर्थ्य को देख। यदि मेस्मिरेजिम नहीं था तो किस प्रकार का योग था? अथवा कुछ और ही ईश्वर शक्ति थी? इस प्रकार का चमत्कार वर्तमान समय में भी कोई किसी को दिखला सक्ता है या नहीं?

भवदीय
विनोदीलाल शर्म्मा

इन शंकाओं का उत्तर विद्वानों की तरफ से प्राप्त होने की इच्छा से ये शंकायें प्रगट की गई हैं किसी एक अथवा अधिक सज्जनों के जो उत्तर आवेंगे, यदि योग्य समझे जांयगे तो प्रगट किये जांयगे। दो मास के भीतर उत्तर लिख भेजने चाहिये।

सम्पादक।

Registered No. A.860.

ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } वैशाख सं० १९७८। मई १९२१ { अंक ७

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,

बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम ।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है ।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है ।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा । विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा ।
(४) एक अङ्क का मूल्य ।−) लिया जायगा । नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा ।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये ।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द ... ... मूल्य रु० ३।−)
" द्वितीय " " " ३।−)
" प्रथम " बिना जिल्द " ३)
" द्वितीय " " " ३)
डाक महसूल ग्राहकों को देना पड़ेगा ।

प्रकाशक ।

पुस्तक ३ | वैशाख सं० १९७८। मई १९२१ | अंक ७

प्रारब्ध।

भुजंगी छन्द।

(१)

महा सिद्ध योगी मुनी या ऋषी ने।
कभी भी न प्रारब्ध देखी किसी ने॥
न देखे हुये का भला क्या भरोसा।
तजो मित्र! प्रारब्ध की सर्व आशा॥

(२)

यती भक्त ध्यानी तथा संत ज्ञानी।
सभी ने हि प्रारब्ध है भोग मानी॥
भरोसा न प्रारब्ध का कोइ कीन्हा।
किया यत्न सो ही परब्रह्म चीन्हा॥

(३)

किया यत्न ब्रह्मा हुये सृष्टिकर्त्ता।
हुये यत्न से विष्णु संसार भर्ता॥
हुये यत्न से शंभु संहारकारी।
हुये यत्न से सिद्ध आकाश चारी॥

(४)

मुमुक्षु! न प्रारब्ध में चित्त दीजे।
सदा ज्ञान की प्राप्ति में यत्न कीजे॥
करो यत्न पूरा न आलस्य आवे।
वही धन्य है जो अविद्या मिटावे॥

(५)

नहीं कर्म से भिन्न प्रारब्ध कोई।
किये पूर्व जो कर्म प्रारब्ध सोई॥
न विश्वास प्रारब्ध का भूल कीजे।
न हो सिद्धि प्रारब्ध को मानलीजे।

(६)

रखे थाल में दिव्य मिष्ठान्न नाना।
उठा हाथ से दांत से हो चबाना॥
तभी तृप्ति होवे तभी भूख जावे।
हिलाये विना हाथ क्या हाथ आवे॥

(७)

विना औषधी रोग कोई न जाता।
विना यत्न के सिद्धि कोई न पाता॥
विना यत्न के धर्म पावे न कोई।
नहीं अर्थ या काम की सिद्धि होई॥

(८)

रहा बैठ प्रारब्ध पे मूर्ख सोई।
कमाई कई जन्म की व्यर्थ खोई॥
करो यत्न प्रारब्ध का ध्यान छोड़ो।
पड़ें विघ्न लाखों कभी मूंह न मोड़ो॥

(९)

सहो दुःख भारी न हा हा पुकारो।
न रोओ न धोओ सदा धैर्य धारो॥
धरे धैर्य जोई वही मर्द शूरा।
वही भक्त ज्ञानी वही संत पूरा॥

(१०)

विसारो सभी ब्रह्म को ही विचारो।
यही संत भाषें यही वेद चारो॥
न कौशल्य! प्रारब्ध पे बैठ जाओ।
करो यत्न त्रीलोक का राज्य पाओ॥

बंधन ।

व्यवहार में फँसे हुये, तमोगुण के भाव से आच्छादित मनुष्यों को प्रथम बंधन मालूम नहीं होता परन्तु जब दुःख भोगना पड़ता है तब दुःखी होते हैं, चिल्लाते हैं और दुःख को मिटाना चाहते हैं और जब दुःख कुछ कम हो जाता है या किसी सुख की तरफ चित्त चला जाता है तब ही दुःख को भूल जाते हैं। ऐसे मनुष्यों को इस बात का विचार नहीं होता कि दुःख किस कारण से होता है, दुःख को पकड़ कर ले आने वाली रस्सी कौनसी है और किस बन्धन से दुःख होता है। आत्मा निर्मल है, और असंग है इसलिये थोड़े समय तक दुःख का भान करने के बाद उसी दुःख को या वैसे ही दुःख की योनियों को दुःख रूप नहीं मानता, जिस किसी योनि में कुछ समय तक रहता है, उसका चित्त उसी में रम जाता है, नीच ऊंच योनियां सब ही उसके लिये समान हो जाती हैं इसी कारण वह सच्चे सुख की प्राप्ति का यत्न नहीं करता। कोई शुभ संस्कार वाला जो सतोगुण की विशेषता वाला होता है वह ही अपने कल्याण के लिये प्रयत्न करता है।

सामान्यता से लोग स्थूल जेलखाने को ही बंधन मानते हैं। उनकी स्थूल दृष्टि में स्थूल के सिवाय और कोई बंधन नहीं दीखता। स्थूल बंधन इतना दुःखदायक नहीं जितना सूक्ष्म बंधन है। स्थूल बंधन तो सूक्ष्म बंधन की मात्र छाया है। स्थूल बंधन स्थूलता में प्राप्त नहीं होता किन्तु सूक्ष्म का फल रूप है। सूक्ष्म बंधन अनेक रस्सियों से बांधता है और वे रस्सियां एक दूसरी से मिल कर रस्सा रूप हो जाती हैं। वह रस्सा रेशम का, सूत का, अथवा लोहे की जंजीर रूप नहीं है किन्तु इतना सूक्ष्म है कि रस्सा होने पर भी दीखता नहीं है। वह जगत् के प्रेम का रस्सा है और पांच विषय रूप पांच तंतुओं का बना हुआ है। जब उसमें बहुत से बल पड़जाते हैं तब वह बहुत मजबूत हो जाता है और अनेकों प्रयत्नों से भी उसका कटना कठिन हो जाता है। विषयासक्ति रूप रुई के पैदा होने का क्षेत्र अज्ञान है और जीव भाव विषयासक्ति रूप रुई को पैदा करने वाला किसान है, जिस प्रकार किसान आमदनी के लिये खेत को जोतता है इसी प्रकार जीव रूप किसान विषय भोग रूपी धन के लिये खेती करता है। जब विषयासक्ति रूप रुई पैदा होती है तब उसे ओट कर द्वेष रूपी बिनौला निकाल कर राग रूपी रुई ग्रहण करता है—राग द्वेष के भाव को समझता है। फिर राग रूपी रुई को धुनता है जिससे वह मुलायम हो जाती है—हर एक वस्तु में प्रेम होता है। धुनी हुई रुई को बढ़ा कर तन्तु निकाला आता है और वह बटकर रस्सा हो जाता है इसी प्रकार राग रूपी रुई का आसक्ति रूप तन्तु निकाल कर रजोगुण के विशेष अंश से बल खाकर रस्सी बन जाती है। इस प्रकार अपनी तैयार की हुई अनेक रस्सियों का रस्सा बनाकर मनुष्य आपही बंध जाता है। जैसे गहना पहनना लोगों को अच्छा लगता है, उसके बोझे को वे बोझा नहीं समझते इसी प्रकार अपने बनाये हुये रस्से से अपने हाथ पैर बांध लेते हैं और ऐसे बंधन को अपनी शोभा मानते हैं। जिस प्रकार रेशम का कीड़ा अपने में से तन्तु निकाल कर घर बनाता है और आप ही अपने को बंधन में डालता है—बंद हो जाता है इसी प्रकार रागासक्ति से मनुष्य बंधन तैयार करके आप ही बंध जाता है, उसे इस बात का होश नहीं रहता कि मैं स्वयं अपने को बंधन में डालता हूं। जब बंधन से दुःख होता है तब मनुष्य उसे छुड़ाना चाहता है किन्तु वह छूटता नहीं है क्योंकि बंधन मालूम नहीं पड़ता। यदि संयोगवश सुबुद्धि से मालूम हो जाय कि मैं बंधन में पड़ा हूं और दूसरे से बंधन काटने को कहा जाय तो दूसरा उसके बंधन को काट नहीं सक्ता, क्योंकि बंधन के रस्सेकी गांठ विचित्र

लगी हुई होती है, कोई दूसरा उसे खोल नहीं सक्ता किन्तु अपनी लगाई हुई गांठ को आप ही खोलना पड़ता है। स्थूल बंधन देखने में आता है इसलिये दूसरे के छोड़ने का विषय होता है परन्तु सूक्ष्म बन्धन स्थूल दृष्टि का विषय नहीं है इसलिये दूसरा उसे छोड़ नहीं सक्ता। जैसे किसी मनुष्य ने अपने संकल्प से, संकल्प में एक शेर देखा, उससे वह डरने लगा और चिल्लाने लगा कि हाय! शेर मुझे मारने आता है, हाय! कोई मेरी रक्षा करो, और शेर को मारो तो उसके पास खड़े हुये भरी हुई बन्दूक वाले योद्धा भी उस शेर को मार नहीं सक्ते क्योंकि स्थूल योद्धा स्थूल शेर को ही मार सक्ते हैं, उसे जिस शेर का भय है वह स्थूल नहीं है, वह उसकी कल्पना में है और उसीका बनाया हुआ है, उसे तो वह ही भगा दे, या मार दे तो भय रहित हो सक्ता है अथवा जिस कल्पना से उसने शेर रचा है उस कल्पना से यदि वह भिन्न हो जाय तो उस शेर के भय से मुक्त हो सक्ता है। इस प्रकार अपना कल्याण—अपने बंधन की निवृत्ति अपने से ही होती है, दूसरे से नहीं। दूसरा तटस्थ रह कर मात्र युक्ति बता सक्ता है। अपना किया हुआ बंधन अपनी दृष्टि–सृष्टि में है। अपना अज्ञान अपना बंधन है, उस बंधन की निवृत्ति का उपाय अपना ज्ञान है, अज्ञान निवृत्त होने पर बंधन नहीं रहता।

जिसको निश्चयता पूर्वक यह मालूम हो जाय कि जगत् बंधन रूप है, उसे भाग्यशाली समझना चाहिए। शरीर, संपत्ति, धन, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र, कुलीनता, विद्वत्ता आदिक जिसमें हों वह भाग्यशाली नहीं है; क्योंकि अज्ञान की दशा में जो भाग्यशाली है वह ज्ञान दशा में कंगाल होता है। व्यवहारिक ऐश्वर्य प्रतिष्ठा आदिक चाहे हों या न हों जिसको बंधन का बोध होता है वह भाग्यशाली है। ऐसा पुरुष प्रयत्न करके बंधन को निवृत्त करके अपने अखंडित स्वरूप को अवश्य प्राप्त होगा।

यूरोप के एक देश में एक यंत्र विद्या का जानने वाला रहता था। उसकी बुद्धि तीव्र होने से उसने कई नये २ यंत्रों का आविष्कार किया था। एक बार उसने चोर पकड़ने का एक यंत्र बनाया। यह यंत्र बहुत विलक्षण था। इस यंत्र को बनाने से बहुत श्रीमान् होने की उसकी इच्छा थी। जब यंत्र तैयार हो गया तब उसकी परीक्षा करने के लिए उसने अपने मकान के बाहर के किवाड़ों में उस यंत्र को लगा दिया। यह यंत्र इस प्रकार का था कि रात्रि में जब कोई मनुष्य आकर किवाड़ खोलने का यत्न करता तो तुरंत ही यह यंत्र किवाड़ों पर हाथ रखने वाले मनुष्य के पहले तो दोनों हाथ पकड़ लेता, और बाद दोनों पैर जकड़ जाते, तीसरा एक बंद कमर में लग जाता और चौथा गले में पड़ जाता। जब चारों बंद ठीक २ लग जाते तब यंत्र में से एक डंडा खड़ा हो जाता और बंधे हुये मनुष्य के ऊपर धड़ा धड़ चोट करता। यंत्र के गुप्त भाग में एक चाबी रक्खी गई थी जिसको बंधा हुआ मनुष्य बंधन में पड़े होने पर और चोट खाते हुये भी सावधान रह कर, मुख उलटा करके ले सक्ता था और यंत्र को बंद कर सक्ता था। जब तक युक्तिपूर्वक मुख न फेरा जाय तब तक बन्धन न छूटता और डंडा भी अपनी कवायद करता ही रहता। दूसरा कोई मनुष्य चलते हुए यंत्र को रोक दे ऐसी कोई कल उसमें न थी।

एकदिन यंत्रकार अपनी स्त्री सहित परदेश से आई हुई एक नाटक कम्पनी का अपूर्व तमाशा देखने को गया। उसके मकान में स्त्री पुरुष दो ही थे। जाते समय किवाड़ बंद करके नये बनाये यंत्र में चाबी भर दी गई जिससे उनकी गैरहाजिरी में कोई चोर घर में घुसने और कोई वस्तु न ले जाने पावे। चोरों को इस यंत्र की खबर पड़ गई थी इसलिये रात्रि को कोई चोर उसके घर पर न आया। नाटक का तमाशा अपूर्व था इसलिये स्त्री पुरुष दोनों आश्चर्य युक्त हो एक दृष्टि बांध

रात भर तमाशा देखते रहे। सुबह के तीन बजे तमाशा समाप्त हुआ। दोनों की आखों में नींद जोर से भरी हुई थी। पुरुष जल्दी से घर पर आया और किवाड़ों को खोलने लगा। यंत्र में चाबी लगाकर गया हूं, यह बात वह भूल गया था, और जागता हुआ भी आधे सोये हुये के समान था। ज्यों ही उसने किवाड़ पर हाथ रक्खा त्योंही यंत्र अपने मालिक को न पहिचान कर अपना काम करने लगा! लोहे के घर ने प्रथम हाथ बांधे, पैरों को जकड़ दिया, फिर कमर और गले को पकड़ लिया और लगे डंडे पड़ने! क्या करना चाहिये, इस बात की यंत्रकार को याद न रही! लगा चिल्लाने "हायरे! बांधा गया! आइयो कोई छुड़ाइयो!" स्त्री पास खड़ी थी, यंत्र का गुण जानती थी इस लिये उसके पास नहीं जाती थी! दूरसे चिल्लाती थी "हायरे! मरा हसबेंड (पति) मरा जा रहा है! कोई आकर छुड़ाओ!" डंडा एक दम निकल पड़ा था और धड़ा धड़ चोट पर चोट लग रही थी! चोटों के साथ यंत्रकार "हायरी मामा! (मैया) हायरे पापा! (पिता)" पुकार रहा था। उसकी चिल्लाहट सुन कर आस पासके लोग आकर जमा हो गये। दूर खड़े २ सब तमाशा देखते थे परंतु नये यंत्र के पास जाने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ती थी! किसी को यंत्रकार पर दया आरही थी! एक मनुष्य जी का कड़ा था, छुड़ाने को पहुंचा, यंत्र ने फौरन् उसका भी सत्कार किया–उसे भी बांध लिया और डंडा अन्धा बनकर लगा रेवड़ियां बांटने! उसे भी दया का स्वाद मिला! यंत्रकार मूर्छित होगया परंतु यंत्र ने अपना कार्य बन्द न किया! थोड़ी देर में जब होश आया तो मुख घुमा देने की याद आई परंतु बिचारा अब मुख भी नहीं फेर सका था क्योंकि दूसरा मनुष्य सामने आगया था! उन्हें छुड़ाने को लोगों ने बहुत से उपाय सोचे परंतु कोई उपाय काम न आया! अन्त में दोनों की जान गई! जब मकान के पिछले भाग को तोड़कर कुछ मनुष्य मकान के अन्दर गये और यंत्र तोड़ा गया तब उसने मरे हुए मनुष्यों को छोड़ा।

पाठक! आपको यन्त्रकार का हाल सुनकर हंसी आती होगी और उसकी हालत पर आप करुणा करते होंगे परन्तु यह यन्त्र सब मनुष्यों ने बना रक्खा है और सब ही उसमें जकड़े हुये जीव बने हुये हैं–बंधन में पड़े हुए हैं! उससे छूटने का कोई उपाय नहीं है! जिस प्रकार यंत्रकार ने प्रथम कामना की थी और फिर उस कामना की सफलता रूप यह यंत्र बनाया था इसी प्रकार कामना करके ही सब जीव यंत्र बनाते हैं या यों कहो कि कामना ही यंत्र है। कामना पांचों विषयों की होती है, वे ही इस यंत्र के पांच बंध यानी चार बंध और पांचवें डंडे की मार है! जब जीव अपने बनाये हुए यन्त्र से युक्ति पूर्वक मुख फेर लेता है तब बन्धनोंसे मुक्त होता है। कामना बन्धन है। कामना से मुख फेर लेना वैराग्य–त्याग है। वैराग्य से बन्धन छूट जाता है और ज्ञानद्वारा परमपद की प्राप्ति होती है। परमपद ही मोक्ष है। जब संसार से मुख फेर कर आंतर मुख–आत्मा के लक्ष वाले होते हैं तब बन्धन से रहित होते हैं। जैसे उपरोक्त यन्त्र को कोई भी मनुष्य रोक न सका था, जिसका बनाया हुआ था वह ही रोक सक्ता था इसी प्रकार जीव ही अपनी कामना के यन्त्र को रोकने में समर्थ होता है। संसार की तरफ से मुख फेरकर आत्मा की तरफ मुख करना यह ही यन्त्र रोकने का उपाय है।

कामना के सिवाय और कोई बन्धन नहीं है! जिसको जितनी कामनायें हैं, उसे उतना ही बन्धन है। आत्मा बन्धन में नहीं आसक्ता क्योंकि जो परिच्छिन्न वस्तु होती है वह ही दूसरे से बांधी जाती है। आत्मा व्यापक होने से किसी के बांधने का विषय नहीं है। पंच महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश अथवा उनसे बना हुआ कोई भी पदार्थ आत्मा को बांध नहीं सक्ता–

किसी प्रकार हानि नहीं पहुंचा सका तब आत्मा को बन्धन किस प्रकार हो ! आत्मा कभी बन्धन में नहीं आया, न अब बन्धन में है और न आगे होगा। जब आत्म भाव दब कर मायिक व्यक्ति भाव का भान होता है तब कामना होती है और अज्ञान से न होते हुये बन्धन का जीव अनुभव करता है। दुःख-बन्धन का हेतु अज्ञान है। जिसको अज्ञान नहीं है,उसे कामना नहीं है, जिसको कामना नहीं हैं उसको कोई बन्धन नहीं है। राजा, रंक, देव, दानव, ऋषि, मुनि और तपस्वी इन सबको कामना ने दीन कर रक्खा है। कामना के कारण सब दीनता के बन्धन में पड़े हुये हैं। जिसको किसी प्रकार की कामना न हो उसे किसी प्रकार का बन्धन भी न हो। बन्धन कामना से, कामना व्यक्ति अहंभाव से, व्यक्ति अहंभाव अज्ञान से और अज्ञान स्वस्वरूप के बोधन होने से होता है। जिसने बन्धन माना है जिसको बन्धन दुःख दे रहा है, ऐसे पुरुष को वस्तुतः न होते हुए बन्धन की जड़ काट देना चाहिये।

धर्म अर्थ और काम इन सब की जड़ कामना है। कहा हैः—"जहां काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम तँह काम। तुलसी दोनों नहिं मिलें रवि रजनी यक ठाम ॥" धर्म,अर्थ और काम तीनों बंधन स्वरूप हैं यद्यपि वेद जैसे शास्त्र उनकी बहुत प्रशंसा करते हैं और उनकी वृद्धि के अनेक उपाय बताते हैं तो भी वेदों का कथन बंधनका हेतु नहीं है किंतु बन्धन का हेतु जो अन्तःकरण की मलिनता है उसके शुद्ध करने के निमित्त है। इस रहस्य को न जानकर कामनासे बंधनको दृढ़ करने वाले बालक-अबुद्ध-मूर्ख कहे जाते हैं। यद्यपि आत्मा बन्धन से रहित है तो भी जिसने जीव भाव से अपने में बन्धन मान रखा है, उस माने हुये बंधन से छूटने काजो प्रयत्न है, वह बन्धन निवृत्ति का उपाय कहा जाता है। ठीक कहा जाय तो 'बन्धन नहीं है' आत्म साक्षात्कार द्वारा ऐसा समझ लेना यह ही बंधन से मुक्त होने का उपाय है।

ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे कामना ने दीन न किया हो। इन्द्रादिक महान् देवता भी कामना के कारण किसी तपस्वी का तप नहीं देख सके। नन्दन वन में विहार करने वाला इन्द्र भी तपस्वी को तप करते देख कर अन्तःकरण में जलता रहता है। हाय री कामना ! तू ने भले भलों को भी अपना किंकर बना डाला है। महान् वीर पुरुष अपनी सौन्दर्यता वाली स्त्री का अपने को स्वामी समझता है परन्तु स्त्री की कामना से स्त्री के सामने वह दीन और किंकर है इसी प्रकार सर्व सामर्थ्यवान् अखंडित आत्मा कामना के संयोग से तुच्छ जीव और दीन बन कर घर घर घूम रहा है ! जिस पुरुष ने कामना सहित व्यक्ति भाव के अहंकार को तोड़ दिया है उस ने इसी लोक में तीनों लोकों को जीत लिया है, वही पुरुष महा विजयी है। जिस को किसी में भी आसक्ति नहीं है वह ही मुक्त है ! जो आत्म स्वरूप के बोध वाला है वह ही मुक्त है ! जो जीते जी जाग्रत् में व्यवहार करता हुआ भी अन्तःकरण से सोये हुये के समान है, वह ही मुक्त है ! आशा ही बन्धन है ! प्रपंच से जो निराश हो चुका है, वह ही मुक्त है ! कारण और सूक्ष्म में बन्धन है ! जिस ने कारण और सूक्ष्म का बन्धन तोड़ डाला है, वह ही अखण्ड मुक्त है ! मुक्त भाव होते हुये ही मुक्त होता है ! मुक्त का भाव हटा और बन्धन हुआ ! मुक्त भाव में स्थिति हुई और बन्धन कोई नहीं रहा !

एक शान्तिमय प्रदेश था। वहां जो रहते थे वे बहुत सुखी रहते थे। समान दृष्टि से पूर्ण धर्म का राज्य वर्तता था। अपनी २ वस्तु का सब यथोचित उपयोग करते थे। कोई किसी से रागद्वेष नहीं करता था। कोई किसी की वस्तु देख कर अपनी नीयत नहीं बिगाड़ता था। चोर, लबार, लुच्चा, बदमाश, वहां कोई न था। वहां के राजा को इनसाफ करने की कभी कोई जरूरत नहीं पड़ती थी। कोई किसी का अपराध नहीं

करता था, न किसी की फरियाद आती थी, सब आनन्द में मग्न रहते थे। स्त्री,पुत्र,धन,धान्यादिक किसी की रक्षा करने की आवश्यकता न थी। सब खुले किवाड़ सोते थे। सबका शरीर प्रकाशमय था। वहां पर कोई रंक अथवा श्रीमान् न था। उद्यम करने की कुछ आवश्यकता न थी। सब को संकल्प सिद्धि थी। सब एक समान थे। कोई बालक या बूढ़ा न था, न कोई मरता था। उस प्रदेश में बड़े २ देवता भी आने की इच्छा करते थे परन्तु वे वहां आने के योग्य नहीं समझे जाते थे। हीरे, मणि, माणिक्य, मोती, सुवर्णादिक के बने हुये दिव्य महलों में वहां के लोग रहते थे, उस प्रकार उस स्थान में किसी को किसी प्रकार का दुःख न था। अधिक क्या कहें उस प्रदेश का वर्णन करना वाणी से बाहर है!

वहां के मनुष्यों में भेद भावना नहीं थी। उनमें से एक मनुष्य अपने को औरों से भिन्न मानने लगा, उसका नाम भेदचन्द पड़ा। उसने अपना स्वरूप बना लिया और वह व्यक्ति भाव धारण करके विचरने लगा। उसके व्यक्ति भाव से उसे और सब व्यक्तियां दिखाई दीं। एक दिन वह एक स्थान पर जा रहा था। वहां एक पतिव्रता स्त्री अपने पति से कुछ गुप्त बात कह रही थी। वह बात भेदचंद ने सुनते तो सुन ली परन्तु उसके दिल में खटका हुआ कि यह मैंने अनुचित किया। ऐसा विचार आते ही वह स्त्री उसके पास आकर कहने लगी "तू ने मेरी बात सुनी है, तू मेरा अपराधी हुआ है, मैं तुझे बंधन करके राजा के पास लिये जाती हूं!" ऐसा कह कर उस स्त्री ने भेदचन्द को बांध लिया। स्त्री आगे २ और भेदचंद पीछे २ इस प्रकार दोनों राजा के पास चले। चलते हुये मार्ग में उन्हें एक स्त्री जाती हुई मिली। वह वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और सौन्दर्य वाली थी। मार्ग में चलते २ भेदचंद का हाथ उसके शरीर से लग गया। हाथ लगने का मलिन भाव होने से भेदचंद को विचार हुआ कि यह मैंने ठीक नहीं किया! वह स्त्री कहने लगी "तू ने मुझे छू कर हास्य किया है, तू मेरा अपराधी है, मैं तुझे राजा के पास लिये जाती हूं!" भेदचंद ने हाथ आगे कर दिया, स्त्री ने उसे बांध लिया, और भेदचंद और दोनों स्त्रियां तीनों आगे चले। भेदचंद ने आगे चलकर एक युवा पुरुष देखा जो बहुत उत्तम कसूंभी रंग की हाल की रंगी हुई बहुत शोभा वाली पगड़ी पहिने हुये था। भेदचंद ने उसकी पगड़ी को प्रेम की दृष्टि से देखा, तुरंत ही पगड़ी का रंग फीका पड़ गया! भेदचंद को विचार हुआ कि यह मेरा देखना ठीक न था। शांति प्रदेश के न्याय से विरुद्ध था। पगड़ी वाला सामने आकर कहने लगा "तू ने मेरी पगड़ी देखी, उसको तेरी नजर लग गई, उसका रंग फीका पड़ गया, तू मेरा अपराधी हुआ है, मैं तुझे बांध कर राजा के पास लिये चलता हूं!" भेदचंद विना कुछ कहे युवा पुरुष के बंधन में पड़ गया। तीनों बांधने वालों के साथ भेदचन्द आगे चला। थोड़ीदूर चलकर एक मिठाई की दुकान दिखाई दी, जिस पर उत्तम २ प्रकार की मिठाइयां सामने ही रक्खी थीं। भेदचंद ने उनके खाने का भाव किया, तुरंत ही उसे मालूम हुआकि यह मैंने ठीक नहीं किया। हलवाई सामने आकर कहने लगा"तूने मेरी मिठाई उच्छिष्ट करदीहै,तू मेरा अपराधी है,मैं तुझे बांधकर राजा के पास लिये चलता हूं!" भेदचंद ने हलवाई की बात मानली, हलवाई ने भी उसे एक रस्सी से बांध लिया। पांचों आगे चले, मार्ग में एक गंधी की दुकान मिली, वहां उत्तम २ प्रकार के तेल, फुलेल, अतरादि रक्खे हुए थे जिनकी सुगंधि दूर २ तक फैल रही थी। भेदचंद ने सुगंधि ली और उसे विचार हुआ कि सुगंधि लेने का कार्य अनुचित है। तुरन्त ही गंधी सामने आकर खड़ा होगया और कहने लगा "तूने मेरे सुगंधित पदार्थों की सुगंधि ली है, तू मेरा अपराधी है, मैं तुझे

बांध कर राजा के पास लिये चलता हूँ !" भेदचंद उसका भी बंधुआ होगया। एक अपराधी और पांचों बांधने वाले राजा की कचहरी में पहुँचे। भेदचंद राजाके सामने खड़ा किया गया। पांचों फरियादियों ने अपनी २ फरियाद सुनाई। राजा ने एकाग्रचित्त होकर सबकी फरियाद सुनी और भेदचन्द को यह हुक्म सुनाया "तूने मेरे राज्य के नियम विरुद्ध कार्य किया है, इसलिये तू मेरे राज्य में रहने के योग्य नहीं है, मैं तुझे देश पार (मृत्यु लोक में) डालता हूँ इन पांचों अपराधों का दंड रूप तुझको पांच प्रकार की सजा होगी:—(१) तेरा चित्त लोगों की निन्दा करने में आसक्त होगा, तू अपनी निंदा सुनकर दुखी होता रहेगा,(२) तुझे जाड़ा, गर्मी और वर्षा दुःख दिया करेंगे,तू स्पर्श वाले पादार्थोंसे दुखी होता रहेगा, स्पर्श इच्छा से व्याकुल रहेगा, तेरा शरीर हड्डियों काकठोर बनेगा और अनेक बार जन्म मरण को प्राप्त होता रहेगा (३) सौन्दर्यता देखने से कभी तेरी तृप्ति न होगी, देखने के विषय से अतृप्त और जलता रहेगा (४) स्वाद के कारण तू हमेशा दुखी रहेगा, तुझको खाना ही, पड़ेगा, तेरा प्राण भोजन में ही रहेगा, तूने जिनमें स्वाद माना है, ऐसे स्त्री, धन और ऐश्वर्य आदिक की तुझे चिंता बनी रहेगी, लोग उन्हें चुरावेंगे तू तंग और दुखी होगा और दिन रात अन्तरसे जलता रहेगा(५) दुर्गंधि वाले स्थान में तेरी प्रीति होगी, तेरा शरीर दुर्गंधि से भरा बनेगा, और दुर्गंधासक्ति के रोग से बारंबार जन्म मरण के दुःख को भोगेगा। जन्म और मरण के मध्य में भी दुर्गंधि को सुगंधि समझेगा !" भेदचंद इतनी भारी सजाओं से दुखी होता हुआ नम्रता सहित बोला "महाराज ! ये सजायें मैं कबतक भोगता रहूंगा ? क्या उन से निवृत्त होने का भी कोई उपाय है ?" राजा ने कहा "मैं तुझे सजा नहीं देता हूँ वह तेरे किये हुये कर्मों की सजायें हैं, तूने अपनी सजा आप उत्पन्न करली है, जब तू इन पांचों विषयों को छोड़ देगा—जिनसे इन पांचों विषयों की सिद्धि होती है उन्हें छोड़ देगा और 'अपने व्यक्ति भाव को भी त्याग देगा उसी समय सजाओं से मुक्त होकर तू शान्ति प्रदेश का अनुभव करेगा !"

भेदचंद जीव है, उसने अपने भाव से ही अपना बंधन उत्पन्न किया है और उन्हीं में फंसा हुआ है। अज्ञान से व्यक्तिभाव और पांच इन्द्रियों की तरफ चित्त के लगने से ही इन्द्रियों वाले शरीर की प्राप्ति है। इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति से ही अनेक योनियों में घूमना पड़ता है। यदि जीव इन्द्रियों सहित अपने व्यक्तिभाव को छोड़दे तो वह शांति प्रदेश का निवासी ही है। अज्ञान से बना हुआ भाव अज्ञान के दुःखों का अनुभव करता है और अपने को नहीं जानता। यह ही बंधन है।

अज्ञान में जिस बंधन का अनुभव होता है वह बंधन वास्तिविक नहीं है। यदि बंधन वास्तिविक होता तो उस की निवृत्ति कभी भी न होती बंधन उपाधि से है इसलिये उपाधि की निवृत्ति से बंधन की निवृत्ति है। स्थूल बंधन देखने में आता है परंतु सूक्ष्म बंधन दिखाई नहीं देता। स्थूल बंधन शरीर का और सूक्ष्म बंधन अहंकार का है अहंकार देखने का विषय नहीं है परंतु यदि सूक्ष्म बुद्धि से विचार किया जाय तो अहंकार रूप सूक्ष्म बंधन मालूम होसक्ता है और उसे निवृत्त करने का प्रयत्न भी होसक्ता है। जबतक विषयाकार मन अमन के भाव को प्राप्त न हो तब तक प्रपंच के बंधनों की निवृत्ति नहीं हो सक्ती। जिसको बंधन मालूम नहीं होता और जो बंधन में भी सुख समझता है ऐसा अति आसक्ति वाला अथवा अत्यंत जड़ बुद्धि वाला जब तक अपनी आसक्ति और बुद्धि की जड़ता को न छोड़ेगा तब तक न तो उसे बंधन मालूम होगा और न वह उसकी निवृत्ति का उपाय कर सकेगा। मन का भाव ही बंधन रूप है। "मैं बंधन में हूं, तुच्छ हूं" यह

भाव हीन कर डालता है। वास्तविक तो जिस का बंधन समझा जाता है वह स्थूल व्यक्ति बंध कर घूमती ही नहीं है। एक मनुष्य और एक संत के प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं:—

एक मनुष्य बारम्बार साधुओं के दर्शन करने जाया करता था, उसे पूर्ण बोध नहीं था परन्तु जगत् में बंधन है, स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा, मकान, जागीर सब दुःख देते हैं, ऐसा उसने सुन रक्खा था और उन के कारण से ही दुःख होता है ऐसा वह समझने लगा था। एक दिन वह एक संत के पास गया प्रणाम कर के संत की प्रसन्नता देख कर, हाथ जोड़ कर पूछने लगा:—

मनुष्य:—महाराज! मैं गृहस्थ हूं, मैं बंधन में हूं, ईश्वर भजन आदिक मुझ से कुछ नहीं होता, मुझ को अपने कल्याण के निमित्त क्या करना चाहिये? यह बंधन किस प्रकार छूटे?

संत:—(थोड़ा मुसकराता हुआ) बच्चा! क्या तू अपनी गृहस्थी को दिखला सका है? मुझे तेरी गृहस्थी नहीं दीखती!

मनुष्य:—महाराज! मेरी गृहस्थी घर पर है, आप कृपा कर के मेरे घर पर पधारें तो मैं आप को दिखलाऊंगा! मेरी स्त्री बच्चों को भी आप के दर्शन हो जांयगे!

संत:—मूर्ख! पकड़े हुये को गृहस्थ कहते हैं! तू तो मेरे सामने अकेला ही है! तू ने कोई चीज पकड़ रक्खी हो ऐसा नहीं दीखता! अथवा तुझे कोई बंधनहो ऐसा भी नहीं दीखता! यदि तू कहे कि स्त्री, पुत्र, घर सब का ही बंधन है, तो तुझे तेरी स्त्री ने जंजीर से बांध रक्खा हो ऐसा नहीं दीखता! तेरा पुत्र भी तुझे रस्सी से बांध कर खड़ा हुआ नहीं है! घर स्वयं जड़ है! वह भी जमीन से चल कर जहां तू बैठा है वहां आकर तुझे घेर कर खड़ा नहीं है! अब बता बंधन और गृहस्थी कहां है?

मनुष्य:—महाराज! जैसे आप कहते हैं, ऐसे तो कोई मुझे बांधे नहीं खड़ा है परन्तु वे मुझे छोड़ते भी तो नहीं हैं!

संत:—बच्चा! जब उन्हों ने तुझे बांधा ही नहीं है तो छोड़ें किस प्रकार?

मनुष्य:—महाराज! मैं चाहता हूं कि घर, स्त्री आदिक की उपाधि से हट कर एकांत में भजन करूं, ये लोग करने नहीं देते, जब मैं स्त्री से कहता हूं कि मैं जंगल में जाकर भजन करूंगा तब वह कहती है कि मैं भी साथ चलूंगी, जब मैं कहता हूं कि मैं तुझे साथ न ले जाऊंगा तब वह कहती है कि मैं आपघात कर के मर जाऊंगी और तुम्हें हत्या लगेगी, लड़का भी जंगल जाने से मुझे रोकता है!

संत:—भाविक! ये सब बातें तेरे कहने की हैं! किसी ने तुझे पकड़ नहीं रक्खा है! बात यह है कि तू ने ही उन सब को मन से पकड़ रक्खा है! तू मन से पकड़े हुये भाव को छोड़ना नहीं चाहता और जिन पदार्थों का भाव तेरे मन में है वे तुझे छोड़ दें ऐसा तू चाहता है। यह किस प्रकार हो? पकड़ रहा है तू और दूसरे छोड़ते नहीं, ऐसा कहता है! सच पूछे तो तू ने कुछ पकड़ा नहीं है! तेरे मन का भाव जो उन की तरफ है वह ही तेरी पकड़ है! यदि प्रपंच में से मन के भाव को हटा दे तो न तुझ को किसी ने पकड़ा है न तू ने किसी को पकड़ा है! 'मैं गृहस्थ हूं' यह भाव ही गृहस्थपने के भाव को भुगवाता है। 'मैं बंधन में हूं' यह भाव तुझे बंधन का अनुभव कराता है! तू स्थूल को क्यों छोड़ना चाहता है? तू ने स्थूल को पकड़ा ही नहीं है! यदि तू स्थूल को पकड़े होता तो स्त्री पुत्र, धन, घर सब को सब स्थान पर साथ २ लिये हुये ही घूमता परन्तु ऐसा नहीं है इसलिये जिस भाव को मन से पकड़ा है उस भाव को छोड़ दे! न तू गृहस्थ है, न तेरी गृहस्थी है! न तू बंधन में है न तुझे कोई बन्धन कर सकता है। भूल अपनी और कहे

कि दूसरे भूल नहीं निकालते, यह कैसे बने ! रोग हो भैंसे को, भिश्नी को लोहे की सलाई से जलाने से भैंसे का रोग किस प्रकार जाय ?

मनुष्यः—महाराज ! क्या यह स्थूल बंधन नहीं है ? क्या मन के भाव का ही सब झगड़ा है ?

संतः—हां ! जब शरीर में मैं भाव और शरीर के संबंधियों में मेरा भाव मन करता है तब बंधन का अनुभव होता है। यदि इस भाव को छोड़ कर परब्रह्म को ही अपना शुद्ध आत्मा समझे तो कोई बंधन नहीं है !

मनुष्यः—महाराज ! तब क्या पुत्र स्त्री आदि को छोड़ने की जरूरत नहीं है ?

संतः—नहीं ! उन के छोड़ने की कोई खास जरूरत नहीं है ! जिस प्रकार मैं ने कहा इस प्रकार मन को पलट कर तू अपने को ठीक २ जानले, ऐसा करने वाले को सब कुछ होते हुये भी कोई बन्धन नहीं है !

मनुष्यः—महाराज ! तब आपने सबको क्यों छोड़ा ?

संतः—वाह ! मैंने क्या क्या छोड़ा है, क्या इसकी तुझे खबर है ? जब मैं उनके काम का न रहा तब वे सब हट गये। जो संत गृहस्थी में से स्थूल त्याग में आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं, एक जीवन्मुक्त के आचार में। उनका भोग ही त्यागरूप होताहै। दूसरे पूर्ण जिज्ञासु जो मानसिक भाव में मदद होने के निमित्त स्थूल से हटते हैं परंतु जब तक मन कच्चा हो तब तक स्थूल गृहस्थीका त्याग अच्छा नहीं है। मनसे ही बन्धन है इसलिये मनसे ही उसे छोड़ना पड़ता है। यदि मन सहित स्थूल गृहस्थी प्रारब्धवश छूटजाय तो विशेषता है !

दो०-जब मन होय प्रपंच का, तबही बन्धन जान।
जब मन ब्रह्मस्वरूप हो, तब नर ब्रह्म समान।

———::०::———

अवाच्य वर्णन।

अवाच्य वर्णन यह शब्द ही विरोधाभास वाला है। जो वाणी से कहा न जाय उसे अवाच्य कहते हैं और वर्णन वाणी से किया जाता है। जो वाणी से कथन न किया जाय उसका वाणी से कथन करना विरोधाभास है। जिस प्रकार कोई मनुष्य कहे कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है, यह विरोधाभास है क्योंकि जब मुख में जिह्वा ही नहीं है तो कह किस प्रकार सका है कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं है। गूंगा बोल नहीं सका तो किस प्रकार कहेगा ? जो बोलता है तो गूंगा नहीं है, जो गूंगा नहीं है तो उसके मुखमें जिह्वा है। ऐसा होते हुये भी अवाच्य का वर्णन तटस्थ रूप से हो सका है। वास्तविक तो अवाच्य का वर्णन, वर्णन नहीं है परन्तु अवाच्य के लिये किया हुआ वर्णन अवाच्य के लक्ष के निमित्त इशारा रूप है। जिस प्रकार गूंगा बोल नहीं सका तो भी अपना कहना सुनना इशारे से कथन करता है, उसीको गूंगे का कथन कह सके हैं। गूंगे का कथन समझने को हरएक शक्तिवान् नहीं होता। गूंगा जो २ इशारे करता है, उनको जानने वाला गूंगे के कथन को समझ सका है। समझने वाला पुरुष दूसरे मनुष्य से ऐसा कह भी सकता है कि गूंगे ने ऐसा २ कहा है। इसी प्रकार अवाच्य वर्णन विरुद्ध दीखता हुआ भी वस्तु का बोधक है। घोड़ा मनुष्य की सब भाषा नहीं समझ सका परन्तु मुख्य २ उपयोग में आने वाली बातें जो घोड़े और मनुष्य के बीच में निश्चित रूप से अभ्यास में आती हैं उनको घोड़ा समझ सकता है इसी प्रकार अवाच्य का वर्णन भी उपयोगी होता है। अवाच्य वर्णन की संज्ञा से बोध को प्राप्त होने वाला वह ही मनुष्य होता है, जो शुद्ध अन्तःकरण वाला, वैराग्य वाला, श्रद्धा वाला और मुमुक्षु है। वाचा अग्नि तत्व का प्रभाव रूप है, अग्नि तत्व पांचों तत्व के मध्यमें है इसलिये पृथ्वी

तत्व और जल तत्व की विशेषता वाले का वर्णन स्थूलता से कर सका है, वायु और आकाश तत्व की विशेषता वाले का वर्णन सूक्ष्मता से कर सक्ता है, यद्यपि अग्नि तत्व की वाचा से वायु और आकाश का वर्णन अशक्य दीखता है परन्तु अशक्य नहीं है क्योंकि सब तत्व न्यूनाधिक प्रमाण में एक दूसरे से संमिलित हैं इसलिये वर्णन हो सक्ता है। अव्यक्त, अप्रगट, मूला विद्या जिसको माया, आद्य प्रकृति कहते हैं वह विभक्त हुई न होने से, तीनों गुणोंकी साम्यावस्था होने से अग्नितत्व से बनी हुई वाणी का विषय नहीं है किंतु वह वाणी का आद्य कारण भी है इसलिये वाणी "कुछ नहीं है" ऐसे न कार के भाव से उसका कथन करती है। यहां तक सब व्यवहार न्यूनाधिक अंश से प्रकृति में होता है। अब प्रकृति से परे, प्रकृति से मेल रहित अखंडित अनादि परम तत्व रहा, उसे ही वास्तविक अवाच्य कहते हैं। अवाच्य परब्रह्म है, अज्ञानमय मोह मदिरा से ग्रसित मनुष्यों को बोध कराने में विधि और निषेध रूप से जो कथन किया जाता है वह कथन मायिक और माया में होते हुये भी युक्त अधिकारी पुरुषों को बोध का हेतु है। ऐसे वर्णन-युक्ति को अवाच्य वर्णन कहते हैं।

कठिनाई इस बात की है कि दृष्टि एक समय में एक ही तरफ रहती है, मायिक और आत्मिक दृष्टि एक साथ नहीं होती। शरीरधारी को शरीर की तीनों अवस्थायें मायामय हैं,तब उन अवस्थाओं में रहते हुये आत्म दृष्टि किस प्रकार हो? शरीर धारी मनुष्य माया के भाव संयुक्त है, वह उस भाव में रहते हुये आत्मा को जानने-समझने में अशक्त है क्योंकि समझना-जानना माया में ही होता है। परब्रह्म माया से पर है, उसे वह नहीं जान सका। कथन माया में होता है तो भी कथन को छोड़ कर कथन से पहुंचाये हुए लक्ष से तत्व को जाना जाता है। इस प्रकार का जो कथन होता है, उसे अवाच्य वर्णन कहते हैं। जैसे द्वितीया के सूक्ष्म चन्द्र को एक देखता है और दूसरा नहीं देखता तो देखने वाला पुरुष न देखने वाले पुरुष को दिखाने का यत्न करते हुये कहता है कि अमुक पेड़ की डाली पर चंद्र है, उसे देख, जब वह डाली की तरफ दृष्टि करके देखता है तब उसे चन्द्र दीखता है। चन्द्र डाली के ऊपर नहीं है, डाली की तरफ दृष्टि रखने को ही डाली का कथन किया गया था, देखने वाला डाली को छोड़ कर ही देखता है इसी प्रकार जो वर्णन किया जायगा वह दृष्टि दृढ़ करने को ही किया जायगा और कथन के शब्दों को छोड़कर लक्ष से समझा जायगा। जो वर्णन किया जाता है, एकाग्र होकर उसके सहारे चलना पड़ता है और जब शब्द संज्ञा से परे तत्वमें खिंच जाता है तब उस श्रवण करने वाले को अवाच्य पद का बोध होता है। यदि श्रवण करने वाला निर्मल अन्तःकरण का न हो, श्रवण कराने वाले पर श्रद्धा वाला न हो, श्रवण करने वाले का अन्तःकरण श्रवण कराने वाले के प्रभाव में न दबे और मायिक लक्ष से न हटे तो अवाच्य वर्णन से भी उसे बोध न होगा। जैसा बोध होता है ऐसे स्वरूप में उस समय अवश्य आना पड़ता है तब ही बोध होता है। बोध का तत्व और रहे और बोध करने वाला और तत्व में टिका हो तो बोध कभी भी न होगा।

शास्त्र और संत पुरुषों का कहना है कि परब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं है, मन से जाना नहीं जाता और वाणी से कहा नहीं जाता ऐसा होते हुए भी वाणीसे कथन करकेही समझाया जाताहै और कथन किये हुयेके अनुसार भाग त्याग कर लक्षणा द्वारा जाना जाता है। सब पदार्थों को जानने के लिये दो प्रकार की वृत्ति होती है एक वृत्ति व्याप्ति और दूसरी फल व्याप्ति। जैसे एक घट का जानना है तब अन्तःकरण की वृत्ति नेत्र द्वारा घट में व्याप्त होती है और घट आकार से स्फुरण होती है, अन्तःकरण की इस घटाकार वृत्ति को वृत्ति व्याप्ति कहते हैं और दूसरी चिदा

भास की वृत्ति पदार्थ में व्याप्त होकर ज्ञान कराती है। ज्ञानरूप फलवाली होने से वह फल व्याप्ति है। अन्य पदार्थ में ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न २ होते हैं इसलिये दोनों वृत्तियों की आवश्यकता है परंतु स्वयं प्रकाश ऐसा जो आत्मा है उसके ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न २ नहीं होते इसलिये उसमें प्रकाश करने वाली फलव्याप्ति वृत्तिकी आवश्यकता नहीं है, वृत्तिव्याप्ति से साक्षात्कार होकर जब उसवृत्ति का भी त्याग होता है तब केवल स्वस्वरूप ही शेष रहता है। केवल वृत्ति व्याप्ति का अनुभव स्वप्नावस्था में भी होता है। वहां अंतःकरण का परिणाम रूप सब प्रपंच दीखता है। तेजस् प्रकाश वाला होने से वहां फल व्याप्ति की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार ब्रह्म को जानने में कितनेक विधेय और कितनेक निषेध विशेषणों का वर्णन है। 'अमुक प्रकार का है' ऐसे कथन करने वाले को विधेय और "अमुक प्रकार का नहीं है" ऐसे कथन करने वाले को निषेध विशेषण कहते हैं। सत्, चित्, आनन्द, ब्रह्म, स्वयंप्रकाश, कूटस्थ, साक्षी, द्रष्टा, उपद्रष्टा, और एक इत्यादि विधेय विशेषण हैं और अनंत, अव्यक्त, अनादि अक्रिय, निर्गुण, निराकार, निरंजन, अद्वय, असंग और अखंड इत्यादि निषेध विशेषण हैं। निषेध विशेषण जो अनन्त आदि हैं वे साक्षात् प्रपंच का निषेध करते हैं—आत्मा ऐसा नहीं है, ऐसा बोध कराते हैं, उस से विलक्षण है, यह सूचित करते हैं और विधेय विशेषण जो सत्चित् आदिक हैं, उनमें दो अंश हैं, एक प्रपंच का और दूसरा ब्रह्म का। प्रपंच अंश का त्याग करके बाकी रहे ब्रह्म अंश को ग्रहण करना यह साक्षात् ब्रह्म का बोध है। उसका ग्रहण लक्ष से होता है। निषेध से प्रपंच का त्याग और विधि में भी प्रपंच अंश का त्याग होकर शेष रहा ब्रह्म स्वरूप है, यह अर्थ है।

जैसे सत् शब्द का जो कथन होता है उसमें निरपेक्षिक सत्यता और आपेक्षिक सत्यता दो अंश होते हैं। आपेक्षिक सत्यता प्रापंचिक है, उसका त्याग कर के निरपेक्षिक सत्यता जो ब्रह्म स्वरूप है उसका ग्रहण लक्षणा से करना चाहिये। चित् से दो प्रकार के चेतन कथन में आते हैं, अन्तःकरण की वृत्तिरूप चेतन जिसको विशेष चैतन्य कहते हैं और ज्ञानरूप चेतन जो सामान्य चैतन्य है। वृत्तिरूप चेतन प्रपंच अंश है और ज्ञानरूप चैतन्य ब्रह्म अंश है,जो ब्रह्मस्वरूप चैतन्य है उसका लक्षणासे ग्रहण करना चाहिये। आनंद के कथन में दो प्रकार का आनन्द आता है, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द, उनमें से विषयानन्द त्याग करके ब्रह्मानंद का लक्ष से ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्मशब्द के कथन में दो प्रकार का ब्रह्म कहा जाता है (ब्रह्म को आत्मा भी कहते हैं) अपेक्षा सहित ब्रह्म और निरपेक्ष ब्रह्म। जीव, मन, शरीरादि आपेक्षिक ब्रह्म हैं, उनका त्याग करके निरपेक्ष ब्रह्म का लक्षणा के द्वारा ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार सब विधेय विशेषणों का विवेक से ग्रहण करना चाहिये।

शंकाः—आत्मा और ब्रह्म को एक किस प्रकार कहते हो? आत्मा तो एक शरीर में ही है और ब्रह्म तो व्यापक सुना है।

समाधानः—एक शरीर में ही आत्मा को समझना अज्ञान है। ब्रह्म और आत्मा वस्तुतः एक ही हैं ऐसा समझना ज्ञान है। कभी २ तू ऐसा भी कहता है कि यह बात मेरा ब्रह्म स्वीकार नहीं करता, उस ब्रह्मको कौनसे व्यापक भावसे कहता है? वह ही ब्रह्म जो शरीर के आपेक्षिक भाव से व्यापक है, वह ही अपेक्षा रहित है। इस समय तूने व्यक्तिभाव से आत्मा को ही ब्रह्म कहा है। जिस प्रकार एक घट के मध्य रहा हुआ आकाश और जिस मंदिर में घट है उस मंदिर का आकाश एक ही है, उपाधि से भिन्न २ दीखते हैं इसी प्रकार तू अपने आत्मा को-ब्रह्म को उपाधि से छोटा और ब्रह्म को विशेष व्यापकता से कहता

है। उन उपाधि अंशों को त्याग कर ही आत्मा ब्रह्म-परम तत्व का बोध होता है।

एक समय एक राजकुमार एक साधु के पास आया और उन दोनों में ये प्रश्नोत्तर हुये:—

कुमारः—महाराज! ईश्वर का स्वरूप क्या है?

साधुः—बच्चा! यह एक महान् प्रश्न है, सब तत्व ज्ञानी, ऋषि और मुनि इसकी खोज करते हैं, उसे थोड़े शब्दों में किस प्रकार समझाऊं?

कुमारः—महाराज! मैंने आप की बहुत ख्याति सुनी है, आप मेरे समीप हैं, आप से ही मेरा समाधान होना संभव है। (साधु अंग्रेजी पढ़े लिखे थे, कुमार भी पढ़ा हुआ था)

साधुः—(पाश्चात्य रीति रिवाज देश में फैल रहा है, ऐसा विचार कर) बच्चा! यदि तुझे ईश्वर से मिलना है तो अपने नाम, ठाम के पते वाला कार्ड मुझ को दे, मैं उसे ईश्वर के पास पहुंचाऊंगा, वह तुझ से मुलाकात करेगा! (कुमार ने अपनी जेब में से एक छपा हुआ कार्ड निकाल कर साधु के हाथ में दे दिया, उसमें छपा था "हिमालय देश के राजा का पुत्र राम सिंह")

साधुः—(कार्ड को पढ़ कर और उसे कुमार को लौटा कर) हे कुमार! इस में जो नाम लिखा है, वह तेरा नहीं है, तू अपने ही नाम का पता दे, तो पहुंचा सकूं!

कुमारः—(थोड़ी देर विचार कर) महाराज! सच है, जो लिखा है, वह मेरा नाम नहीं है, यह तो मेरे पंच भूतों के बने हुये शरीर का नाम है।

साधुः—तब तू कौन है?

कुमारः—महाराज! मैं शरीर नहीं हूं, मैं मन हूं।

साधुः—अच्छा! बता तेरे शरीर में कितनी हड्डियां हैं?

कुमारः—महाराज! मैं नहीं बता सका, मेरी बुद्धि का उसमें प्रवेश नहीं है, मैं ने प्राण शास्त्र और शारीरक शास्त्र नहीं पढ़ा है। इस विषय को मेरी बुद्धि समझ नहीं सकती। मेरा मन इसे ग्रहण नहीं कर सकता।

साधुः—हे प्रिय कुमार! हे वत्स! मेरी बुद्धि, मेरा मन, मेरा विचार कहने से तू उन से पृथक् है, जब वे तेरे हैं तब तू कौन है? यह बताने से तुझे ईश्वर का सानिध्य प्राप्त होगा-उस का तुझे दर्शन होगा।

राजकुमारः—(विचार कर और कुछ न समझ कर) महाराज! मेरा मन और बुद्धि इस में काम नहीं देते। (वाह! यह कैसा यथार्थ शब्द है! ईश्वर के पास मन या बुद्धि कोई नहीं जा सका सत्य स्वरूप आत्मा-ईश्वर मन, बुद्धि और वाणी से पर है।)

साधुः—तू थोड़ी देर एकांत में बैठ कर, शांत चित्त होकर, अपनी बुद्धि से जो समझ में आया है, उस का मनन कर, मैं शरीर नहीं हूं यह जो तुझे सत्य मालूम होता हो तो इस को तू आचरण में ला, उस का अपने अनुभव में और अपने वर्तने के शब्दों में जापकर, प्रत्यक्ष करके देख कि तू शरीर या मन नहीं है। जब तू इस विचार को वर्ताव में लावेगा तब तू सब प्रकार की चिंता और भय से मुक्त हो जायगा। शरीर और मन के प्रदेश से जब तू अपने को उच्च जाति में लेजायगा तब भय तेरा पीछा छोड़ देगा और सब प्रकार के उद्वेग का नाश हो जायगा।

(कुमार एकान्त में गया और थोड़ी देर विचार करके साधु के पास आया।)

साधुः—(प्रतीत कराने में मदद देने के लिये) कुमार! आज तूने क्या क्या काम किया है?

कुमारः-मैं प्रातःकाल उठा, स्नान किया, संध्या की, श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय का पाठ किया, भोजन किया, एक मित्र को पत्र लिखा और एक मित्र के घर पर जाकर, उस से मुलाकात की और आपके दर्शन करने आपके पास आया।

साधुः—क्या बस इतने ही काम किये हैं? इनसे विशेष नहीं किये? विचार!

(कुमार विचारने लगा और विचार कर कई और काम भी बताये)

साधुः—अब भी जितने काम तूने किये, हैं उतने नहीं बताये ! हजारों और लाखों काम तूने किये हैं, असंख्यों काम तूने किये हैं ! उन सबको बता, सुबह से जितने काम तूने किये हैं, सबको बता, कोई काम छूटे नहीं !

कुमारः—(आश्चर्य करता हुआ) महाराज ! जो काम मैंने गिनाये है, उनके सिवाय और कुछ नहीं किया !

साधुः—(मुसकराता हुआ) नहीं ! भाई नहीं ! इनके सिवाय लाखों, करोड़ों और असंख्य काम तूने किये हैं ! उन्हें कह ! (कुमार की बुद्धि न चलती देखकर) यह सामने कौन देख रहा है ? पास ही गंगा बहती है, इसे तू ही देख रहा है ?

कुमारः—हां महाराज ! मैं ही देख रहा हूं !

साधुः—क्या नदी को और साधु के मुख को नहीं देख रहा है ?

कुमारः—हां ! महाराज ! देख रहा हूं !

साधुः—अच्छा ! तेरे नेत्र में रहे हुये स्नायु के देखने को कौन प्रेरणा कर रहा है ? वह तू ही है, दूसरा नहीं है, वह तेरा आत्मा ही होना चाहिये ।

कुमारः—हां महाराज ! मैं ही हूं, उसे प्रेरणा करने वाला मेरे सिवा अन्य कोई नहीं है !

साधुः-कुमार ! यह फिर कौन देख रहा है ? इस चर्चा में ध्यान कौन दे रहा है ?

कुमारः—ये सब मैं ही कर रहा हूं !

साधुः—कुमार ! जब तू बोलता है, तब तेरे बोलने के तंतुओं को कौन प्रेरित करता है ?

कुमारः—महाराज ! मैं ही !

साधुः-आज सुबह भोजन किसने किया था ?

कुमारः—महाराज ! मैंने

साधुः—और मल विसर्जन भी तू ही करेगा ! खाये हुए अन्न को समान करके कौन पचाता है ? ये सब तू ही तो करता है । कुदरत की वस्तुओं में होने वाली क्रिया को हल करने का, बाहर के कारणों को आरोप करने का, दिन अब नहीं है । कोई भी मनुष्य रस्ते चलते २ गिर जाय तो उस के गिरने के कारण में कोई भूत कहने में नहीं आता । विज्ञान शास्त्र इस प्रकार के विवेचन को नहीं मानता विज्ञान शास्त्र और तत्व ज्ञान पदार्थ का ज्ञान पदार्थ में ही शोधन करने को कहते हैं । जिस समय तूने अन्न खाया उस समय जो श्वासो श्वास चलता था, उसका कारण भी तू ही था । तेरी नसों में जो रक्त वहन कर रहा है, उस का कारण भी तू ही है । तेरे शरीर में जो बाल होते हैं उनकी वृद्धि का कारण भी तू ही है । तेरा शरीर विनाश को प्राप्त होता है, उसका कारण भी तू ही है । देख ! कितनी क्रियायें हो रही हैं प्रत्येक क्षण में तू कितने काम कर रहा है !

कुमारः—(थोड़ी देर विचार कर) महाराज ! आपका कहना यथार्थ है, मेरे शरीर में-इस शरीर में हजारों क्रियायें होरही हैं, जिनको मेरी बुद्धि नहीं जानती, जिनके संबंध में मेरा मन अज्ञ है तो भी वे सब क्रियायें होरही हैं । इनसब क्रियाओं का कारण भूत मैं हूँ, और इन सबका करने वाला भी मैं ही हूं, 'बुद्धि और मनसे मैंने इतने ही काम किये हैं, ऐसा जो मैंने कहा था यह मेरी भूल थी ।

साधुः—शरीर में दो प्रकार की क्रियायें होती हैं इच्छा सहित और इच्छा रहित स्वाभाविक । स्वाभाविक क्रियायें मन और बुद्धि की सहायता रहित हुआ करती हैं । पढ़ना, लिखना, चलना बात करना ये क्रियायें इच्छा पूर्वक हैं । श्वासोश्वास लेना, रक्त का घूमना, अन्न का पाचन होना, ये अनिच्छित स्वाभाविक क्रियायें हैं । इच्छा पूर्वक क्रियाओं को ही मनुष्य 'हम करते हैं' ऐसा कहा करते हैं और अनिच्छित क्रियाओं को करने से इनकार करते हैं क्योंकि वे इन क्रियाओं को अपना काम नहीं समझते और भूल से अपने आत्मा को हमभाव वाले मन में बंद करके अपने अनं वस्त-

रूप को बुद्धि की हद में गिनकर अपने हाथ से ही कंगाल और दुखी बनते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है, ईश्वर हमारे में भी हैं, सच ! समग्र स्वर्ग का साम्राज्य तुम्हारे भीतर है परंतु वह गर्भ जो तुम्हारे भीतर है वह तुम हो, गर्भ के ऊपर रहा हुआ चर्म तुम नहीं हो इसको विचारना चाहिये।

कुमारः—(इस भाव को न समझ कर) महाराज ! मैं इतना समझा हूं कि मैं बुद्धि और मन से भिन्न कोई और ही हूं !

मनुष्यः—(यह कुमार के साथ था और इतना भी नहीं समझा था) महाराज ! मन और बुद्धि से भिन्न मैं और हूं, यह बात मैं नहीं समझा।

साधुः—जब तू बिछोने पर सो जाता है, तब जीता रहता है या मर जाता है ?

मनुष्यः—महाराज ! मैं मर नहीं जाता, उस अवस्था में मैं जीता रहता हूं।

साधुः—तब उस समय तेरी बुद्धि और मन का क्या होजाता है ?

मनुष्यः—वे उस जगह ही होते हैं, मैं उनसे अनेक प्रकार के स्वप्न का अनुभव करता हूं।

साधुः—जब तू गहरी नींद में पहुंच जाता है और किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब तेरी बुद्धि और मन कहां चले जाते हैं ?

मनुष्यः-उस अवस्था में वे दोनों नहीं रहते।

साधुः—भला ! तब तू वहीं रहता है या नहीं ?

मनुष्यः—हां ! उस अवस्थामें मैं तो रहता हूं मैं कभी लय को प्राप्त नहीं होता, गहरी नींद में भी मेरे अस्तित्व का नाश नहीं होता।

साधुः—अच्छा, देख, गहरी नींद में जब मन और बुद्धि नहीं रहते, वस्त्रोंके समान जबवे खूंटी पर टांग दिये जाते हैं—दूर रख दिये जाते हैं तब तू तो वहां रहता ही है !

मनुष्यः—'तू तो वहां रहता है' इस कहने का अर्थ मैं नहीं समझा !

साधुः—जब तू नींद से जाग्रत् होता है, तब ऐसा कहता है कि मुझे गहरी नींद आई, मुझे कुछ खबर न रही, मैंने कुछ नहीं जाना, सच तूने कुछ नहीं जाना, वहां कुछ नहीं था परन्तु कुछ नहीं का जानने वाला तू था तभी तो तू कहता है कि वहां कुछ नही था तब तू सोया नहीं था तू जागता था, और मानता था कि और कोई नहीं है। मैंने कुछ नहीं जाना' इसका अनुभव करने वाला कौन था ? तू ही था तब तू मन और बुद्धि से पृथक् वस्तु है। तेरे मन और बुद्धि सोगये थे। जो तू सो जाता तो शरीर की रगों में रक्त कौन घुमाता ? और जठराग्नि में पाचन क्रिया कौन करता ? शरीर की वृद्धि क्रिया को कौन चालू रखता ? इसलिये तू ऐसा है कि कभी भी सोता नहीं है और शरीर से पर कोई अन्य वस्तु है।

कुमारः—महाराज ! अब मैं ठीक २ समझगया अब मेरे जानने में आया है कि मैं कोई दिव्य और अनन्त शक्ति हूं, जो किसी दिन सोती नहीं है और उसमें किसी प्रकार का फरक भी नहीं पड़ता। बाल्यावस्था में जो मेरा मस्तक था उससे अब भिन्न है और उस समय के शरीर से इस समय के शरीर में भिन्नता है। मेरी बाल्यावस्था की बुद्धि, मन शरीर और विचार इस समय की बुद्धि आदि से भिन्न प्रकार के ही थे।

साधुः—डाक्टर, हकीम कहते हैं कि सात वर्ष के बाद शरीर की सब रचना बदल जाती है। क्षण २ में शरीर के परमाणु बदलते रहते हैं और क्षण २ में मन के विचार में भी अन्तर पड़ता रहता है। बाल्यावस्था में जो अपना विचार था, वह अब कहां हैं ! बाल्यावस्था में सूर्य, देव दूत के खाने की सुन्दर रोटी के समान दीखता था, चन्द्र काच के एक सुन्दर गोल टुकड़े के समान मालूम होता था और तारे सुन्दर हीरे समान जान पड़ते थे परन्तु वह विचार अब कहां है ! अब मन, बुद्धि

प्रथम से बिलकुल बदल गये हैं, यह सब बदला बदली हुई तो भी "मैं जो बाल्यावस्था में छोटासा था, वह ही अब बड़ा हूं, वह ही बूढ़ा हूंगा। इन सब अवस्थाओं में मैं जैसे का तैसा ही रहा और रहूंगा। अवस्थायें बदलती गईं मैं न बदला !" ऐसा कहते हैं, तब तुम्हारे अन्दर एक ऐसा तत्व है जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही रूप से कायम रहता है। तुम्हारे अन्दर कोई एक ऐसी वस्तु है जो शुद्ध अशुद्ध अवस्था में एक ही रूप से रहती है और खाते, पीते, उठते, बैठते, लिखते, पढ़ते भी एक ही स्वरूप से स्थित रहती है। उसको विचारो, प्रत्येक अवस्था में, आज कल और सर्वदा स्वस्वरूप में किंचित् भी फरक नहीं होता, जो यह बात सत्य मालूम होती हो तो सूक्ष्म विचार से देखो तुमको आपो आप ईश्वर का पता लग जायगा-साक्षात्कार हो जायगा अपने को जानो-अपना नाम ठाम कागज पर लिख कर दो, उस समय तुमको ईश्वर का साक्षात् दर्शन कराऊंगा।

(अब कुमार को आत्मा-आप क्या है, यह समझ में आ गया उसने समझा कि मैं एक, अविकारी, नित्य और गहरी नींद में भी जाग्रत् ऐसा एक तत्व हूं, जब ऐसा समझा गया तब उसे ईश्वर को जानने की जिज्ञासा बढ़ी।)

साधुः—कुमार ! तू जानता है कि प्रत्येक वृक्ष बढ़ता है। बता सब वृक्षों में बढ़ने की शक्ति एक ही है या भिन्न २ हैं।

कुमारः—यह शक्ति एक ही होनी चाहिये।

साधुः—इन वृक्षों में जो बढ़ने की शक्ति है, क्या वह ही पक्षियों के शरीर में बढ़ने की शक्ति है या कोई और है ?

कुमारः—नहीं ! यह शक्ति भी भिन्न नहीं है, एक ही होनी चाहिये, बढ़ने रूप क्रिया सब में एक समान है इसलिये शक्ति भी एक होनी चाहिये।

साधुः—जो शक्ति तारों को गति में लाती है और जो नदी के प्रवाह को चालू रखती है, वह एक है, या भिन्न है ?

कुमारः—नहीं ! भिन्न नहीं हो सकती, वह की वह ही है।

साधुः—सच है, जिस शक्ति से वृक्ष बढ़ते हैं, वह शक्ति और जिस शक्ति से तुम्हारे शरीर की वृद्धि होती है वह शक्ति, ये दोनों कभी भिन्न नहीं हैं। कुदरत में व्यापी हुई एक ही शक्ति से, सब में रही हुई एक ही दिव्यता से, एक ही अज्ञेय तत्व से ये सब तारागण प्रकाशते हैं, उससे ही तुम्हारे नेत्रों की पलकें खुलती और बन्द होती हैं। उसी से तुम्हारे शरीर के बाल बढ़ते हैं। रक्त घूमता है। बोल अब तेरा स्वरूप क्या है ? जिस शक्ति से रक्तवाहिनी नसों में तेरा रक्त बहता है, तेरा खाया हुआ भोजन पचता है, क्या वह शक्ति तू ही नहीं है ? जो मन और बुद्धि से पर है, क्या वह तू नहीं है ? वह ही तू है। जो यह बात सच है तो सब सृष्टि का नियामक जो बल है वह भी तू ही है। यह जो दिव्यता है वह भी तू ही है, जो ईश्वर है, वह भी तू ही है, जो अज्ञेय वस्तु है जो शक्ति, बल, तत्व और जो कुछ तू कहता है, वह सब तू ही है, दिव्य स्वरूप, सर्वेश्वर जो सब में वास कर रहा है वह सब तू ही है।

कुमारः—(आश्चर्य करता हुआ) हां ! मैं ईश्वर को जानना चाहता था इसलिये मैंने प्रश्न किया कि ईश्वर क्या है। अब तो मैं जानता हूं कि मेरा स्वस्वरूप मेरा आत्मा ही ईश्वर है ! मैंने कैसा मूर्खता भरा प्रश्न किया ! मुझे अपना स्वरूप जानने को था, मैं कौन हूं, यह मुझे जानने को था, अब ईश्वर क्या है, इसका ज्ञान मुझे होगया।

साधुः—ठीक तू अपने को समझ गया, अब बता तू कहां रहता है ? जो तू कहे कि मैं अपने पाट नगर में रहता हूं, तो यह ठीक नहीं है। पाट नगर ही केवल तेरा नहीं है परन्तु समग्र

राज्य तेरा है, यह सुशोभित, राज्य प्रदेश, यह दिव्य दृश्य सब ही तेरा पाट नगर है। प्रथम तुझ में रहे हुये अस्तित्व को, फिर सच्ची चैतन्य शक्ति को, और फिर सब में रहे हुये आनन्द को मैंने स्वीकार कराया। वह सब स्थान पर व्यापक है, तब सब ही स्थान तेरे रहने का हुआ।

इस प्रकार अनेक युक्तियों से जीवन्मुक्त महात्मा अवाच्यको भी वाङ्मय में लाकर कह सकते हैं और अधिकारी अनाद्यंन, अविचल, सच्चिदानन्द स्वरूप को अपना स्वरूप समझ कर परमपद को प्राप्त होते हैं।

———::०::———

मणि रत्न माला।

(गताङ्क से आगे)

उपजाति वृत्तम्।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरु भक्त एव।
को दीर्घ रोगो भव एव साधो!
किमौषधिं तस्य विचार एव ॥७॥

अर्थः—प्रश्नः-गुरु कौन है? उत्तरः—जो हित का उपदेश करे सो। प्रश्नः—शिष्य कौन है? उत्तरः—जो गुरु भक्त हो सो। प्रश्नः—सब से बड़ा रोग क्या है? उत्तरः—संसार, जिस में वारंवार जन्म मरण हुआ करता है। प्रश्नः—उस रोग की औषधि क्या है? उत्तरः-परब्रह्म का विचार।

भाषा—छप्पय छन्द।

गुरु कहलावे कौन, उसे कैसे पहिचाने?
देवे हित उपदेश, क्लेश हर गुरु सो जाने;
योग्य शिष्य है कौन, युक्त लक्षण क्या उसके?
शिष्य जानिये सोहि, पूर्ण गुरु भक्ती जिसके;
कठिन रोग है कौनसा, साधो! यह संसार है;
क्या है उसकी औषधी, करना सत्य विचार है॥८

विवेचन।

गुरु शब्द गु और रु दो से बना है। गु का अर्थ अन्धेरा है और रु का अर्थ नाश करना है। जो अन्धेरेका नाश करे-प्रकाश करे उसे गुरु कहते हैं। महान् अन्धेरा अज्ञान का है, जो अज्ञान का नाश कराके आत्मप्रकाश करादे वह ही गुरु है। जगत् में अनेक प्रकार के हित समझे जाते हैं परन्तु वे हित वास्तविक नहीं हैं.वास्तविक हित वह होता है जो कभी भी न हटे। संसार दुःख रूप है इसलिये संसार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति सच्चा हित है। उस हित का जो उपदेश करे वह सद् गुरु है। जो स्वयं जीन्मुक्त है और अन्य अधिकारियों को भी सच्चा उपदेश देता है, जिस से शिष्य का सर्वोच्च हित होता है, ऐसा पुरुष ही गुरु शब्द के योग्य है। ऐसे गुरु की प्राप्ति भी महापुण्य के प्रभाव से होती है।

नामधारी, कंठी बंधन मात्र में ही गुरुत्व की सिद्धि मानने वाले स्वार्थी साधुओं से कभी कल्याण होना संभव नहीं है। ऐसे गुरु अनेक प्रकार की कामनाओं से भरे हुये होते हैं, वेद मार्ग की मर्यादा शून्य होते हैं। जगत् को सत्य कहने वाले, स्त्री लंपट को सच्चे मुमुक्षु बकरी के गले में लगे हुये स्तन के समान मिथ्या समझते हैं। ऐसे गुरु अपना और शिष्य दोनों का नाश करने वाले हैं। वे गुरु नहीं हैं, गुरु के वेष में पक्के ठग हैं। जिनसे लौकिक हित ही नहीं हो सका, वे पारमार्थिक हित का उपदेश किस प्रकार दे सके हैं? जब वे स्वयं ही अज्ञान की मूर्ति हैं तब ज्ञान प्रकाश किस प्रकार करें! ऊपर के मंत्र में हितोपदेशक कहनेसे ऐसे गुरुओंका त्यागही बतलाया है। योग वासिष्ठ में ऐसे गुरुओं की गति विषे लिखा हैः—अज्ञानी गुरु जब देह त्यागता है तब कुत्ता होताहै और शिष्य उसका कलीला होताहै क्योंकि उसने शिष्य को असत्य उपदेश कर के उस का धन हरण किया है इस लिये कलीला हो कर,

उस के शरीर में चिपट कर उस का रुधिर चूसता है, पीछे गुरु वृद्ध होता है, और शिष्य वागोल हो कर उस में चिपटता है। जो विषयों का त्याग कराने वाला है, वह ही सच्चा गुरु है। लोभ रहित, ज्ञान मूर्ति और विषयों का त्यागी ही शिष्य को मोक्ष का उपदेश करता है, वह ही गुरु है। संस्कृत, प्राकृत, गद्य और पद्य वाक्यों से अथवा देश भाषा से जो उपदेश करता है, जो शिष्य की शंकाओं का भली प्रकार समाधान करता है, जो शास्त्र और अनुभव सम्पन्न है और जो शुभ स्वभाव का है वह ही गुरु है। ऐसे ज्ञानियों में वासना नहीं होती, किसी के सहारे नहीं टिकते, और राग द्वेष रहित होते हैं, और जैसा प्रारब्ध होता है उसी प्रकार की चेष्टा करने वाले होते हैं। उन को किसी स्थान पर जाने की इच्छा नहीं होती। जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से पृथिवी पर गिर कर जहां वायु ले जाता है, वहीं जाता है इसी प्रकार प्रारब्ध वायु जिस दिशा में ले जाता है वहां ही जाते हैं। मान रहित, कामना रहित और क्रोध रहित, सद्गुरु होते हैं।

जो गुरु की भक्ति करता है, वह शिष्य है, जो ज्ञान के अधिकारी के लक्षणों से युक्त है, तत्वोपदेश ग्रहण करने की शक्ति वाला है, उपदेश के अनुसार मन, वाणी और काया से वर्तने वाला है, और जैसी ईश्वर में भक्ति है ऐसी ही भक्ति गुरु में रखने वाला है, वह ही शिष्य कहलाता है। शास्त्रों में गुरु महिमा इस प्रकार कथन की है:-

गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु महेश्वर है, गुरु ही परब्रह्म है। गुरु की भक्ति किये बिना अन्य प्रकार की भक्ति से ईश्वर प्राप्ति नहीं होती। गुरुगम्य विद्या, गुरु भक्ति से, गुरु के उपदेश और प्रसन्नता से ही प्राप्त होती है। तीनों लोकों में देव, असुर, पन्नग, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, देवर्षि, पितृ, किन्नर, सिद्ध, चारण और अन्य मुनि लोगों से गुरु श्रेष्ठ है, सब तीर्थों में गुरु ही उत्तम तीर्थ है। ईश्वर से भी गुरु अधिक है क्योंकि ईश्वर का कोप हो तो गुरु उस कोप की शांति करा सके हैं परंतु गुरु के कोप की शांति ईश्वर भी करने को समर्थ नहीं है।

तुलसी कृत रामायण में काक् भुशुंडि और गरुड़ जी के संवाद में वर्णन है:—जो शिष्य सद्गुरु का परित्याग करके अन्य का सेवन करता है, वह नरक में पड़ता है। वृक्ष में जो फल लगता है यदि वह उसी पर पकता है तो स्वादिष्ट होता है, यदि वह जल में या पृथ्वी पर अपक्व ही गिर जाय तो सूख अथवा सड़ जाता है, यद्यपि वृक्ष पर भी उसी जल और पृथ्वी से वृद्धि को प्राप्त होकर पकता है इसी प्रकार गुरु शिष्य को समझना चाहिये। वृक्ष सद्गुरु है, शिष्य फल है, ईश्वर जल है और शास्त्र पृथ्वी है, अभिमान करके गुरु का त्याग करना शिष्य का गिरना है, गिरा हुआ शिष्य ईश्वर और शास्त्र करके पकता नहीं है—कल्याण को प्राप्त नहीं होता। गुरु बिना शास्त्राभ्यास करने से अभिमान उत्पन्न होता है, अभिमान ज्ञान की प्राप्ति न कराके नरक में खींच ले जाता है, निंद्य शिष्य मक्खी के समान है। मक्खी शरीर के उत्तम अङ्ग को त्याग कर पीप के ऊपर ही आकर बैठती है वैसे ही निंद्य शिष्य गुरु के दोष के ऊपर ही आकर टिकता है, उनके अगणित गुणों को नहीं देखता। ऐसा खल पुरुष ईश्वर भजन भी नहीं कर सक्ता इस लिये ईश्वर का कोप पात्र ही होता है। गुरु भक्ति करना उसे कठिन मालूम देता है, अन्य प्रतिमा आदिक की भक्ति तो सहज बन सकी है क्योंकि उसमें अपनी इच्छानुसार वर्तना होता है। प्रतिमा अथवा ईश्वर भक्त को रोक टोक करने नहीं आता और गुरु भक्ति में तो अपनी इच्छानुसार चल नहीं सकता। जिसके पूर्व पुण्य का प्रभाव होता है, वह ही योग्य शिष्य होकर गुरु की आज्ञा पालन कर परम पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकता है।

गुरु का वचन परमेश्वर का ही वचन है। परमेश्वर ने अपना ज्ञान प्राप्त कराने के निमित्त

गुरु को निर्माण किया है, गुरु से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है, परमात्मा से परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती इसलिये जो गुरु आज्ञा का पालन नहीं करता वह गुरु और ईश्वर दोनों ही की आज्ञा पालन न करने से नरकगामी होता है। जिसने गुरु के वचनों का उल्लंघन किया है, उसने वेद, शास्त्र, ऋषि, मुनि, सब के ही वचनों का उल्लंघन किया है। प्रतिमा अवाक् है, गुरु वाणी वाला है इसलिये शिष्य को प्रथम गुरु का ही सेवन करना चाहिये और गुरु की भक्ति तन, मन, और धन से करनी चाहिये। गुरु को अपना सर्वस्व अर्पण करके ही शिष्य वृत्ति ग्रहण की जाती है ऐसे शिष्यके सद्गुरु द्वारा कल्याण होने में संदेह नहीं है। जिस ब्रह्मनिष्ठ गुरु ने जिस योग्य शिष्य को 'यह मेरा शिष्य हुआ, इस भावसे ग्रहण किया है उस शिष्य को भी धन्य है क्योंकि उसे ज्ञान के होने में विलम्ब नहीं है। सद्गुरु के उपदेश के बदले में यदि कोई तीनों लोकों का राज्य भी देदे तो भी उपदेश के बदले में कोट्यांश भी नहीं होता। शिष्य को ज्ञान के अधिकारी बनने में शास्त्र में जो साधन कहे हैं वे प्राप्त करने होंगे। वे साधन इस प्रकार हैं:—विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता। आत्मा अविनाशी, अक्रिय है और जगत् उससे विरुद्ध स्वभाव का है, ऐसे ज्ञान को विवेक कहते हैं, ब्रह्म लोक पर्यन्त जितने भोग हैं, वे नाशवंत हैं, ऐसा जानकर उन पर तिरस्कार होना वैराग्य है। शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा का होना, षट् सम्पत्ति कही जाती है। संसार की अत्यंत निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति रूप जो मोक्ष है उसकी इच्छा का होना मुमुक्षुता है।

महादेव भोलानाथ कहे जाते हैं। अतिशय भोलापन बहुधा कष्टदायक होता है। भस्मासुर नाम का एक दैत्य था। दैत्य तपस्या करने में अति तीव्र होते हैं, और तपस्या करके ऐसे ऐसे वरदान प्राप्त करते हैं कि जिनसे देवताओं का भी नाकमें दम आ जाता है, ऐसे दृष्टांत पुराणों में अनेक दीख पड़ते हैं। भस्मासुर दैत्यने महादेव की तपस्या की। उग्र तपस्यासे महादेवजी प्रसन्न होकर बोले'वरं ब्रूहि' (वरदान मांग) तब भस्मासुरने कहा "भोलानाथ! मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मैं जिसके शिर पर हाथ रखदूं, वह ही जल कर भस्म हो जाय!" महादेव जी ने तथास्तु कहा। ज्योंहीं महादेव जी चलने लगे त्योंही भस्मासुर को विचार हुआ कि देखूं महादेव जी का दिया हुआ वरदान सच्चा है या झूंठा। ऐसा विचार कर वह महादेव जी से कहने लगा "आप क्षणभर ठहरिये मैं आपके सामने ही वर की परीक्षा कर लूं" ऐसा कह कर वह महादेव जी के शिर पर ही हाथ धरने चला। महादेव जी भागने लगे, भस्मासुर उनके पीछे भागने लगा। भस्मासुर की आंतर इच्छा यह थी कि पार्वती बहुत सौन्दर्यवती है, महादेव के शिर पर हाथ रखने से वे भस्म हो जांयगे और मैं पार्वती को ले लूंगा क्योंकि मुझे रोकने में और कोई समर्थ नहीं है। महादेव घबराते हुये भाग रहे थे। विना विचार, योग्यता देखे विना दिये हुये वरदान का कष्ट उठा रहे थे। महादेव की यह दशा देख कर विष्णु को दुःख हुआ इसलिये मोहिनी, सौन्दर्य वाली स्त्री का स्वरूप धारण करके महादेव का दुःख निवृत्त करने को भस्मासुर के सामने आये उसे देखते ही भस्मासुर की दृष्टि महादेव पर से हट कर मोहिनी में लग गई। मोहिनी की विषयोत्तेजक मुसकान से भस्मासुर मुग्ध हो गया और बोला "हे सुन्दरी! मैं तेरी कामना वाला हूं। मैं तेरा क्या हित करूं?" मोहिनी बोली "मैं पार्वती हूं, महादेव जी का नृत्य मुझे अति प्रिय है इसलिये मैं महादेव की हूं!" भस्मासुर बोला "बाले! मैं भी नृत्य करके, तुझे प्रसन्न कर सक्ता हूं!" मोहिनी बोली "तब मेरे सामने नृत्य कर!" भस्मासुर बोला "हे मनमोहिनी! महादेव जी कैसे नृत्य करते हैं? तू मुझे दिखलाती जा, वैसे ही मैं नृत्य करूंगा।" मोहिनी

नृत्य करने लगी। वह जो जो चेष्टा करती, उसी प्रकार सब चेष्टा भस्मासुर करने लगा। जब मोहिनी ने देखा कि भस्मासुर का चित्त मेरी क्रिया की नकल करने में लगा है, दूसरा कुछ भी होश नहीं है तब उसने नाचते हुये अपना हाथ अपने शिर पर रक्खा। भस्मासुर भी वैसा ही करने लगा और उसी क्षण भस्म हो गया। मोहिनी ने अपना स्वरूप त्याग दिया और महादेव निर्भय हुये।

महादेव ज्ञाननिष्ठ सद्गुरु थे परन्तु योग्य विचार रहित होने से भस्मासुर को हितोपदेश देने से भी इस समय पर वरदान दाता होने पर भी वे भस्मासुर के गुरु न थे। इसी प्रकार भस्मासुर अधिकारी के लक्षण वाला न होने से और गुरु के ही अहित और घात करने की इच्छा वाला होने से दुष्ट था, शिष्य नहीं था। योग्य शिष्य और योग्य गुरु न होने से दोनों ने ही कष्ट उठाया! शंकर के हितकर मोहिनी स्वरूप विष्णु ही थे इसलिये इस समय वे ही गुरु थे।

राजा जनक ज्ञानियों में श्रेष्ठ हुआ है। यद्यपि सब ज्ञानी एक ही समान हैं तो भी जनक की विशेषता इस निमित्त है कि राज्य व्यवहार करते हुये भी वह जीवन्मुक्त था। जब वह मुमुक्षु था तब भी उसकी मुमुक्षता वृत्ति और शिष्य भाव तीव्र था। यों तो वह शास्त्रज्ञ था और अनेकों से उपदेश ले चुका था परन्तु उसकी यह प्रतिज्ञा थी कि रकाब में एक पैर रखते ही ब्रह्म साक्षात्कार करा देने वाला जो कोई मुझे मिलेगा उसे मैं अपना गुरु बनाऊंगा। भाव यह था कि एक पैर रकाब में रख कर घोड़े पर बैठ जाने में जितना समय लगता है उतने समय में ब्रह्म का अपरोक्ष बोध करादेने वाला चाहिये। वह जिस प्रकार के गुरु की खोज में था उसी प्रकार शिष्य भाव से भी पूर्ण था। एक वार अष्टावक्र मुनि उसे मिले। सत्कार पूर्वक गुरु बनाने में जो निश्चय उसने कर रक्खा था, कह दिया। अष्टावक्र ने कहा कि यदि तुझमें पूर्ण शिष्य भाव होगा तो मैं तुझे इसी प्रकार उपदेश देकर ब्रह्म प्राप्ति करा दूंगा। राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, साज सहित घोड़े को तैयार करके घोड़े के एक रकाब में उसने एक पैर रक्खा। अष्टावक्र बोले कि यदि तू शिष्य बनना और मुझ से उपदेश लेना चाहता है तो प्रथम गुरु दक्षिणा दे। राजा ने कहा कि जो आप कहें सो मैं देने को तैयार हूं। अष्टावक्र ने कहा कि तू अपना तन, मन और धन मुझे देदे। राजा ने पानी लेकर तन, मन, धन देने का संकल्प किया। संकल्प करने के बाद उसने कहा कि आप उपदेश दीजिये। अष्टावक्र बोले कि तू अपनी प्रतिज्ञा से विरुद्ध जाता है, तूने अपना मन अर्पण कर दिया है तेरा मन उपदेश करने का संकल्प नहीं कर सक्ता, तूने अपना शरीर मुझे अर्पण कर दिया है, इस शरीर के मुख से तू बोल नहीं सक्ता। अब तेरा मन शरीर और राज्य की वस्तुओं सहित राज्य कहां है ?।

जनक विचारने लगा कि बात तो ठीक है, फिर ख्याल आया कि मैं इस प्रकार मन से विचार नहीं कर सक्ता। तब तो वह मन से विचार रहित हो कर शरीर से जैसा खड़ा था, वैसा ही खड़ा रह गया और ठूंठ के समान हो गया! तब मुनि बोले कि मैं तेरे दिये हुये मन को उपदेश समझने के लिये तुझे देता हूं, उपदेश समझ कर मुझे लौटा दीजो, तूने अपना तन, मन और सब धन मुझे दे दिया है, उन सब के देने के बाद जो शेष रहा वह तेरा आत्मा है, वह ही परमात्मा है, इस प्रकार मन को मुझे लौटा कर आत्मा से आत्मा को जान। राजा पूर्ण मुमुक्षु और अधिकारी के साधन सम्पन्न था, अष्टावक्र गुरु पर पूर्ण भक्ति थी, ऋषि के कहे अनुसार उस ने आत्म बोध प्राप्त किया। मुनि ने पूछा कि क्यों तुझे बोध हुआ। राजा ठूंठ की समान ही रहा, न उस ने कुछ सुना और न कुछ उत्तर दिया। मुनि समझ गये कि उस को उपदेश हो गया तब कहने लगे

कि मैं अपने साथ बात चीत करने को तन और मन देता हूं, अब मैं पूछता हूं कि तुझ को बोध हुआ। राजा प्रणाम कर के बोला कि सच हो गया, आप महान् सद्गुरु हैं, जैसी मेरी इच्छा थी ऐसे ही गुरु और उपदेश दोनों ही प्राप्त हुये। अष्टावक्र बोले कि मैंने प्रथम जब पूछा था तब तू ने उत्तर क्यों नहीं दिया। राजा बोला कि आपने पूछा इसकी मुझे खबर न थी, खबर करने वाला मन मेरे पास न था और बोलने वाला शरीर भी नहीं था, न इन्द्रियों ने सुना। जब मन को मालूम हुआ तब मुख ने कहा। अष्टावक्र बोले कि धन्य है तुझ को! जैसा मेरा उपदेश है, वैसा ही ग्रहण करने वाला योग्य शिष्य तू है. तेरा तन, मन और राज्य रूपी सब धन मेरा हो चुका है, वे सब मेरे ही हैं, मैं उन्हें अपनी तरफ से राज्य करने के निमित्त तुझे देता हूं: उन से भली प्रकार राज्य कर, और अपना स्वरूप जो तू ने जाना है उस में टिका रह। गुरु की आज्ञा मान कर राजा राज्य करता रहा और मुक्त भी बना रहा।

राजा जनक तीव्र बुद्धि वाला, गुरु भक्त शिष्य था और उस के योग्य विलक्षणता से उपदेश करने वाले, हितकर सद्गुरु अष्टावक्र थे। जब शिष्य योग्य और गुरुभक्त होता है और गुरु भाव को सार्थक करने वाला गुरु होता है तभी शिष्य का कल्याण होता है।

रोग अनेक प्रकार के हैं और रोगों की संख्या से रोगी अनेक प्रकार के हैं। कोई काना होता है, कोई अंधा, कोई लूला, कोई टोंटा, कोई कुष्ठि, कोई पिंड रोगी, कोई अतिसार वाला, कोई संग्रहणी वाला, कोई भगंदर वाला, कोई क्षय वाला, कोई ज्वर वाला, कोई उदर रोगी, कोई बहरा, कोई नेत्र रोगी, कोई पीनस वाला, प्रमेह वाला और कोई विशूचिका वाला होता है। ये सब रोग एक महान् रोग के सामने क्षुद्र हैं। उन सब रोगों और उन के उपद्रव की भूमि शरीर है। शरीर के साथ सब रोगों का नाश हो जाता है परन्तु जिस में शरीर उत्पन्न होता है ऐसा भव-संसार रूपी रोग महान् है जो असाध्य सा ही है। जिस को संसार रूपी रोग लगा हुआ है वह चौरासी लक्ष योनियों में वारंवार जन्म मरण रूपी अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करता है। अनेक प्रकार के रोग जिस में होते हैं, वह रोग का घर शरीर है और जिस में शरीर होता है, ऐसा शरीरों की जड़ संसार है। संसार ही महाविष है जो वारंवार मारने वाला है, इसलिये वह ही महा रोग है। जिस का जन्म मरण रूपी संसार निवृत्त नहीं हुआ है, वह भले ही अश्व पर बैठे, हाथी की सवारी करे, पालकी में चढ़े, मोटर में दौड़े अथवा वायुयान में उड़े, महा बलवान् हो, ऐश्वर्य से संपन्न हो, अनेक प्रकार के भोग भोगे, अनुचर लोग क्षमा २ शब्द का उच्चारण करते हों, चांदी सोने के बने हुये, रत्नजटित सुंदर पर्यंक पर शयन करे और सुंदर वस्त्रों से निरन्तर वेष्टित रहता हो, तो भी महा रोगी ही है। कोई मनुष्य एक मास तक बीमार रहे, एक मास तक कुछ न खाय, खाट पर भी उठने बैठने की शक्ति न हो, ऐसे मनुष्य को रात्रि में स्वप्न में यह दीख पड़े कि मैं घोड़े पर सवार हुआ हूं, मिष्ठान्न भोजन कर रहा हूं, कुश्ती लड़ रहा हूं, और महा बलवान् हूं। जिस प्रकार यह मनुष्य स्वप्न में आनन्द को प्राप्त होता है, यह आनन्द जब तक स्वप्न रहता है तब तक ही रहता है, निद्रा खुलने पर कुछ नहीं रहता तैसे ही जाग्रतावस्था में मनुष्य जानता है कि मैं भाग्यशाली हूं, मेरे पुत्र, पुत्री, स्त्री, घर और द्रव्य हैं, नाना प्रकार के वाहन हैं, अनुचर हैं। ये सब तब तक ही रहते हैं जब तक प्रारब्ध समाप्त नहीं होता। जैसे स्वप्न वाले के स्वप्न के पदार्थों का जागने पर नाश होता है इसी प्रकार प्रारब्ध का क्षय होने से माने हुये सब शारीरक सुखों का नाश होता है और दृढ़ वासना वाला मरने के बाद चौरासी लक्ष योनियों में भटकता है। जिसमें

इस प्रकार के दुःख होते हैं, वह महारोग संसार है। इस संसार रूपी महारोग की निवृत्ति किस प्रकार हो, इसका विचार करना चाहिये। जैसे भौतिक रोग की औषधि भी भौतिक होती है इसी प्रकार अविचार से सिद्ध संसार रोग की औषधि विचार है।

मैं कौन हूं, यह संसार क्या है, उसकी उत्पत्ति किस प्रकार है और निवृत्ति किस प्रकार है। इस प्रकार के विचार को विचार कहते हैं। अनेक प्रकार के शास्त्र विधि युक्त कर्मों को निष्कामता से करने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है परंतु आत्म ज्ञान नहीं होता। करोड़ों कर्म करने से भी आत्म ज्ञान नहीं होता। आत्म ज्ञान विचार से ही होता है। पुत्र, धन और ऐश्वर्य से ज्ञान प्राप्ति नहीं होती किंतु सद्गुरु के वचन और विचार से स्वरूप का निश्चय होता है। स्नान से, दान से, और प्राणायाम से ज्ञान नहीं होता इस लिये जिस को आत्म स्वरूप जानने की तीव्र इच्छा हो, जिस को संसार दुःख रूप हो, जो शिष्य के लक्षणों से युक्त हो; उसे दया के समुद्र स्वरूप, ब्रह्म वेत्ताओं में उत्तम गुरु के समीप जाकर आत्म तत्व का विचार करना चाहिये।

विचार इस प्रकार करना चाहिये:-मैं कौन हूं? मैं श्याम सुन्दर हूं, नहीं! यह नाम मैं नहीं हूं। क्योंकि इस नाम को मेरे माता पिता आदिक ने ज्योतिष के आधार से रक्खा है और यह नाम तो शरीर का है, मेरा नहीं है। तब क्या रूप वाला शरीर मैं हूँ? नहीं। यह शरीर तो माता पिता के खाये पिये रसों से बना है, शरीर ने जन्म धारण किया है, इस लिये शरीर की आदि में भी मैं था, तब मैं शरीर किस प्रकार होऊं? जब कोई मर जाता है तब शरीर तो यहां ही पड़ा रहता है और अमुक चला गया—मर गया ऐसा कहते हैं इस लिये शरीर मैं नहीं हूं, शरीर तो प्रत्यक्ष स्थूल रूप है, पंच भूतों के पंची करण से बना हुआ है, जो मैं ऐसा स्थूल होता तो आपने के समय लोग मुझे आता हुआ देखते, इस लिये स्थूल शरीर मैं नहीं हूं। स्थूल शरीर में आकाश, वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी पांच भूत दीखते हैं, वे पांच भूत मैं नहीं हूं। स्थूल शरीर में सप्त धातु हैं और तीन गुण हैं, वे सबही अशुद्ध हैं, मैं अशुद्ध नहीं हूं इसलिये स्थूल शरीर मैं नहीं हूं मैं तो उससे विलक्षण हूं! तब क्या मैं मनुष्य हूं? नहीं! मैं तो अनेक योनियों में जाने वाला होने से मनुष्य नहीं हूं, मनुष्य तो संसारी है, पशु, पक्षी, आदिक भी संसारी हैं। शास्त्र में सुना गया है कि मैं तो संसार से रहित हूं! क्या स्थावर जंगम पदार्थ संसार है? क्या मेरा उनसे संबंध है? नहीं! वे तो नाश वाले हैं, मेरा आत्मा नाश रहित है, इस लिये न मैं संसार हूं न संसारी हूं! तब क्या सूक्ष्म शरीर मैं हूँ? नहीं! वह भी पंच भूतों का बना है, विकारी है, आने जाने वाला है, मैं सूक्ष्म शरीर से भी कोई विलक्षण हूं! स्थूल, सूक्ष्म सब संसार अज्ञान का कार्य है, मैं तो ज्ञान स्वरूप हूं! संसरना ही संसार है, संसरना छोड़ संसार कहीं नहीं है, संसरना अज्ञान में होता है, मुझमें अज्ञान नहीं है! अज्ञान से ज्ञान की विरोधता है, मुझ ज्ञान स्वरूप को अज्ञान से क्या वास्ता! शब्द प्रतीति का अविषय मैं-आत्मा पंच भूतों का समुदाय रूप स्थूल और सूक्ष्म देह नहीं हूं, उन दोनों का कारण भी नहीं हूं, वे सब दृश्य हैं, मैं-आत्मा उनका द्रष्टा हूं! इन्द्रियादिक भी मैं नहीं हूं क्योंकि वे जड़ हैं और पंच भूतों का कार्य हैं! जब वे सब मैं नहीं हूं, तब क्या मैं शून्य हूं? यह किस प्रकार बने? मैं तो सब को जानता हूं, शून्य में जानना पना नहीं हो सकता! शून्य हूं जब मैं ऐसा कहता हूं तो मुझ शून्य के जानने वाले का कौन निषेध कर सकता है? जहां कुछ भी नही है वहां मैं तो हूं ही! शास्त्र कहते हैं कि मैं आत्मा, एक अवि. नाशी तत्व हूं! यह संसार क्या है? अविद्या का कार्य है, तब उसका कर्ता कौन है? मैं तो अवि-कारी अकर्ता हूं, इसलिये संसार का कर्ता मैं

नहीं हूं, तब संसार का कर्ता कोई ईश्वर होगा! यह कैसे बने ? जब कर्ता मैं ही नहीं, तो महान् ईश्वर में विकार कैसे हो सकता है?। संकल्प विकल्प कैसे हो और संकल्प विकल्प विना कर्ता बने कैसे ? शास्त्रों और संतों के मुख से मैंने सुना है कि जगत् झूंठा है ! ठीक तो है, संसार अज्ञान का कार्य है, और अज्ञान कोई वस्तु नहीं है. भ्रम है, तब भ्रम का कार्य झूंठा हो. इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जब संसार है ही नहीं तब उसको उत्पन्न करने वाला कौन हो, न होता हुआ संसार दीख रहा है, और दुःख का अनुभव कराता है। दूसरी रीति से समझा जाय तो संकल्प ही जगत् का कर्ता है, कामना से संकल्प किये जाते हैं, संकल्प ही दृढ़ भाव दृश्य रूप से दीखता है वह ही संसार है,। संकल्प सूक्ष्म शरीर में होता है. जब सूक्ष्म शरीर ही अविद्या का—मिथ्या है तब उसमें से होने वाले संकल्प भी मिथ्या हैं। जब संकल्प मिथ्या हैं, तब उनसे बना हुआ संसार मिथ्या है। जैसे मृत्तिका के घड़े का उपादान कारण मृत्तिका है, ऐसे ही संसार का उपादान कारण अविद्या है। अविद्या से उत्पत्ति, स्थिति और नाश होता है, जिसमें ये तीनों होते हैं, वह ही अविकारी सब का आदि कारण है। जगत् अध्यस्त है और परब्रह्म अधिष्ठान रूप है, जो परब्रह्म है, वह ही आत्मा है। मैं जिनके लिये भटकता हूं वे सब दृश्य मुझमें हैं, मैं सबका आधार हूं, तो भी अविद्या से दुखी हो रहा हूं. हाय ! कितना अनर्थ कर रहा हूं ! मिथ्या होते हुये भी जिस प्रकार रस्सी में दीखता हुआ सर्प भय और दुःख का कारण होता है इसी प्रकार न होता हुआ जगत् भी दुःख का कारण है ! जब रस्सी का यथार्थ बोध होता है तब अज्ञान जनित सर्प से दुःख की निवृति होती है ! अब मैं विचार को प्राप्त हुआ हूं, अब मैं अवश्य परब्रह्म को प्राप्त होऊंगा ! ब्रह्म सत्य है, तीनों काल से अबाधित है, तीनों काल में उसका नाश या अभाव नहीं होता। जैसे जब सर्प दीखता है और भय होता है तब भी रस्सी ही होती है और जब रस्सी दीखती है तब भी रस्सी ही है, ऐसे ही ब्रह्म में कभी किंचित विकार नहीं होता। मन, वाणी, आदिक इन्द्रियां ब्रह्म को पहुंच नहीं सकतीं—जान नहीं सकतीं क्योंकि वे मायिक हैं, परब्रह्म तो जाति, क्रिया, रूप आदि से रहित है।

इस प्रकार विचार करते हुये 'तत्त्वमसि' महावाक्य को जानना चाहिये। मेरे संकल्प से शरीर सत्य है तो ईश्वर के संकल्प से ब्रह्मांड सत्य है। मेरा जैसा छोटा अन्तःकरण है इसीप्रकार ईश्वर का बड़ा अन्तःकरण होगा। जब मेरी अल्पज्ञता उपाधि है तब ईश्वर की सर्वज्ञता उपाधि है। जब मैं त्वंपद हूं तब ईश्वर तत्पद है, मैं जीव हूं तो वह ईश्वर है। जैसे अग्नि की एक छोटी चिंगारी और बहुत अग्निउपाधि भेद से भिन्न होते हुए भी अग्निरूप ही हैं इसीप्रकार जीव और ईश्वर उपाधि अंश में भी वस्तुतः एक ही हैं। उपाधि का त्याग कर के अखंड ब्रह्म का निश्चय करना चाहिये। ईश्वर और जीव के वाच्यार्थ को समझ कर उनके लक्ष्यार्थ को समझना, भाग त्याग लक्षणा से अखंड परब्रह्म में अपरोक्ष बोध को प्राप्त होना, यह विचार और विचार का फल है। इस प्रकार के विचार किये बिना संसार रूप महान् रोग की निवृत्ति कभी भी नहीं होती।

———::०::———

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

[गतांक से आगे।]

'यो विज्ञाने तिष्ठन्' [बृह० ३। ७। २२] (जो विज्ञान में रहकर) ऐसा काण्व शाखा वाले और 'य आत्मनि तिष्ठन्' (जो आत्मा में रहकर) ऐसा माध्यंदि शाखा वाले अध्ययन करते हैं। पिछले पाठ में आत्म शब्द शरीर वाचक है और पहले में

भी विज्ञान शब्द से शारीर कहा जाता है क्योंकि शारीर विज्ञानमय है। इसलिये शारीर से अन्य अन्तर्यामी है यह सिद्ध है।

शंका:-एक देह में दो द्रष्टा किस प्रकार हो सकते हैं? ईश्वर अन्तर्यामी है अथवा शारीर है? इन दोनों में से यहां किसकी अनुपपत्ति है—किस को अन्तर्यामी कहें? जो दोनों को अन्तर्यामी कहें तो 'नान्योऽतोऽस्तिद्रष्टा' (इससे भिन्न द्रष्टा नहीं है) इत्यादि श्रुति वचन से विरोध होता है। यह श्रुति प्रकृत अन्तर्यामी के सिवाय अन्य द्रष्टा श्रोता, मन्ता और विज्ञाता आत्मा का प्रतिषेध करती है। यदि यह कहो कि अन्य नियन्ता के प्रतिषेध के लिये यह वचन है तो ठीक नहीं है क्योंकि अन्य नियन्ता का प्रसंग नहीं है और विशेष का श्रवण नहीं है।

समाधान:-अविद्या से कल्पित कार्य इन्द्रियों की उपाधि से शारीर और अन्तर्यामी का यहां भेद कहा गया है वास्तविक भेद नहीं है। यथार्थ में प्रत्यगात्मा एक ही है, दो प्रत्यगात्मा होना संभव नहीं है। एक का ही उपाधि के कारण भेद व्यवहार है जैसे घटाकाश और महाकाश एक होते हुये भी उपाधि से दो कहने में आते हैं। उपाधि के कारण ही ज्ञाता, ज्ञेय के भेद वाली श्रुतियां, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, संसार अनुभव और विधि निषेध शास्त्र ये सब उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार 'यत्र वै द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (यथार्थ में जहां द्वैत जैसा होता है, वहां इतर, इतर को देखता है) यह श्रुति अविद्या विषय में सब व्यवहार दिखलाती है। 'यत्र त्वस्य सर्वात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (परंतु जहां सब इसका आत्माही हुआ वहां किससे किसको देखे) यह श्रुति विद्या विषय में सब व्यवहार को बन्द करती है॥ २०॥

(६) अदृश्यत्वादिगुणकाधिकरण।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥ २१॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अदृश्यत्वादि गुणकः—अदृश्यत्वादि गुण वाला [परमात्मा है] धर्मोक्तेः [परमात्मा के] धर्म के कथन से।

टीकाः—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतंसुसूक्ष्मंतदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा' [मुण्ड० १।१।५-६] (अब जिस करके वह अविनाशी प्राप्त होता है वह पराविद्या है। जिस उस अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, वर्ण रहित, नेत्र श्रोत्र हीन, हाथ पैर रहित, नित्य विभु, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म उस अविनाशी को विद्वान् भूतों का कारण रूप देखते हैं) यह श्रुति है। इस में संशय होता है कि अदृश्यत्वादि गुण वाला भूतों का कारण प्रधान, जीव अथवा परमेश्वर कौन है।

पूर्वपक्षीः—यहां पर अचेतन प्रधान भूतों का कारण है, यह ठीक है क्योंकि अचेतनों का ही दृष्टान्त रूप से ग्रहण किया है जैसे कि 'यथोर्णनाभि—सृजते गृह्णते च यथा, पृथिव्यामौषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केश लोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥' [मुण्ड० ।१।१।७] (जैसे मकड़ी तंतु को पैदा करती है और पीछे खेंच लेती है, जैसे पृथिवी से औषधियां उत्पन्न होती हैं, जैसे जीते हुए मनुष्य में से केश और लोम उत्पन्न होते हैं तैसे अक्षर में से विश्व उत्पन्न होता है) इस श्रुति में सब अचेतन ही दृष्टान्तरूप से हैं। यदि कहो कि मकड़ी और पुरुष इन दो का चेतन रूप से ग्रहण है तो यह बात ठीक नहीं है क्योंकि मात्र चेतन ही तंतु का अथवा केश और लोम का कारण नहीं है परन्तु चेतन से अधिष्ठित जो मकड़ी का अचेतन शरीर है वह तंतु का कारण है और पुरुष का शरीर केश और लोम का कारण है यह प्रसिद्ध है। पूर्व स्थानों में यद्यपि अद्रष्टत्व आदि धर्मों का कथन प्रधान में सम्भव था तो भी द्रष्टत्व आदि धर्मों का कथन सम्भव न होने से प्रधान को अंगीकार नहीं किया था परन्तु

यहां पर अदृश्यत्व आदि धर्म प्रधान में सम्भव हैं और किसी विरुद्ध धर्म का कथन नहीं है इसलिये यहाँ प्रधान का ही कथन है। यदि कहो कि 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्' (जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है) यह वाक्य शेष अचेतन प्रधान के लिये कहना सम्भव नहीं है तो प्रधान भूतयोनि है यह किस प्रकार कहा जाय तो इस का उत्तर यह है कि 'यथा तदक्षरमधिगम्यते' 'यत्तदद्रेश्यम्' (जिस से वह अविनाशी प्राप्त होता है, वह तो अदृश्य है) इस प्रकार अक्षर शब्द से अदृश्यत्व आदि गुण वाले भूतयोनि का प्रतिपादन करके अन्त में श्रुति कहेगी कि 'अक्षरात् परतः परः' [मुण्ड० १।२।१] (महान् अक्षर से श्रेष्ठ) इस में अविनाशी से श्रेष्ठ जो श्रुति ने कहा है वह सर्वज्ञ और सर्ववेत्ता सम्भव होगा इस लिये प्रधान ही अक्षर शब्द से कहा हुआ भूतयोनि है। यदि योनि शब्द को निमित्त वाचक मानें तो शरीर (जीव) भूतयोनि होना चाहिये क्योंकि धर्म और अधर्म से ही भूत समूहकी सृष्टि है।

सिद्धान्ती:-अदृश्यत्व आदि गुण वाला जो यह भूतयोनि है वह परमेश्वर ही है और कोई नहीं है, यह बात धर्म के कथन से समझी जाती है। यहां 'यः सर्वज्ञ सर्वविद्' (जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है) इस प्रकार परमेश्वर का धर्म कहा हुआ दीखता है। अचेतन प्रधान का अथवा जिसकी दृष्टि उपाधिसे परिच्छिन्न हो गई है ऐसे शरीर (जीव) का सर्वज्ञपना अथवा सर्ववेत्तापना धर्म होना सम्भव नहीं है। परन्तु अक्षर शब्द से कही हुई जो भूतयोनि है उस से जो पर है उस में सर्वज्ञपना और सर्व वेत्तापना सम्भव है, भूत योनि में संभव नहीं है, ऐसी जो शंका की है उसका उत्तर यह है कि ऐसा संभव नहीं है क्योंकि 'अक्षरात् संभवतीह विश्वम्' (अक्षर से यहां विश्व की उत्पत्ति होती है) इस प्रकार भूत योनि को उत्पत्ति करने वाली कहकर पीछे से सर्वज्ञ का उत्पत्ति कर्ता रूप से कथन किया है। 'यः सर्वज्ञ सर्व विद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥' (जो ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्व वेत्ता है, जिसका ज्ञानमय तप है उस में से यह (कार्य लक्षण) ब्रह्म उत्पन्न होता है तैसे ही नाम और रूप और अन्न उत्पन्न होता है) इसलिये समान कथन से सर्वज्ञपना और सर्व वेत्ता पना, ये धर्मप्रकृत अक्षर भूत योनि के ही कहे गये हैं, ऐसा समझा जाता है। 'अक्षरात् परतः परः' (परजो अक्षर उससे पर) इसमें भी प्रकृत भूतयोनि अक्षर से पर कोई है ऐसा नहीं समझा जाता क्योंकि 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाचतां तत्त्वतो ब्रह्म विद्याम्' [मुण्ड०१। २। १३] (जिस ज्ञान से अक्षर सत्य पुरुष को जाने उसे ब्रह्म विद्या कहना चाहिये) इस प्रकार प्रकृत भूत योनि ही अदृश्यत्व आदि गुण वाला अक्षर कहा है। यदि कहो कि फिर 'अक्षरात् परतः परः, (पर जो अक्षर उससे पर) ऐसा क्यों कथन किया है तो इस शंका का समाधान आगे के सूत्र में करेंगे परा और अपरा दो विद्यायें जानने योग्य कही हैं उनमें ऋग्वेदादि लक्षण वाली अपरा विद्या कह कर कहा है:-'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (पीछे परा विद्या से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है) इत्यादि। इसमें अक्षर परा विद्या का विषय कहा है यदि ऐसी कल्पना करें कि अदृश्यत्व आदि गुण वाला परमेश्वर से अक्षर भिन्न है तो यह परा विद्या न होवे। सच तो यह है कि परा और अपरा ये जो विद्याओं का विभाग किया है वह अभ्युदय और मोक्ष के लिये किया गया है और प्रधान की विद्या का फल मोक्ष है ऐसा कोई नहीं मानता। तेरे पक्ष में भूत योनि अक्षर से पर परमात्मा का निरूपण होने से तीन विद्याओं की प्रतिज्ञा होती है परंतु श्रुति ऐसा कहती है कि जानने योग्य दो ही विद्यायें हैं। 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड०१। १। ३ (भगवन्! किसके जानने से सबका ज्ञान होता है) (अपूर्ण)

अध्यात्म उपनिषद् ।

शरीर के मध्य भाग में अज, एक और नित्य-रूप आत्मा रहता है। इस आत्मा का पृथिवी शरीर है। वह पृथिवी के मध्य भाग में रहता है तो भी पृथिवी उसे जान नहीं सकती। इस आत्मा का जल शरीर है। जल के मध्य में आत्मा रहता है तो भी जल आत्मा को नहीं जानता। इस आत्मा का तेज शरीर है। तेज के मध्य में आत्मा रहता है तो भी तेज उसको नहीं जानता। इस आत्मा का वायु शरीर है। वह वायु के मध्य में रहता है तो भी वायु उसको नहीं जानता। आत्मा का आकाश शरीर है, आकाश में संचार करने पर भी आकाश उसको नहीं जानता। आत्मा का मन शरीर है, वह मन में रहता है तो भी मन उसको नहीं जानता। आत्मा का बुद्धि शरीर है। आत्मा बुद्धि में रहता है तो भी बुद्धि आत्मा को नहीं जानती। अहंकार उसका शरीर है, वह अहंकार में रहता है तो भी अहंकार उसको नहीं जानता। चित्त उसका शरीर है, वह चित्त में रहता है तो भी चित्त उसको नहीं जानता। अव्यक्त उसका शरीर है, वह अव्यक्त में रहता है तो भी अव्यक्त उसको नहीं जानता। अक्षर उसका शरीर है, वह अक्षर में रहता है तो भी अक्षर उसको नहीं जानता। मृत्यु उसका शरीर है, वह मृत्यु में रहता है तो भी मृत्यु उसको नहीं जानता। यह सब प्राणियों का अंतरात्मारूप शुद्ध, दिव्य, प्रकाशरूप और नारायणरूप है। देह, चक्षु, आदिक अनात्म वस्तुओं में जो 'मैं' और 'मेरा' ऐसा भाव होता है, उसको अध्यास कहते हैं। विद्वान् पुरुषों को ब्रह्म में आसक्ति रख कर अध्यास का त्याग करना चाहिये ॥ १ ॥ बुद्धि और उसकी वृत्ति के साक्षीरूप इस प्रत्यक् आत्मा को 'आत्मा मैं ही हूं' ऐसी वृत्ति रख कर, अपने और दूसरे में आत्म-बुद्धि का त्याग कर दे ॥ २ ॥ लोगों के अनुसार वर्तने के भाव को त्याग कर देह के अनुवर्तन के भाव का त्याग करे, शास्त्र के समान वर्तने के भाव का त्याग कर दे, और अपने अध्यास का भी त्याग कर दे ॥ ३ ॥ आत्मा के सर्वात्मपने को जान कर, श्रुतियों और युक्तियों से उसका अनुभव करके योगियों का मन स्वात्मा में हमेशा स्थिति करके नाश को प्राप्त होता है ॥४॥ निद्रा को, लोक वार्ता को, शब्दादिक को और आत्मविस्मृति को सहज भी अवकाश न देकर आत्मा में आत्मा का चिंतन करे ॥५॥ माता पिता के मल से उत्पन्न हुये ऐसे मल मांस वाले शरीर का चण्डाल के समान त्याग करके ब्रह्मरूप से तू कृतार्थ हो ॥ ६ ॥ जैसे घटाकाश का महाकाश में लय होता है तैसे आत्मा का परमात्मा में लय करके हे मुनि! तू मौनी होजा ॥ ७ ॥ आत्मा से हमेशा अधिष्ठान रूप स्वप्रकाश का अनुभव करके शरीर का और ब्रह्मांड का भी मैले के पात्र के समान त्याग कर ॥८॥ आनन्द रूप चिदात्मा में, देह में रहने वाली अहं बुद्धि को स्थापन करके, सब चिन्हों का त्याग करके तू केवल रूप हो ॥ ९ ॥ जैसे दर्पण में अंतःपुर का भास होता है तैसे आत्मा में जगत् का भास होता है और 'वह ब्रह्मरूप मैं स्वयं हूं' ऐसा मान कर कृत-कृत्य हो ॥ १० ॥ अहंकाररूप मगर से मुक्त हुआ अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, वह चन्द्र के समान निर्मल, पूर्ण, सदानन्दमय, और स्वयंप्रभा रूप होकर रहता है ॥ ११ ॥ क्रिया के नाश होने से चिन्ता का नाश होता है, चिंता के नाश होने से वासना का क्षय होता है, और वासना क्षय होने से मोक्ष होता है, उसको जीवन-मुक्ति कहते हैं ॥ १२ ॥ सब में और सब दिशाओं में एक ब्रह्म का ही अवलोकन करने और सद्भाव रूप भावना दृढ़ होने से वासना का लय होता है ॥ १३ ॥ किसी समय भी ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद न करना चाहिये। ब्रह्मवादियों को ब्रह्मविद्या में प्रमाद करना मृत्युरूप कहलाता है ॥ १४ ॥ जैसे हाथ से हटाई हुई जलकी काई थोड़ी देर भी नहीं रहती तैसे परांग मुख ऐसे प्राज्ञ को माया आवरण करती है ॥ १५ ॥ जो मनुष्य जीता हुआ ही केवल अवस्था को प्राप्त हुआ है, वह ही केवल विदेहरूप है, (इसलिये) समाधि को प्राप्त कर के तू निर्विकल्प हो ॥ १६ ॥

जब समाधि से आत्म साक्षात्कार होता है तब अज्ञान रूप हृदय ग्रन्थि का नाश होता है जो सब को आत्म रूप से जानता है॥१७॥और अहंभाव का त्याग करता है और घट पटादिक के समान सब में उदासीन रहता है ॥१८॥ और जब ऐसे जानता है कि ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सब उपाधि रूप है तब उसको एक आत्म रूप से रहने वाले स्वात्म स्वरूप का दर्शन होता है ॥ १६ ॥ मैं ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव और विश्व रूप हूं और मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है ॥ २० ॥ जिसने अपने आत्मा में आभास सहित सब वस्तुओं का आरोपण किया है और जो आप पूर्ण, अद्वय और अक्रिय रूप से हुआ है ॥२१॥ एक ही परमार्थ वस्तु में विश्व जैसी कल्पना असत् कल्पना रूप है, पर वस्तु ब्रह्म है, जो निर्विकार, निराकार, और निर्विशेष है, उसमें भेद भाव कहां से हो? ॥२२॥ आत्मा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यादि भाव से रहित है, निरामय रूप है, कल्पना रहित है, समुद्र के समान अत्यन्त परिपूर्ण है॥२३॥जैसे तेज में अंधकार का लय होता है, तैसे जिसमें सब भ्रांति का लय होता है ऐसे चिदात्मा में भेद कहां से हो? ऐसे एक परम तत्व में भेद का कर्तापना किस प्रकार संभवित हो सके ? ॥२४॥ एक परम तत्व में भेद किस प्रकार हो? यह विश्व चित्त में से उत्पन्न हुआ है ॥२५॥ और चित्त के अभाव से उसमें का कुछ भी नहीं रहता इसलिये परमात्मा में चित्त को एकाग्र करना चाहिये ॥२६॥ अखंडानन्द आत्मा जो अपना स्वस्वरूप है उसको जानकर बाहर और भीतर सदानन्द रस का आस्वाद होता है ॥२७॥ बोध इस वैराग्य का फल है, बोध का फल उपरति है और उपरति का फल स्वानंद के अनुभव से होने वाली शांति है ॥२८॥ उत्तर के अभाव से पूर्व का रूप निष्फल है, इन सब से निवृत्ति और परम तृप्ति ये ही आनन्द की कारण रूप हैं ॥२६॥ माया रूपि उपाधि से युक्त, जगत् का कारण रूप, सर्वज्ञत्वादि लक्षण वाला, परोक्ष और सत्यादि लक्षण वाला तत्पद है ॥३०॥ जो अन्तःकरण वाला चैतन्य 'मैं' ऐसे विषयपने से प्रतीत होता है, वह त्वंपद का वाच्यार्थ है ॥३१॥ माया तथा अविद्या जो ईश्वर और जीव की उपाधि हैं, उनका नाश होने से ब्रह्म का अनुभव होता है ॥३२॥ इस प्रकार वेदान्त वाक्यों से प्रतिपादन किये हुये अर्थ का जो अनुसंधान है वह श्रवण है, युक्ति से संभावितपने का जो अनुसंधान है वह मनन है ॥३३॥ और संशय से रहित हुये अर्थ में जो चित्त की एकाग्रता का होना है वह निदिध्यासन कहलाता है ॥३४॥ ध्याता और ध्यान का त्याग करके ध्येय का विषय करने वाली निर्वात स्थान में दीप शिखा के समान स्थिरचित्त की जो अवस्था है, वह समाधि कहलाती है ॥३५॥ जब तक अज्ञान होता है तब तक ही सब वृत्तियां होती हैं, आत्म चिन्तवन से सब उत्थान वृत्तियां रुक जाती हैं ॥३६॥ इस अनादि संसार में करोड़ों प्रकार के कर्म संचय हो रहे हैं तो भी जब शुद्ध (आत्म) धर्म की वृद्धि होती है तब सब लय को प्राप्त हो जाते हैं ॥३७॥ योग वाले योगी को जब धर्म मेघ रूप समाधि की प्राप्ति होती है तब धर्म रूप अमृत की हजारों धारायें वर्षती हैं ॥३८॥ सब वासना जल का विशेष लय होजाता है और पाप पुण्य रूप जितने कर्मों का संचय हुआ होता है वे सब मूल सहित नाश हो जाते हैं ॥३६॥ वाक्यों का प्रतिबंध रहित सत्य भास होता है और हाथ में आमला हो इस प्रकार अपरोक्ष बोध की उत्पत्ति होती है ॥४०॥ भोग्य पदार्थों में वासना की उत्पत्ति न हो, यह वैराग्य की अवधि है, अहंता का उदय न हो, यह बोध की अवधि है ॥४१॥ लीन हुई वृत्तियों की फिर से उत्पत्ति न हो यह उपराम की अवधि है और स्थित प्रज्ञा वाले यति को सदानन्द प्राप्त होता है ॥४२॥ ब्रह्म और आत्मा की, उपाधियों को छोड़ कर, एकता करने वाला योगी निर्विकार, क्रिया रहित, ब्रह्म में लीन वृत्ति होता है ॥४३॥ ब्रह्म और आत्मा को एक विषय करने वाली विकल्प रहित चित्त की वृत्ति को प्रज्ञा कहते हैं, प्रज्ञावान् जीवन्मुक्त कहलाता है ॥४४॥ जिसको देह और इन्द्रियों में कभी अहंभाव और अन्य में 'यह' भाव नहीं होता उसको जीवन् मुक्त जानना चाहिये॥४५॥

(अपूर्ण)

मैत्रेयी उपनिषद्।

(गतांक से आगे)

तब भगवान् शाकायन्य प्रसन्न होकर राजा से कहने लगे "हे महाराज–इक्ष्वाकु वंश में श्रेष्ठ बृहद्रथ! तू आत्मज्ञानी है, कृत कृत्य है, तू मरुत इस नाम से प्रसिद्ध है, तेरे आत्मा का वर्णन इस प्रकार है:— तू देख कि जो शब्द स्पर्श वाले अर्थ हैं, वे अनर्थ हों इस प्रकार शरीर में स्थिति करके रहते हैं, इन शब्दादि अर्थों में जो आसक्त है, वह भूतात्मा परम पद का स्मरण नहीं कर सकता (१) तप के सामर्थ्य से सत्व की प्राप्ति होती है, सत्व से मन की प्राप्ति होती है, मनसे आत्म प्राप्ति होती है और आत्म साक्षात्कार से पुनरावृत्ति नहीं होती। (२) दूसरे जैसे लकड़ी रहित अग्नि अपनी उत्पत्ति विषे लय हो जाता है, तैसे ही वासना का क्षय होने से चित्त अपनी योनि में लय हो जाता है (३) जब मन अपने स्थान में शांति को प्राप्त होता है तब सत्य प्रति गमन करता है परन्तु जब वह इन्द्रियों के विषयों में मुग्ध होता है तब कर्म के वश अनृत ऐसा होता है। (४) यह चित्त ही संसार है, इस का प्रयत्न से शोधन करना चाहिये, जब चित्त तन्मयता को प्राप्त होता है, तब वह सनातन मार्ग का अवलम्बन कहलाता है। (५) चित्त के प्रसाद से शुभाशुभ कर्म का नाश होता है, जिसकी स्थिति प्रसन्न आत्मा में है, वह अव्यय सुख को भोगता है। (६) जब प्राणी का चित्त आसक्ति वाला होता है, तब वह विषयों में लुब्ध होता है, जब ब्रह्म में आसक्त होता है, तब वह बंधन से मुक्त होता है (७ हृदय कमल में परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। यह परमात्मा साक्षी रूप है और शुद्ध चित्त वाले को परम प्रेम का विषय है (८) वह मन और वाणी का अविषय है। वह अक्षय रूप है, सत्ता मात्र प्रकाश का एक प्रकाश रूप है और भावना का अतिक्रमण करने वाला है (९) वह हेय और उपादेय से रहित है और सामान्य विशेष भावों से रहित है, वह ध्रुव, अत्यंत गम्भीर, तेज और तम से रहित, संकल्प का अभाव रूप, आभास से रहित और मोक्ष स्थान रूप है। (१०) वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला सत्य रूप, सूक्ष्म, विभुरूप, अद्वितीय, आनन्द का सागर रूप, परम रूप, सोऽहमस्मि इस नाम वाला प्रत्यक् और संशय से रहित है। (११) आनन्द रूप स्वाश्रय में रहने वाला, आशारूपी पिशाचिनी का नाश करने वाला, और सब प्रकार के संग से रहित ऐसे मुझमें जगत् को माया रूप से देखने वाले जंतु किस प्रकार प्रवेश कर सकें? (१२) वर्णाश्रम और आचार से युक्त अज्ञानी अपने २ कर्मके अनुसार फल प्राप्त करते हैं, जो वर्णादि धर्मों का त्याग करता है वह पुरुष स्वानंद से तृप्त होता है। (१३) वर्णाश्रम धर्म और अवयव युक्त अपना शरीर आदि और अंत में व्यर्थ है। अपनी तथा पुत्रादि की देह में जो अभिमान से रहित होता है, वह सुख करने वाले अनंत में स्थिति करता है। (१४) ॥ ४ ॥

दूसरा अध्याय।

एक समय मैत्रेय नाम के मुनि कैलाश में गये, वहां जाकर महादेव से कहने लगे "हे भगवन्! मुझे परम तत्व के रहस्य का उपदेश कीजिये।" महादेव बोले "देह देवता रूप स्थान है, वह जीव और शिव रूप है। अज्ञान रूपी निर्माल्य का त्याग करना चाहिये और 'सोऽहं' (वह और मैं एक हूं) इस प्रकार की भावना से पूजन करना चाहिये। ॥१॥ अभेद का साक्षात्कार ज्ञान रूप है, सब प्रकार के विषयों से रहित होना ध्यान है, मन से दोषों का त्याग करना स्नान रूप है और इन्द्रिय निग्र[illegible] करना शौच रूप है ॥२॥ उसको ब्रह्म रूप अमृ[illegible] की कामना करनी चाहिये, देह के रक्षण अर्थ [illegible] भिक्षा करना चाहिये और द्वैत से रहित ऐसे एकान्त स्थान में रहना चाहिये। ॥३॥ इस प्रकार बुद्धिमान् को चलना चाहिये, इस प्रकार करने से मुक्ति होती है, माता पिता से उत्पन्न मरण ध[illegible] वाला शरीर है॥४॥ वह सुख दुखका स्थान रूप [illegible] अपवित्र होने से स्पर्श करके स्नान करना चाहिये यह देह धातुओं से बना है, रोग वाला है, पाप क[illegible] आश्रय और अशाश्वत है ॥५॥ वह विकार और आकार से पूर्ण है, उसका स्पर्श करके स्नान

करना चाहिये, इसमें से स्वाभाविक रीति से ही उत्पन्न हुये मलों का नव द्वारों से स्राव हुआ करता है ॥६॥ वह दुर्गंधि युक्त मल वाला है, उसको स्पर्श करके स्नान करना चाहिये, माता पिता सूतक में हैं, ऐसे संबन्ध रहित ही जन्म है ॥७॥ मरण अशौच वाला भी देह है, उसका स्पर्श कर के स्नान करना चाहिये, यह मैं हूं और यह मेरा देह है इस रीति के अभिमान वाला शरीर है और विष्टा, मूत्र, राल आदि दुर्गन्धि का त्याग करने वाला है ॥८॥ लौकिक रीति से वह मृत्तिका और जल से शुद्ध और पवित्र होता है परन्तु वास्तविक रीति से तो शरीर चित्त की शुद्धि से शुद्ध होता है, तीनों प्रकार की वासनाओं के क्षय से वह शौच होता है, ज्ञानरूपी मृत्तिका और वैराग्य-रूपी जल से धोने से देह पवित्र होता है ॥९॥ भिक्षारूप अद्वैत भावना है और द्वैत भावना भक्षण करने योग्य नहीं है, गुरु और शास्त्र का कथन किया हुआ भाव भिक्षुक की भिक्षा कहलाती है ॥१०॥ सन्यास ग्रहण कर के सन्यासी अपने देश को छोड़ता है, जैसे चोर जेलखाने से छूट कर दूर बसता है ॥११॥ अहंकार-रूपी पुत्र का, संपत्-रूपी भाई का, मोह-रूपी मंदिर का और आशा-रूपी पत्नी का जब त्याग करने में आता है, तब अवश्य मुक्त होता है ॥१२॥ मोह करने वाली जिसकी माता मर गई है, ज्ञान-रूप जिसका पुत्र उत्पन्न हुआ है, जिसको ये दो प्रकार के शौच प्राप्त हुये, उसको संध्या क्यों करनी चाहिये ? ॥१३॥ हृदयाकाश में चित्त-रूपी सूर्य सर्वदा प्रकाशता है, अस्त, उदय से रहित है, तो संध्या को क्यों करना चाहिये ॥१४॥ सब एक और अद्वय-रूप है, गुरु के उपदेश से जिसको इस प्रकार निश्चय हुआ है, वह ही एकांत स्थान है, मठ अथवा अन्य वन की आवश्यकता नहीं है ॥१५॥ जो संशय भाव रहित है, उसको मुक्ति है परन्तु जो संशय वाला है, उसको एक जन्म में अथवा अनेकों जन्मों में भी मुक्ति नहीं है, इस कारण विश्वास रखना चाहिये ॥१६॥ कर्म का त्याग यह संन्यास नहीं है, वाणी के कथन से संन्यास नहीं है, जीवात्मा और परमात्मा की एकता होना, यही संन्यास है ॥१७॥ सब प्रकार की एषणायें जिसको वमन किये हुये भोजन के समान हैं, उसका संन्यास में अधिकार है, जो देहाभिमान रहित है ॥१८॥ जब मन से सब वस्तुओं में वैराग्य हो तब अधिकारी संन्यास धारण करे नहीं तो वह पतित होता है ॥१९॥ धन की इच्छा से, अन्न और वस्त्र की इच्छा से, और प्रतिष्ठा प्राप्त होने के निमित्त जो संन्यास लेता है, वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है और उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती ॥२०॥ तत्व का चिंतन उत्तम है, शास्त्र का चिंतन मध्यम है, मंत्र का चिंतन अधम है और तीर्थों का भ्रमण अधम से भी अधम है ॥२१॥ जैसे वृक्ष की शाखा के प्रतिबिम्ब में लगे हुये फल का स्वाद वृथा है, तैसे ही मूढ़ को अनुभव बिना ब्रह्मानन्द वृथा है ॥२२॥ जिस यती की मधुकरी-रूप माता है, वैराग्य-रूप पिता है, श्रद्धा-रूप स्त्री है, ज्ञान-रूप पुत्र है, वह मुक्त है, उसका त्यागना न चाहिये ॥२३॥ धन में जो बड़े हैं, वय में जो बड़े हैं, तैसे ही जो विद्या में बड़े हैं, वे सब ही जो ज्ञान में बड़ा है, उसके शिष्य और शिष्य के शिष्य-रूप हैं ॥२४॥ जिसका चित्त माया करके मूढ़ है और आत्म-रूप मुझको पूर्ण-रूप से जिसने प्राप्त नहीं किया तथा देवता और कौवे के समान लोभ प्राप्त उदर को पूर्ण करने के लिये घूमता है उसको धिक्कार है ॥२५॥ पाषाण, सुवर्ण, मणि और मृत्तिका से बनीहुई देह की बाह्य पूजा मुमुक्षुओं को पुनर्जन्म और भोग को देने वाली है, इसलिये यति को अपने हृदय में ही अर्चन करना और पुनर्जन्म न हो इसलिये बाह्यार्चन का त्याग करना चाहिये ॥२६॥ समुद्र में पानी से भरा हुआ घट भीतर और बाहर से पूर्ण है, तैसे ही आकाश में रहने वाला घट भीतर के भाग में शून्य है और बाहर के भाग में शून्य है ॥२७॥ भाव ग्राह्य-रूप से तू मत हो, तैसे ही ग्राहक आत्मा-रूप से मत हो, सब भावनाओं का त्याग कर के शेष-रूप से रहने वाला तू हो ॥२८॥ वासना त्याग के साथ द्रष्टा, दर्शन-दृश्य का त्याग कर, दर्शन में प्रथम से ही आभास-रूप से रहे हुये आत्मा का ही अवलंबन कर ॥२९॥ सब संकल्प शांत होने से शिला के समान जो स्थिति है, वह जाग्रत् और निद्रावस्था से रहित है और वह ही श्रेष्ठ स्थिति है ॥ ३० ॥

अपूर्ण ।

Registered No. A.860

ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ ⟩ ज्येष्ठ सं० १९७८ जून १९२१ ⟨ अंक ८

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्ति र्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

मुद्रक—[illegible] शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। विना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) लिया जायगा। नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

सूचना

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द .... मूल्य रु० ३।–)
,, द्वितीय ,, ,, ,, ३।–)
,, प्रथम ,, विना जिल्द ,, ३)
,, द्वितीय ,, ,, ,, ३)
डाक महसूल ग्राहकों को देना पड़ेगा। ,, –३)

प्रकाशक।

पुस्तक ३ | ज्येष्ठ सं० १९७८। जून १९२१ | अंक ८

❀ हितोपदेश। ❀

हरि गीत छन्द।

(१)

हो तीव्र इच्छा ज्ञान की तो त्याग लज्जा दीजिये।
लज्जा जगत् की है दुखद नहिं भूललज्जा कीजिये॥
सीधे सरल मन कर्म वाणी छल कपट से मुक्त हो।
संसार की जड़ काटके निज आत्म में अनुरक्त हो॥

(२)

माता पिता बूढ़े बड़े गुरु पूज्य हैं सन्मानिये।
बाधा करें परमार्थ में तो त्याज्य पांचों मानिये॥
हो तीव्र इच्छा मोक्ष की माता पितादिक छोड़िये।
निज आत्मके कल्याण हित नाता सभी से तोड़िये॥

(३)

धन धर्म अरु व्यवहार जग निर्वाह हित व्यापार हैं।
जो विघ्न डालें मुक्ति में,तीनों हि शिर के भार हैं॥
बाधक तुझे हों दीखते तो शत्रु उनको मान कर।
दे त्याग जल्दीसे उन्हें निज आत्म का कल्याणकर॥

(४)

पूरा न हो वैराग्य यदि कल्याण की नहिं आश हो।
तो त्याग मत जबतक तुझे नहिं आत्ममें विश्वास हो॥
नहिं बुद्धि अपनी कामदे तो शरण गुरुकी लीजिये।
निजबुद्धिकापरित्यागकरविश्वास उनपर कीजिये॥

(५)

कल्याण हो यदि इष्ट तो मत बात उनकी मानिये।
सन्मार्ग का उपदेश कर्ता एक सद्गुरु जानिये॥
जग के कुटुम्बी जगत् में फंसना तुम्हें बतलांय हैं।
कहते अहितको परमहित हितको अहित जतलांय हैं॥

(६)

काशी नहीं है दूर कुछ कुत्ता बहुत ही तेज है।
दिन तीन में जावे पहुंच यात्रा अगर करना चहै॥
पर जाति भाई अन्य कुत्ते मार्ग उसका रोकते।
जाने नहीं देते उसे, हैं देखते ही भौंकते॥

(७)

मारें, लड़ें, घायल करें, दो पैर भी जाने न दें।
रोटी मिले सो छीन लें, पानी तलक आने न दें॥
यात्रा करे कैसे भला चलने हि नहिं जब पाय है।
दुर्भाग्य यों परतंत्र हो, रस्ते हि में मरजाय है॥

(८)

जिसजातिसे, जिसदेशसे, जिसअर्थसे, जिसमित्रसे।
कल्याण अपना हो नहीं, तज दो उसे ही दूर से॥
प्रिय! साथ उनका छोड़िये, संबंध उनसे तोड़िये।
सद्गुरु चरणकी ले शरण, शुचि प्रेम उनमें जोड़िये॥

(९)

कीड़ें नरक के नरक में सुख मानि आयु बितांय हैं।
'आओ नरकमें आप भी,' सबको यही सिखलांय हैं॥
निन्दा करें या लोभ दें, मत कान उस पर दीजिये।
नहिं श्रेय जिस में आपका, क्यों कार्य ऐसा कीजिये॥

(१०)

इस देह का अभिमान यह बंधन बड़ा मजबूत है।
तोड़ें उसे उसके लिये संसार कच्चा सूत है॥
कौशल्य! उसको तोड़दे, नहिं देरका कुछ कामहै।
टूटा जहां तहँ जान ले, तू आप ही सुख धाम है॥

कर्तव्याकर्तव्य।

करने योग्य को कर्तव्य और न करने योग्य को अकर्तव्य कहते हैं। योग्य किस को कहना और अयोग्य किस को कहना इस में अनेक बार भ्रम हुआ करता है। कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में विद्वान् पुरुषों से भी भूल होना संभव है क्योंकि उसके निर्णय करने के लिये शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। कर्तव्य और अकर्तव्य में कर्ता भाव अवश्य रहता है। कर्तव्य या अकर्तव्य कोई भी कर्ता भाव रहित नहीं है। कर्तव्याकर्तव्य के विवेचन में अनेक शास्त्र लिखे गये हैं। कर्तव्याकर्तव्य, देश, काल, वस्तु, प्रसंग, जाति, आश्रम, अधिकार आदिक से सबंध रखता है इस लिये यथार्थ रीति से यह निश्चय नहीं हो सका कि कौनसा कर्म कर्तव्य है और कौन सा अकर्तव्य है क्योंकि ऐसा निश्चय सामान्य निश्चय है और देश काल आदिक उपरोक्त संयोगों में पलट जाता है। एक कार्य जो एक देश में कर्तव्य समझा जाता है दूसरे देश में वह ही अकर्तव्य हो जा सकता है। जो कार्य एक काल में योग्य समझा है वह ही कार्य वैसा काल न होने से अयोग्य ठहरता है। जैसेः—काश्मीर आदिक अत्यंत शीतल प्रदेशों में मांस आदिक का भक्षण अकर्तव्य रूप नहीं है। इसी प्रकार आपत्ति काल में वर्णाश्रम की मर्यादा छोड़ कर आत्म रक्षा करना कर्तव्य है। कभी कभी उत्तम वस्तु भी नीच संग में प्राप्त होने के कारण अग्राह्य हो जाती है। प्रसव समय में जब कभी गर्भ टेढ़ा पड़ जाता है और किसी प्रकार बाहर नहीं निकल सक्ता तब शस्त्र से काट कर निकालना कर्तव्य है अथवा मार्ग में मिले हुये डाकुओं से छल करके बच जाना अकर्तव्य नहीं है। ब्राह्मण जाति-योग्य ब्राह्मण को दान लेना उचित है और अन्य वर्णोंके लिये अकर्तव्य है। गृहस्थाश्रमी को अग्निहोत्रादिक कर्म कर्तव्य है और यती सन्यासियों को अकर्तव्य है। अधिकार के अनुसार अधिकारियों का किया हुआ कर्म कर्तव्य है और अनाधिकारियों के लिये वह ही अकर्तव्य है। राजा अधिकारी होने से दंड दे तो योग्य है और यदि कोई सामान्य मनुष्य अधिकार बिना किसी को कैदकर रक्खे तो अयोग्य है—अकर्तव्य है। इस प्रकार विचार करने से अनेक प्रकार का भेद देखने में आता है इसलिये कर्तव्याकर्तव्य का यथार्थ निर्णय करना अति गहन विषय है। जैसे वैदिक शास्त्र में बताई हुई प्रत्येक औषधि अपना अपना कार्य करनेमें समर्थ है तो भी देखा जाता है कि जिस रोग की जो औषधि है वह उसी रोग पर देने से प्राय फायदा नहीं करती इस का कारण यह ही है कि सब संयोगों का यथार्थ विचार न किया गया इसलिये रोग का निर्णय न हुआ। इसी प्रकार कर्तव्याकर्तव्य से निर्णय करने में उपरोक्त सब संयोगों को विचार करना आवश्यक है।

निर्णय करने में अयोग्यता के कारण धर्म अधर्म रूप और अधर्म धर्म रूप होजाया करता है। कर्तव्याकर्तव्य कर्म स्वरूपसे तीन प्रकारके हैं एक विहित कर्म दूसरे निषिद्ध कर्म और तीसरे कर्ता भाव की आसक्ति रहित कर्म। विहित और निषिद्ध कर्मों में कर्ता भाव होता है। लोक, शास्त्र और अपने शुद्ध अन्तःकरण तथा सब संयोगों सहित जो इष्ट फल दाता अथवा अनिष्ट फल का रोकने वाला होता है उसे विहित कर्म कहते हैं और इससे विरुद्ध निषिद्ध कर्म कहलाता है। विहित कर्म कर्तव्य और निषिद्ध कर्म अकर्तव्य है। कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार जगत् के सुख की प्राप्ति निमित्त अथवा जगत् के दुःखों के निवारणार्थ, या स्वर्ग प्राप्ति निमित्त किया जाता है। यह लौकिक कर्तव्याकर्तव्य का विचार है। वैराग्य पूर्वक जिनको मोक्ष की तीव्र इच्छा है ऐसे मुमुक्षुओं को कर्तव्य कर्म अंतःकरण की शुद्धि का फल रूप होता है। मनुष्य शरीर विहित कर्म करने या निषेध कर्म न करने के लिये ही केवल नहीं है किन्तु अधिकारादिक के अनुकूल विहित कर्म करते हुए

कर्त्ता भाव की आसक्ति छोड़ने के निमित्त है। लौकिक कर्तव्य से विधि निषेध कर्म जिन से कर्मों के भावों की निवृत्ति हो ऐसे कर्म करना विशेष महत्व का कर्त्तव्य है क्योंकि ऐसा कर्त्तव्य लौकिक होते हुये भी लौकिक निवृत्ति करने में और आत्म स्वरूप के बोध में सहायक होने से उच्च है। मनुष्य जन्म लेकर जिस प्रयत्न से आत्म बोध की प्राप्ति हो ऐसा प्रयत्न सर्वोच्च कर्तव्य है इसके सिवाय अन्य कर्तव्य मायिक और कथन मात्र है। वास्तविक कर्तव्य वह ही है जिस के करने से कृत कृत्य होजाय, जिस के करने के पश्चात् और कुछ कर्तव्य शेष न रहे। संस्कारी पुरुष विवेक और वैराग्य द्वारा अंतःकरण की शुद्धि करके इस कर्तव्य को पूर्ण करते हैं। उन्हीं का मनुष्य जन्म लेना सार्थक होता है। जब तक इस अंतिम कर्तव्य के करने के योग्य न हो तब तक अनासक्त कर्म करने रूप कर्तव्य भाव अथवा शास्त्र विधि युक्त भाव से कर्तव्य कर्म अवश्य करना चाहिये क्योंकि यह आत्म बोध रूपी छत पर चढ़ने की सीढ़ी है। छत पर चढ़ जाना आत्म स्वरूप की प्राप्ति है। जब मनुष्य जन्म लेकर भी स्वयं बोध को प्राप्त करना रूप जो मनुष्य का कर्तव्य है उस को प्राप्ति न किया जाय तब अन्य पशु आदि योनियों में और मनुष्य में कुछ भी अंतर न रहे। मनुष्य को प्राप्त हुई विशेष बुद्धि का सदुपयोग करना चाहिये। मनुष्य को ऐसा कर्म- भाव न करना चाहिये, जिस से मनुष्य जन्म प्राप्ति रूप पूर्व की कमाई का भी नाश हो जाय, मनुष्य जन्म के सुख-शान्ति को न ले सके और आगे क्षुद्र योनियों की प्राप्ति हो। मनुष्य जन्म उच्च कमाई करने के योग्य है। यदि गधे के समान उस पर बोझा ही ढोया तब तो उसको मनुष्य के बदले पशु होना ही अच्छा था। शास्त्रकार बारम्बार डंके की चोट पुकार रहे हैं कि मनुष्य जन्म संसार के अनित्य सुख भोगने के निमित्त नहीं है जो उसे संसार के भोग निमित्त ही मानते हैं उन्हें गुप्तेन्द्रिय के कीट सिवाय क्या कहा जाय उनके लिये संसार में उत्पन्न होने का वह ही स्थान है। 'नरक का कीड़ा नरक में ही खुश रहता है' यह कहावत ऐसे लोगों के लिये यथार्थ ही है।

मेवाड़ का बाल राजा उदयसिंह जो पांच वर्ष की उमर का था, पन्ना नाम की एक धात्री की देख भाल में रक्खा गया था। वह विश्वास पात्र और समय पर बुद्धि पूर्वक कार्य करने वाली थी। जब तक उदयसिंह योग्य उमर का न हो तब तक सरदार लोगों ने मेवाड़ का राज कार्य पृथ्वीराज की दासी के पुत्र बनवीर को सौंप दिया था। बनवीर बाल राजा के नाम से राज्य कर रहा था वह थोड़े समय तक काम चलाऊ राजा बनना नहीं चाहता था उसे सच्चा राजा बनने की महान् इच्छा उत्पन्न हुई परन्तु जब तक राजकुमार उदयसिंह जीवित रहे तब तक उसकी इच्छा का सफल होना अशक्य था। उस की इस इच्छा ने राक्षसी का स्वभाव धारण किया। उसने राजकुमार को मार डालने का निश्चय किया। यह कार्य दूसरे के हाथ से कराने में बात फैल जाती और क्षण भर में बनवीर के जीवन का अन्त आजाता इसलिये उसने अपने हाथ ही से राजकुमार के मारने का निश्चय किया। वह इस बात को भी भलीप्रकार जानता था कि जो मेरे इस मर्म आशय की राजपूतों को खबर पड़ जायगी तो मैं यदि पाताल में भी जा छुपूं तो भी राजपूत मुझे ढूंढ कर मेरा शिर बिना काटे नहीं रहेंगे। यदि किसी प्रकार राजकुमार के वध का आरोप किसी दूसरे पर रक्खा जाय और मैं निर्दोष ठहरूं तो किसी न किसी उपाय से सरदार लोगों का मन जीत कर मैं मेवाड़ के सिंहासन पर आरूढ़ हो सकता हूं। बनवीर ने इस अपने विचार को किसी पर प्रगट न किया। वह अपने घोर उद्देश्य को राज महल में ही रह कर पूर्ण किया चाहता था। वहां उस के इस पैशाचिक विचार

का एक साक्षी था। वह आदि से अन्त तक उस के विचारों को जानता था। वह जाति का हज्जाम था। उसके दादा परदादा से ही राज सेवा होती चली आती थी। पन्ना धात्री की समान वह भी अपने प्राणों से अधिक राज कुटुम्ब में प्रेम रखता था। एक सायंकाल को वह हज्जाम घबराता हुआ पन्ना के पास जाकर खड़ा हुआ। पन्ना बोली "ठाकुर! क्या घबराहट है? क्या कुछ अशुभ वर्त्तमान है?" हज्जाम बोला—"बाई! अत्यन्त अशुभ! थोड़ी ही देर में दुष्ट बनवीर राजपुत्र को मारने के लिये आने वाला है।" पन्ना बोली "मुझे इस बातकी प्रथम ही शंका थी! मैं अबला हूं! क्या कर सकती हूं? परन्तु राजकुमार की किसी प्रकार रक्षा करनी चाहिये!" हज्जाम बोला—"हम क्या कर सकते हैं? तू कोई युक्ति बता, मैं तेरी आज्ञानुसार चलने को तैयार हूं!" पन्ना बोली—"तू किसी प्रकार राजकुमार को बाहर लेजा।" हज्जाम बोला—"आज तो, सब स्थानों पर दूनां चौकी पहरा लग रहा है।" पन्ना बोली—"एक बड़ी टोकरी में राजकुमार को रख कर, ऊपर कूड़ा डाल कर महल के बाहर लेजा।" हज्जाम बोला—"बनवीर अभी आता है! राज-कुमार को न देख कर वह उसकी खोज करेगा।" पन्ना बोली—"मेरा पुत्र राजकुमार की उमर का है, मैं उसके बदले उसे बनवीरको दिखला दूंगी।" हज्जाम यह बात सुन कर स्तब्ध हो गया, थोड़ी देर में बोला "पन्ना बाई! यह क्या कहती हो!" पन्ना बोली—"मैं अपना कर्त्तव्य करती हूं! इस में विशेषता कुछ नहीं है!" हज्जाम ने बहुत सम-झाया परन्तु पन्ना ने उसकी एक न सुनी! तब हज्जाम राजकुमार के बचने का और उपाय न देख कर कूड़े की टोकरी में रख कर उसे महल के बाहर ले गया।

थोड़ी देर में जहां पन्ना बैठी थी वहां किसी के आने की आवाज़ सुनाई दी। पन्ना ने अपने पुत्र को राजपुत्र के वस्त्र पहना कर झूलने में सुला दिया था। काल स्वरूप बनवीर आ पहुंचा और माया दर्शक शब्दों से बोला "पन्ना! राज कुमार की प्रकृति कैसी है? मुझे उसे देखने की इच्छा है, वह कहां है?" पन्ना मुख से कुछ न बोली, झूलने की तरफ अंगुली कर दी। बन-बीर ने जा कर पुत्र के कटार मारी! उसके मरने की चीख सब महल में फैल गई। पन्ना से सुबह पूछा गया कि राज कुमार का वध किसने किया परन्तु उसने स्पष्ट कुछ न कहा। सब समझ तो गये ही थे कि यह कार्य बनवीर दुष्ट सिवाय और किसी का नहीं है। पश्चात् पन्ना जहां राज-कुमार को रक्खा था वहां चली गई और उसका पालन पोषण यथा पूर्व करने लगी। जब राजकुमार युवा अवस्था को प्राप्त हुआ तब सब सरदारों ने मिल कर उसे राज गद्दी दी और बनवीर को चित्तोड़ में से निकाल दिया।

यह एक लौकिक दृष्टांत है तो भी इस से कर्तव्यता की उच्चता प्रगट होती है। धात्रीका कार्य देव कार्य था। उस समय उसने अपने कर्तव्य को ठीक समझा था। अपने लड़के से राजकुमार की कीमत विशेष समझी थी। राजकुमार के हित के लिये अपने पुत्र का बलिदान स्वामी भक्ति समझी थी। उस का एक पुत्र जीता रहने से जो फल मेवाड़ को होता, उससे अत्यंत अधिक फल राज कुमार के जीते रहने से हुआ। अपने पुत्र को मारने के निमित्त अंगुली से निर्देश करने के लिये कौन सी माता का बज्र का हृदय हो सक्ता है? धन्य है! पन्ना! धन्य है! प्रसंगानुसार कर्तव्य का निर्णय करने में हे पन्ना! तू पन्ना रूप रत्न ही निकली!

महाभारत के युद्ध के प्रसंग में कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को दिया हुआ उपदेश अत्यंत सूक्ष्म और सानन्दा-श्चर्य को प्राप्त करने वाला है। अर्जुन शूरवीर विद्वान् और प्रतिष्ठित हो कर भी कर्तव्याकर्तव्य

का निर्णय करने में चूक गया था। जितनी बातें उसने कर्तव्य रूप से समझी थीं वे सब ही श्री-कृष्ण के उपदेश में अकर्तव्य रूप ठहरीं। जो जो उसने कर्तव्य समझा था सब अकर्तव्य निकला। कर्तव्याकर्तव्य का सूक्ष्म विचार करने वाला श्री मद्भगवद्गीता के समान कोई ग्रन्थ नहीं है।

युद्ध प्रसंग में अर्जुन ने यह अकर्तव्य समझा था:—कुटुम्ब, गुरु, पितामह, मित्रादि का वध। इस प्रकार युद्ध करना ही अकर्तव्य समझा था। भगवान् ने कुटुम्ब के वध से नीति के वध की विशेषता समझाई थी। जो अर्जुन युद्ध न करता तो नीति का वध होता। राजाओं के लिये राज्य नीति के सामने कुटुम्ब नीति की विशेषता नहीं है। गुरु, मित्र, पितामह आदिक का वध दोष रूप अवश्य है परन्तु जिस प्रसंग में अर्जुन दोष रूप समझता था उस प्रसंग में दोष रूप न था किन्तु वध न करना ही दोष रूप था। कुटुम्ब,गुरु आदिक के वध किये बिना नीति बनी रहती तो सब से ही श्रेष्ठ था परंतु ऐसा कोई उपाय न था इसलिए और तरफ दृष्टि न रख कर राज धर्म के प्रतिपालन का उपदेश भगवान् ने दिया। यह उपदेश कर्तव्य के अत्यंत रहस्य से भरा हुआ था। जो सामान्य दृष्टि से दूषित समझा जाता है, शुद्ध बुद्धिमें वह ही उपदेश अदूषित ठहरता है।

जो लोग महाभारत के युद्ध के बाद आर्य प्रजा की अधोगति का कथन करते हैं वे लोग अपनी तुच्छ बुद्धि का प्रदर्शन कराते हैं। जिन बातों का निर्णय करना हो उनका निर्णय देश, काल और प्रसंगादिक पूर्ण विचार करके करना चाहिए। अनेक प्रसंगों से होने वाले कार्य का दोष एक पर लगाना मूर्खता है। महाभारत के युद्ध से जो नीति निकलती है वह आर्य प्रजा की राजनीति शिक्षा का महान् स्वरूप है। महाभारत जैसे प्रत्यक्ष है इसी प्रकार रूपक भी है। जिन लोगों में कर्तव्याक-र्तव्य के निर्णय करने की सूक्ष्म बुद्धि नहीं है उनका शीघ्र नाश होता है -- जल्दी भ्रष्ट होते हैं। गीता में लौकिक कर्तव्य का उपदेश करते हुए आंतरिक आत्म भाव भरा हुआ है जो पारमार्थिक स्वरूप है इसलिये प्रत्येक मनुष्य को लौकिक शुद्ध बुद्धि से कर्तव्य करते हुये भी पारमार्थिक लक्ष त्यागना न चाहिए क्योंकि पारमार्थिक लक्ष रहित कर्तव्य पूर्ण कर्तव्यता को प्राप्त नहीं हो सकता।

लोक और शास्त्रानुसार भी बहुत से प्रसंग ऐसे आते हैं जो लोक और शास्त्र के विरुद्ध होते हैं और कर्तव्यरूप गिने जाते हैं। उनको कोई बुरा नहीं कहता और शास्त्रानुसार उनका दंड भी नहीं मिलता। ध्रुव, प्रह्लाद और परशुराम आदिक का वर्ताव लोक निंद्य होते हुये भी कोई उन लोगों की निंदा नहीं करता। उच्च फल ही कर्तव्य होता है। यदि अकर्तव्य भी उच्च फल देने वाला हो तो उच्च फलके सामने अकर्तव्यका थोड़ा दुष्ट फल दब जाता है और कर्ता को विशेष फल की प्राप्ति होती है। जिसके बाल बच्चों का कोई संभालने वाला न हो अथवा जिस किसी ने नवीन विवाह किया हो उस के बाल बच्चे अथवा स्त्री को छोड़ देना लौकिक और शास्त्रिक दोनों दृष्टि से दोष रूप है परन्तु छोड़ने वाला यदि तीव्र वैराग्य वाला हो और आत्म प्राप्ति रूप फल प्राप्त करले तो उसको वह कार्य दोष रूप नहीं है। घर, कुटुम्बा-दिक का ऋण न चुकाते हुए यदि कोई त्यागी बन जाय और त्याग का फल प्राप्त न करे तो उसको वह दोष अवश्य लगता है। जैसे मुमुक्षुता में कर्तव्याकर्तव्य का विचार आवश्यक है ऐसे ही व्यवहार में भी आवश्यक है। महाभारत में एक बिलाव और ऊंदर का दृष्टांत इस प्रकार है:—

एक भारी अरण्य में एक विशाल वटवृक्ष था। अनेक पक्षियों और प्राणियों का समुदाय उस पर निवास करता था। उसके मूलमें एक ऊंदर रहा करताथा,जिसने अपनी गुफाके चारों तरफ सैकड़ों द्वार बना रक्खे थे। वह पक्षियों के गिरे हुये अन्न

का आहार करके अपना जीवन आनन्द से व्यतीत करता था। पक्षियों को खाने वाला एक बिलाव भी उस वृक्ष में रहता था। ऊंदर को बिलाव से बहुत सावध रहना पड़ता था। उस बन में एक चांडाल भी आकर रहने लगा था। वह रात्रि के समय स्नायु के तंतुओं से बने हुये जाल को पक्षियों के पड़कने को बिछा जाया करता था और प्रातःकाल जो प्राणी उसे जाल में फंसे हुए मिलते थे उनको वह मार कर खा जाया करता था। बिलाव बहुत हुशियारी से रहा करता था तो भी वह एक दिन जाल में फंस गया। ऊंदर अपने शत्रु को जाल में फंसा हुआ देख कर निर्भयता से घूमने लगा। उसने घूमते २ उस जाल में रक्खा हुआ मांस देखा और ऊपर चढ़ कर उसे खाने लगा। इतने में उसे अपना एक और शत्रु आता हुआ दीखा। वह एक नौला था, जो ऊंदर की बास से उसके पास आ गया था। जिस फंदे पर ऊंदर चढ़ा हुआ था, उसके नीचे आकर नौला मुख फाड़ कर ऊंदर को खा जाने की ताक में था। ऊंदर ने ऊपर की तरफ देखा तो मालूम हुआ कि एक घुग्घू उसे खाजाने को बैठा है। ऊंदर के ऊपर घुग्घू नीचे नौला इस प्रकार विचारा दोनों तरफ से शत्रुओं के बीच में फंस गया। वह जी में विचारने लगा। "अरे! अब क्या करूं? बड़ी आपत्ति में फंसा! चारों तरफ भय ही भय दीखता है! मेरा मरण आ पहुंचा! इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है? जिसमें मेरा हित हो। ऊपर, नीचे शत्रु खड़े हैं! फंदा टूट जाय तो एक तरफ बिलाव भी शत्रु है! वह भी परम संकट में पड़ा हुआ है। यद्यपि वह मेरा शत्रु है तो भी मैं उसका बंधन काट सकता हूं इसलिये वह मुझ से मित्रता कर लेगा।" ऐसा विचार कर ऊंदर नम्रता पूर्वक कहने लगा "हे मार्जर! मैं तुझ से मित्रता से पूछता हूं, क्या तुझे जीने की इच्छा है? मैं और तू दोनों ही फंस गये हैं, तेरा बन्धन काटने की मुझ में सामर्थ्य है। जो तू मुझे मारने की इच्छा न करे तो तू बच सक्ता है, तू आप अपने जाल कोनहीं काट सक्ता, यदि मेरा विश्वास करके तू मुझे न मारे तो मैं तेरे पाश को अवश्य काट दूंगा। इस रीति से तेरी और मेरी दोनों की जान बच सकती है।" चतुर ऊंदर बात करते हुये भी बिलाव की चेष्टा और आकृति को देखता जाता था। बिलाव के उत्तर न देने से फिर बोला "हे बिलाव! तू और मैं एकही वृक्ष के रहने वाले हैं। मैं वृक्ष के नीचे रहता हूं, तू ऊपर रहता है, जो तू अपनी जान बचाना चाहे तो मेरे कहे हुये वचनों को स्वीकार कर, तुझे मुझको मार कर खा जाने की इच्छा अवश्य रोकनी पड़ेगी, यदि तू मुझे धोखा देकर खा जयगा तो भी तू चांडाल के मुख में अवश्य पड़ेगा।" बिलाव बोला "हे सौम्य! तू मेरे जीने की इच्छा करता है इसलिये मैं तेरी बात मानता हूं, तेरा कल्याण हो!" ऊंदर बोला "हे बिलाव! तेरे समान बलिष्ट, इस प्रकार वचन कहे, यह आश्चर्य है! जो मैं कहता हूं सो सुनः—मैं तेरे नीचे छुप कर बैठ जाऊंगा, मुझे नौले का बहुत भय है, उससे मैं बच जाऊंगा, घुग्घू का भी कुछ वश न चल सकेगा, तू मुझे मत मारियो, मैं तेरा पाश अवश्य काट दूंगा, थोड़ा धैर्य्य रखना पड़ेगा!" बिलाव ने ऊंदर का सत्कार किया। ऊंदर बिलाव पर विश्वास करके उसके पास गया और जैसे बालक निर्भय होकर माता की गोद में सोता है इस प्रकार बिलाव के पैर के पास सो गया। बिलाव के शरण में जाते देख कर ऊंदर के दोनों शत्रु नौले और घुग्घू निराश होकर चले गये। अभी कुछ रात्रि शेष थी ऊंदर जाल काटने लगा। परन्तु बहुत धीरे २ काटते देख कर बिलाव बोला "हे सौम्य! तू जल्दी नहीं करता, क्या तू अपना अर्थ सिद्ध होने से मेरी अवज्ञा करता है? चांडाल के आने से पहिले ही तू मुझे बंधन से मुक्त कर।" ऊंदर बोला "बिलाव! शान्ति रख, जल्दी न कर, घबरा मत, मैं समय को जानता हूं, समय को व्यर्थ खोने वाला नहीं हूं, जो समय से प्रथम तुझे मुक्त कर दूं तो तुझसे मुझे भय प्राप्त हो, इस-

लिये समय की राह देख, हे सखा ! तू जल्दी क्यों करता है ? मैं जिस समय चांडाल को हाथ में हथियार लेकर आता हुआ देखूंगा, उसी समय मैं तेरा पाश काट डालूंगा, उसी समय तू वृक्ष पर चढ़ जाइयो, उस समय तू अपने जीवन की रक्षा के सिवाय और कार्य नहीं करेगा और मैं दौड़ कर वृक्ष के मूल में घुस जाऊंगा। चांडाल से मुझे और तुझे दोनों को भय है, मैं तुझे चांडाल के हाथ में जाने न दूंगा, मैं अपनी रक्षा सहित तेरी जान बचाऊंगा।" बिलाव नम्रता सहित कहने लगा "हे बुद्धिशाली मित्र, तू महनत कर, जिससे हम दोनों की रक्षा हो, जो मैंने पूर्व में अज्ञान से तेरा कुछ अनिष्ट किया हो तो उसको मन में मत ला. मैं तुझसे उसकी क्षमा मांगता हूं, मुझ पर प्रसन्न हो, जल्दी कर।" ऊंदर बोला "हे बिलाव ! तू ने अपने हित के जो वचन कहे, वे मैंने सुने और अपने हित के वचन भी तुझे सुना दिये हैं।" बिलाव ने बहुत जल्दी की परन्तु ऊंदर जाल को थोड़ा काट कर बैठा रहा और जब प्रभात में उस विकृत वेष वाले, स्थूल नितम्ब वाले, बद सूरत, रुक्ष कुत्तों के समुदाय से वेष्ठित, बड़े मुख वाले और भयंकर दिखाव वाले, हाथ में हथियार लिये हुये यमदूत के समान चांडाल को देख कर भय को प्राप्त हुआ। बिलाव बोला "हे ऊंदर ! अब तू क्या करेगा ?" घुग्घू और नौला जो दूर बैठे हुये थे वे भी चांडाल को देख कर भाग गये। ऊंदर ने बहुत जल्दी की और बाकी रहे हुये जाल के तंतुओं को जल्दी से काट डाला। बिलाव वृक्ष के ऊपर चढ़ गया और ऊंदर नीचे अपने बिल में जाकर छिप गया।

इस प्रकार ऊंदर की बुद्धिमत्ता, कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से बिलाव और ऊंदर दोनों के प्राणों की रक्षा हुई। दूसरे दिन बिलाव ने ऊंदर को अपने पास बुलाने के लिये बहुत से वचन कहे परन्तु चतुर ऊंदर ने उसकी एक न सुनी क्योंकि बिलाव की स्वार्थी मित्रता वह पूर्ण रीति से समझता था। जब बिलाव के प्राण रक्षण का कोई कार्य न हो तब ऊंदर की और उसकी मित्रता होना असंभवित है। यह बात ऊंदर भली प्रकार जानता था।

समय पर क्या कर्तव्य और क्या अकर्तव्य है यह ऊंदर भली प्रकार जानता था। ऊंदर का बिल्ली के शरण में जाना सदा ही असम्भवित है परन्तु जब बिल्ली को प्राण बचाने की आवश्यकता है और ऊंदर से उसका प्राण बच सक्ता है ऐसे संयोग में वह ऊंदर को मार नहीं सक्ती, यह जान कर ऊंदर उसकी शरण में गया था। चांडाल आने के प्रथम ही ऊंदर बिल्ली को जाल से मुक्त कर देता तो बिल्ली ही ऊंदर को भक्षण कर जाती। यह जान कर ही ऊंदर ने जाल काटने में देर की थी और साथ में ऊंदर को यह भी भय था कि भागने में दूर बैठे हुये नौले और घुग्घू से भी मेरा प्राण बचना कठिन होगा। चांडाल के आने पर सबको अपने २ प्राणों की पड़ेगी। उस समय में ही भाग जाना मेरे लिये निर्भय काल है।

ऊंदर के समान कर्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार देश, काल, सामर्थ्य और प्रसंग को विचार कर करना उचित है जो इस प्रकार करता है वह अपना हित करता है अन्यथा अहित ही होता है।

इस दृष्टांत को अध्यात्मिक भावसे इस प्रकार समझना चाहियेः—ऊंदर को जीव समझो। जिस मध्य स्थिति में वह है वह मनुष्य जन्म वाली पृथ्वी है। घुग्घू को स्वर्गादि भोग समझो स्वर्गवासी दिव्य—देवता कहे जाते हैं परंतु माया के अंधेरे में ही उनके विशेष भोग होते हैं। अंधेरे में विचरने वाला—भोग करने वाला घुग्घू है। नौले को नरकवासी समझो। नरक—पृथ्वी नीचे कहा जाता है। नौला भी जमीन खोद कर नीचे रहता है। बिल्ली मृत्युलोक में मृत्यु है। जैसे ऊंदर को बिल्ली से हमेशा डरना पड़ता है इसी

प्रकार मृत्युलोक वासियों को मृत्यु से हमेशा डरना पड़ता है। जो जीव रूप ऊंदर पुण्य कर्म करे तो ऊपर रहने वाले घूग्घू रूप स्वर्ग के उदर में जाता है। नीच कर्म से नौले के पेट में जाता है और जो सचेत न रहे तो काल रूप बिल्ली ऊंदर रूपी जीव को मार खाती है। तब पृथ्वी पर रह कर आरोग्यता आदिक संभालना मृत्यु से मित्रता करना है, ऐसा करके ही युक्ति पूर्वक जीव मृत्यु के भय से मुक्त होता है—परम पद को प्राप्त होता है। जैसे बिल्ली ने मुक्त होने के बाद ऊंदर को पास बुलाने को मित्रता का नियम रखने को बहुत समझाया परन्तु ऊंदर बिल्ली के प्रलोभन में न आया। ज्ञानियों को विषय भोग, ऐश्वर्य, सिद्धि काल रूप बिल्ली का प्रलोभन है, उसके लोभ में न आना चाहिये। वैराग्य जाल मृत्यु का बंधन रूप है विवेक वैराग्य रूप जाल को फैलाता है। काल सब को बांधने वाला होने से सब का भक्षण करने वाला होने से चांडाल है। विवेक की सन्निधि में जीव मृत्यु और अपने को मुक्त करके मोक्ष पाता है।

———::०::———

अज्ञान की उत्पत्ति का प्रश्न।

जब तक घोर अज्ञान में है तब तक अज्ञान क्या है और ज्ञान क्या है, यह समझ में नहीं आता। जब कभी शास्त्र का वचन सुनने में आ जाताहै, तब इतना सीख जाते हैं कि संसार असत्य है कोई वस्तु हमेशा एक समान नहीं रहती और जब किसी को मरते देखते हैं तब विचार होता है कि हाय! इस प्रकार सब को ही मरना पड़ता है, मुझे भी मरना पड़ेगा, परन्तु संसार की असत्यता और मुझे भी मरना पड़ेगा, यह भाव हमेशा नहीं रहता। 'संसार असत्य है और मुझे भी मरना पड़ेगा' यह कहना और भाव दोनों ही तोते के समान उच्चार मात्र हैं। जिसको यथार्थ रीति से संसार असत्य ज्ञात होता है वह संसार में 'संसार सच्चा है' इस प्रकार का वर्ताव नहीं कर सक्ता। जिस को संसार वास्तविक रीति से दुःख रूप झूंठा प्रतीत होता है, उसे ज्ञान होने में विलम्ब ही क्या है क्योंकि ज्ञान होने में जो कुछ विलम्ब है, वह संसार की सत्यता ही है। जब कोई वारम्बार शास्त्र का पठन करता है अथवा मुमुक्षुओं के मुख से ज्ञान की बातें सुनता है तब वह अज्ञानी की अपेक्षा विशेष प्रकार का चालाक बन जाता है मूढ़ अज्ञानी तो कुछ न समझने के कारण दूसरे का कहा मान लेता है यद्यपि उस पर अमल नहीं कर सक्ता परन्तु जो विशेष चालाक अज्ञानी है, वह तो शास्त्र की श्रेणियों को न जानने से तर्क के जाल में फंस जाता है और तर्क से ही ज्ञान को सिद्ध करना चाहता है-तर्क से ही ज्ञान और अज्ञान की आदि को जानना चाहता है। जिस प्रकार बुद्धि के तर्क से संसारी पदार्थों का निर्णय करते हैं इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप परमात्मा का निर्णय करना चाहता है। जब कभी कोई संत पुरुष कहे कि परमात्मा का निर्णय बुद्धि से नहीं होता, आत्मा आत्मा से ही जाना जाता है तब वे कहते हैं कि यह सब गपोड़बाजी है, न आज तक किसी ने परम तत्वको देखा, न कोई देख सक्ता है लोगोंको बहकाने को ही तुम्हारी गपोड़बाजी है। 'ईश्वर; तत्व हम जानते हैं; हम ज्ञान सिखाते हैं, इस झूंठे निमित्त से उदर पूर्णादि अपना स्वार्थ सिद्ध करते हो। इस प्रकार के नास्तिक भाव वाले को सुधारने का – तर्कबाजों को ठिकाने आने का कोई मार्ग नहीं है इसी पर तुलसीदास जी ने कहा है "मूर्ख हृदय न चेत, जो गुरु मिलें विरंचि सम" ऊपर दिखाये हुये ऐसे मूर्ख को यदि ब्रह्मा समान कोई सद्गुरु प्राप्त हो जाय तो भी उसे ज्ञान नहीं हो सक्ता।

षट् दर्शन जो परमात्मा को प्राप्त करने की युक्ति रूप हैं, स्वतंत्र मार्ग नहीं हैं, किन्तु अधिकारी के अनुसार क्रम रूप से हैं, वेदान्त

तत्व सब दर्शनों में अन्तिम तत्व है। वेदांताचार्यों ने ही प्रारम्भ में संसारासक्ति छुड़ाने के निमित्त संसार को झूंठा बतलाया है, अन्य कोई भी दर्शन संसार को झूंठा नहीं कहता। जब तक पांच दर्शन के अधिकार वाला है तब तक जगत् को झूंठा नहीं कहा परंतु उन दर्शनकारों ने जगत् को तुच्छ बताया है। इस जगत् से जो कोई उच्च ऐश्वर्य वाला स्थान है, वहां के लिये प्रयत्न करने के निमित्त उन शास्त्रों की रचना की गई है। जगत्—जगत् के भाव से हटना यह सब दर्शनों-शास्त्रों का कथन है। यदि वेदान्त वालों ने विशेष उच्च भावसे जगत् को असत् कहा तो उसमें विशेष अंतर ही क्या है। जब जगत् को झूंठा बताया गया तब जगत् क्या है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है उसका उत्तर यह है कि यह सब अज्ञान-अविद्या का कार्य है, अंतिम एक ही तत्व है, जिसमें किसी प्रकार किसी काल में भी रूपान्तर नहीं होता, जो अखंडित और सब में रहा हुआ, सबसे भिन्न, अव्यक्त रूप अपना आप है या यों कहो कि सब कुछ वही है।

एक समय एक पुरुष एक महात्मा के पास गया। उसका पहनाव और रीति वर्त्तमान कालके अनुसार थी, पाश्चात्य सभ्यता से युक्त था और अपनी बुद्धि के अनुसार कुछ आर्य शास्त्र जिनका अन्य विदेशी भाषाओं में भाषांतर हुआ है उसने पढ़े थे। उसने आकर महात्मा को नमन किया और जैसे कोई बहुत श्रद्धा वाला भाविक हो इस प्रकार वह सभ्यता दर्शाता हुआ आ बैठा और कहने लगा "महाराज ! आप कितने दिन से इस स्थान पर विराजते हैं?" महात्मा ने कहा "भाविक ! मैं तीन साल से इस स्थान पर हूं।" मनुष्य बोला "अहो ! इतने समय तक मुझे आपके दर्शन न हुये! जब ईश्वर की कृपा होती है तब ही महत् पुरुषों का दर्शन होता है ! कल मेरे एक मित्र ने आपकी बहुत प्रशंसा की कि जो कोई योग, ज्ञान, धर्मादिक का प्रश्न करता है तो आप उसकी शंकाओं का भली प्रकार समाधान करते हैं, महात्मा जी में समझाने की अपूर्व शैली है ! मुझे संत साधु पुरुषों से प्रेम रहता है। मैं वरंवार उनसे मिलता रहता हूं, कभी २ प्रश्न भी किया करता हूं, किसी किसी तरफ से उत्तर भी मिलते हैं, उनमें से कोई २ समझ में आ जाता है कोई २ नहीं भी आता इस लिये शंकाएं बढ़ती जाती हैं, उनमें से कोई २ शंका तो ऐसी प्रबल है कि जिसका उत्तर आज तक किसी ने दिया ही नहीं ! मैं उसे समझना चाहता हूं कि वास्तविक मामला क्या है। मुझे मालूम होता है कि आपसे मेरी शंकाओं की निवृत्ति होगी। मैं आपके पास वितंडावाद करने नहीं आया हूं ! धर्म शास्त्र पर मेरा भाव है, आपके ऊपर मेरी श्रद्धा है परंतु मैं इन बातोंको समझकर स्थिर होना चाहता हूं जिन बातों को बुद्धि कबूल नहीं करती उन बातों को शास्त्र के कहने ही से मान लेना मैं मूर्खता समझता हूं ! तर्क से सिद्ध करते हुये मैं रहस्यको समझना चाहता हूं !" महात्माने कहा "तुम क्या व्यवसाय करतेहो ?" मनुष्य बोला "महाराज ! मैं विकालत करताहूं।" महात्मा ने कहा "क्या तुम वेद, स्मृति और पुराणादिक सब को या उनमें से किसी एक को मानते हो ?" मनुष्य ने कहा "महाराज ! मैं मानता तो सबको हूं परन्तु पूरे भाव से नहीं, जिस २ की जिन २ प्रकार की बातों को आप सहेतुक सिद्ध कर दोगे, उन २ बातों को मैं संपूर्ण मान लूंगा !" महात्मा ने कहा—"मैं तुम से इस प्रकार बात चीत किस प्रकार करूंगा ? तुम एक भाव में एक स्थान पर खड़े रहो तभी बात चीत हो सकती है क्योंकि बात चीत एक स्थान, एक पोइण्ट, एक इशू को लेकर होती है. चाहे एक विरुद्ध प्रश्न कोही ग्रहण करो।" मनुष्य ने कहा—"आपने ठीक कहा है, एक पोइण्ट पर टिके बिना क्रिया आगे नहीं चलती, मुझ को भक्ति पर प्रेम है. यथाशक्ति मैं कुछ करता भी हूं, वेदांत मेरी समझ में नहीं आता और वेदांत अन्तिम है, यह सब का कहना है, मैं आप से यह पूछना चाहता हूं कि भक्ति से मोक्ष होती है या नहीं, भक्ति और वेदांत में कितना अन्तर है, प्रा-

चीन ग्रन्थों में ज्ञान से ही मुक्ति मानी है, तब क्या मेरा भक्ति का करना व्यर्थ हो जायगा ? गीता जी का पाठ करता हूं, गीता में भक्ति और ज्ञान की खिचड़ी बनाई है, उसे किस प्रकार समझूं ?" महात्मा ने कहा—"यदि तुम निर्मल बुद्धि से यह बात समझना चाहो तो यह बात समझना विशेष कठिन नहीं है! भक्ति भाव से बनी है और भाव ही भक्ति रूप है, अब मैं तुम से यह पूछता हूं कि तुम जो भाव-भक्ति करोगे, उसे जान कर करोगे या बिना जाने ही करोगे। जब किसी पदार्थ के ऊपर तुम भाव-प्रेम करते हो तब पदार्थ को कुछ जानते हो, उस में कोई गुण अच्छा है, ऐसा तुम को भाव् होता है, तब तुम्हारा भाव उसके ऊपर जाता है। कुछ भी जानना, यह ज्ञान है तुम जाने बिना केवल भक्ति करो तो किस प्रकार हो सकती है, प्रथम कुछ जानोगे तभी भक्ति करोगे। ईश्वर है, सर्वव्यापक है, सब के कर्मों का फल देने वाला है, प्रार्थना से प्रसन्न होता है, इत्यादिक जान कर ही तुम उसकी भक्ति करोगे। ऐसा जानना ज्ञान हुआ—ज्ञान के बाद भक्ति होती है। ऐसे ही जानने की इच्छा तब होती है जब कि भाव हो। इस प्रकार भाव और ज्ञान दोनों साथ २ चलते हैं। भक्ति बिना ज्ञान नहीं और ज्ञान बिना भक्ति नहीं, भक्ति और ज्ञान प्रथम बहुत सूक्ष्म रूप से होते हैं, और एक दूसरे को पुष्ट करते हैं और अन्त तक पहुंच जाते हैं। वे इस प्रकार बढ़ते हैं:-कुछ जाना तब भाव हुआ, भाव कुछ बढ़ा तब विशेष जाना, विशेष जानना बढ़ा तब भाव और बढ़ा, ऐसे बढ़ते २ जब ज्ञान की समाप्ति होती है, कुछ जानना शेष नहीं रहता तब भक्ति अन्तिम सीमा पर पहुंच जाती है। भक्ति विशेष जानने के निमित्त ही थी जब प्राप्त करने और जानने की समाप्ति होती है तब भक्ति की भी समाप्ति हो जाती है, उसे ही अनन्यभक्ति कहते हैं। जिस में अन्यता न रहे, वह अनन्य भक्ति है, जहां भक्त, भक्ति और भगवत् की एकता हो जाती है, उसी का नाम अनन्य भक्ति—परा भक्ति है। जिसे परा भक्ति कहते हैं, वह ही ज्ञान है। ज्ञान स्वरूप के भाव निमित्त है, जब ज्ञान स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, तब ज्ञानकी परिसीमा होती है। वह दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान और अनन्यभक्ति एक ही हैं। वहां उनका भेद नहीं रहता। भक्ति और ज्ञान को जो भिन्न समझते हैं, वे उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं जानते, भक्ति वाला ज्ञान को न जानते हुए कुछ ज्ञान सहित भक्ति करता है, इसी प्रकार ज्ञान मार्ग से चलने वाला भी भक्ति को साथ लेता हुआ ही ज्ञान में आगे बढ़ सकता है।"

मनुष्य आनन्द प्रदर्शित करता हुआ बोला—"'वाह! कैसा युक्तिपूर्वक उत्तर मिला है! आपके इस प्रकार के उत्तर से मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूं, मुझे इस प्रकार का उत्तर इस विषय में आज तक किसी की तरफ से नहीं मिला! आपके विषय में मैंने जैसा सुना था इसी प्रकार आपको पाया। अब तो मैं समझता हूं कि मेरी अन्य शंकाओं का समाधान भी आप से हो जायगा। एक और शंका मुझे सता रही है, उसकी उत्पत्ति वेदांत के कुछ ग्रन्थों से हुई है। वह शंका इस प्रकार है:—मैंने शास्त्र और कई संतों से सुना है कि अद्वैत तत्व ही परमपद है। प्रथम वह एक ही था और माया करके वह विस्तार को प्राप्त हुआ। परंतु विस्तार को प्राप्त होते हुये भी वह जैसे का तैसा है। माया को अविद्या, अज्ञान भी कहते हैं। अद्वैत ब्रह्म का स्वरूप प्रकाश समान है, उसे महाज्योति अर्थात् ज्योति का ज्योति भी कहते हैं। माया का स्वरूप अन्धेरे के समान कहा जाता है। यदि वह प्रथम एक ही था तो अज्ञान कहां से उत्पन्न हुआ? ज्योति समान परब्रह्म में से अन्धेरे समान अज्ञान की उत्पत्ति हो नहीं सकती तब अज्ञान की उत्पत्ति किस से हुई, और किस कारण हुई, जगत् का परब्रह्म कारण नहीं है, ऐसा भी कहा है और ब्रह्म किसी का भी कार्य नहीं है, ऐसा कहा गया है, उसको अव्यक्त, अक्रिय, असंग आदि कहा जाता है तब अज्ञान से जगत् की उत्पत्ति किस

प्रकार हुई और किसने की ?"

महात्मा ने कहा "भाविक ! तुझे अज्ञान अथवा जगत् की उत्पत्ति जानने से क्या फल है, यदि अज्ञान तुझे पसंद न हो और यदि जगत् दुःख रूप भासता हो, माया में रह कर अनेक जन्म धारण करने की तेरी इच्छा न हो तो जगत्, माया, अज्ञान की निवृत्ति का उपाय कर। जिसको जानने से कुछ फल नहीं है, उसे जानने की इच्छा क्यों करता है ?" मनुष्य बोला "महाराज ! फल क्यों नहीं होता ? जब बीमारी होती है तब उसकी औषधि की जाती है, साथ में वह बीमारी किस प्रकार हुई, किस कारण से हुई, यह भी जानते हैं, ऐसा जानना फिर से बीमारी न होने में उपयोगी है, इसी प्रकार अज्ञानकी आदि जानने से फिर अज्ञान की उत्पत्ति न होगी।" महात्मा बोले "सामान्य बीमारियों के समान जगत् रूप रोग नहीं है। सामान्य बीमारी एक बार चली जाती है और फिर आजाती है परन्तु जगत् रूप रोग जाने के बाद फिर कभी नहीं आता। अज्ञान के समूल नाश होने पर और स्वस्वरूप की प्राप्ति के बाद फिर कभी भी अज्ञान नहीं होता इसलिये अज्ञान निवृत्त करने से प्रयोजन है उसकी उत्पत्ति जानने से कुछ प्रयोजन नहीं है। तू ऐसा समझ कि इस स्थान पर बीस मनुष्य बैठे हैं, ऊपर छत में से अचानक एक भारी सर्प गिरे तो वे बीसों पुरुष क्या करेंगे, उससे जान बचाने के लिये भाग जायँगे, या बैठे रह कर यह खोज करेंगे कि यह सर्प ऊपर किस प्रकार चढ़ा, कहां से आया, उसके आने का कारण क्या है, किसी दुश्मन ने तो यहां लाकर नहीं छोड़ दिया। जिसको सर्प मालूम होता है, सर्प के विष का भान होता है और जानता है कि सर्प के काटने से मर जाते हैं, ऐसा पुरुष इस प्रकार की खोज में समय व्यतीत करके अपना घात नहीं करावेगा। तू अज्ञान को सर्प के विष समान समझ, सर्प के काटने से मनुष्य एक बार ही मरता है परन्तु अज्ञान रूप सर्प का काटा हुआ तो जब तक ज्ञान न हो तब तक बारम्बार मरता ही रहता है। जब तक तू अज्ञान को नहीं जानता, उसके विष की तुझे खबर नहीं है तब तक ही तू निश्चिन्तता से उसकी आदि ढूंढ़ता है।" मनुष्य बोला "आप जैसा कहते हैं वैसा ही है, जगत् मुझे दुःख रूप प्रतीत नहीं होता, मैं सच्चा मुमुक्षु नहीं हूं तो भी शंका का समाधान आपसे चाहता हूं, मेरी अज्ञान की आदि ढूंढ़ने की प्रवृत्ति बिना अर्थ की हो, या मेरा पागलपना हो तो भी आप कृपा करके कहिये। इस प्रकार की युक्तियों से मेरी शंका को उड़ाइये नहीं आज तक इस प्रश्न का उत्तर मुझे किसी से नहीं मिला है, शास्त्रों में भी कोई खुलासा मेरे देखने में नहीं आया, आपही उसका उत्तर देने में समर्थ हैं।"

महात्मा बोले "खेद ! यदि तू इस प्रश्न का उत्तर चाहता ही है तो मैं एक ऐसा ही प्रश्न व्यवहार में करता हूं, यदि तू उसका उत्तर दे देगा तो मैं भी तेरे प्रश्न का उत्तर देकर तेरी संतुष्टि कर दूंगा। प्रथम अज्ञान का थोड़ा विवेचन करते हैं, उसे सुन, अज्ञान भूल को कहते हैं, कुछ का कुछ समझना, ऐसी भूल का नाम अज्ञान है, उसे ही माया कहते हैं। जैसे न होते हुये भी जादूगर कुछ का कुछ दिखलाता है, वह देखने वालों के लिये माया है—अज्ञान है। जादूगर जो मिट्टी का रुपया दिखाता है, वह वास्तविक रुपया नहीं होता। दीखता है इसलिये 'है' ऐसा समझ कर कोई उसकी आदि को पूछे कि वह कब बना, किस टकसाल में पड़ा, किस खानि की चांदी थी, तो ऐसा प्रश्न अर्थ रहित है, जो है नहीं उसकी आदि क्या ? यदि आदि मानी जाय तो जब देखने वाला देखता है, उससे प्रथम का पदार्थ है, इतना ही कह सकते हैं। ज्ञानियों की दृष्टि में जगत् का तीनों काल में अभाव है। अज्ञान की दृष्टि में जगत् है। मनुष्य जगत् वाले

होकर जगत् को देखते हैं। जब से वे जगत् को देखने लगे हैं, उससे पहले का उनके लिये जगत् है। तू स्वप्न में अनेक पदार्थ देखता है, वे पदार्थ कब बने हैं ?" मनुष्य बोला "जब मैं स्वप्न देखता हूं तभी बनते हैं।" महात्मा बोले "विचार! उस समय वे नहीं बनते, उस समय उनकी उत्पत्ति की आदि नहीं है यदि वे स्वप्न के समय में ही उत्पन्न होते तो पचास वर्ष की उमर का मनुष्य जिसको तू देखता है वह देखने के क्षण में पचास वर्ष की उमर का कैसे हो गया। पचास वर्ष की उमर का मनुष्य जो स्वप्न में दीखा वह किस माता पिता से उत्पन्न हुआ ?" मनुष्य बोला "महाराज ! वह तो स्वप्न था, सच्चा नहीं था, स्वप्न में जो पुरुष दीखा उसका चित्र—संस्कार जाग्रतावस्था के जगत् में का मन में पड़ा हुआ था, वह ही मूर्त्ति रूप से दीखा, स्वप्न पदार्थ तो दिखावे मात्र हैं, उनकी उत्पत्ति क्या ?"

महात्मा बोले "तू ने सच कहा वे झूंठे थे इसलिये उनकी उत्पत्ति नहीं, वे तो मन में भरे हुये चित्र ही थे, वस्तु रूप न थे, वस्तु होती तो जागने के बाद भी बनी रहती, जागने के समय जो नहीं रहता वह सच्चा नहीं होता। ऐसे ही यह संसार माया—अज्ञान—मन में ही भरा हुआ है, मन में ही विस्तार को प्राप्त हो रहा है, उसका आभास स्वप्न के समान बाहर दीखता है। जैसे स्वप्न के पदार्थों की आदि नहीं है ऐसे ही संसार की भी आदि नहीं है। तू जब स्वप्न में पड़ता है तब स्वप्न का आरम्भ हुआ है ऐसा तू नहीं जानता और स्वप्न में रहते समय भी स्वप्न की आदि नहीं जानता इसी प्रकार जगत् की आदि नहीं जानी जाती। देखने वाला जब देखता है, उसके प्रथम का है इतना ही जाना जाता है इसलिये शास्त्र में मुमुक्षुओं के समझाने को अविद्या को अनादि कहा है। अनादि का अर्थ है जिस की आदि नहीं है। जिसकी आदि नहीं है उसकी आदि ढूंढ़ना मूर्खता है।"

मनुष्य बोला "जगत् को स्वप्न के समान किस प्रकार कहते हो ? स्वप्न में कारण कार्य का सम्बन्ध नहीं है और जाग्रत् जगत् में तो प्रत्येक पदार्थ कारण से ही कार्य में आता है। कारण बिना किसी की भी उत्पत्ति देखने में नहीं आती। जब इसमें कार्य कारण का संबंध है तब आद्य कारण और काल भी होने चाहिए।"

महात्मा बोले "तू भूल करता है, स्वप्नमें भी जो पदार्थ दीखते हैं, वे भी उस समय कार्य कारण से रहित नहीं दीखते उन्हें कार्य कारण रहित तो जाग्रतावस्था में आकर कहता है। इस अपनी जाग्रतावस्था से भी ऊंची तुर्यावस्था में जब तू जायगा तब यह संसार भी कार्यकारण रहित मालूम होगा। जैसे स्वप्नावस्था में रहते हुये स्वप्न झूंठा है ऐसा बोध नहीं होता ऐसे ही जाग्रतावस्था में रहते हुये जाग्रत् संसार झूंठा है ऐसा बोध नहीं हो सकता। जाग्रत् संसार को सच्चा समझ कर तू उसकी आदि पूछता है। संसार ही अज्ञान है और अज्ञान ही संसार है, हमारी दृष्टि में यह स्वप्न समान झूंठा ही है। झूंठे पदार्थकी आदि नहीं होती। बड़ा आश्चर्य है कि तू आद्य अज्ञान की उत्पत्ति पूछता है। विषयासक्त, कुटुम्बासक्त, शरीरासक्त मनुष्य जो अज्ञानसे युक्त होता है, वह ही अज्ञान की आदि जानना चाहता है। मैं तुझसे पूछता हूं क्या तू अपनी माताकी उत्पत्तिको जान सकताहै ?" मनुष्य बोला "मेरी मातासे मेरी उत्पत्ति हुईहै इसलिए माताकी उत्पत्ति को मैं नहीं जान सकता परंतु मेरे बड़े जानते हैं, यदि अज्ञान को मैं न जानूं तो मेरे बड़ों को तो मालूम होना चाहिए।" महात्मा बोले "जिस प्रकार तू अपनी माता के जन्म को नहीं जान सकता इसी प्रकार अज्ञान से तेरे व्यक्ति रूप अहंभाव की उत्पत्ति है और अहंभाव से तेरी उत्पत्ति है, उसकी आदि को तू कैसे जाने ? बड़े लोग शास्त्र, संत, महात्मा जानते ही हैं, जब तो उन्होंने कहा है, तुझे उनके कहने का विश्वास

नहीं होता । यदि किसी ने किसी काल में भी वंध्या के पुत्र का पता लगाया हो तो अज्ञान की आदिका भी पता लगजाय । तात्पर्य यह है कि जो अज्ञानी है वह अज्ञान में है, अज्ञान में रहते हुये कभी भी उसकी आदि को जानने में समर्थ न होगा और जिसका अज्ञान निवृत्त हो जाता है वह अज्ञान को देखता ही नहीं, तीनों काल में भी उसे अज्ञान की प्रतीति नहीं होती तब वह आदि कैसे ढूंढ़े ? जब तक अज्ञान को नहीं समझते तब तक वस्तु रूप जानकर अज्ञानियों को अज्ञान प्रतीत होता है। अज्ञान वस्तु नहीं है इसलिये उसकी आदि और पता नहीं है जैसे नमक की डेली समुद्र का पता लगाने को असमर्थ है क्योंकि वह समुद्र में लय हो जाती है इसी प्रकार व्यष्टि अज्ञान रूपी डेली समष्टि अज्ञान रूप समुद्र का पता लगाने में आप ही नहीं रहती । अज्ञानियों को अज्ञान की आदिका कभी पता नहीं लग सकता और ज्ञानियों को उसकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि पता लगाने की दृष्टि ही नहीं है। तू वकील है क्या कभी तुझे कई रकमों का जोड़ लगाना पड़ता है ?" मनुष्य बोला "हां ! महाराज !" महात्मा बोले "तब कभी गिनती में भूल हो जाना भी संभव है ! ऐसी कोई भूल हुई हो तो वह भूल कहां हुईहै, क्या ऐसा तू जान सकता है ?" मनुष्य बोला "महाराज! इसे ढूंढ निकाल सकता हूं।" महात्मा बोले "कब ढूंढ़ निकाल सकता है ? क्या जिस कारण से तूने भूल की है उस कारण के रहते हुये तू भूल की आदि को जान सकता है अथवा भूल निकल जाने के बाद ही भूल को जानता है ? जब तक भूल करने वाला तू उस भूल से नहीं हटता तब तक भूल और भूल की आदि को नहीं जान सकता अथवा यों समझ कि जोड़ में की हुई तेरी भूल को जब कोई दूसरा मनुष्य देख लेता है तब तू भूल से मुक्त होकर भूल को जानता है, बोल, सच है या नहीं ?" मनुष्य विचार के साथ आश्चर्य करता हुआ बोला "सच है ! प्रथम मैं भूल से निकलता हूं तब ही भूल को जानता हूं, भूल में रहते हुये भूल को नहीं जान सकता ।"

महात्मा बोले "मैंने प्रथम ही तुझसे कहा था कि अज्ञान भूल है, उस भूल को भूल में रह कर किस प्रकार जान सके ? तू अज्ञान में है और अज्ञान में रह कर ही अज्ञान की आदि जानना चाहता है क्या यह मूर्खता नहीं है ?" मनुष्य शरमाता हुआ बोला "सच मूर्खता ही है ! तब यों कहिये कि जानने में आ ही नहीं सकती ! खैर ! भूल से-अज्ञान से निकल जाऊं तब तो मैं जान सकता हूं ।"

महात्मा बोले "हां ! भूल के निमित्त ही तुझे जानना था जब भूल निकल गई तब भूल को जानने से क्या फल होगा ? जिस फल के निमित्त तुझे जानना था वह फल तो प्रथम ही प्राप्त हो गया ! " मनुष्य बोला "वाह ! कैसा युक्ति पूर्वक उत्तर देकर मेरे प्रश्न को काटा है ! मेरे मुख से ही कटवाया है ! परंतु शास्त्रकारों ने जगत् की उत्पत्ति वर्णन की है वह किस निमित्त की है ?" महात्मा बोले "वह वर्णन उत्पत्ति सिद्ध करने के निमित्त नहीं है किंतु जिसको उत्पत्ति मालूम हो रही है, उसका भ्रम मिटाने को-उस उत्पत्ति को निवृत्त करने को उत्पत्ति का वर्णन है। जिस प्रकार प्रवृत्ति फैली हुई है उसी प्रकार उसके एक एक अंग को समेटते हुये आद्य तत्त्व में पहुंचने की उपासना कराने के लिये उत्पत्ति कही है, संसार अनादि चक्र रूप है, जैसे चक्र का आदि अन्त नहीं होता इसी प्रकार जगत् चक्र में आदि अन्त नहीं है, वह हमेशा से चला आया है और चलता ही रहेगा। जो उस चक्र में है, उसके लिये चक्र की निवृत्ति नहीं है । जो चक्रको छोड़ कर चक्रकी धुरी रूप अधिष्ठान का सहारा लेता है, तो जैसे धुरी पहिये को घुमाती हुई स्वयं नहीं घूमती इसी प्रकार वह अधिष्ठान में स्थिति वाला नहीं घूमता। जैसे पहिये के ऊपर एक चेंटी समझ, जब पहिया

घूमता है तब उसके साथ २ चींटी भी ऊपर नीचे हुआ करती है, यदि चींटी प्रयत्न करके घूमते हुये चक्र में चल कर पहिया छोड़ कर धुरी पर पहुंच जाय तो वह घूमने से निवृत्त हो जाय। जगत् को अनादि कहा है तो भी अधिष्ठान रूप धुरी का सहारा पकड़ने वाले को वह सांत रूप है। चक्र और चक्र का घूमना ज्ञान और अज्ञान से है, ज्ञान स्वरूप धुरी है. धुरी के भाव से पहिये की तुच्छता है इसी प्रकार संसार अनादि होते हुये भी काल्पनिक है, जिसकी कल्पना निवृत्त हो जाती है उसके लिये वह चक्र नहीं रहता। जिसको स्वप्न आता है उसे तैजस कहते हैं, तैजस धुरी रूप है और उस में घूमने वाला दृश्य है, उसकी प्रकृति स्वप्न पदार्थ ही हैं, अन्य नहीं हैं ऐसे ही अचल तत्व की प्रकृति रूप माया है, माया में सब संसार है तो भी जैसे स्वप्न द्रष्टा को छोड़ कर स्वप्न पदार्थ भिन्न नहीं हैं इसी प्रकार परम तत्व को छोड़ कर प्रकृति भिन्न वस्तु नहीं है। प्रकृति अज्ञान है, जिसे अज्ञान है, उसके लिये प्रकृति का दृश्य है, जिसे स्वबोध है उसके लिये प्रकृति है ही नहीं, इस प्रकार एकही अद्वय तत्वमें अज्ञानियोंको विविधता भासती है और बोध स्वरूप वाले को एक तत्व सिवाय अन्य का भाव नहीं होता। अज्ञान अनादि होने पर भी काल्पनिक-अवस्तु रूप होने से बाध के योग्य है, प्रयत्न करके स्वस्वरूप के बोध सहित अज्ञान को हटा सकते हैं। अज्ञान-प्रपंच के निवृत्त करने का जो कार्य है, उसे ही परम पुरुषार्थ कहते हैं। मूल सहित भूल को निकाल देना अज्ञान का निवृत्त करना है।

एक नाटक के परदे में अनेक प्रकार के चित्र दीखते हैं, चित्र आकृतिमात्र हैं परदा वस्तु स्वरूप है; परदा रूप परम तत्व अधिष्ठान है और उस पर मन रूप चितेरेके निकाले हुए चित्र संसार हैं। तत्व एक होने से अद्वय की हानि नहीं है, कपड़े में चित्र निकालने पर भी कपड़ा ज्यों का त्यों ही रहता है इसी प्रकार परम तत्व संसार होने पर भी विकार रहित ही रहता है। परब्रह्म से संसार की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि एक अधिष्ठान और दूसरा अध्यस्त रूप है।

जैसे रस्सी में दीखते हुये सर्प से रस्सी विकारी नहीं होती इसी प्रकार माया की अनेक चेष्टाओं से परब्रह्म विकारी नहीं होता परन्तु जो अपने को विकारी-अज्ञानी मानते हैं उन मानने वालों को विकार-दुःख न होते हुये भी भोगना पड़ता है, इसी का नाम अज्ञान है।

ब्रह्म ज्योति समान और माया अंधेरे समान कथन करने का आशय माया को त्याग करके प्रकाश स्वरूप की स्थिति में लाने के निमित्त है। न अज्ञान है, न अज्ञान की उत्पत्ति हुई है, जिसको अज्ञान का भाव है उसको अज्ञान का फल है, जिसे अज्ञान का भाव नहीं है उसे अज्ञान का फल भी नहीं है। शास्त्रादिक के कहने से जिसे अज्ञान मालूम होता हो, जो वास्तविक मुमुक्षु हो और अज्ञान को छोड़ना चाहता हो उसको परम पुरुषार्थ के लिये प्रयत्न करना चाहिये। परम पुरुषार्थ आत्म स्वरूप की प्राप्ति कराने वाला नहीं होता क्योंकि आत्म स्वरूप सब को ही प्राप्त है, वह किसी प्रयत्न का फल नहीं हो सकता। आत्म तत्व प्राप्त होते हुये भी जो अप्राप्त समान भास कराने वाले विकारी भाव हैं उनके हटाने का जो प्रयत्न है उसे परम पुरुषार्थ कहते हैं। आत्मा मन बुद्धि और वाणी का विषय नहीं है। निर्मल आत्म भाव वाली बुद्धि करके और बुद्धि के अंश को त्याग करने से साक्षात्कार होता है और बाद आत्म भाव से भी जब बुद्धि का रहना नहीं होता तब अपरोक्ष बोध होताहै इसी कारण कहा है कि आत्मासे आत्मा को जान, आत्मा बुद्धि आदिक का विषय नहीं है क्योंकि आत्मा से प्रकाशने वाली बुद्धि आत्माको प्रकाश करने को समर्थ नहीं है।"

मनुष्य बोला "आपके उपदेश ने मेरे हृदय में एक प्रकार के आनन्द के आरंभ को स्थापित

कर दिया है। आपने जो कथन किया है वह अकथ्य है किसी भी तर्क से उसे काट नहीं सकते। आपके कथनानुसार वर्ताव होना कठिन है। मैं चाहता हूं कि आपके कहे अनुसार बोध को प्राप्त होऊं, इस निमित्त मेरा क्या कर्त्तव्य है?'

महात्मा बोले "शास्त्रोक्त विधि सहित अपना व्यवहार चलाते हुये सत् शास्त्र और सत्संग में प्रवर्त हो, यदि तुझे संसार रूपी महान् मुकद्दमे को जीतना हो तो तू इस मुकद्दमें में मुझे वकील बनाले, मुझ पर श्रद्धा करनेसे मेरी युक्तियों से तू जीत जायगा।"

मनुष्य बोला "हां! आप सच कहतेहैं! हम तो भौतिक मामलों में अपने स्वार्थ हित वकील बनते हैं, निस्वार्थी सच्चे वकील आप ही हैं। परमात्मा की महान् कचहरी में आपकी विकालत चलती है। मैं आपके पास नित्य आने का प्रयत्न करूंगा। मैं समझता हूं कि आपके उपदेश द्वारा अनेक जन्मों की लगी हुई मेरी काई छूट जायगी।"

———::0::———

मणि रत्न माला।

उपजाति वृत्तम्।

किं भूषणाद्भूषणमस्ति शीलम्।
तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम्॥
किमत्र हेयं कनकंच कान्ता।
श्राव्यं सदा किं गुरु वेदवाक्यम्॥८॥

अर्थ—प्रश्नः—उत्तम में उत्तम भूषण क्या है? उत्तरः—शील उत्तम में उत्तम भूषण है। प्रश्नः—उत्तम तीर्थ क्या है? उत्तरः—अपना मन निर्मल हो वही उत्तम तीर्थ है। प्रश्नः—इस जगत् में त्यागने योग्य क्या है? उत्तरः—कनक और कान्ता (स्त्री) त्याग करने योग्य हैं। प्रश्नः—हमेशा सुनने के योग्य क्या हैं? उत्तरः—सद्गुरु और वेद के वाक्य सुनने योग्य हैं।

भाषा छप्पय।

उत्तम भूषण कौन, उच्च पुरुषन का गहना।
उत्तम भूषण शील, मान्य सो ही जो पहना॥
कौन परम शुचि तीर्थ, सर्व पापन का हर्ता।
परम तीर्थ मन शुद्ध, परम सिद्धी का कर्ता॥
त्याग योग्य दो कौन हैं, कंचन कामिनि त्याज्य हैं।
क्याहै सुनने योग्य नित, गुरु वेदनके वाक्य हैं॥८

विवेचन।

संसार में स्त्री पुरुष और बच्चे सब कोई अच्छे २ गहने पहनते हैं और समझते हैं कि गहना पहनने से हम अच्छे लगतेहैं—गहना हमारी शोभा को बढ़ाता है। गले में सुवर्ण की जंजीर, पग में झांझन, कंठ में चंदन हार, हाथ पैरों में कड़े, कानों में कर्ण फूल, अंगुलीमें अंगूठी, नाक में नथ इत्यादि बहुत से गहने पहने जाते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो ये भूषण शोभा को बढ़ाने वाले नहीं हैं, जिनसे शोभा की वृद्धि हो ऐसे वे नहीं हैं, मात्र बाहर की चमक दमक हैं। सच्चा भूषण शील है! चाहे उपरोक्त सब भूषणों को धारण किये हो यदि शील न हो तो वे सब व्यर्थ हैं। शीलवन्त पुरुष हो या स्त्री उसका प्रकाश कुटुम्ब, मोहल्ला, जाति आदिक में जैसा पड़ता है, वैसा प्रकाश सोना, चांदी आदि के लट्ठ रूप गहनों का नहीं पड़ता! मन, वचन और कर्म करके अयोग्य क्रिया न करना, देश काल अनुसार योग्यता से, सरलता से विचार पूर्वक वर्तना इस आचरण को शास्त्र में शील व्रत कहा है। उन्नति का मार्ग शील ही है। गीता में बताये हुये दैवी सम्पत्ति के लक्षण शील वाले में होते हैं। यदि आत्म ज्ञान न भी हो और शील हो तो मनुष्य नीच गति को प्राप्त नहीं होता। शील वाले का ही आत्म बोध प्राप्त करके मुक्त होना हो सक्ता है। शील रहित पुरुष को कड़ा कुंडल आदि गहने ऊपर की शोभा को भले ही देते हों परन्तु सुज्ञ पुरुषों का तो शील हीभूषण है। शील रहित

मूर्ख को कड़ा कुंडल आदि बोझा रूप हैं। ये भूषण जीव को जोखम में डालने वाले और भय का कारण हैं और शील रूपी भूषण लोक और परलोक में उत्तम प्रकार के सुखों का देने वाला है, इस लोक में शोभा और कीर्ति को बढ़ाता है और परलोक में अक्षय कीर्ति को प्राप्त कराता है। मूर्ख पहने हुये गहनों को भी लज्जा देता है और शील वाला पहने हुये भूषणों को शोभा देता है।

आज कल अशील वाले पुरुषों की अधिकता है। वे मर्कट के समान कामांध, गधे के समान बुद्धिहीन, और श्वान के समान स्थान २ पर भटकने वाले नीच होते हैं। और दुराचारी लंपट होने से आधि, व्याधि और अनेक प्रकार की उपाधियों करके ही भूषित होते हैं इसलिये इस लोक में अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं और अन्त में किये हुये पाप कर्मों का फल भोगने के लिये नरक में जातेहैं। मनुष्य देह देवताओं को भी दुर्लभ है। धर्म अर्थ काम और मोक्ष इन चारों प्रकारके पुरुषार्थकी सिद्धि मनुष्य शरीरसे ही होती है। ऐसे इस मनुष्य देह को प्राप्त करके उसकी साफल्यता न करने वाले का मनुष्य जन्म ही व्यर्थ है, वह पशु के समान ही है बल्कि पशु से भी नीच है क्योंकि पशु अपने कर्मों का भोग मात्र करता है और अशील वाला मूर्ख नरक में ले जाने वाले कर्मों को करता है ऐसे मनुष्यों को धिक्कार है! वे अपने और दूसरे किसीका भी हित नहीं कर सक्ते किन्तु नरक में उत्पन्न हुये नरक के कीड़े ही बने रहते हैं।

वैभव की शोभा सुजनता से है, अर्थात् वैभव का भूषण सुजनता है, वाणी का संयम शौर्य को शोभा देता है अर्थात् अपने मुख से अपने पराक्रम का वर्णन न करना पराक्रम की शोभा है। ज्ञान का भूषण शांति है, नम्रता शास्त्र के श्रवण को शोभा देती है, सत्पात्र को दान देना दान की शोभा है, क्रोध न करना तप की शोभा है। समर्थ पुरुष को क्षमा शोभा देती है, निष्कपटता धर्म को शोभा देती है। इस प्रकार के सब धर्मों का मूल कारण शील है। शीलता होने से उपरोक्त गुण स्वयं ही आ जाते हैं।

जिस प्रकार पुरुष अशील वाले होते हैं, इसी प्रकार स्त्रियां भी होती हैं। यह अवगुण स्त्रियों में पुरुषों से अधिक दीखता है। पतिव्रता स्त्री के जो धर्म कहे हैं, वे सब धर्मशील में आ जाते हैं और जितने दोष कर्कशा के हैं वे सब ही अशील के कहे जाते हैं। अशील वाली स्त्रियों का आचार इस प्रकार होता है:—एक घर से दूसरे घर बिना कारण भटकना, निश्चिन्तता से घर में न बैठना, पर पुरुष के साथ बातचीत करने में आनन्द समझना, काम कहीं करना और मन कहीं रखना, स्वयं दुर्गुणों का भंडार होने पर भी दूसरोंके दुर्गुण कथन करने में बृहस्पति के समान वक्ता बन बैठना, पैर के ऊपर पैर चढ़ा कर बड़ों की आमान्यता न रखकर बैठना, दूसरों की पंचायत करना, बातें करते २ दुष्ट शब्दों को उच्चारण करना, असत्य बोलना, झूंठी सौगंद खाना, पतिको नौकर समान समझ कर हुकुम चलाना, वेहम की बातें करना, वेहम में लगे रहना, मंत्र तंत्रों कोअत्यंत वेहम के साथ मानना, स्याने आदिक के पास वशीकरण, मोहन, पुत्र रक्षा आदि के निमित्त जाना, जो पति इन बातों को झूंठी कहे तो उससे कहना कि तुम तो कृष्टान हो गये हो (वेहम में ही नाश होता है घर का काम काज नहीं सूझता) मलिन रहना, घर को मलिन रखना, रसोई किस प्रकार होती है, यह ठीक न जानना, रसोई में कंकर या कोयले का आना स्वाभाविक होता रहना, बालकों की किस प्रकार रक्षा करना, किस प्रकार सुधारना, यह मालूम न होना, मालूम हो तो लापरवाई से न करना, प्रतिष्ठा बिगड़ने का भाव न होना, आस पास के पड़ोसियों से टंटा करना, पति से लड़ना, लड़के को बिना कारण मारना, रोलाना

इत्यादिक कुटिलता अशील है। छल, प्रपंच, पर-मैत्री, साहस, अपवित्रता, कटुता, निर्लज्जता, निठुरपना, आदिक अवगुण अशील में होते हैं। इस प्रकार के लक्षणों वाली स्त्री दूसरों को दुःख ही देती है और आप भी अनेक योनियों में पड़ कर दुःख ही भोगती है।

एक राज पुत्र ने अपने पिता की इच्छा से विरुद्ध एक स्त्री के साथ विवाह कर लिया था और एक गुप्त स्थान में उसके साथ रहा करता था। राजा को जब यह समाचार मिला कि मेरा पुत्र मेरे शत्रु की पुत्री के साथ विवाह करके गुम हो गया है तो वह बहुत दुखी हुआ, पुत्र की यह कार्रवाई उसे योग्य न मालूम हुई, इसलिये वह दुखी होने लगा और मरण के समीप आ गया। राजा के एक ही पुत्र था, मरने के समय उसने कुंवर को बुलाने को कई मनुष्य भेजे, उन्होंने आ कर उसे राजा के अंत समय का समाचार दिया और कहा कि वे आप से मिलना चाहते हैं। कुंवर ने अपनी पत्नी से कहा कि पिता श्री मरने की तैयारी में हैं, मुझे उन्होंने अपने पास बुलाया है, मुझे इस समय उनके पास जाना ही चाहिये। यदि वे अच्छे हो जायगे तो थोड़े समय में मैं लौट आऊंगा और यदि उनका देहांत हो गया तो राजा होऊंगा। तब मैं तुझे बुला लूंगा और पटरानी बनाऊंगा। यह कह कर उसने अपने नाम वाली अंगूठी अपनी अंगुली में से उतार कर अपनी पत्नी को पहनाई और आप राजधानी को चल दिया। वहां आकर देखा कि राजा मृत्यु शैया में पड़ा है। कुंवर को देख कर राजा प्रसन्न हुआ और बोला कि मैं तुझसे एक बात कहना चाहता हूं, यदि तू मेरी बात मान लेगा तो मेरा प्राण सुख से निकलेगा, पिता के वचन पुत्र को मानने चाहियें, रामचन्द्र, भीष्मादिक पुत्रों ने माने हैं, यदि तू मानना स्वीकार करे तो कहूं। कुंवर बोला कि मैं आप की अंत समय की आज्ञा का पालन करूंगा। राजा ने कहा कि हे सुपुत्र, तू मेरे मित्र गंधर्व राज की कन्या से विवाह करना स्वीकार कर। कुंवर ने यह बात मान ली। राजा का प्राणान्त हो गया। कुंवर ने गंधर्व राज की कन्या से विवाह कर लिया। वह राजा हो कर राज्य करने लगा और अत्यन्त सुख में अपनी पूर्व पत्नी से जो बात कह कर आया था, उसको भूल गया।

प्रथम वाली राज कन्या ने सुना कि मेरे श्वशुर का देहांत हो गया है, मेरा पति राजा हो गया है और उसने एक और राज कन्या से विवाह कर लिया है। इस राज कन्या के पास एक दासी बहुत चतुर थी, राज कुंवर की मुलाकात के लिये वह तीन और कन्याओं को ले आई और उसने राज कन्या सहित चारों को पुरुष की पोशाक पहना कर राज कुंवर के पास नौकरी करने को भेजा। कुंवर चारों युवान पुरुषों को देख कर प्रसन्न हुआ और चारों को अपने रक्षकों की नौकरी पर रख लिया। कुंवर को देख कर राज कन्या के वारम्बार आंसू गिरा करते थे। कुंवर ने कई वार पूछा परन्तु राजकुमारी रूप रक्षक ने कुछ उत्तर न दिया। एक दिन एक उद्यान में कुंवर अकेला घूम रहा था तब उसने रक्षक के हाथ पर एक अंगूठी देखी जिस पर उसका नाम खुदा हुआ था। अपना नाम देख कर उसने रक्षक से पूछा "हे मित्र! यह अंगूठी तुझे कहां से प्राप्त हुई?" वह बोला "आपके पास से!" कुंवर ने विस्मित हो कर कहा "मैंने यह अंगूठी तुझे कब दी थी?" वह बोला "जब तुम मुझे छोड़ कर आये और राजा बने तब!" कुंवर समझ गया कि यह मेरी प्राणेश्वरी राज कन्या है! तब उसने उसका कहा मान लिया और मरते समय की पिता की आज्ञा कह कर अपने अपराध की क्षमा मांगी। तब राज कन्या बोली "आपने पिता की आज्ञानुसार जो विवाह किया है उससे मैं प्रसन्न हूं परन्तु आप मेरा त्याग न कीजिये, अपने रनवास में दासी समान रहने दीजिये जिससे मैं आपके दर्शन किया करूं" कुंवर ने स्वीकार कर लिया और अन्य तीनों को पुरस्कार दे विदा किया।

गंधर्व कन्या राज कन्या सम्बन्धी सब बात सुन कर कुंवर से बोली "आपने जिसके साथ पूर्व में विवाह किया है, उसका हक मारा जाना मैं नहीं चाहती, वह ही आप की पटरानी होने की अधिकारिणी है, मैं उसकी छोटी बहिन के समान रहूंगी।" इस प्रकार दोनों पत्नियां प्रेम पूर्वक बहिनों के समान रहने लगीं। इन दोनों ने ही शील का अनुसरण किया इसलिये दोनों ही सुखी हुईं।

राग द्वेष रहित अत्यन्त शुद्ध मन ही परमतीर्थ है। तीर्थ अंतर और बाहर दो प्रकार के हैं। गंगा, यमुना, नर्मदा, पुष्कर आदिक बाहर के तीर्थ हैं और सत्य, क्षमा, आदिक आंतरिक-मन के तीर्थ हैं। सत्य, क्षमा इन्द्रिय निग्रह, दया, आर्जव, दान, दम, संतोष, ब्रह्मचर्य, मधुर भाषण, ज्ञान, धृति और जप आदि ये सब तीर्थ हैं परन्तु सर्वोत्तम तीर्थ तो विशुद्ध मन ही है। बाहर के तीर्थ भी जिसका मन निर्मल है उसी को फल देते हैं। एक मन की विशुद्धि से सर्व तीर्थ यात्रा का फल प्राप्त होता है। तीर्थ से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती परन्तु मन रूप तीर्थ से मोक्ष भी प्राप्त होता है। मन दो प्रकार का होता है, एक काम क्रोधादिक और राग द्वेष वाला, दूसरा काम क्रोधादिक और राग द्वेष रहित। काम क्रोधादिक वाला मन अशुद्ध है और काम क्रोधादिक रहित शुद्ध है। अशुद्ध मन बंधन करने वाला है और शुद्ध मन मोक्ष मार्ग में ले जाता है। जगत् को उत्पन्न करने वाला अशुद्ध मन है। पुरुष भी मन ही कहलाता है, शरीर का किया हुआ किया हुआ नहीं होता किंतु मन का किया हुआ ही किया हुआ होता है क्योंकि चाहे जितना हानि लाभ हुआ हो जब तक मन में नहीं आता, हर्ष शोक नहीं होता। मन में आने पर ही होता है। शरीर रूपी रथ है, उस में इन्द्रियां रूपी घोड़े जुते हैं, मन सार्थी है इसलिये शरीर की सब क्रिया मन से ही होती है और सब का कर्त्ता और संसार रूप मन ही है। वह ही मन जब निर्मल होता है तब परम पद देने वाला होता है इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके मन को निर्मल करना चाहिये। जब मन विषयों में आसक्त होता है तब अपने लिये आप बंधन पैदा कर लेता है और जब सर्वात्मक भाव कर के विषयों से पृथक् रहता है तब अपने आप ही मुक्त होता है। मैं और मेरा भाव ही मन का स्वरूप है, कल्पना से ही मन की सत्ता समझने में आती है जब कल्पना निवृत्त हो जाती है तब मैं और मेरे की निवृत्ति हो जाती है। मैं और मेरा इस भाव की निवृत्ति से जब ज्ञान प्राप्त होता है तब मन लय हो जाता है-इसलिये मन को निर्मल करके बोध प्राप्त करना चाहिये। जब मैं और मेरा मिट जाता है और राग द्वेष नहीं रहता तब मन का कोई विशेष कर्तव्य नहीं रहता इसलिये उसको परम तीर्थ कहा है। निर्मल मन सहित तीर्थ यात्रा करना उत्तम है और मलिन मन से तीर्थ यात्रा करने वाला विशेष पाप का भागी ही होता है। संयम रूपी जल से पूर्ण, सत्य रूपी प्रवाह वाली, शील रूप किनारे वाली, दया रूपी तरंगों वाली मन रूपी जो नदी है, उस में तू स्नान कर क्योंकि इस जल के सिवाय अन्य जल से अंतरात्मा कभी भी शुद्ध नहीं होता। जो मनुष्य ज्ञान रूपी प्रवाह वाले, राग द्वेष नाशक ध्यान रूपी जल वाले, ऐसे मानस तीर्थ में स्नान करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

*एक नगर में दो भाई रहते थे, दोनों धनाढ्य थे। एक भाई कर्मवादी संसारी था और दूसरा संत समागम के प्रभाव से विवेकी था। जब उन के पिता का देहान्त हो गया तब कर्मवादी कहने लगा कि पिता जी का गया जी जाकर श्राद्ध करना चाहिये जिससे उसका और अपना कल्याण हो। विवेकी को यह बात न रुची परन्तु उसने भाई को जाने से रोका भी नहीं और कहा कि तुम खुशी से पिता जी की सद्गति करने को तीर्थ यात्रा कर आओ, मैं तुम्हारे साथ चल नहीं

सकता, अपने बदले की एक तूंबी तुम्हें देता हूं जिस जिस तीर्थ में तुम स्नान करो वहां मेरी इस तूंबी को भी स्नान कराना, तुम्हारा जो खर्च होगा उसका आधा हिस्सा मैं दूंगा। कर्मवादी गया करके बहुत से तीर्थों में घूमा, स्नान किये और दर्शन किये। जहां वह जाता वहां तूंबी को स्नान कराता, जहां दर्शन को जाता वहां दर्शन कराता। इस प्रकार यात्रा करके वह घर लौटा और उसने विवेकी की तूंबी विवेकी को सुपुर्द कर दी। विवेकी ने तूंबी प्रेम से ली और कहा "हे पवित्र तूंबी! तूने बहुत से तीर्थों में स्नान और दर्शन किये हैं, तू पवित्र-मीठी अमृत सम हो गई है।" ऐसा कह कर उसने तूंबी फोड़ी और चक्खी। वह महा कड़वी थी! तब उसने भाई से कहा–"देख! यह तूंबी इतने तीर्थ कर आई तो भी मीठी नहीं हुई, न पवित्र हुई, इस में भरी हुई वस्तु विष समान हो जायगी।" बाद उसने तूंबी में जल कंकर और राख भर दी और उसे तीन दिन तक रक्खा। जब वह भीग गई तब उसे भीतर से साफ कर दिया। अब उस में जो चीज रक्खी जाती न बिगड़ती। मन को तूंबी समान समझो। अशुद्ध मन तीर्थ करके भी शुद्ध नहीं होता।

तूंबी मन है, कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म कंकर हैं, जप और तप राख है, संयम जल है, वैराग्य भीगना है, धोना ज्ञान है। इस प्रकार मन शुद्ध न हो तो तीर्थ सफल नहीं होते इसलिये निर्मल मन ही परम तीर्थ है।

त्याग करने योग्य क्या है? इस के उत्तर में गुरु ने कहा है कि कनक और कान्ता दोनों को त्याग करना योग्य है। कनक सुवर्ण को कहते हैं इसलिये सब प्रकार के धन का समावेश कनक में होता है और कान्ता स्त्री को कहते हैं। ये दोनों बंधन करने वाले हैं इसलिये इनका त्याग करना चाहिये, यदि इन दोनों का ग्रहण-भाव–आसक्ति न हो तो ये बंधन का कारण नहीं होते और जो बंधन का हेतु होते हैं तो आसक्ति सहित ही होते हैं इसलिये जो मुमुक्षु है उसको अपने परम हित के लिये दोनों का त्याग करना चाहिये। धन से सब प्रकार के विषय इच्छानुसार प्राप्त हो सकते हैं, विषय सेवन का हेतु रूप धन है। धनका नशा शराब के समान बल्कि उस से भी अधिक होता है, नशे में अधर्म होता है। धन बुद्धि को मलिन करने वाला है। धनके प्राप्त करने में दुःख, रक्षा करने में दुःख, नाश में दुःख, उपयोग में दुःख और उसकी विशेष तृष्णा में दुःख है। धन में कुटुम्ब से दुःख, चोर राजा और डाकुओं से भय, अग्नि जलादिक का भय होता है। इस प्रकार भय का कारण, संसार में फंसा रखने वाला और परम पुरुषार्थ में बाधा रूप होने से कंचन-धन त्याज्य है। सम्पत्ति, सम्पत्ति के अभिमान संयुक्त रहती है, दूसरे को तुच्छ समझती है और राग द्वेष की वृद्धि करती है।

इसी प्रकार स्त्री भी दोषों का भंडार है, मनुष्य को परवश करने वाली स्त्री है। सबका जन्म स्त्री से होता है इसलिये जब तक स्त्री का त्याग-भाव त्याग न होगा और आसक्ति न छूटेगी तब तक स्त्री में से जन्म होना निवृत्त न होगा। स्थिर मन वाले को भी रूप शब्दादिक से स्त्री चंचल और विह्वल करने वाली है। महान् तपस्वी, योगी, सिद्ध जब योग भ्रष्ट होते हैं तब स्त्री से ही होते हैं। जो स्त्री की कामना से मुक्त होता है, वह ही मुक्त होने के योग्य होता है। स्त्री ही संसार रूप है। जो मनुष्य स्त्री से उत्पन्न होकर स्त्री का संग—स्त्री की इच्छा करता है वह इच्छानुसार फिर भी स्त्री में से ही निकलने वाला है ऐसा समझो। जिसको संसार में आने की इच्छा नहीं है उसे पूर्ण प्रयत्न से स्त्री की वासना को त्यागना चाहिये। ब्रह्म प्राप्ति में ब्रह्म-चर्य की आवश्यकता है। स्त्री के संकल्प को इस प्रकार त्यागना चाहिये कि जाग्रत् अथवा स्वप्न किसी अवस्था में भी उत्पन्न न होने पावे। जिस

ने काम को छोड़ दिया है उसने जीते जी ही संसार को जीत लिया है। जिसने काम को न जीता उसने सब कुछ करते हुये भी कुछ न किया। महान् शूरवीर भी स्त्री के सामने दीन हो जाता है। संसार रूप गढ़ को जीतने में दो विकट घाटियां हैं, एक कंचन और दूसरी कामिनी। इन घाटियों से जो पार होगया उसके लिये सब कुछ सहज है। मुमुक्षु पुरुषों को जिस प्रकार स्त्री-स्त्री की कामना त्याज्य है इसी प्रकार मुमुक्षु स्त्रियों को पुरुष ही अनर्थ का हेतु है, ऐसा समझकर पुरुष संग-पुरुष की कामना के संकल्प का त्याग करना चाहिये। बुद्धि, सृष्टि, माया, सिद्धि, अविद्या, प्रकृति ये सब ही स्त्री रूप हैं, इसलिये एक स्त्री के त्याग में सब छूट जाते हैं।

योग भ्रष्ट पुरुष दो बातों से भ्रष्ट होते हैं, एक कंचन से दूसरी स्त्री से। ऐसे योग भ्रष्ट का जन्म कंचन और स्त्री की वासना से श्रीमान् के यहां होता है और जो इससे श्रेष्ठ है अर्थात् एक स्त्री की वासना से गिरता है, उसको धन से विशेष संबंध न होने से उसका जन्म योगियों के कुल में होता है। जन्म लेने का हेतु भूत स्त्री की वासना ही होती है। प्रयत्न से सब कुछ छूट सका है परन्तु स्त्री की कामना छोड़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि शरीर होने में स्त्री प्रसंग ही मुख्य है इसलिये महा प्रयत्न से आत्मज्ञान होने पर ही स्त्री की कामना निवृत्त हो सकी है।

पूर्वकाल में मुछन्दरनाथ एक महा समर्थ सिद्ध हुआ है, नवनाथों में उसकी गिनती होती है। गोरखनाथ उसका एक योग्य शिष्य हुआ है। उनके संबंध में इस प्रकार की एक कथा प्रचलित है।—मुछंदरनाथ पृथवी पर्यटन करते २ एक समय सिंहलद्वीप में पहुंचे, वहां की पद्मनियां प्रसिद्ध हैं। एक दिन मुछन्दरनाथ ग्राम में घूम रहे थे, वहां उन्होंने एक राजकुमारी देखी, जो पद्मनी के सब लक्षणों से युक्त थी, सौन्दर्य में अलौकिक थी और विवाह के योग्य हो गई थी। वहां के राजा की वह एक ही पुत्री थी। उसके सामने दृष्टि होते ही मुछंदरनाथ का योग सामर्थ्य सिद्धता में परिवर्तन हो गया। वे दब गये, और उन्हें राजकन्या की इच्छा हो आई। एक साधु को राजकन्या की प्राप्ति होना अशक्य समझ कर योगी राज ने योग सामर्थ्य का उपयोग करके अपनी काया पलट डाली और वे युवावस्था और बहुत सुन्दर स्वरूप वाले बन कर दूसरे दिन राजकुमारी के स्वयंवर में गये। उनका अलौकिक सौन्दर्य देख कर राजकुमारी ने उन्हें ही वरमाला पहिनाई और उसके साथ उनका विवाह हो गया। थोड़े दिन में वहां का राजा मर गया तब मुछंदरनाथ राजा बनाये गये। इस प्रकार वे पद्मनी के साथ विलास करने में और राज काज सहित राज सुख भोगने में योग और ध्यान सब भूल गये।

गोरखनाथ मुछंदरनाथ के योग्य शिष्य और योग क्रिया में कुशल थे जब वे एक योगी के साथ विचर रहे थे तब उसने गोरखनाथ को ताना मारा कि तू भला योगी बना है झूठी ही सामर्थ्य दिखलाता है, किस मुख से अपनी बड़ाई मारता है तेरा गुरु तो नरक में पड़ा हुआ है इसकी तो तुझे खबर ही नहीं है। गोरखनाथ ने ध्यान धर के देखा तो मुछंदरनाथ का सब हाल मालूम हुआ। तब वे सिंहलद्वीप में पहुंचे और राज महल के चारों तरफ अलख जगाने लगे। उसकी भनक मुछंदरनाथ के कान में पहुंची। उनके दो बच्चे भी हो गये थे। प्रिया और बच्चों के प्रेम से वे वहां से निकलने को समर्थ न हुये। गोरखनाथ ने अपनी योग सामर्थ्य से उन्हें राजमहल से बाहर खेंच कर उनसे अपने साथ चलने को कहा। मुछंदरनाथ को पूर्व योग की स्मृति आई और वे प्रिया के पास जा अन्तिम मुलाकात करके दो सोने की ईंटें झोली में डाल कर साधु के भेष में बाहर निकले और गोरखनाथ के साथ हो लिये।

दोनों साथ २ चल रहे थे, मुछंदरनाथ की झोली में बोझा था। वे उसे स्वयं उठाते थे और गोरक्षनाथ को नहीं देते थे, मार्ग में टट्टी पेशाब को जाते तो झोली को किसी पेड़ में लटका देते और उसकी रक्षा करने को गोरक्षनाथ से कहते। दो तीन बार ऐसा हुआ तब गोरक्षनाथ ने सोचा कि झोली में ऐसी क्या वस्तु रक्खी है जिसको संभालने का भय गुरु जी को रखना पड़ता है, ऐसा सोच एक दिन उन्होंने झोली खोल कर देखी तो दो सोने की ईंटें मिलीं तुरंत ही उन्होंने वे एक महा भयंकर विशाल कुप में डाल दीं। मुछंदरनाथ ने आकर झोली हलकी देख कर गोरक्षनाथ से क्रोधित होकर कहा कि तूने झोली की संभाल क्यों न रक्खी, उसमें जो वस्तु थी वह कहां गई। तब गोरक्षनाथ ने धीरे से कहा कि महाराज; आपको उस वस्तु से बड़ा भय रहता था, जब पेशाब टट्टी को जाते थे तब उसकी चिंता लगी रहती थी, गुरु जी को ऐसी चिंता लगी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था इसलिये मैंने भय का कारण जानकर भय निवृत्त करने के लिये दोनों सुवर्ण की ईंटें कुप में फेंक दीं। अब वे मिल नहीं सक्तीं। ऐसा सुन कर मुछंदरनाथ बहुत क्रोधित हुये और कहने लगे कि तू कैसा मूर्ख है, कितनी दूर से मैं कितना बोझा उठा लाया था, वक्त बेवक्त काम आने की वस्तु थी जब तक मेरी ईंटें नहीं मिलेंगी तब तक मैं तेरे साथ नहीं रहूंगा, उनका भय रहता था तो मुझको रहता था तू फेंक देने वाला कौन था, मैं तेरा गुरु हूं, क्या तू मेरा भी गुरु बनना चाहता है। गोरक्षनाथ ने नम्रता से कहा कि आप क्रोधित क्यों होते हैं, आप दो सुवर्ण की ईंटें चाहते हैं, मेरे साथ पहाड़ पर चलिये, मैं आपको सोना ही सोना दिखाऊंगा, चाहे जितना उठा लेना। दोनों पहाड़ पर गये। गोरक्षनाथ ने लघु शंका की तो सब पहाड़ सुवर्ण का होगया। गोरक्षनाथ ने कहा कि गुरुजी, यह सब सुवर्ण ही सुवर्ण है, आप चाहे जितना उठा लीजिये। मुछंदरनाथ आश्चर्य में पड़े और कहने लगे कि वाह, शिष्य, वाह, तू मुझसे बढ़ कर है, तू मेरा भी गुरु है मैं बोझा लादे जाता था, वह तो किंचित् सोना था, तूने मूत्र त्याग में ही सुवर्ण दिखलाया है। सच है कि त्याग में सम्पूर्ण सुख भरा है।

मुछंदरनाथ जैसे सिद्ध भी कान्ता और कनक के चक्कर में आ गये। वे समर्थ थे, उनका शिष्य महा समर्थ था इसलिये दोनों प्रकार के भावों में फंस कर वे छूट गये। सामान्य मनुष्यों को इन भावों को छोड़ना कठिन है, और यदि एक वार छुटकर फिर ग्रहण हो जांय तो कभी भी नहीं छुट सक्ते।

शंका:—स्त्री और धन दोनों ही बंधन करने वाले हैं यह ठीक है, उनका त्याग करने को किस के लिये कहा है? ये दोनों ही तो संसार स्थिति का कारण हैं वे न हों तो संसार किस प्रकार रहे? गृहस्थी किस प्रकार रहे और उसका व्यवहार किस प्रकार चले?

समाधान:—यदि तुझे संसार न रहने की चिन्ता है तो ऐसी चिंता वाला मुमुक्षु नहीं हो सक्ता। यह उपदेश उसके लिये है जिस को संसार से निवृत्त होने की इच्छा है। स्त्री और धन का त्याग दो प्रकार से होता है, एक भाव से दूसरा स्वरूप से। भाव त्याग बिना स्वरूप त्याग निष्फल है इसलिये उसके दो ही भेद हुये:—ब्रह्मचारी और सन्यासियों का भाव त्याग सहित स्वरूप त्याग होता है। गृहस्थ और वानप्रस्थ को अपने २ आश्रम के अनुसार कांचन और स्त्री का भाव त्याग हो सक्ता है। वानप्रस्थ दो प्रकार के होते हैं स्त्री सहित और स्त्री रहित। स्त्री रहित वानप्रस्थ को भाव सहित और स्वरूप सहित स्त्री का त्याग होता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यस्त का आधार गृहस्थाश्रम है इसलिये गृहस्थाश्रमियों को कांचन और कान्ता का स्वरूप से त्याग नहीं है परन्तु मोक्ष

की इच्छा वाले को भाव त्याग अवश्य करना पड़ेगा नहीं तो वह मुमुक्षु नहीं है किन्तु नरक में वरंवार जाने वाला कीट ही है।

गृहस्थी को धन और स्त्री की जो आवश्यकता है वह केवल भोग के निमित्त नहीं है किन्तु गृहस्थी का सद् व्यवहार चलाने के निमित्त है। स्त्री, धन, घर, और बाल बच्चों की रक्षा के निमित्त है। अभ्यागतों के लिये भोजन बनाने और यज्ञादिक में उसका सहचार है। सन्तानोत्पत्ति पितृ ऋण चुकाने के निमित्त है, विषयानन्द के निमित्त नहीं है। धन का संग्रह, बाग बगीचों की सैर, नाच, रंग, मौज शौक के निमित्त ही न समझना चाहिये। इन कार्यों के लिये धन संग्रह करने और उनमें खर्च करने से कल्याण के मार्ग में नहीं जा सकते। गृहस्थियों को स्त्री, धन रखते हुये उनका सदुपयोग करते हुये उनका भाव-आसक्ति-महत्व को छोड़ना चाहिये। उनके लिये धन और स्त्री का भाव त्याग है, स्वरूप-वस्तु त्याग नहीं है। गृहस्थियों को भी परम पुरुषार्थ की तरफ लक्ष देना चाहिये। गृहस्थी परम पुरुषार्थ में मदद रूप है, ऐसा उन्हें समझना चाहिये और आत्मा की तरफ लक्ष रखना चाहिये। स्त्री के त्याग के साथ कुटुम्ब पुत्रादिक परिवार की आसक्ति का भी त्याग समझना चाहिये और श्रेय के लक्ष को न छोड़ना चाहिये। जिस प्रकार नट रस्सी के लक्ष को न चुकाते हुये चेष्टा करता है, यदि लक्ष चूक जाय तो वह नीचे गिर कर चूर्ण हो जाय इसी प्रकार लक्ष पर ध्यान रखना चाहिये। गृहस्थी अन्य सब आश्रमों की उपकारिणी तब ही हो सकी है जब शास्त्र की विधि युक्त हो, मोक्ष मार्ग में विघ्न रूप न हो परन्तु मदद रूप हो। इस प्रकार चारों आश्रमों में स्त्री और कांचन का त्याग समझना।

हमेशा श्रवण करने योग्य वेद और गुरु के वचन हैं। उन वचनों से ही दुःख रूप संसार की अत्यंत निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है; अन्य वाक्यों का सुनना संसार की वृद्धि करने वाला है, संसार की, वृद्धि रूप कूड़े को अंतःकरण में जमाने वाला है। अन्य वाक्य संसारी हैं, संसार के हेतु संसार में ही काम में आने वाले हैं और दुःख के उत्पादक हैं। वेद वाक्य जो आत्म स्वरूप का प्रकाश करते हैं, वे ही हितकर होने से श्रवण करने योग्य हैं, गुरु उन वाक्यों को अपने अनुभव सहित प्रगट करता है। वे अंतःकरण में जम कर अंतःकरण की मलिनता को दूर करते हैं और स्वरूप के बोध कराने में उपयोगी होते हैं। जिनसे अखंडित स्वरूप की प्राप्ति हो वे ही गुरु वाक्य हैं। जो अंधेरे को नाश न कर के आत्म प्रकाश न करें वे गुरु वाक्य नहीं हैं। वेद वाक्य भी गुरु वाक्य के समान महत्व वाले नहीं होते। वेद वाक्य भी जो गुरु मुख द्वारा निकलते हैं, वे अमृत रूप होते हैं। गुरु रहित वेद वाक्य वेद्य स्वरूप के बोधक नहीं हो सके। वेदपाठी वेद के अर्थों को बुद्धि अनुसार करता है, जो बुद्धि गम्य नहीं है उसका अर्थ बुद्धि से ठीक २ किस प्रकार हो! वे ही वाक्य जब अनुभव से छन कर निकलते हैं तब निर्मल और बलिष्ट होते हैं। गुरु वाक्य में गुरु की सामर्थ्य भी होती है। गुरु रहित वेद वाक्य-ग्रंथ वाक्य होने से सामर्थ्य रहित होते हैं। जिस प्रकार समुद्र का जल ही सब जल का आधार है, समुद्र का जल मीठा नहीं होता किंतु खारी होता है परन्तु वह ही जब बादल हो कर आता है, तब उस जल का खारी अंश समुद्र में रह कर निर्मल अंश ऊपर जा कर आता है, इसलिये वर्षा का जल मीठा होता है। इसी प्रकार वेद समुद्र समान है, गुरु बादल समान है इसलिये वेद वाक्यों को गुरु से ही ग्रहण करना चाहिये। ब्रह्म का निश्चय कराने वाले ही वेद वाक्य समझे जाते हैं, कर्म उपासना के हेतु वेद वाक्य नहीं हैं किंतु वेद वाक्यों के सहायक हैं। गुरु वाक्य से-गुरु समागम से मन निर्मल होता है, निर्मल मन में बोध वाक्य टिकते हैं और बोध होता है। सद्गुरु के

जो वाक्य हैं, वे ही वेद हैं, वेद अन्य नहीं है। वेद को अपौरुषेय माना है। गुरु अपने सब विकारों को त्यागकर, पुरुषपने के अभिमान से रहित होता है और जो वाक्य उच्चारण करता है शुद्ध चैतन्य से ही कहता है इसलिये वे वाक्य ही वेद हैं। अन्य वाक्य चाहे रुचिकर और जगत् में हित कर, स्वर्गादिक का बोध, क्रिया कराने वाले हों तो भी उन वाक्यों से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह सर्वदा दुःख रहित नहीं होती इसलिये वे लौकिक वाक्य हैं। अनंतकाल से जीव अज्ञान में पड़ा है इसलिये बोध वाक्यों को भी बहुत समय तक अभ्यास में लाने की आवश्यकता है इसलिये कहा है कि हमेशा वेद और गुरु वाक्य श्रवण करने योग्य हैं, ऐसा करने से मनुष्य कृत कृत्य होता है।

———::०::———

ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका।

(गतांक से आगे)

जिसके जानने से सबका ज्ञान हो जाय ऐसा एक ब्रह्म ही है इसलिये यहां ब्रह्म का ही कथन है ऐसा समझा जाता है, अचेतन प्रधान अथवा भोग्य से भिन्न भोक्ता का कथन हो ऐसा नहीं समझा जाता क्योंकि उनके जानने से सब का जानना संभव नहीं है। और 'सब्रह्म विद्यां सर्व विद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह' [मुण्ड० १, १, १] (उसने सब विद्याओं की आधाररूप ब्रह्म विद्या, ज्येष्ठ पुत्र अथर्व से कही) इस प्रकार ब्रह्म-विद्या का मुख्यतासे उपक्रम करके परा और अपरा दो विभाग करके परा विद्या जो अक्षर का ज्ञान कराती है वह ब्रह्म-विद्या है, ऐसा कहा है। वह ब्रह्म-विद्या जिस ब्रह्म का ज्ञान कराती है यदि वह अब्रह्मरूप हो तो बाधित हो— ब्रह्म विद्या ही न कहलाय। ऋग्वेदादि लक्षणा वाली अपरा-कर्म विद्या का ब्रह्म-विद्या के उपक्रम में ब्रह्म-विद्या की प्रशंसा के लिये कथन किया है क्योंकि 'प्लवा ह्येतेऽअदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्त— मवरंयेषु कर्म एतच्छ्रे्यो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युं ते पुनरेवपियान्ति॥' [मुण्ड० १, २, ७] (वास्तविक ये विनाशी, अदृढ़, यज्ञरूप अठारह हैं, जिनमें कर्म को हलका बताया है जो मूढ़ इनको श्रेयरूप मानते हैं वे फिर से जरामृत्यु को प्राप्त होते हैं) इत्यादि निन्दा के बचन हैं। इस प्रकार अपरा विद्या को हलकी बता कर उस से विरक्त हुए पुरुष को परा विद्या का अधिकार दिखलाया है— 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद माया न्नास्त्य कृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवा भिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥' [मुण्ड० १।२।१२] (कर्म से प्राप्त होने वाले लोकों को देख कर ब्राह्मण को वैराग्य ग्रहण करना चाहिये क्योंकि कर्म से मोक्ष नहीं होती। इस लिये उसको ब्रह्म के जानने के लिये हाथ में समिध लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये) पृथिवी आदि अचेतन पदार्थों को दृष्टान्त रूप ग्रहण करने से द्राष्टान्तिक भी अचेतन भूतयोनि होना चाहिये यह जो कहा वह ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टान्त और द्राष्टान्तिकमें अत्यन्त समानता हो यह नियम नहीं है। स्थूल पृथिवी आदि दृष्टान्त रूप लेनेसे द्राष्टान्तिक भूतयोनि भी स्थूल ही है ऐसा नहीं माना जाता। इसलिये अदृश्यत्व आदि गुण वाला भूतियोनि परमेश्वर ही है॥२१॥

विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां च नेतरौ॥२२॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और विशेषण भेद व्यपदेशाभ्यां विशेषण और भेद के कथन से [भूतियोनि परमात्मा है] इतरौ दूसरे दो (जीव और प्रधान) न नहीं [हैं]

टीकाः—विशेषण और भेद के कथन से परमेश्वर ही भूतयोनि है, दूसरे दो जीव अथवा प्रधान नहीं हैं। 'दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्या-

भ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः [मुण्ड० २,१,२] (दिव्य, मूर्त्ति रहित, पूर्ण, बाहर और भीतर रहने वाला, अज, प्राण रहित, मन रहित, शुद्ध) यह श्रुति प्रकृत भूतयोनि के विशेषण जीव से विलक्षण कहती है, ये दिव्यत्व आदि विशेषण अविद्या से दबे हुये, नाम रूप के अभिमानी और उनके धर्मों को अपने में कल्पने वाले जीव के विषे युक्त नहीं हैं इसलिये साक्षात् औपनिषद पुरुष का यहां पर कथन है। इसी प्रकार 'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर उससे पर) यह श्रुति प्रकृत भूतयोनि को प्रधान से भी भिन्न बताती है। जो अक्षर विकार को न प्राप्त हुआ, नाम रूप के बीज का शक्ति रूप, जिस में भूतों के संस्कार हैं ऐसा, ईश्वर चिन्मात्र जिसका आश्रय है ऐसा, उसका ही उपाधि भूत, सर्व विकार से पर ऐसा जो अविकारी है वह अक्षर से पर है, इस प्रकार के भेद से कथन किया है इसलिये यहां पर परमात्मा ही कहा गया है। ऐसा यह श्रुति दिखलाती है। यहां पर प्रधान नाम का कोई स्वतंत्र तत्व है इस प्रकार स्वीकार करके प्रधान से उस का भेद है ऐसा नहीं कहा है किन्तु ऐसा कहा है कि यदि प्रधान की कल्पना की जाय और श्रुति से विरोध न होवे इस प्रकार अव्याकृतादि शब्द वाच्य और भूत सूक्ष्म जिस में भूतों के संस्कार हैं ऐसी कल्पना की जाय तो भले ही कल्पना करो। इस से विरुद्ध कथन करने से भूतयोनि परमेश्वर है यह यहां पर प्रतिपादन किया गया है ॥२२॥

और परमेश्वर भूतयोनि क्यों है ?

रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—च और रूपोपन्यासात् रूप के उपन्यास से [परमेश्वर भूतयोनि है]

टीकाः—'अक्षरात् परतः परः' (पर जो अक्षर उससे पर) और फिर 'एतस्माज्जायतेप्राणः' (इसमें से प्राण उत्पन्न होता है) इस प्रकार प्राण से आरंभ करके पृथिवी पर्यन्त तत्वों की सृष्टि कह कर, इस भूतयोनि रूप परमात्मा के ही विकार वाले सब रूप हैं, ऐसा श्रुति कहती है। 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्व भूतान्तरात्मा ॥' [मुण्ड २। १ ४] (द्युलोक जिसका मस्तक है, चन्द्र सूर्य नेत्र हैं, दिशायें कर्ण हैं, वेद जिसकी प्रकट वाणी है वायु प्राण है। विश्व हृदय है, जिसके दो पैरों में से पृथिवी उत्पन्न हुई है, यह विष्णुदेव सब भूतों का अन्तरात्मा है) ये सब धर्म परमात्मा के ही युक्त हैं क्योंकि वह सर्व विकारों का कारण है। ये धर्म शारीर (जीव) के योग्य नहीं हैं क्योंकि उस की महिमा अल्प है। इसी प्रकार यह रूप का उपन्यास प्रधान को भी संभव नहीं है क्योंकि प्रधान को सर्व भूतों का अंतरात्मा होना संभव नहीं है। इसलिये परमेश्वर ही भूतयोनि है दूसरे दोनों (शारीर और प्रधान) नहीं हैं ऐसा समझा जाता है।

शंकाः—यह रूप का उपन्यास भूत योनि का है, यह किस कारण से समझा जाता है ?

समाधानः—प्रकरण से और 'एषः' इस प्रकार का प्रकृत ब्रह्म का सूचन किया है इस से ऐसा समझा जाता है। भूतयोनि को प्रकृत करके 'एतस्माज्जायते प्राणः' 'एष सर्व भूतान्तरात्मा' (इस में से प्राण उत्पन्न होता है, यह सब भूतों का अन्तरात्मा है) यह वचन भूतयोनि के लिये ही हैं। जैसे उपाध्याय को प्रकृत करके 'एतस्मादधीष्व,' 'एष वेद वेदाङ्ग पारगः' (इस से पढ़, यह वेद और वेदाङ्ग के पार गया हुआ है) यह जो वचन है सो उपाध्याय के लिये ही है इसी प्रकार उपरोक्त वचन भूतयोनि ब्रह्म के लिये ही है।

शंकाः—परन्तु अदृश्यत्वादि गुण वाले भूतयोनि का शरीर वाला रूप किस प्रकार हो सकता है ?

(अपूर्ण)

अध्यात्म उपनिषद्।

(गताङ्क से आगे।)

जो पुरुष अपनी बुद्धि से जीव और ब्रह्म में और ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं जानता वह जीवन्मुक्त है ॥ ४६ ॥ सत्पुरुषों से पूजित होने से और दुर्जनों से दुःख प्राप्त होने से जो समभाव में रहता है. वह जीवन्मुक्त है ॥४७॥ जिसने ब्रह्म तत्व को जाना है, उसको प्रथम के समान संसार नहीं रहता और जो प्रथम के समान ही रहे तो जानना चाहिये कि वह ब्रह्मतत्व से अज्ञात–बहिर्मुख है ॥४८॥ जब तक सुखादि का अनुभव होता है तब तक प्रारब्ध मानने में आता है क्योंकि फल का उदय पूर्व की क्रिया से ही होता है, क्रिया बिना कभी भी नहीं होता ॥४६॥ जैसे जाग्रत् अवस्था प्राप्त होने से स्वप्न कर्म का लय हो जाता है तैसे ही 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा ज्ञान होने से सैकड़ों और करोड़ों कल्पों के बने हुये संचित कर्मों का लय होता है ॥५०॥ जैसे आकाश किसी से लेपायमान नहीं होता ऐसे ही जिस यति को 'मैं असंग उदासीन हूं' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ है वह किसी प्रकार के कर्मों से कभी भी लेपायमान नहीं होता ॥५१॥ जैसे आकाश घट का योग करके दारू की गंध से लेपायमान नहीं होता तैसे आत्मा उपाधि के योग से लेपायमान नहीं होता ॥५२॥ ज्ञान होने के प्रथम जिसका फल प्राप्त होना आरम्भ हो चुका है ऐसा प्रारब्ध कर्म निशान लगाने के उद्देश से छूट चुके हुये बाण के समान, फल दिये बिना नाश को प्राप्त नहीं होता ॥ ५३ ॥ बाघ समझ कर बाण छोड़ दिया, पीछे से जाना गया कि गाय है तो भी वह बाण स्थिर नहीं होता, वेगसे भरा हुआ निशानपर जाकर लगता ही है॥५४॥ 'मैं अजर हूं अमर हूं' इस प्रकार आत्मा को जानने वाले को–आत्मा में टिके हुये को प्रारब्ध कर्म की कल्पना नहीं होती ॥५५॥ जब देह रूप से स्थिति होती है तब प्रारब्ध सिद्ध होता है, जिस को देहात्म का भाव इष्ट नहीं है उस को प्रारब्ध को छोड़ देना चाहिये ॥५६॥ देह का प्रारब्ध कहना भी भ्रांति की कल्पना है ॥५७॥ अध्यस्त पदार्थ सत्य नहीं होता, असत्य का जन्म नहीं होता, जो जन्मा नहीं है उसका नाश नहीं होता और असत् का प्रारब्ध नहीं होता ॥ ५८ ॥ ज्ञानसे अज्ञान के कार्य का मूल सहित, नाश होता है तब देह का रहना ही किस प्रकार संभवे? ऐसी शंका जड़ पुरुषों की होती है, उसका समाधान करने के लिये श्रुति ने 'बाह्य दृष्टि' से प्रारब्ध रहता है' ऐसा कहा है ॥ ५६ ॥ देहादिक सत्य हैं, ऐसा विद्वान पुरुषोंके जानने के निमित्त नहीं है, परिपूर्ण आदि और अंतसे रहित, क्रियाके अयोग्य और विक्रिया रहित है ॥ ६० ॥ सद्रूप, चिद्रूप, आनन्द रूप और अव्यय, सबका अपना आप, एक रस, पूर्ण, अनन्त और सब तरफ मुख वाला है ॥ ६१ ॥ छोड़ा न जाय ऐसा, ग्रहण न किया जाय ऐसा, विषयों से रहित, आश्रय से रहित, निर्गुण, अक्रिय, सूक्ष्म, निर्विकल्प और निरंजन है ॥ ६२ ॥ जिसको मन और वाणी नहीं पहुंचते, इसलिये जिसका स्वरूप निरूपण नहीं हो सका ऐसा, सत्य, परिपूर्ण, स्वतः सिद्ध, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप उपमा रहित ऐसा ब्रह्म एक और अद्वितीय है, उसमें नानापना कुछ भी नहीं है ॥६३॥ अपने अनुभव से अपने ही आत्मा को अखंडित जान कर, सिद्ध होकर, अपने ही निर्विकल्प रूप से रहना ॥६४॥ यह जगत् कहां गया, कहीं भी न हुआ था, और उसे कौन ले गया? यह तो अभी मेरे देखने में आया है! यह बड़ा आश्चर्य है ॥६५॥ अखंड आनन्द रूप अमृत से भरा हुआ, ब्रह्मरूप महा सागर में क्या लेना? क्या छोड़ना? क्या भिन्न है? और क्या विलक्षण है? कुछ भी नहीं ॥६६॥ इस स्थिति में मैं कुछ भी देखता नहीं हूं, सुनता नहीं हूं और जानता भी नहीं हूं! मैं तो सदानन्दमय अपने स्वरूप से विलक्षण हूं ॥६७॥ मैं असंग हूं, अंग रहित हूं, लिंग रहित हूं, शांत हूं, अनन्त हूं, निर्मल हूं और सनातन हूं ॥६८॥ मैं अकर्ता हूं, अभोक्ता हूं, निर्विकार हूं, क्रिया रहित हूं, शुद्ध बोध रूप हूं, केवल हूं और हमेशा मंगल स्वरूप हूं ॥६६॥ यह विद्या प्रथम हिरण्यगर्भ को दी गई, हिरण्य गर्भ से ब्रह्मा को मिली ब्रह्मा ने घोर आंगिरस को दी, घोर आंगिरस ने रेक को दी, रेक ने राम को दी, राम से सब भूत प्राणियों में प्रवर्त हुई। यह निर्वाण का उपदेश है, वेद का उपदेश है वेद का उपदेश है ॥

स्कन्दोपनिषद्।

[स्कन्द कहते हैं]:—हे महादेव! मैं आपकी कृपा से अच्युत रूप, शिव स्वरूप हूं और विज्ञानघन हूं, इससे अधिक क्या होगा! ॥ १ ॥ जब अन्तःकरण विषयाकार होकर विस्तार को प्राप्त होता है तब अपने स्वरूप का भान नहीं होता और जब अन्तःकरण का नाश हो जाता है तब ज्ञान स्वरूप हरि ही रहता है ॥२॥ मैं ज्ञान स्वरूप में स्थित हूं और अजन्मा हूं, इससे अधिक और क्या है! इसके सिवाय सब जड़ स्वप्न के समान होने वाला है ॥३॥ चैतन्य और जड़ का जो द्रष्टा है वह ही अच्युत, ज्ञान स्वरूप है, वह ही महादेव है, वह ही महा हरि है ॥४॥ वह ही ज्योतियों का ज्योति है, वह ही परमेश्वर है, वह ही परब्रह्म है, वह ही ब्रह्म मैं हूं, इस में संशय नहीं है ॥ ५ ॥ जीव शिव है, शिव जीव है, वह जीव केवल शिव है, जिस प्रकार छिलके से ढका हुआ धान होता है, छिलका उतर जाने से चांवल हो जाता है ॥६॥ इसी प्रकार (कर्म में) बंधा हुआ जीव है, कर्म (वासना) नाश होने पर सदा शिव है, इसी प्रकार पाश में बांधा हुआ जीव है, पाश से छुटा हुआ सदा शिव है ॥७॥ शिव विष्णुरूप है और विष्णु शिव रूप है, शिव का हृदय विष्णु है और विष्णु का हृदय शिव है ॥८॥ जैसे शिवमय विष्णु है ऐसे ही विष्णुमय शिव है जब मैं अन्तर नहीं देखता हूं तब मैं कल्याण को प्राप्त हुआ हूं ॥९॥ जिस प्रकार शिव और केशव में आंतरिक भेद नहीं है इसी प्रकार देह को देवालय कहा है और जीव केवल शिव है, अज्ञान निर्माल्य को छोड़ कर सोऽहं (वह मैं हूं) इस भाव से पूजन करे ॥ १० ॥ अभेद देखना ज्ञान है, मन को विषय (वृत्ति) रहित होना ध्यान है, मन के मल का त्याग स्नान है और इन्द्रियों को रोकना शौच है ॥ ११ ॥ ब्रह्म रूपी अमृत का पान करे, देह रक्षा के लिये भिक्षा का भोजन करे, द्वैत से रहित एकान्त स्थान में अकेला वास करे, जो बुद्धिमान् इस प्रकार का आचरण करे सो मुक्ति को प्राप्त हो ॥ १२ ॥ श्री परमधाम, कल्याण स्वरूप, चिरायु, को नमस्कार है, हे नृसिंह, देवेश! आपके प्रसाद से विरिंचि, नारायण, शंकर स्वरूप, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनंत, अव्यय, वेद स्वरूप ब्रह्म को आत्म स्वरूप से जानते हैं ॥ १३ ॥ जो विद्वान् पुरुष उस विष्णु के परम पद को स्वर्ग के विस्तार के समान नेत्रों से प्रत्यक्ष देखते हैं ॥१४॥ वे विद्वान् ब्रह्म भाव में लीन होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं वह विष्णु का परम पद है, वह ही निर्वाण का उपदेश है, वह ही वेद का उपदेश है, वह ही वेद का उपदेश है ॥ १५ ॥

———:;o:;———

सूचना।

श्री मद्भगवद्गीता की आठ शंकाओं के समाधान कई अनुभवी विद्वानों की तरफ से प्राप्त हुये हैं। उन्हें आगामी अंक के टाइटिल पेज पर प्रकाश करना आरंभ करेंगे। कई महानुभावों का यह आग्रह हुआ है कि वेदान्त केसरी की चालू लेखक शैली से आप को ही समाधान करना चाहिये क्योंकि वह लोगों के समझने में विशेष मदद रूप होगा इसलिये हमारा लिखा हुआ समाधान भी आगामी अंक से आरम्भ होगा।

—सम्पादक

Registered No. A.880

ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } आषाढ़ सं० १९७८ जुलाई १९२१ { अंक ६

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में स्याल खूब गर्जनाकरते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।
(४) एक अङ्क का मूल्य ।—) लिया जायगा। नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

गीता की शंकाओं का समाधान

(लेखक—स्वामी पं० प्रीतमदास जी परमहंस)

ॐ श्री परमात्मने नमः श्री गुरुभ्योनमः ॥
कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही भात्यात्ममायया ॥
अहोभाग्यमहोभाग्यं नंदगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णंब्रह्म सनातनम् ॥
कृषिर्भूवाचकोधातुर्णश्च निवृत्तिवाचकः ।
तदोरैक्यं परंब्रह्म कृष्णमित्यभिधीयते ॥

मासिकपत्रिका वेदांत केसरी के चैत्र के अंक में गीता विषयक आठ शंकायें लिखी हैं और यथा प्रसंग श्लोकों के अंक भी आक्षेपक ने लिखे हैं उनको जब हमने विचारा तो इन शंका रूपी पंक का उनमें लेश मात्र भी प्रतीत नहीं हुआ। श्री भगवान् ने तो स्वरचित गीता में सर्वत्र अर्जुन के आक्षेप पूर्वक आप ही समाधान कर रखा है इसी कारण गीता सर्व शास्त्रमयी कही गई है परन्तु आक्षेपक को वे समाधान क्यों नहीं प्रतीत हुये इसमें हम को तीन हेतु प्रतीत होते हैं—एक तो गीताभ्यासी पुरुषों की परीक्षा, दूसरा—आजकल कुतर्कों की बाहुल्यता होने से उनकी शांति के निमित्त विद्वानों की सम्मति लेने की आकांक्षा। तीसरा यह है कि यह शास्त्र गुरु लक्ष्य है अर्थात् गुरुमुख से ही इसका अभिप्राय हृदय में आरूढ़ होता है। भला! ईश्वर के संकेत को कौन निवृत्त कर सके। इस पर विद्वानों ने एक उपहास भी लिखा है।

यथा—यः शास्त्रेषुस्वयमधीते नाधीतेगुरुसंनिधौ ।
न शोभते सभा मध्ये जारगर्भा इवस्त्रियाः ॥

अस्तु! जो हमारी बुद्धि में गुरुकृपा से भान होता है सो हम इन आक्षेपों के उत्तर में लिखते हैं।

(१) आक्षेपक ने द्वितीयाध्याय के चार श्लोकों के अंक देकर शंका की है कि इनमें गीता वेदों की तुच्छता को प्रतिपादन करती है। हमने जबश्लोकों को विचारा तो उनमें वेद की तुच्छता किसी रीति से भी नहीं पाई गई॥ ४२ से ४४ श्लोक तक तीन

(टाइटिल पृष्ठ ३ देखो)

वेदान्त केसरी।

पुस्तक ३ | आषाढ़ सं० १९७८। जुलाई १९२१ | अंक ९

ऐसी हि हो।

हरि गीत छन्द।

(१)

प्रण कीन दृढ मन्दालसा मम गर्भ में जो आयगा।
निश्चय करूंगी मुक्त, सो नहिं जन्म दूजा पायगा॥
भय से निकाले पुत्र को नहिं दूसरा फिर जन्म हो।
निज पुत्र की हितकारिणी हो मातु तो ऐसी हि हो॥

(२)

हे पुत्र! गोपीचन्द! ले ले योग माता ने कहा।
कीना चिरंजीवी उसे, है आज तक यश छा रहा॥
जो पुत्र के कल्याणहित तजि पुत्र दे निर्मोहि हो।
माता उसे ही जानिये, हो मातु तो ऐसी हि हो॥

(३)

पितु वाक्य शिरधर परशुधर, शिरकाट माताका दिया।
देखा उन्हें हि प्रसन्न जब तब मातु को जिलवा लिया॥
राजी रखे पितु मातु को दोनों हि का हितकार हो।
नहिं धर्म से अपने हटे, हो पुत्र तो ऐसा हि हो॥

(४)

श्री कृष्ण ने पितुमातु का बंधन-छुड़ाया जगत् का।
परलोक का भी सुख दिया, कारण मिटाया अहितका॥
इस लोक अरु परलोक में पितु मातु का कल्याण हो।
ऐसा करे, है पुत्र वहि, हो पुत्र तो ऐसा हि हो॥

(५)

पा जन्म राक्षस वंश में, प्रह्लाद ने हरि को भजा।
पाये अनेकों कष्ट तो भी भक्ति करना नहिं तजा॥
निज इष्ट को भजता रहे कितनाहि चाहे विघ्न हो।
नहिं भयकरे नहिं दीनता, हो भक्त तो ऐसा हि हो॥

(६)

आपत्ति पर आपत्तियां मीरां सहीं नहिं हाय की।
विष का पयाला पी गई कुछ भी नहीं परवाह की॥
माने कभी नहिं दुःखको, मरने तलक का भय न हो।
दिन रात श्रीपति को रटे हो भक्त तो ऐसा हि हो॥

(७)

राजा जनक ने दान दीना याज्ञवल्क्य लिया उसे।
शोभे तभी ही दान हो दाता गृहीता एक से॥
नहिं दग्ध हाथों को करे दोनों हि का अतिश्रेय हो।
कल्याण कर सब भांति से, हो दान तो ऐसा हि हो॥

(८)

मल्लाह पुत्री से हुये, विस्तार वेदों का किया।
करिशास्त्ररचनाविविधविध संसारभर को सुखदिया॥
कल्याण कर्ता व्यास सम जग में न कोई अन्य हो।
तारे महापापी तलक, कल्याणकर ऐसा हि हो॥

(९)

जो जन्म ले नहिं जन्मता, जन्मा उसे ही जानिये।
मरकर नहीं मरता पुनः मरना उसी का मानिये॥
ले जीत जग संग्राम को, रणशूर उसको हि कहो।
हैं अन्य झूठे शूर, जो, हो शूर तो ऐसा हि हो॥

(१०)

सो बुद्धि है व्यभिचारिणी निज आत्मसे जो दूर है।
है बुद्धि सो ही पतिव्रता जो आत्म रति में चूर है॥
है बुद्धि वहि कौशल्य! जिसका आत्म से नहिं भेद हो।
जल दूध सम रहवे मिली, हो बुद्धि तो ऐसी हि हो

श्रीमद्भगवद्गीता में की

आठ शंकाओं का उत्तर।

जिस प्रकार की ये आठ शंकायें की गई हैं, गीता पढ़ने वाले को ऐसी शंकाओं का होना अशक्य है क्योंकि जिसमें 'गीता वेद को और वर्णाश्रम को नहीं मानती, कर्म और ज्ञान दोनोंएक दूसरे से विरुद्ध हैं गीता उनको एक में सम्मिलित करती है, मूर्ति पूजा झूंठी है, श्रीकृष्ण को सामान्य मनुष्य ही समझना चाहिये, विराट्-विश्वरूप दर्शन एक तमाशा था और अर्जुन योग्य शिष्य नहीं था' ऐसा भाव है, वह गीता को बारम्बार किस प्रकार पढ़ सक्ता है। भाव-श्रद्धा बिना बारम्बार पढ़ना नहीं होसक्ता। उपरोक्त सब शंकाओं में अश्रद्धा दीखती है यदि शंका करने वाले सज्जन की ये शंकायें वास्तविक हैं तो शोक सहित कहना पड़ता है कि वह अभी गीता पढ़ने के योग्य नहीं है। और यदि जान कर भी दृढ़ता के निमित्त विरुद्ध भाव को धारण करके उसने शंकायें की हैं तो उत्तर से अवश्य दृढ़ता होगी। गीता के थोड़े बहुत रहस्य को भी वह ही जान सक्ता है जिसको श्री कृष्ण भगवान् ने उसके पढ़ने अथवा सुनने का अधिकारी समझा है। "जो (स्वधर्माचरण रूप) तपश्चर्या करने वाला नहीं है, जो (वेद, ईश्वर और गुरु का) भक्त नहीं है, जो उपदेश की इच्छा रहित है और जो (वेद ईश्वर और गुरु की) निंदा करने वाला है, उसे यह ज्ञान कभी भी न देना चाहिये परन्तु मेरे भक्त ही को देना चाहिये।" यह भगवान् के वाक्य हैं, इनके अनुसार अनधिकारी, उत्तर पढ़ने पर भी, समझ नहीं सक्ता परन्तु हम अधिकारियों की दृढ़ता के निमित्त उत्तर देने में प्रवर्त होते हैं।

किसी भी ग्रन्थ के किसी एक विषय के थोड़े से श्लोक पढ़ लेने से श्लोकों का यथार्थ अर्थ समझ में नहीं आ सक्ता परन्तु किस भाव से, किस प्रसंग में, किस हेतु से, और किस प्रकार के अधिकारी को समझाने के लिये कथन किया गया है, इन सब बातों का विचार अवश्य करना पड़ता है। परा पूर्व सम्बन्ध, उपक्रम और उपसंहार इत्यादि बिना ग्रन्थ के अर्थ का यथार्थ निर्णय नहीं हो सक्ता। ये सब शंकायें इन सब बातों के अभाव से उत्पन्न हुई हैं।

(१) प्रश्नः—गीता वेद को मानती है या नहीं, यदि मानती है तो किस दृष्टि से? अध्याय २ श्लोक ४२, ४५, ४६ और ५३ में वेदों का तुच्छता की दृष्टि से क्यों कथन किया है?

उत्तरः—गीता में वेद का वेद और वेद्य दो प्रकार के भावों से उपयोग किया गया है:—जहां वेद्य के वर्णन—प्रभाव की अपेक्षा रक्खी गई है, वहां वेद को गौणता दी गई है और जहां अपेक्षा नहीं रक्खी है किन्तु वेद्य भाव से वर्णन किया गया है वहां वेद की मुख्यता है। गौणता तुच्छता नहीं है इसलिये गौणता के भाव से किये हुये वर्णन से 'गीता को वेद मान्य नहीं है' ऐसा सारांश नहीं निकलता। गीता तो वेद में से खेंचा हुआ ऐसा अतर है जो देश काल के अनुसार उपयोग में आ सके। जिसमें से गीता रूपी अतर खेंचा गया है उसे गीता न माने, यह नहीं हो सक्ता। वेद की गौणता का कथन केवल गीता ही में हो ऐसा नहीं है किंतु वेद में भी है। मुंडकोपनिषद् १-५ में लिखा है:—"ऋक्, यजुस्, साम, अथर्वण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष अपरा विद्या रूप हैं और जिससे अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है उसको परा विद्या कहते हैं" इससे सिद्ध है कि अपरा विद्या में वेद की गौणता है और परा विद्या में 'वेद वेद्य रूप होने से वेद की मुख्यता है। गीता में जहां २ कर्म के भाव से वेद की गौणता है वह इस प्रकार है:—वेद के वाद में रत (कर्म फल में प्रीति वाले) अज्ञानी फलों को बहुत बढ़ा २ कर कहते हैं और कहते हैं कि इसके सिवाय अन्य कोई फल नहीं है' (अ० २—४२) 'तीनों गुणों के प्रकाशक वेद हैं-

तीनों गुणवाले वेद हैं, हे अर्जुन ! तू तीनों गुणों से रहित हो' (अ० २—४५) 'सम्पूर्ण वेदों से होने वाला फल ब्रह्म जानने वाले को सहज में प्राप्त होता है' (अ० २—४६) 'अनेक प्रकार के वेद वाक्यों से भ्रांति में पड़ी हुई तेरी बुद्धि जब निश्चल होगी तब तू योग को प्राप्त होगा' (अ० २—५३) 'योग के जानने की इच्छा करने वाला पुरुष भी वेदोक्त कर्म फल को उल्लंघन करता है' (अ० ६—४४) 'इस प्रकार का विश्वरूप दर्शन वेद से नहीं होता' (अ० ११—४८) 'मैं वेद द्वारा जाना नहीं जाता' (अ० ११—५३) इन सब वाक्यों में कर्म फल का सम्बन्ध है, इस सम्बन्ध से ही वेद की गौणता है जो मुख्य वेद्य के वर्णन की अपेक्षा से है।

मुख्यता का वर्णन इस प्रकार है:—'वेद के जानने वाले जिसको अक्षर कहते हैं, उसको संक्षेप से मैं तुझ से कहता हूं' (अ० ८—११) 'ऋक्, यजुः और सामवेद मैं हूं' (अ० ९—१७) 'वेदों में साम वेद मैं हूं' (अ० १०—१२) 'साम वेद में बृहत् साम और छन्दों में गायत्री मैं हूं' (अ० १०—३५) 'संसार रूपी वृक्ष को जो जानता है वह वेद को जानता है' (अ० १५—१) 'संपूर्ण वेदों द्वारा जानने योग्य वस्तु मैं हूं' 'वेदांत का निर्माण करने वाला मैं हूं और वेदों का जानने वाला मैं हूं'। (अ० १५—१५) 'इसी कारण मैं लोकों में और वेदों में पुरुषोत्तम कहा जाता हूं'। (अ० १५—१८) 'ॐ तत्सत् ब्रह्म के तीन नाम हैं उनसे ब्राह्मण, वेद और यज्ञ पहिले हुए' (अ० १७—२३) इस प्रकार कई मुख्य और विभूतियों में भी वर्णन है इस से गीता वेदों को नहीं मानती, यह सिद्ध नहीं होता। गीता में कर्म के त्याग का भाग मुख्य है और वेदों में कर्म फल और कर्म फल का त्याग रूप ज्ञान दोनों ही हैं इसी से कर्म फल के अंश रूप वेद को मानने में गौणता है और ज्ञान वाले वेद वेद्य की मुख्यता है।

वेद सब के लिये उपदेश करने वाला होने से कर्म फल, उपासना फल और ज्ञान फल तीनों को दिखलाने वाला है। गीता के श्रवण करने वाले अधिकारी अर्जुन को केवल कर्म फल का अधिकारी नहीं समझा इसलिये कर्म फल के अंश में वेद की गौणता है। संसार में कर्म फल के भोगने वाले विशेष अधिकारी हैं इसी कारण कर्म फल का विवेचन वेदों में विशेष है। जिस में जो बात विशेष होती है, सामान्यता से वह उसी विषय वाला कहा जाता है। वेद में कर्म फल विशेष होने से वेद कर्म रूप है ऐसा कहना बन सकता है। जिस प्रकार किसी ग्राम में विशेष ब्राह्मण रहते हों तो वह ब्राह्मणों का ग्राम कहा जाता है इसी प्रकार वेद में कर्म प्रतिपादन विशेष होने से वेद कर्म प्रतिपादक कहा जाता है। वेद्य से वेद की गौणता ही वेद का भूषण है। यदि वेद्य की मुख्यता वेद को प्राप्त न हो तो वेद अनित्य हो जायगा।

एक मनुष्य का विवाह बहुत उत्साह के साथ हुआ। जिसका विवाह हुआ उसके माता पिता को उसके मित्रवर्ग जानते थे परन्तु उसके बाबा को नहीं जानते थे क्योंकि वह दूर देश में रहता था, विवाह के प्रसंग पर बाबा बुलाया गया था। जब विवाह हो गया तब दुल्हा दुल्हन बाबा के पैर छूने गये। उनको उसके पैर छूते देख कर दुल्हा का एक मित्र क्रोधित होकर कहने लगा—"देखो! पिता पास ही खड़ा है, उसके पैर तो नहीं छुये, एक अज्ञात बूढ़े के पैर छू रहा है, यह कैसा अनुचित है! शादी के विशेष आनन्द में दूल्हे की मति मारी गई है! उसने पिता का अपमान किया है!" ऐसे वह बोल ही रहा था कि इतने में दूल्हा दुल्हन ने पिता को भीप्रणाम किया। यह देख कर वह ही मित्र बोला "वाह! पिता मुख्य है, तूने उसे गौणता क्यों दी?" तब दूल्हा कहने लगा—"मित्र! इस गौणता का कारण तुझे मालूम नहीं है; इन (बाबा की तरफ हाथ करके) के सामने पिता की गौणता ही योग्य है

क्योंकि यह मेरे पिता के भी पिता हैं!" मित्र का भ्रम दूर हो गया और वह अपने कहे हुये अयुक्त वचनों का पश्चात्ताप करने लगा।

इस प्रकार वेद की गौणता वेद्य स्वरूप ब्रह्म की अपेक्षा से है। जिस प्रकार स्वर्ग से मोक्ष की मुख्यता और मोक्ष से स्वर्ग की गौणता है। जिस का भाव वेद्य की तरफ नहीं है, जो वेद्य को नहीं जानता ऐसा मनुष्य इस मित्र के समान वेद की गौणता से खिन्न होता है। वेद के कर्म कांड भाग से होने वाला फल नाशवान् होने से, वह वेद अंश भी नाश वाला है परन्तु निष्काम कर्म का भाव भी कर्मों में रहता है जो वेद्य-ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला है उससे वेद शोभा को प्राप्त होते हैं। वेद का कर्मकांड भाग ब्रह्म का धड़ रूप और ज्ञान कांड शिर रूप है। शिर से ही धड़ की शोभा है, शिर बिना धड़ सूतक है और उसे कोई नहीं पूछता। यह भी समझाने के निमित्त कहा जाता है।

(२) प्रश्नः—गीता वर्णाश्रम धर्म को मानती है या नहीं? यदि मानती है तो किस प्रकार? यदि नहीं मानती है तो वर्णाश्रम धर्म का मंडन क्यों करती है और मानती है तो सर्व धर्मों को छोड़ कर अ० १८ श्लोक ६६ का सच्चा अर्थ क्या है? अब शूद्रों और पापयोनियों का परमगति होना वर्णित है तब वर्णाश्रम किस निमित्त है? यदि वर्णाश्रम धर्म लौकिक हैं तो अन्य देश वासियों का वर्णाश्रम धर्म रहित निर्वाह होता ही है।

उत्तरः—गीता वर्णाश्रम धर्म को मानती है क्योंकि उनके ऊपर ही तो उस की नींव खड़ी की गई है। यदि गीता वर्णाश्रम को न मानती होती तो उस की रचना ही नहीं हो सकी थी। वर्णाश्रम सहित ज्ञान का अधिकारी हो सका है, वर्णाश्रम का त्याग करके नहीं, यह गीता का मुख्य सिद्धांत है। गीता में कर्मयोग की विशेषता है। कर्मयोग—निष्काम कर्म से अन्तःकरण की शुद्धि दिखलाई है। कर्मयोग में कर्म अवश्य करने पड़ते हैं। तब प्रश्न होता है कि कौन से कर्म करने चाहियें। इस प्रश्न के उत्तर में वर्णाश्रम धर्मोचित शास्त्रविधि युक्त कर्म कर्तव्य रूप से बताया है। वर्ण और आश्रम के धर्म भिन्न २ हैं। वे सब के लिये एक समान नहीं हैं। जो ब्राह्मण के कर्म हैं, वे ब्राह्मणों के लिये विहित हैं और क्षत्रियों के लिये निषिद्ध हैं और क्षत्रियों के विहित कर्म ब्राह्मणों के लिये निषिद्ध हैं इसलिये वर्णाश्रम के त्याग से कर्मयोग नहीं हो सक्ता। वर्णाश्रम धर्म को मानते हुये, उनका मंडन करते हुये अर्जुन को क्षत्रिय कर्म युद्ध रूपी धर्म में बारम्बार प्रेरित किया गया है। यद्यपि कर्मयोग में वर्णाश्रम का मंडन है तो भी नैष्कर्म सिद्धि के बाद वर्णाश्रम धर्म का पालन करना ही चाहिये, यह नियम नहीं है। जिस समय निष्काम कर्म करने की आवश्यकता है उस समय वर्णाश्रम की महत्वता है। जब अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि हो कर ज्ञान की प्राप्ति हो जाय उस समय प्रकृति के सब धर्मों का त्याग वर्णित है और सब धर्मों को छोड़ कर एक मुझ परब्रह्म के शरण में आने को कहा है। शूद्रादिक पाप योनियों की भी मुक्ति होना जो कहा है वह उच्च वर्ण ही की मुक्ति हो और नीच वर्ण की न हो ऐसा न होने से ही कहा है। किसी भी वर्ण का क्यों न हो मुक्ति के निमित्त अन्तःकरण शुद्ध होने की आवश्यकता है। यदि वर्णोचित कर्म करने से अन्तःकरण की शुद्धि हो जाय तो मुक्ति हो सक्ती है। मुक्ति समानता में होती है और समानता वर्णाभिमानी को वर्णोचित कार्य में होती है इसलिये उसकी मुक्ति उस वर्ण में से ही होना संभव है। मुक्ति के निमित्त क्रम से नीच वर्ण से उच्च वर्ण में जाने की आवश्यकता नहीं है। वर्णाश्रम व्यवहार के निमित्त ही नहीं है किंतु व्यवहार सहित मोक्ष मार्ग में ले जाने के निमित्त है। वर्णाश्रम के अनुसार वैदिक विधि से किये हुये कर्म स्वर्गादि सुख प्राप्ति का हेतु होते हैं और ज्ञान के संस्कारों को जमाते हुये मोक्षगामी कराते हैं। वर्णाश्रम रहित शुभ कर्म

लौकिक सुख अवश्य देते हैं परन्तु मोक्ष मार्ग में नहीं ले जाते इसलिये आर्य सिद्धान्तानुसार वर्णाश्रम धर्म अनुकूल वर्तना ही हितकर है। अन्य विदेशी जो आर्य नहीं हैं, उन के यहां आर्य के समान वर्ण व्यवस्था नहीं है तो भी धंधे आदिक की उत्तम मध्यम आदिक व्यवस्था है इसलिये वहां के व्यवहार में बाधा नहीं होती किंतु वर्ण व्यवस्था की सूक्ष्मता के अभाव से सूक्ष्मता का फल उन लोगों को होना संभव नहीं है।

वर्ण के पोषक श्लोक गीता में इस प्रकार आये हैं:-'हे अर्जुन! तेरा क्षत्रिय धर्म युद्ध है उसे देखते हुये भी तुझ को चलायमान होना योग्य नहीं है क्योंकि क्षत्रियों को धर्मयुद्ध से बढ़कर और कोई भी कल्याण करने वाला नहीं है' (अ०२-३१) 'हे पार्थ! अपने आप प्राप्त हुआ यह युद्ध स्वर्ग का खुला हुआ द्वार है, इस प्रकार का युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियों को मिलता है' (अ० २-३२) 'यदि अपने धर्म के अनुकूल तू इस संग्राम को न करेगा तो धर्म और यश को छोड़ कर केवल पाप को ही प्राप्त होगा' (अ० २-३३) 'अपना धर्म गुणहीन हो और पराया धर्म गुणयुक्त हो तो भी पराये धर्म से अपना धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में मरना श्रेष्ठ है परन्तु पराया धर्म भय को देने वाला है' (अ० ३-३५) 'गुण और कर्म इन के विभाग से मैंने चारों वर्णों की व्यवस्था की है, उसके करने वाले मुझ को तू अकर्ता ही जान, क्योंकि मुझ में श्रम आदिक कोई विकार नहीं है' (अ० ४-१३) 'हे पार्थ! मेरा आश्रय करके नीच कुल में जन्म लेने वाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी परम गति को पाते हैं, फिर पुण्य कर्म करने वाले ब्राह्मण और परमभक्त राजर्षियों का कहना ही क्या है' 'हे अर्जुन! इस अनित्य और सुख से हीन मनुष्य लोक को प्राप्त हो कर मुझ को भज' (अ० ९-३२ ३३) 'हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उन के स्वभाव के गुणों के अनुसार सब के कर्म बनाये गये हैं। चित्त की स्थिरता, बाहर की इन्द्रियों का रोकना, तपश्चर्या, पवित्रता, क्षमा, सीधापन, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्यता ये ब्राह्मणों के स्वभावसिद्ध कर्म हैं। शौर्य, साहस, धैर्य, चतुराई, युद्ध में से न भागना, उदारपन और सामर्थ्य ये क्षत्रियों के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं। खेती, गौओं की रक्षा, और व्यापार वैश्यों के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं और भली प्रकार सेवा करना यह शूद्रों का स्वभाव सिद्ध कर्म है (अ० १८—४१ से ४४ तक) आगे के तीन श्लोकों में भी स्वकर्म यानी वर्ण के अनुसार कर्म करने से सिद्धि प्राप्त होने का उल्लेख किया गया है।

गीता में इस प्रकार का लेख होने पर भी वर्णाश्रम धर्म को तोड़ने की इच्छा वाले को आर्य किस प्रकार कहा जाय! जो लोग वर्णाश्रम धर्म को छोड़ते हैं, अथवा छोड़ने का उपदेश करते हैं उनको शास्त्र रहस्य ज्ञात ही नहीं है। ऐश्वर्य की दृष्टि में ही फंसे हुये, मनोकल्पित अधिकार रहित अयोग्य इमारत को बांधने वाले नींव का विचार नहीं करते, बिना नींव की उनकी इमारत उनको मार कर दबा ही देगी। ऐसे लोग सब प्रजा को वर्णसंकर बना कर, शंभु मेला करने वाले कलियुग के अत्याचार स्वरूप ही होंगे। जिनको शास्त्र रहस्य मान्य नहीं है, उनको आर्य न कहला कर म्लेच्छ, दस्यु आदिक कहलाना चाहिये। यद्यपि वर्णाश्रम धर्म आज कल पूर्व की अपेक्षा अति शिथिल हो गया है तो भी उसका उच्छेद करना आर्य शास्त्र का उच्छेद करना है और आर्य प्रजा को अनार्य बनाना और मूर्ख प्रजा की प्रतिष्ठा करना है जो किसी प्रकार आर्यवर्त को योग्य नहीं है। प्राचीन सब शास्त्रों में वर्णाश्रम धर्म का भली प्रकार वर्णन है। तुलसीकृत रामायण जो अर्वाचीन और भक्तिज्ञान के विषय वाला है उसमें भी इस प्रकार लिखा है:—

दोहा।

वर्णाश्रम निज २ धरम, निरत वेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं, नहिं भय शोक न रोग॥

वाल्मीकि रामायण में ऐसा वर्णन है:—एक शूद्र जिसका संस्कार नहीं हुआ था, एक बार तप और यज्ञ करने में प्रवर्त हुआ तो उसके इस विरुद्ध वर्ताव के कारण एक ब्राह्मण के जीते रहते उसका पुत्र मरण को प्राप्त हुआ। उस समय में वर्णाश्रम धर्म का ठीक २ पालन होने से सब पूर्ण आयु को भोगते थे, पिता के जीते हुये पुत्र नहीं मरता था। ब्राह्मण की पुकार सुन कर रामचन्द्र जी ने जो मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं, जगत् की मर्यादा के अर्थ ही जिनका अवतार हुआ था, उस शूद्र को ढूंढ कर राज्य धर्म के अनुसार मारडाला। वर्तमान समय में आर्य नीति युक्त राजा नहीं है इसलिये अन्धी दुनिया को भ्रमाने वाले इस प्रकार के धर्म को भले ही नष्ट किया करें परन्तु वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध चलने वाला चाहे उसे माने या न माने महान् ईश्वर के दंड से बच नहीं सका। वर्णाश्रम धर्म मात्र व्यवहार के निमित्त ही नहीं है परन्तु उसके गर्भ में धार्मिक रहस्य रहा हुआ है।

गीता अ० १८ श्लो० ६६ में जो 'सर्वधर्मान् परितज्य' लिखा है, वह वर्णाश्रम धर्म के बारे में नहीं लिखा है। यह श्लोक गीता के अन्तिम अध्याय और अन्त के श्लोकों में है। जब नैष्कर्म की सिद्ध हो जाती है, उसके पश्चात् परमपद किस प्रकार होता है, यह बताने के लिये और गुह्य ज्ञान के विवेचन करने को यह श्लोक है इसलिये पूर्ण ज्ञान के भाव वाले के लिये है या यों कहो कि परमहंसों का ज्ञान स्वरूप बोध है। 'तू सब धर्मों को छोड़ कर एक मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से निवृत्त कर दूंगा, शोच मत कर' आत्मा का कोई धर्म नहीं है। जितने धर्म हैं सब मायिक होने से त्रिगुणात्मक हैं इसलिये अन्तिम ज्ञान में मायिक धर्म छोड़ने को कहा है। 'मेरी शरण' यानी मैं जो सर्वव्यापक आत्म स्वरूप हूं, उसकी शरण में आ, तब वह आत्मा तुझे सब प्रकार के पापों से मुक्त कर देगा। मायिक दोष तबतक ही रहता है जब तक माया के भाव-शरण में है, इसलिये तू मायिक सब धर्मों को छोड़ दे, यानी जीवभाव जो माया से बना हुआ है उसे छोड़ दे, आत्मा की शरण—आत्मभाव में आ, यह भगवान् का कथन है। शरीर रहते हुये मायिक धर्म छोड़ना अशक्य है इसलिये अ० २ श्लोक ४५ के अनुसार मायिक भाव को छोड़ कर पश्चात् जो तेरा वर्ताव होगा वह शरीर का ही होगा तेरा न होगा और इस प्रकार करने से शरीर के साथ तेरा अनुसंधान न रहने से शरीराध्यास—अज्ञान से बने हुये संचित कर्मों का फल भी तुझे भोगना न पड़ेगा, यह अभिप्राय है। 'सब पापों से छुटा दूंगा' सब पापों में महान् पाप शरीर का अध्यास है और उसी के साथ सब पाप हैं। शरीराध्यास का फल जन्म मरण है। जब शरीराध्यास की निवृत्ति हो जाती है तब सब पापों की निवृत्ति हो जाती है। अर्जुन को ज्ञान देकर उसके प्रारब्ध का भोग होने देना है इसलिये सब समझा कर अन्तिम रहस्य 'सर्व धर्मान् परितज्य' में भरा हुआ है। गीता के वास्तविक अर्थ को न जानने वाले उसके अनेक प्रकार के अर्थ करते हैं किंतु इस अर्थ के सिवाय जितने अर्थ हैं वे गीता तत्व के जानने वालों को मान्य नहीं हैं। सब वर्णाश्रम धर्म को छोड़ना ऐसा इस श्लोक का अर्थ करना नितांत मूर्खता है क्योंकि गीता में पूर्व जो वर्णाश्रम कहे हैं, उससे विरोध होता है। पाश्चात्य गिलट की चमक से लुब्ध वर्णों को तोड़ना चाहते हैं, यह उन का कर्म अधर्म रूप ही है। अपूर्ण

———::०::———

महावाक्य।

वेदों में जो कथन किया है, उसे दो प्रकार से विभक्त कर सकते हैं, एक कथन रूप और दूसरा सारांश रूप, जिसको तत्व रूप भी कह सकते हैं। कथन रूप वाक्य को अवांतर वाक्य और सारांश को महावाक्य कहते हैं। अंतर सहित वाक्य को

अवांतर वाक्य और अंतर रहित को मुख्य वाक्य-महावाक्य कहते हैं। अवांतर वाक्यों में अनेक प्रकार के विधि निषेध रूप कर्म, उपासना और परोक्ष आत्म ज्ञान होता है। कर्म इस इस विधि से करना अथवा इस प्रकार न करना, उपासना की विधि और उपास्य का वर्णन अवांतर वाक्यों में है इसी प्रकार आत्म तत्त्व का वर्णन-अवाच्य वर्णन भी है। जब तक मनुष्य आत्मा को अपने से परोक्ष समझे तब तक उसका वर्णन उसके निमित्त अवांतर वाक्यों में है। जिन वाक्यों के बोध में त्रिपुटी रहे, वे सब ही अवांतर वाक्य हैं। अवांतर वाक्यों के अधिकारी बहुत हैं, इसलिये वेदों में अवांतर वाक्य भी बहुत हैं। वाक्य के बोध में जिस में महानता रही हुई है वह महा-वाक्य कहा जाता है। महावाक्य से जो बोध अधिकारी को होता है, वह त्रिपुटी रहित होता है और अवांतर वाक्य का बोध परोक्ष ही होता है। महावाक्य बोध भी परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार का होता है। योग्य अधिकारी को महा-वाक्य से अपरोक्ष बोध ही होता है परन्तु योग्य अधिकारी न होने वाले को महावाक्य से भी परोक्ष बोध ही होता है। अपरोक्ष बोध न होने में अधिकारी की मंदता अथवा अनधिकार का ही दोष है, महावाक्य की सामर्थ्य का नहीं है, अवांतर वाक्यों की अपेक्षा महावाक्य न्यून हैं। अनेक महावाक्यों में से आचार्यों ने हर एक वेद के एक २ वाक्य को मुख्य महावाक्य कहा है। ऋक्, यजु, साम और अथर्व चार वेद हैं। ऋग्वेद का महावाक्य 'प्रज्ञानं-ब्रह्म' यजुर्वेद का 'अहं ब्रह्मास्मि' सामवेद का 'तत्त्वमसि' और अथर्व वेद का 'अय-मात्मा ब्रह्म' है। इन चारों महावाक्यों का अर्थ, उपाधि रहित जीव ही ब्रह्म है, ऐसा बोध कराता है। ऋग्वेद के ऐतरेयोपनिषद् के अध्याय ३ मंत्र ३ में 'प्रज्ञानंब्रह्म,' यजुर्वेद के बृहदारण्यकोप-निषद् के १, ४, १० में 'अहं ब्रह्मास्मि' सामवेद के छांदोग्य उपनिषद् के ६ प्रपाठक में 'तत्त्वमसि' और अथर्व वेद के मांडुक्योपनिषद् के १-२ में 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्य है।

भाग त्याग लक्षणा से जीव ब्रह्म की एकता।

महावाक्य	वेद	उपनिषद्	जीव वाचक	ईश्वर वाचक	एकता
प्रज्ञानंब्रह्म	ऋक्	ऐतरेय ३।३	प्रज्ञान	ब्रह्म	आनन्द
ब्रह्मास्मि	यजुः	बृहदारण्यक १।४।१०	अहं	ब्रह्म	अस्मि
तत्त्वमसि	साम	छान्दोग्य ६	त्वं	तत्	असि
अयमात्मा ब्रह्म	अथर्व	मांडुक्य १—२	आत्मा	ब्रह्म	अयं

ऋग्वेद के ऐतरेय उपनिषद के तीसरे अध्याय के तीसरे मंत्र में यह प्रसंग है:—जो यह हिरण्य-गर्भ अर्थात् ब्रह्मा है, जो देव राज इन्द्र रूप है, जो प्रजापति अर्थात् विराट आत्मा है, जो अग्नि, वायु आदिक सर्व देवताओं अर्थात् वागादि का अधि-ष्ठान रूप देवता है, जो इन पंच महाभूत पृथिवी, वायु, आकाश, जल और ज्योति रूप से है जो क्षुद्र अर्थात् चेंटी, मच्छर आदिक से युक्त, मनुष्यादि शरीर रूप से है, जो बीज रूप अर्थात् अपनी २ जाति के देह का कारण रूप है, जो परस्पर भिन्न है, यह भिन्नता इस प्रकार है:—अंडज, जरायुज,

स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गैया, पुरुष, हस्ती रूप से जो जोहष्टि का विषय है, जो पाद से गमन करने वाले प्राणी समूह हैं, जो आकाश में से नीचे उतर सके हैं, और जो बुद्धि से रहित हैं, वे सर्व, तीन प्रकार के भेद से रहित और स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म से सत्ता पाने वाले हैं, इन सब की स्थिति चैतन्य में ही है। यह चर और अचर रूप सब प्रपंच चैतन्य में स्थिति करता है अर्थात् प्रलय काल में सब जगत् का लय चैतन्य में हो जाता है। इस प्रकार चैतन्य ही ब्रह्म रूप है अर्थात् जीव और ब्रह्म सब. एक रूप हैं। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' के तीन पाद स्पष्ट करने के लिये 'प्रज्ञानं आनन्दं, ब्रह्म' कहा जाता है।

यजुर्वेद के बृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथम अध्याय के चौथे ब्राह्मण के दशवें मंत्र में यह प्रसंग हैः—यह सर्व पूर्व में ब्रह्म रूप से था। उसने आत्मा को प्रथम जाना 'मैं ब्रह्म हूं' इसलिये मेरा आत्मा सर्व रूप होता है, देवताओं में से जो कोई उसे पहिचानता है, वह मात्र उसका ही रूप होता है। इसी प्रकार ऋषियों में से अथवा मनुष्यों में से जो कोई उसको इस प्रकार जानता है, वह उसका रूप हो सक्ता है 'यह वह है' इस प्रकार जानने से वामदेव नाम का ऋषि नीचे दिखलाई स्थिति को प्राप्त हुआ थाः—मैं मनु रूप हुआ, मैं सूर्य रूप हुआ, मैं ब्रह्म हूं। इसी प्रकार हाल में भी जो कोई ब्रह्म को जानता है, उसकी सर्व रूप पने की स्थिति को रोकने में देवता भी समर्थ नहीं होते। 'वह दूसरा है, मैं दूसरा हूं' इस प्रकार अन्य देव रूप से जो आत्मा की उपासना करता है, वह आत्मा को जान नहीं सक्ता और पशु के समान वह देवताओं के उपयोग में आता है। जिस प्रकार बहुत पशुओं का एक मनुष्य रक्षण करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य देवताओं का रक्षण करता है। जैसे एक पशु के हरण होने से पशु वाले को अप्रियता उत्पन्न होती है तो बहुत के हरण हो जाने से अप्रियता का कहना ही क्या है? इसलिये मनुष्य ब्रह्म को जाने, यह देवताओं को रुचि कर नहीं है। इस प्रकार दिखलाते हुये शुद्ध लक्ष से 'मैं जीव ही ईश्वर ब्रह्म रूप हूं' यह सिद्ध करते हैं।

सामवेद के छान्दोग्यउपनिषद् के छःठे प्रपाठक में उद्दालक मुनिने अपने पुत्र श्वेतकेतु को अनेक दृष्टान्तों द्वारा उपदेश दिया है। उसने ब्रह्म का लक्ष कराते हुये कहा "यह सत् अणु के समान सूक्ष्म है, वह सब जगत् का आत्मा रूप परब्रह्म है, तू भी वह ही है. (तुझमें और ईश्वर में भिन्नता नहीं है) यह जो अणु समान सब का आत्मरूप है, वह सत्य रूप है, वह सब का परमार्थ रूप ज्ञान रूप है, हे श्वेत केतु वह तू है, तू ब्रह्म है, आत्मा है" इत्यादि नव वार 'तत्त्वमसि' का उपदेश करके वस्तुरूप से जीव और ईश्वर ब्रह्मरूप है, यह सिद्ध किया है।

अथर्व वेद के मांडुक्य उपनिषद् के दूसरे मंत्र में इस प्रकार का कथन हैः—कारण कि यह सब ब्रह्म रूप है, यह आत्मा ब्रह्म रूप है और इस आत्मा के चार पाद हैं। (भाग त्याग लक्षण का विवेचन आगे होगा।)

अपरोक्ष ज्ञान होने में महा वाक्य ही मुख्य हैं। जिस प्रकार महा पुरुष, महा शब्द आदिक का उपयोग होता है, ऐसे ही महा वाक्य को समझना चाहिये। पुरुषों में महानता वाला महा पुरुष कहा जाता है। शब्दों में क्रिया दर्शक शब्द ही महा शब्द कहा जाता है, इसी प्रकार सब वाक्यों से जिस वाक्य में महानता होती है, वह महा वाक्य कहा जाता है। वेद का अर्थ ज्ञान है, उसमें विशेषता वाले महा वाक्य हैं। वेद के 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्यों की अन्य महा वाक्यों से विलक्षणता है, अन्य महा वाक्य परोक्ष बोध कराते हैं, और 'तत्त्वमसि' आदि महा वाक्य प्रत्यक् सहित अपरोक्ष बोध कराते हैं।

एक राजा को यह जानने की इच्छा हुई कि मैं पूर्व जन्म में कौन था और किस पुण्य के प्रभाव

से मुझको राज्य प्राप्त हुआ है। उसने अपना पूर्व जन्म और कर्तव्य जानने को एक भारी सभा की, पारितोषक नियत किया और विद्वान्, ज्योतिषी आदिकों को यह बात प्रगट की। बहुत से शास्त्रज्ञ थे, परन्तु राजा का पूर्व जन्म निश्चित रूप से किस प्रकार कहा जाय, क्योंकि यदि कोई बात विरुद्ध पड़ जाय तो जान खोने का समय प्राप्त हो इसलिये यह कार्य करने से विद्वानों ने अपना हाथ खेंच लिया। राजा बहुत चतुर था, उसके सामने बनावटी बात चल नहीं सकी थी, ऐसा समझ कर चालाक भी चुप रहे। एक गरीब ब्राह्मण था, वह अपने पंडित होने का अथवा ज्योतिषी होने का दावा नहीं करता था। वह अत्यन्त गरीब था, धन की इच्छा वाला था, उसने सोचा "यदि राजा का पूर्व जन्म किसी प्रकार से मुझे मालूम हो जाय तो मेरे दरिद्र की निवृत्ति हो जाय, मैं पूर्व जन्म को नहीं जानता, हां! यदि किसी इष्ट की उपासना करूं तो मुझे पता मिल सका है परन्तु इष्ट के बताये हुये पूर्व जन्म से, यदि राजा अपना नियत किया हुआ पारितोषक मुझे न दे, तो मेरा किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा! इसलिये उत्तम यह है कि राजा से पूछ कर प्रथम ही निश्चय कर लिया जाय।" ऐसा सोच कर वह राजा से मिला और आशिर्वाद दे कर बोला "महाराज! आपका पूर्व जन्म मैं नहीं कह सका परन्तु आपके पूर्व के जन्म का पता किसी और से लगाने को यदि मैं प्रयत्न करूं तो आप नियत किया हुआ धन मुझे देंगे या नहीं?" राजा बोला "हे ब्राह्मण! मुझे पूर्व जन्म, कर्म का पता लगने की आवश्यकता है, आप बताओ अथवा दूसरे के द्वारा मालूम करो वह एक ही बात है, बोलिये, आप किस प्रकार पता लगाना चाहते हैं?" ब्राह्मण बोला "महाराज! मैं दरिद्री हूं, मुझे धन की आवश्यकता है, मैं इस निमित्त इष्ट को प्रसन्न करूंगा। आपका उत्तर इस प्रकार देना चाहता हूं, यदि ऐसा करने से मुझे धन मिलता हो तो मैं परिश्रम करूं।" राजा बोला "अवश्य, आप इष्ट से पूछ कर कह सक्ते हैं? या दूसरे से कहला सक्ते हैं, पारितोषक आपको ही मिलेगा।" ब्राह्मण निश्चय हो जाने से प्रसन्न होता हुआ घर पर आया और स्त्री से कह कर अरण्य में गया। वहां एक घनी झाड़ी में उसने दुर्गा का एक मन्दिर देख कर एक क्षण भी विश्रान्ति लिये बिना दुर्गा का जप और ध्यान करना आरम्भ किया। चौथे दिन दुर्गा प्रसन्न होकर बोली "हे ब्राह्मण! तेरे एकाग्रचित्त से किये हुये अनुष्ठान से मैं प्रसन्न हुई हूं, जो कुछ मांगना चाहे, मांग।" ब्राह्मण बोला "माता! हमारा राजा इस जन्म में बहुत सुख भोग रहा है, वह पूर्व जन्म में कौन था और किस पुण्य के प्रभाव से यह सुख उसे प्राप्त हुआ है, यह जानना चाहता हूं।" दुर्गा बोली "ठीक! मैं जानती हूं कि तू इस बात को राजा से कह कर अपना दरिद्र मिटाना चाहता है, यदि तू यह बात राजा से कहेगा तो उसे विश्वास नहीं आवेगा। इस लिए तू राजा से जाकर कह कि राजधानी से आधे कोश पर एक गौशाला है, वहां एक अंधा अहीर है, वह तुझे तेरे पूर्व जन्म की बात बतावेगा।" दुर्गा यह कह कर अंतर्ध्यान होगई, ब्राह्मण घर पर आया और भोजन कर राजा के पास पहुंचा। दुर्गा की कही हुई बात उसने उससे कही। राजा गौशाला में गया और अंधे अहीर के पास जाकर बोला "हे सूरदास! मैंने सुना है कि तू मेरे पूर्व जन्म की बात जानता है, सो कह!" अंधा अहीर घबराहट में पड़ा, नेत्रों में आंसू आ गये, धैर्य धारण कर कहने लगा "हे राजन्! राजधानी के उत्तर में एक जंगल है, उसमें एक तालाब है, तालाब के किनारे एक विशाल वृक्ष है, उसमें एक पिशाचिनी रहती है, आप अकेले उसके पास जाइये, वह आपको बतावेगी।" दूसरे दिन अंधे अहीर के कहे अनुसार राजा तालाब के पास पहुंचा और बोला "हे

पिशाचिनी ! मैं पूर्व जन्म में कौन था ? यह बात मुझे बता !" पिशाचिनी भयंकर चीख मार कर रोने लगी ! राजा मूर्छित होगया, बड़ी देर में होश में आया ! पिशाचिनी डरती हुई कहने लगी "हे राजा ! तू यह बात मुझसे मत पूछ, तेरे मुख्य मंत्री की एक आठ वर्ष की कन्या है, उससे पूछियो वह बता देगी !" राजा राजधानी में लौट आया। दूसरे दिन उसने मुख्य मंत्री से पूछा "क्या तुम्हारे कोई आठ वर्ष की लड़की है ?" मंत्री बोला "हां ! महाराज !" राजा बोला "हे मंत्री ! मैं रात्रि को एक पहर बीतने पर तुम्हारी कन्या से एकांत में कुछ बात करना चाहता हूं, मेरे पूर्व जन्म का कुछ पता लगना संभव है !" मंत्री बोला "बहुत अच्छा ! एक पहर रात्रि बीते आप मेरे मकान पर पधारिये।" नियत समय पर राजा मंत्री के घर पहुंचा। मंत्री लड़की को ले आया और आप दूसरे मकान में चला गया। राजा ने कहा "पुत्री ! मैं एक बात पूछता हूं, इसका सच्चा उत्तर मुझे दे !" मंत्री पुत्री बोली "पूछिये ! क्या पूछते हो ?" राजा बोला " मैं पूर्व जन्म में कौन था ? और किस पुण्य से मुझे राज्य सुख प्राप्त हुआ है ?" मंत्री पुत्री कहने लगी "कई एक वर्ष प्रथम इस देश में एक गरीब ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण, ब्राह्मण की स्त्री, एक पुत्र और एक पुत्र-वधू, वे चार मनुष्य थे और भिक्षा से अपना निर्वाह किया करते थे। एक समय सात दिन तक बराबर जल पड़ता रहा इसलिये वे भिक्षा मांगने न जा सके और सात दिन तक सबको उपवास हुआ। आठवें दिन वे भिक्षा मांगने गये परन्तु महा कठिनाई से, दो मनुष्यों का पेट भरे, इतना अन्न मिला। अन्न सीजा गया और केले के पत्तों पर चार भाग में बांट दिया गया। वे भोजन करने की तैयारी में ही थे कि दो अतिथि आगये, उन्हें देख कर ब्राह्मणी जल गई, क्योंकि वह जानती थी कि ब्राह्मण अवश्य अपना भोजन दे देगा और हमारा भी दिलवा देगा इसलिये पुत्र को इशारा करके, मा बेटों दोनों ने अपना भोजन छुपा लिया, स्वामी और पुत्रवधू क्या खायेंगे, इसकी परवा ब्राह्मणी ने न की। ब्राह्मण ने शेष रहा हुआ अपना और पुत्रवधू का भाग अतिथियों के सामने रख दिया और भोजन करने को कहा। अतिथियों ने नहीं माना, दो केले के पत्ते मंगवाकर दो के चार भाग किये और चारों ने भोजन किया। मा बेटों ने कोठरी में जाकर अपने २ भाग का भोजन कर लिया। हे राजा ! वह ही ब्राह्मण तू है ! " राजा चकित होकर बोला "हे देवी ! तू मेरे पूर्व वृत्तान्त को जानती है; तब बता कि मेरी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू की क्या गति हुई ?" कन्या बोली "आप जिस अंधे अहीर के पास गये थे, वह आपका पूर्व जन्म का पुत्र है, और तालाब के विशाल वृक्ष में जो पिशाचिनी आपने देखी है, वह पूर्व जन्म की आपकी स्त्री है !" इतना कह मंत्री कन्या चुप हो गई ! तब राजा बोला "हे देवी ! मेरी पुत्रवधू का क्या हुआ ?" तब कन्या बोली महाराज ! यह मुझ से मत पूछिये !" उसका यह कथन सुन कर राजा बोल उठा "मैं समझ गया, पूर्व जन्म की तू ही मेरी पुत्र वधू है ! क्यों ! सच है या नहीं ?" कन्या ने कुछ प्रत्युत्तर न दिया। राजा ने मंत्री कन्या को गोद में लेकर प्रेम से चुम्बन किया और मंत्री को आने की आज्ञा दी। मंत्री आते ही राजा बोला "हे मंत्री ! तुम्हारी कन्या साक्षात् लक्ष्मी है, यदि तुम उसका विवाह मेरे कुंवर के साथ कर दोगे तो मैं तुम्हारा आभार मानूं गा।" मंत्री ने पुत्री का विवाह राजकुमार के साथ कर दिया। गरीब ब्राह्मण को राजा ने बहुत धन देकर संतुष्ट किया।

(कन्या ने पूर्व वृत्तान्त कहते हुए कहा था "हे राजा ! वह ब्राह्मण तू है" यह महा वाक्य के समान है। उस से राजा को ब्राह्मण का और राजा का अभेदरूप से बोध हुआ। इसी प्रकार चारों वेदों के महा वाक्य अभेद-रूप का बोध कराते

हैं। राजा ने फिर पूछा था "मेरी पुत्रवधू का वृत्तांत कह" तब मंत्री पुत्री चुप रही, अपना कथन उसने स्पष्ट रूप से न किया, तो भी वह एक ही शेष रही थी इसलिये राजा समझ गया। इसी प्रकार अद्वैत महावाक्य चुप रूप ही है, वह लक्ष पहुंचाने तक ही है। स्वरूप स्थिति में चुप ही बोध है। राजा को जो अपना बोध हुआ था वह महावाक्य रूप था और स्त्री, पुत्र, पुत्रवधू का बोध परोक्ष रूप होने से अवान्तर वाक्य के समान था। जिस प्रकार राजा को अपने पूर्व जन्म का वृत्तांत मालूम नहीं था इसी प्रकार जीव को अपने शुद्ध स्वरूप की खबर नहीं है, जब अद्वैतानुभव रूप कन्या से जानता है, तब ही उसे अपने शुद्ध स्वरूप का बोध होता है। मंत्री पुत्री को अपना बोध अपने लिये अपरोक्ष था और दूसरों का बोध परोक्ष था। महावाक्य एक महान् विलक्षण वस्तु है, जो मन वाणी का अविषय है, और शब्द द्वारा शब्द छोड़ते हुये बोध कराने में समर्थ है इसी कारण उसको महाशब्द, महावाक्य कहते हैं। गड़ी हुई महानिधि के ऊपर महान् ताला लगा हुआ हो, वह न किसी से खुले न टूटे, ऐसा हो, उसे खोलने की चाबी रूप महावाक्य है। जिस वाक्य के श्रवण बाद और कोई वाक्य श्रवण करने योग्य न रहे, और अपने प्रभाव के अनंतर स्वयं भी न रहे, वह महावाक्य है। जो सब वाक्यों को सिद्ध करने वाले तत्त्व का बोध कराने वाला है, जिसमें से होने वाला बोध सबका साक्षी और अधिष्ठान है, वह महावाक्य है। जिस बोध से अन्य किंचित् भी अवशेष नहीं रहता, जिसमें से सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होती है, ऐसे बोध का उत्पादक जो वाक्य है, वह महावाक्य है। जिस वाणी में सब वाणियों का लय होता है, जो महावाक्य कहलाते हुये भी महान् और वाक्य भाव से रहित बोध स्वरूप है, वह महावाक्य है। जिस वाक्य का अधिकारी होकर श्रवण किये विना मोक्ष को प्राप्त नहीं होता, ऐसा जो कोई महान् शब्द है, जो ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा प्राप्त होता है, वह महावाक्य है।

कई कर्म भाव से लिप्त बुद्धिवालों का कहना है कि उपनिषद् वेद नहीं हैं, यह कथन अयोग्य है, वे लोग वेद के ही दो टुकड़े करके एक को वेद और दूसरे को वेद नहीं है, ऐसा कहते हैं। 'धड़ ही मनुष्य है शिर नहीं' इस प्रकार उनका कथन है। मंत्र और ब्राह्मण दोनों मिलकर वेद है। मंत्र भाग धड़रूप है, ब्राह्मण–उपनिषद् भाग शिररूप है इसलिये उपनिषदों को वेद का शिरोभाग कहते हैं। जैसे विना शिर धड़ मुरदा है इसी प्रकार मंत्र-भाग को ही वेद मानेंगे तो वेद निर्जीव रूप मुरदा हो जायगा। वेद में जो कुछ वेद्य है, उसका स्पष्ट बोध उपनिषद् से होता है। मंत्रों का निचोड़-तत्त्वरूप-जीवरूप उपनिषद् है और उसी में महावाक्य स्पष्ट किये गये हैं। मंत्र-भाग कर्म निमित्त है और उपनिषद् मोक्ष निमित्त है। शुभ और निष्काम कर्म मोक्ष में उपयोगी होने से सहायता रूप हैं। मंत्रों की प्रतिष्ठा मोक्ष में उपयोगी होने से ही है, यदि वे मोक्ष में उपयोगी न हों तो मंत्र-भाग अत्यन्त तुच्छरूप है, सबका अंतिम प्रयोजन मोक्ष है। उन उपनिषदों में भी जिन से पूर्ण बोध होता है, वे महावाक्य हैं। महावाक्य का संबन्ध मोक्ष के अति निकट है इसलिये सर्व रहस्य-रूप महावाक्य हैं।

एक राजा अपने पुत्र को युवराज पद का अभिषेक करने वाला था, उसके समारंभ की धूम-धाम शहर में हो रही थी। अनेक देश देशान्तरों के पंडितों का भी अच्छा जमघट हुआ था। भाट, चारण, बंदीजन और बहुत से कंगाल भी आरहे थे। शहर में पूर्ण उत्साह हो रहा था। राजकुमार स्वहस्त से सबको दान दे रहा था और धैर्य से उन लोगों का दुःख भी श्रवण करता था।

दरवाजे के बाजू में एक कंगालन रोरही थी। वह कुछ उन्मादिनी सी दीखती थी। थोड़े से मलिन फटे टूटे वस्त्र उसके शरीर पर थे। उसे रोती देख एक दरवान ने उसके पास जाकर पूछा "हे बाई! तू क्यों रोती है? युवराज भिक्षुकों को दान दे रहा है, तू भी वहां जा, जो तेरे प्रारब्ध में होगा सो तुझे भी मिल जायगा।" यह सुन कर कंगालन और भी अधिक रोने लगी! दरवान घबराया कि यदि युवराज को बाई के रोने की खबर पड़ जायगी तो वह मुझ पर अत्यन्त क्रोध करेगा इसलिये नम्रता से फिर बोला "बाई! मंगल का दिन है, सब स्थान पर उत्सव हो रहा है, इस समय रोना उचित नहीं है। किस कारण रोती है? क्या चाहती है, जो तेरी इच्छा हो सो कह, मैं उसे पूर्ण कराने में यत्न करूंगा।" इतने में दो कर्मचारी और आगये। कंगालन रोती बंद न हुई! युवराज को भी उसके रोने की खबर पड़ गई। वह वहां आकर कहने लगा "माता जी! आप मेरे महल के पास बैठ कर क्यों रोती हो?" माता जी ऐसा शब्द सुनकर कंगालन को आनन्द हुआ! वह हर्षाश्रु से गद्गद् होकर बोली "हे वत्स! मैं तुझसे एक बात कहना चाहती हूं, यदि तू मेरा कथन निर्जन स्थान में सुनेगा तो मैं कहूंगी!" युवराज ने यह बात स्वीकार की। वह उसे अपने राजमहल में लेगया और जहां कोई मनुष्य न था वहां जाकर पूछने लगा "माता जी! जो तुझे कहना हो सो कह।" कंगालन चारों तरफ देख कर और कोई मनुष्य न पाकर बोली "हे वत्स! यदि तू मेरे कहने पर विश्वास करे तो मैं कहूं!" युवराज बोला "माई! यदि तेरा वचन योग्य होगा तो मैं विश्वास क्यों न करूंगा?" कंगालन बोली "आज मुझे मेरा पुत्र मिला है, तू ही मेरा पुत्र है!" युवराज आश्चर्य करता हुआ बोला "किस प्रकार?" कंगालन बोली "महेन्द्रपुर के महाराज की सात रानियों में से सबसे छोटी मैं हूं, मैं सगर्भ थी और सब रानियां गर्भ रहित थीं, वे मुझसे जलने लगीं। सबने मिलकर मेरे विरुद्ध राजा से यह कहा कि जब आप शिकार खेलने गये थे तब एक सन्यासी आया था उसने छोटी रानी कुवंशा राक्षसी बतलाई और कहा कि जो वह शहर में कुछ दिन और रहेगी तो नगर का नाश हो जायगा। राजा ने मुझे बुला कर यह बात कही। मैंने कहा कि सन्यासी ने इस प्रकार नहीं कहा है, उसने तो ऐसा कहा है कि इस रानी का जो बालक होगा वह तेजस्वी होगा और उसके मस्तक पर जन्म से ही श्री का चिह्न होगा, जब उसने यह बात कही थी तब भूरा दासी भी पास थी। राजा ने भूरा को बुलाया परन्तु उसने मेरे विरुद्ध कहा क्योंकि रानियों ने उसे लालच दे रक्खा था, इस लिए वह झूंठ बोल गई। राजा को मेरा कथन झूंठ मालूम हुआ। मैं बहुत रोई परन्तु राजा ने मेरी एक बात न मानी। मैं जंगल में छोड़ दी गई। जंगल में एक बुढ़िया रहती थी, उसके सहारे मैं रहने लगी, बहुत २ कष्ट भोगे, अन्त में हे युवराज! तेरा जन्म हुआ। तेरे मस्तक में मैं श्री का चिह्न प्रत्यक्ष देखती हूं, वह चिह्न सन्यासी के कहे अनुसार जन्म का है, उसके कहे अनुसार तू स्वरूपवान् और पराक्रमी भी है।" युवराज बोला "फिर आगे क्या हुआ? मैं ही वह हूं यह किस प्रकार जाना जाय?" तब कंगालन वेष धारिणि रानी बोली "तेरे जन्म के बाद बुढ़िया दिन पर दिन प्रसन्न होती गई, तेरा स्वरूप उसकी दृष्टि में जच गया। एक दिन मैं वस्त्र धोने गई थी, फिर आकर देखती हूं तो तू और डोकरी दोनों ही झोंपड़ी में न थे। मैं पागल समान जंगल में घूमती रही, तेरी खोज के लिए शहर, ग्राम और जंगल सब ढूंढ़ डाले, आज मेरा पुत्र मुझे मिला है, वह तू है!"

युवराज विचारने लगा "इसके कहने के समान मेरे मस्तक में श्री का प्रत्यक्ष चिह्न है, उसकी और मेरी बोली कई अंश में मिलती है,

चहरे की आकृति भी मिलती है, शायद यह कहती है, वह ही हो।" प्रत्यक्ष कहने लगा "माता जी! मैंने सुना है कि राजमहल में एक बुढ़िया रहती है, वह ही मुझे यहां लाई है, उसे बुलाकर पूछता हूं।" डोकरी बुलाई गई। युवराज के पास छोटी रानी को देख वह घबरा गई। युवराज ने नेत्र चढ़ा कर कहा "यह माई कहती है कि वह मेरी माता है, इस विषय में सत्य क्या है?" बुढ़िया घबराती हुई हाथ जोड़ कर और युवराज के चरणों में पड़ कर बोली "राजपुत्र! यह बाई जो कहती है, वह सत्य है, उसने ही मेरे घर में तुझको जन्म दिया था। मेरी मति भ्रष्ट होने से मैं तुझे लेकर भाग आई और यहां के राजा के यहां बेच डाला, अब मुझे बहुत पश्चात्ताप होता है! हे युवराज! मेरा अपराध क्षमा कर, मुझको अभय वचन दे, मुझे जीती रहने दे।" दयानिधि जगदीश्वर का महान् आभार, अन्त में मा बेटों का मिलाप हुआ।

फटे हाल उन्मादिनी मेरी माता ही है, ऐसा जान युवराज उसके पैरों में पड़ा और रोता हुआ बोला "माता जी! मेरे लिए आपने अनेक संकट सहे हैं, मैं आपसे उनकी क्षमा चाहता हूं।" उन्मादिनी "वह तू है, वह तू है" कहती हुई राजकुमार से चिपट गई! युवराज ने उसे स्नान आदिक कराके स्वच्छ वस्त्र धारण कराये। राजा को इस बात की खबर हुई, वह भी प्रसन्न हुआ और युवराज पद का समारम्भ निर्विघ्न समाप्त हुआ। पिता के कोई पुत्र न होने से यह युवराज ही दोनों राज्य का मालिक हुआ। पिता, पुत्र और पत्नि तीनों मिले। राजा ने भी विना कारण रानी को निकाल देने का पश्चात्ताप किया।

इस दृष्टांत में "वह तू है" यही महावाक्य है, अन्य जितने वाक्य हैं वे सब इसी वाक्य से सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार महावाक्य को समझना चाहिए। युवराज जीव है, बुढ़िया वासना है, वासना ने जीव को चुराया है और अन्य-प्रपंच के राजा के यहां बेच दिया है। उसे अपने जन्म और माता पिता की खबर नहीं है, श्रुति रूप माता ने खोज कर जब "वह तू है" ऐसा उपदेश दिया तब संयोगों का मिलान करके जीव ने अपने आद्य स्वरूप को पहिचाना और जीवन्मुक्त होकर दोनों स्थानों का राजा हुआ।

इसी प्रकार सद्गुरु योग्य अधिकारी को सब संयोग ठीक २ जानकर अवांतर वाक्य सहित महावाक्य का उपदेश करते हैं। महावाक्य से जो बोध होता है, उस बोध से ही अधिकारी अखंडित चक्रवर्ती महाराजाधिराज पदारूढ़ होता है। सब प्रकार के दुःखों से हमेशा के लिए रहित होता है, और परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होता है। असंभावना और विपरीत भावना रहित दृढ़ अपरोक्ष बोध महावाक्य से होना ही मनुष्य जन्म का साफल्य है, जीव का साफल्य है और ब्रह्म स्वरूप है।

तत्त्वमसि—वह तू है, ऐसे ही ब्रह्मास्मि—ब्रह्म मैं हूं, का बोध होता है। जब गुरु शिष्य को उपदेश करता है तब तत्त्वमसि कहता है। शिष्य जब अपने लक्ष से जानता है तब ब्रह्मास्मि का बोध सार्थक होता है। इन दोनों महावाक्यों में तू और मैं साक्षी में लक्षित होता है। प्रज्ञानन्द ब्रह्म में प्रज्ञान जीव के और ब्रह्म ईश्वर के भाव से शुद्ध में लक्षित होकर आनन्द में एकता को प्राप्त होता है। ऐसे ही अयमात्मा ब्रह्म में आत्मा जीव के शुद्ध तत्त्व की और ब्रह्म ईश्वर के शुद्ध तत्त्व की अयं मेंएकता होती है।

चारों महावाक्यों में तत्त्वमसि की विशेषता है। कई शास्त्रों में तीन वेदों का और कई स्थानों में चार वेदों का कथन है। चौथा अथर्व वेद तीनों वेदों का संग्रह रूप होने से किसी २ ने तीन

ही वेद कहे हैं। वेदों में प्रथम ऋक् है, दूसरा यजुः और तीसरा साम है। तीनों में सामवेद की विशेषता है क्योंकि उसमें ज्ञानांश विशेष है। इसलिए उसके उपनिषद् छान्दोग्य में आये हुये महावाक्य की भी सब में विशेषता है। विशेष करके तत्त्वमसि महावाक्य का उपदेश सद्गुरु करते हैं और शिष्य के लिए वह ही ब्रह्मास्मि होता है।

———o———

मणि रत्न माला।

उपजाति वृत्तम्।

के हेतवो ब्रह्म गतेस्तु संति
सत्संगति दान विचार तोषः।
के संति संताऽखिल वीतरागा
अपास्तु मोहाः शिव तत्व निष्ठाः ॥६॥

अर्थः— प्रश्नः—परब्रह्म की प्राप्ति के लिए कौन २ साधन करने योग्य हैं? उत्तरः-सत्संगति, दान, विचार और संतोष। प्रश्नः—संत कौन है? उत्तरः—जिसकी सब में से आसक्ति उठ गई है-वैराग्य हुआ है, जिसने मोह का नाश किया है और जो परब्रह्म में निष्ठा वाला है वह संत कहलाता है।

भाषा छप्पय।

ब्रह्म प्राप्ति के हेतु कौन साधन निर्दोषा।
हैं सत्संगति दान, विचार तथा संतोषा॥
जानें किसको संत, सर्व गुण गण की खानी।
नहीं राग नहिं द्वेष, शुद्ध मन सच्ची वाणी॥
पूरा परवैराग्य दृढ़, मोह पास नहिं आय है।
परब्रह्म लवलीन नित, संत सोहि कहलाय है॥६॥

विवेचन।

ब्रह्म प्राप्ति के हेतु रूप कौन साधन हैं? इस के उत्तर में चार मुख्य साधन दिखलाये हैं, वे चारों साधन भिन्न २ दीखते हुये भी स्वरूप से एक ही हैं। उपासकों के निमित्त जिस प्रकार ब्रह्म-ॐकार को चार पाद वाला दिखलाया है इसी प्रकार इन चार साधनों से युक्त होने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है। सत्संगति, दान, विचार और संतोष चार साधन हैं। सत्संगति बिना कुछ समझ में नहीं आता और निर्मलता भी प्राप्त नहीं होती। सत् सत्य को कहते हैं, जिसमें सत्य का संग हो उसे सत्संगति कहते हैं। संत महात्मा सत्-पदार्थ को जनने वाले और उसका कथन करने वाले हैं इसलिये उनका समागम करने से-वार्त्तालाप और कथा श्रवण से सत् का संग होता है। जब सत् का संग होता है तब जाना जाता है कि जो कुछ जगत्-प्रपंच और उसके पदार्थ हैं, वे सब नाश वाले हैं, आज हैं और कल नहीं हैं इसी कारण शास्त्र में दान की विशेषता वर्णन की है। बहुत जन्मों के संग्रह किये हुये प्रपंच के भाव और ऐश्वर्य को हटाना है। उनका हटाना दो ही प्रकार से होता है एक छोड़ देने से अथवा दूसरे को दे देने से, अच्छे समझे हुए पदार्थ जल्दी से इतने बुरे नहीं दीखते कि वे छोड़ दिये जायं। ऐसे उत्तम पदार्थ दूसरे के उपयोग में आवें इस प्रकार देने को दान कहते हैं। सत्संगति से दान का भाव होता है। जब छोड़ने की प्रवृत्ति में लगें तब विचार की आवश्यकता है क्योंकि विचार बिना किसको छोड़ें, किसको न छोड़ें यह नहीं बनता। विचार से दान-त्याग की सिद्धि होती है और वस्तु-तत्व का बोध भी विचार करते २ पूर्णविवेक होने से होता है। बोध के बाद पूर्ण संतोष की प्राप्ति होती है। बोध होते हुए भी यदि बोध में असंतुष्टि होगी तो बोध का फल नहीं होगा। बोध के पश्चात् का पूर्ण संतोष ही परमानन्द सुख-स्वरूप है। इस प्रकार इन चारों का क्रम है।

संत पुरुष वह ही कहा जाता है जिसने आत्म तत्व प्राप्त कर लिया है। जो अन्तिम सीमा को पहुंच जाता है उसके शरीर, वाणी और मन में

कोई विलक्षण प्रभाव होता है। संत का स्मरण दुःखों का हरने वाला है, उसका समागम पवित्र करने वाला है, उसके वचनामृत अज्ञान के परदे को काटने वाले होते हैं इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से संत समागम में सत्य की झाईं झलकती है इसीकारण कहा है "संत समागम दुर्लभ भाई।" पूर्व के महत् पुण्य के प्रभाव करके ही संत समागम प्राप्त होता है। जो पूर्व में पाप कर्म कर चुके हैं और वर्त्तमान में करने वाले हैं, जिनका अन्तःकरण अत्यन्त मलिन है ऐसे पुरुषों को यदि संत समीप भी हों तो भी संत का संग नहीं होता। उन कर्महीनों का संत संग तो हो ही कहां से, वे संत को संत जान ही नहीं सकते। जाने बिना श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धा बिना लाभ नहीं उठा सकते।

जिसके सत्संग और विवेक रूपी दृढ़ नेत्र नहीं हैं, वह अन्ध है। अन्ध उलटे मार्ग में विचरे बिना रहता नहीं है ऐसा अंध जगत् में देखता कहा जाता है परन्तु विरुद्ध मार्ग में जाने वाला होने से नेत्र होते हुये भी वह अन्धा ही है। किसी एक बड़े शहर में एक करोड़ाधिपति श्रीमान् रहता था। उसने बड़े २ मकान और बगीचे बनवाये थे और उन में सब स्थानों पर इस कारण कीलें गाड़ रक्खी थीं कि यदि अंधेरे में कोई चोर आवे तो उसके वे लग जांय और वह धन चुराने न पावे। वह स्वयं अन्धा था इसलिये उसने कीलें लग जाने के भय से एक देखने वाले को मार्ग दिखलाने के लिये नौकर रख छोड़ा था। इसी प्रकार जीव को समझो। जीव धनाढ्य साहूकार है, कुटुम्ब, कबीला और व्यवहार उसके मकान और बाग बगीचे हैं। उन में उसने अपनी आसक्ति रूप कीलें इस कारण गाड़ रक्खी हैं कि जो मेरा है उसे कोई दूसरा न ले जाय परन्तु वे 'मेरे' भाव की कीलें उसी के लगती रहती हैं इसलिये उसे सत्संग रूपी नौकर की आवश्यकता है, उस नौकर के प्रताप से ही वह उन कीलों से बच सकता है। चाहे किसी ने कितना ही विद्याभ्यास किया हो, अनेक प्रकार के भेदों का ज्ञाता हो, यदि वह सत्संग से प्राप्त होने वाले विवेक से रहित है तो अन्धा है। अंधे को जैसे उसकी गाड़ी हुई कीलें गड़ती हैं वैसे ही उसकी विद्या आदि उसे ही दुःख देते हैं। सज्जनों का समागम बुद्धि की जड़ता को हरण करके उसे निर्मल करता है, सत्य बोलना सिखाता है, सन्मान का उत्तम लक्षण दिखलाता है, पाप दूर करता है, चित्त को प्रसन्न रखता है, सब दिशाओं में कीर्ति फैलाता है और उससे सब कार्य की सिद्धि होती है, 'मैं' और 'मेरा' भाव जो बुद्धि की जड़ता है सत्संग के प्रभाव से चला जाता है और देह बुद्धि हट कर आत्म बुद्धि का उदय होता है, कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के ताप दूर होते हैं, और चित्त में रहने वाले काम क्रोधादिक मल दूर हो जाते हैं। सत्संग से उत्पन्न हुये विवेक से ज्ञान की प्राप्ति होती है। सत्संगति सत्स्वरूप बना देती है। जिस प्रकार पारस के स्पर्श से लोहा कंचन बन जाता है इसी प्रकार सत्संगति देह दृष्टि को हटा कर आत्म स्वरूप बना देती है। इस जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सत्संगति के प्रभाव से प्राप्त न हो सके। सत्संगति से अखिल ब्रह्मांड के अधिपतिपने की प्राप्ति होती है।

एक वन में मृगों की टोली रहा करती थी। मृग दिन भर घूम कर शाम को एक तालाब पर पानी पीने जाया करते थे। उस जंगल में एक ही तालाब था। उस तालाब में एक मगर रहता था और पानी पीने आने वाले मृगों में से प्रति दिन एक को पकड़ कर खा जाता था। इस प्रकार नित्य का क्रम चालू होने से थोड़े दिनों में ही बहुत मृग मारे गये, और थोड़े से रह गये। एक दिन उस जंगल के पास दूसरे जंगल के मृगों के सरदार ने उन मृगों के सरदार से पूछा "भाई! प्रथम तो तुम बहुत थे, अब थोड़े

कैसे रह गये ?" तब मृगनायक ने कहा "भाई ! क्या करें, हम जिस तालाब पर पानी पीने जाते हैं वहां एक मगर है, वह नित्य एक मृग को पकड़ कर खा जाता है !" दूसरे जंगल का मृग नायक बोला "भाई ! तुम बहुत भोले भाले हो, चलो मैं तुम्हारे साथ चलूंगा ! मैं जिस प्रकार कहूं तुम्हें करना होगा !" सब सम्मत हुये और शाम को पानी पीने तालाब पर गये । वहां जितने मृग थे, उनके दो हिस्से किये गये, एक हिस्सा पूर्व के के किनारे पर और दूसरा पश्चिम के किनारे पर रक्खा गया । दूसरे जंगल का मृगनायक उत्तर की तरफ एक टीले पर खड़ा होगया । प्रथम उसने पूर्व वाले मृगों से कहा कि तुम पानी पीने जाओ !। जब वे पानी पीने लगे तब मगर उनकी तरफ आने लगा । उसे आता हुआ देख मृगनायक ने पश्चिम वालों से कहा कि तुम पानी पीने जाओ और पूर्व वालों से कहा कि तुम जंगल में थोड़ी दूर हट जाओ । जब मगर ने पूर्व की तरफ मृगों को न देखा तब पश्चिम की तरफ चला । उसी समय मृगनायक ने पूर्व वालों से कहा कि तुम पानी पी आओ। जब तक मगर पश्चिम की तरफ पहुंचे तब तक पश्चिम के सब मृग पानी पीकर भाग गये उधर पूर्व वालों ने भी पानी पी लिया था, वे भी भाग गये। इस प्रकार एक भी मृग मगर के हाथ न आया, मृग इस युक्ति से प्रति दिन पानी पीने लगे । जब मगर को कई दिन तक शिकार नहीं मिला तो वह तालाब को छोड़ कर भाग गया ।

दूसरे जंगल वाले की युक्ति से वे सब मृग सुखी हुए ।

इन्द्रियों सहित मन मृग की टोली है, तालाब संसार है, मगर कामना है, राग द्वेष दो किनारे हैं और दूसरे जंगल का मृग गुरु अथवा जीव साक्षी है । जब सद्गुरु अथवा साक्षी रूप दूसरे जंगल के मृग से संग होता है, तब वह राग द्वेष हटाने की युक्ति बताता है । जब राग की तरफ कामना दौड़े तब द्वेष के किनारे पर आजाना और जब द्वेष की तरफ कामना जावे तब राग की तरफ भाग जाना इस युक्ति से कामना रूप मगर मध्य में ही ठहरा रहता है और मध्य में टिके रहने से विषयासक्त बना कर किसी को खा नहीं सकता । अन्त में काम की पूर्ति न होने से वह चला जाता है । इसी प्रकार सत्संग मुमुक्षुओं को निर्भय करने वाला है ।

ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में दान दूसरा साधन है । जिसने जो कुछ अपना माना है, वह सब प्रकृति का है,उसका कुछ नहीं है। प्रकृति को किंचित् भी अपने पास न रखना उसका नाम महात्याग है । महात्याग में दान उपयोगी है । प्रजा पति ने जब देवता, मनुष्य और दैत्यों को उपदेश दिया था तब मनुष्यों ने द का अर्थ दान समझा । दान प्रकृति का विकार हटाने में मदद देने वाला है, इसलिए उत्तम है । बुद्धि के अनुसार पात्र की परीक्षा करके दान देना चाहिए कुपात्र को न देना चाहिए। यदि उतना उत्तम पात्र न हो तो भी देश कालादिक के विचार सहित यदि पात्र उत्तम समझा जाय तो दान देना चाहिए । धन के मुख्य उपयोग दो हैं, एक दान दूसरा अपना उपयोग । जो मनुष्य इन दोनों में धन का उपयोग नहीं करता उसके धन की तीसरी गति होती है, तीसरी गति नाश है । देश, काल और स्थिति के अनुसार धन का उपयोग करते हुये दान अवश्य करना चाहिए। औदार्य वृत्ति बिना दान नहीं किया जाता । जैसे २ दया युक्त दान वृद्धि को प्राप्त होता है तैसे २ अन्तःकरण निर्मल होता जाता है और ब्रह्म में प्रीति बढ़ती जाती है । प्रकृति के गुणों के अनुसार दान तीन प्रकार का है:—देश, काल और पात्र के विचार सहित, फल की इच्छा रहित, अनुपकारी को दिया हुआ दान सत्विक है, ऐहिक अथवा स्वर्गादिक फल की इच्छा सहित, कामना सहित, बदला लेने की इच्छा से, देश, काल, पात्रादिक का ठीक ठीक

विचार न करके दिया हुआ दान राजस कहा जाता है, इसका फल क्षणिक है और नीच, अपात्र को देश, कालादि के विरुद्ध होते हुये त्रास पूर्वक अवज्ञा करके दिया हुआ दान तमोगुणी दान है, इसका फल नहीं होता। जो दान श्रद्धा पूर्वक दिया जाता है उसका फल होता है। जो पुरुष दान कभी नहीं देता, ऐसा पुरुष यदि श्रद्धा से अथवा बिना श्रद्धा दे तो भी अच्छा है। यदि न देने वाला बिना विचार देने लगता है तो कभी न कभी विचार से भी देने लगेगा, ऐसा सम्भव है इसलिये उसके लिये ऐसा देना भी कल्याणकारक है। जिसको दान लेने का अधिकार नहीं है, उसे आपत्ति बिना दान न लेना चाहिये। जिस में दान लेकर दान पचाने की सामर्थ्य नहीं है, उसे भी न लेना चाहिये। जो ऐसे लेते हैं वे ऋणी हो जाते हैं और अनन्त गुणा करके उन्हें ऋण चुकाना पड़ता है।

ब्रह्म प्राप्ति के साधनों में तीसरा विचार है, जिसका विवेचन प्रथम हो चुका है। विवेक और विचार में बहुत कम अन्तर है। विचार से विवेक होता है और विवेक से विचार होता है। भिन्न २ करना—समझना विवेक है, यह विचार से होता है। जब विचार करने लगते हैं तब विचार से विवेक की उत्पत्ति होती है। नित्य और अनित्य वस्तु का यथार्थ विचार ही विवेक है। विवेक और विचार अपने साथ तीन सहायक रखते हैं, तब ही सिद्धि को प्राप्त होते हैं, सद्गुरु, सत्शास्त्र और महत् पुरुषों का समागम रूप सत्संग ये तीनों उन दोनों के सहायक हैं। जगत् में दो पदार्थ हैं, वे दोनों एक दूसरे से इस प्रकार मिले हुये हैं कि सामान्य बुद्धि वाले की समझ में नहीं आते। एक क्षर है दूसरा अक्षर है। क्षर को माया और अक्षर को ब्रह्म कहते हैं। इन दोनों का समझना विचार से होता है। नाम रूप वाले जितने पदार्थ हैं वे सब क्षर-माया हैं और न दीखता हुआ भी सब में अनुस्युत जो एक अविचल पदार्थ है वह अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार का भेद जब विचार से मालूम होता है तब उनका विवेक किया जाता है। नाशवंत जितने पदार्थ हैं वे सब ही दुःख रूप हैं और एक अक्षर दुःख रहित अपनी महिमा में टिका हुआ है यह उनका विवेक है। अविवेक-अविचार से संसार और संसार का बंधन है। जब विवेक-विचार किया जाता है तब बंधन निवृत्त हो जाता है। जैसे एक आम है, एक होते हुये भी उसमें तीन चीजें हैं, छिलका, रस और गुठली, यह विचार हुआ। छिलका और गुठली खाने योग्य नहीं हैं, रस खाने योग्य है यह विवेक है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में तीन २ वस्तुयें हैं, नाम, रूप और आत्मा (अस्ति, भाति और प्रिय) यह विचार है। नाम रूप नाश वाले हैं इसलिये ग्रहण करने योग्य नहीं हैं और आत्मा सुख स्वरूप, अविनाशी होने से ग्रहण करने के योग्य है, यह विवेक है। जिस प्रकार धान में से चांवल निकाला जाता है तब खाने योग्य होता है। चांवल के ऊपर तीन छिलके हैं और मध्य में चांवल है, धानों में छिलके दीखते हैं, चांवल नहीं दीखते तो भी छिलकों को हटाने से चांवल निकल आते हैं। चांवल भिन्न करने में तीन पदार्थों की आवश्यकता है, ऊखली, मूसल और सूप। इसी प्रकार आत्मा को माया से अलग करने के लिये तीन पदार्थों की आवश्यकता है, वैराग्य, विचार और विवेक, वैराग्य और विचार से कूटा जाता है और विवेकरूपी सूप आत्मा को माया से भिन्न करता है। इस प्रकार नाम, रूप और अनित्यता से आत्मा को पृथक् कर लेना चाहिये अथवा शरीर ही संसार है, उसमें से आत्मा को भिन्न करना चाहिये। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप तीन छिलके, उपाधियों को हटा कर आत्मा को उनसे भिन्न समझना चाहिये। जो कोई तीनों देह के अभिमान को त्याग देता है वह जीवन्-मुक्त होता है, यह विचार-विवेक का फल है।

ब्रह्म प्राप्ति का चौथा साधन संतोष है। जब वह अक्षर संतोष अन्तिम सीमा को पहुंच जाता है तब जीवन्मुक्त

का स्वरूप हो जाता है। आरम्भ से अन्त पर्यन्त संतोष का देश, जाति, वर्ण, आश्रम, अवस्था, पराक्रम आदिक के साथ सम्बन्ध है। इन सब सम्बन्धों सहित संतोष संकुचित संतोष है और इसका विधान शास्त्रादिकों में मिलता है। संतोष का सामान्य स्वरूप सब में एक ही प्रकार का है। मायिक भाव में टिक कर व्यवहार करने से संतोष का यथायोग्य पालन नहीं होता तो भी जितने अंश में जिस किसी से उसका पालन होगा उतना ही उसे सुख होगा। सुख संतोष में ही होता है। जगत् के पदार्थ अनेक हैं, एक से एक बढ़ कर है, चाहे जितने प्राप्त हो जांय, परन्तु बस अब नहीं चाहिये, ऐसा न होना इसका नाम असंतोष है। शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुये, खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने की जिन वस्तुओं की प्राप्ति हो उनमें संतुष्ट रहना, जो प्राप्त हुआ है, सो ठीक ही है, ऐसा समझना अथवा अपनी स्थिति-कर्मानुसार जो प्राप्त होता है, वह ठीक ही है, ऐसा समझना यह सन्तोष है। जैसा प्राप्ति में संतोष होता है इसी प्रकार यदि कोई वस्तु प्रयत्न करने पर भी प्राप्त न हो तो उसके लिये दुःखी न होना किंतु ऐसा समझना कि वह पदार्थ प्राप्त होने योग्य न था इसलिये प्राप्त न हुआ, हमारे लिये ईश्वर का ऐसा ही संकेत होगा ऐसा मान मन में दुखी न होना इसका नाम संतोष है। सन्तोष भौतिक पदार्थों की प्राप्ति और अप्राप्ति में उपयोगी है। मुमुक्षुओं को आत्म प्राप्ति के लिये श्रवण, पठन आदिक में संतोष न करना चाहिये क्योंकि आत्म प्राप्ति प्रयत्न रहित नहीं होगी। जब आत्म साक्षात्कार हो जायगा तब आत्म-प्राप्ति की तरफ से भी सन्तोष हो जायगा। इसी प्रकार कर्मेन्द्रिय पुरुषों को शास्त्र विधि युक्त सामर्थ्य सहित शुभकर्म करने में सन्तोष न करना चाहिये क्योंकि वे आगे बढ़ कर ज्ञान का अधिकारी बना देंगे। सन्तोष बाहर की क्रिया नहीं है किंतु आंतरिक क्रिया है, अन्तःकरण में होती है। सन्तोष में दम्भ न होना चाहिये, यदि दम्भ होगा तो दम्भ और असन्तोष दोनों के अनिष्ट फल की प्राप्ति होगी। भीतर इच्छा होना और ऊपर संतोष दिखलाना दम्भ युक्त है। जब ऊपर बताये हुये तीनों साधन पूर्ण स्वरूप में आ जाते हैं तब बोध होकर पूर्ण सन्तोष होता है इसलिये ही सन्तोष आत्म स्वरूप है और असन्तोष माया का स्वरूप है। जब सब कुछ एक ही पदार्थ है, इस प्रकार सब को एक आत्मा जाना जाय तब असन्तोष किस प्रकार करे क्योंकि दूसरे के अभाव में असन्तोष नहीं हो सक्ता। सम्यक् प्रकार की तुष्ठि को ही सन्तोष कहते हैं। चेंटी से ब्रह्मा पर्यन्त जीव के जितने दर्जे हैं, उनमें एक से एक बढ़ कर है। ऊपर की—विशेष की इच्छा होना असन्तोष है। जब परमतत्व को जान लिया जाता है, तब उससे बढ़ कर और कोई नहीं दीखता इसलिये उसमें टिकना ही परम संतोष है। मुमुक्षुओं को सब प्रपंच और उसका कार्य हेय है, मात्र एक परम तत्व ही ध्येय है। सब प्रपंच एक साथ नहीं त्याग सके इसलिये लक्ष्य में टिके रहने का यत्न करते हुये व्यवहार-निर्वाह आदिक में यथाप्राप्ति में सन्तोष करना चाहिये, यदि उसमें असन्तोष का भाव रक्खा जायगा, तो मुमुक्षु ध्येय के भाव की तरफ से हट जायगा इसलिये मुमुक्षुओं को मुमुक्षुता के निर्वाह के लिये प्रपंच की तरफ से संतोष को ग्रहण करना चाहिये। अन्य मनुष्यों को भी समझना चाहिये कि असन्तोष तृष्णा स्वरूप है, प्रारब्ध का जो भोग होता है, अवश्य प्राप्त होता है, उस में असन्तोष कर के जी को जलाने से कुछ फल नहीं है, अधिक दुःख ही होता है, तब बिना फल के अधिक दुःख देने वाले दोष को ग्रहण ही क्यों करना! असंतोष से कार्य सिद्धि कभी भी नहीं होती किंतु असंतोष दुःख, शोक, मोह, मन की मलिनता, बुद्धि की जड़ता, अविचार, मत्सर, आदिक का उत्पादक होने से सज्जनों को

शास्त्र विधि अनुसार त्यागने योग्य ही है। ब्रह्म प्राप्ति में असंतोष बहुत ही आवश्यक है।

संत किस को कहना चाहिये ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि जिस की सब में से आसक्ति उठ गई है-वैराग्य हुआ है, मोह नष्ट हो गया है और शिव तत्व में जिस की निष्ठा है, वह संत है। आसक्ति रहित-वैराग्य, मोह और शिव तत्व को समझना चाहिये।

जगत् दुःख रूप है, ऐसा जान कर उसकी तरफ का राग हटा देना वैराग्य है अथवा जगत् को असत्य जान कर आत्म भाव में राग करना वैराग्य है। वैराग्य पांच प्रकार का है:—मंद, मध्य, तीव्र, वशीकार और परवैराग्य। मुमुक्षु, जिज्ञासु, अधिकारी और विवेकी ये ही पीछे के तीन के पात्र हैं। जिस को श्मशानी वैराग्य कहते हैं, अथवा जो सामान्य वैराग्य दुःख के समय आता है और दुःख निवृत्त होने पर चला जाता है, वह मंद वैराग्य है। मध्य वैराग्य कुछ विशेष समय तक टिकता है परन्तु सुख सामने आने पर टिकता नहीं है। तीव्र वैराग्य उत्तम है। ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग उसी से प्रारम्भ होता है, जब वह पक्का हो जाता है और मन इन्द्रियां सब वशीभूत हो जाती हैं, तब उसका नाम वशीकार संज्ञा वैराग्य होता है, वह ही बढ़ कर जब असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति कराता है, तब परवैराग्य हो जाता है। पूर्ण विवेकी को ही पर वैराग्य की प्राप्ति होती है। वह ही जीवन्मुक्त होता है। उसमें त्याग भाव की भी आसक्ति नहीं होती, वह ही त्याग का त्याग कहलाता है।

मोह अंधेरा स्वरूप है। अंधेरे में कुछ का कुछ दीखता है इसलिये मोह रूप अंधेरे में जो सत्य नहीं है, वह भी सत्य दीखता है। इस सत्यता का नाश होना मोह का नाश होना है। नाम रूपात्मक मायिक जगत् वस्तुतः है ही नहीं तब उस का नाश ही क्या! इस प्रकार स्वरूप का बोध हो कर जब निश्चल रूप से टिकाव होता है तब मोह का नाश हुआ ऐसा कहा जाता है। जब कोई भी भौतिक पदार्थ अथवा ऐश्वर्य संपूर्ण रूप से मन को न खेंचे तब मोह का नाश हुआ समझना चाहिये।

शिव तत्व कल्याण स्वरूप को कहते हैं। जो अंतिम कल्याण है वह शिव तत्व है, परमपद, ब्रह्मप्राप्ति, स्वस्वरूप जो तत्व है वह ही शिव तत्व कहा जाता है। जो कभी भी अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, खंडित नहीं होता, जिस से पर कोई नहीं है, वह शिव तत्व है। जो मन वाणी का विषय नहीं है, श्वेतादि वर्णों, शब्दादि विषयों, सत्वादिगुणों, कामादि षड्वर्ग, आकाशादि पंचभूतों, मन आदि ग्यारह इन्द्रियों, और स्थूल सूक्ष्मादि लिङ्गों से रहित, क्षर से भिन्न और अक्षर से श्रेष्ठ है, वह शिव तत्व है। व्यक्त अव्यक्त से उत्तम, सर्वगत, स्थिर, अनादि इस प्रकार का जो अद्वैत परम तत्व है, वह शिव तत्व है। ऐसा सर्व व्यापक, सनातन, परम कल्याण स्वरूप जो शिव तत्व है, उस में ही प्रीति रखना, उस को ही सत्य समझ कर लक्ष्यार्थ से उस की और आत्मा की एकता करके, उस में ही वृत्ति को तदाकार करना, इस का नाम निष्ठा है। जिस को इस प्रकार की निष्ठा है, उस को भेद नहीं रहता, वह ही संत कहलाता है और शास्त्र में ऐसे जीवन्मुक्त से ही संगति करने को कहा है। जल वाले तीर्थ, और मृत्तिका, पाषाण, धातु आदि की मूर्त्ति पवित्र न करते हों ऐसा नहीं है किन्तु वे बहुत काल सेवन से पवित्र करते हैं और ऊपर कहा हुआ ऐसा जो संत है, वह दर्शन मात्र से पवित्र करता है। अखिल ब्रह्मांड में जितने सत्वर फलदाता संत हैं इतना अन्य कोई नहीं है।

उदयपुर के राणा की रानी, जो नाम मात्र रानी कही जाती है, वह मीरां बाई बाल्यावस्था से ही कृष्ण प्रेम में लवलीन रहने लगी थी। माता पिता आदि ने उस का विवाह कर दिया था

परन्तु वह वैराग्यवान् होने से संसार के व्यवहार में न पड़ी, रात्रिदिन कृष्ण-भगवान् के प्रेम में ही मग्न रहती। सत्संग, साधुओं को मान देना, भजन में चित्त रखना इत्यादि आचार राजपत्नी के योग्य न समझ कर राजा ने उन्हें छुड़ाने को बहुत प्रयत्न किया परन्तु मीरां ने अपने अखंडित व्यापक पति का प्रेम न त्यागा। तब उसके पति ने उसे विष देकर मार देने का निश्चय किया। विष दिया गया। मीरांबाई विष को चरणामृत समझ कर पी गई परन्तु विष ने अपना काम न किया। यह चमत्कार देख कर राजा ने उसकी इच्छानुसार बर्तने में कुछ रोक टोक न की। मीरां सब स्थानों पर स्वतन्त्रता से घूमने लगी। भगवद् प्रेम होने से जगत् की आसक्ति उसमें नहीं थी, जगत् को वह तुच्छ समझती थी। भगवत् सिवाय अन्य किसी पर प्रेम न होने से वह परम वैराग्य वाली थी। भगवत् शरण से उसका सम्पूर्ण मोह निवृत्त हो गया था। उसे सब स्थानों में और सब पदार्थों में कृष्ण ही कृष्ण दीखते थे इस प्रकार वह कृष्ण-शिव तत्व की निष्ठा से पूर्ण थी, सब लक्षणों से युक्त पूर्ण संत थी और इच्छानुसार पृथ्वी पर्यटन करती थी। इस प्रकार घूमती हुई वह एक समय प्रयाग में पहुंची।

प्रयाग में विशुद्धानन्द नाम के एक संन्यासी रहते थे। वे विद्वान्, शास्त्रभाव वाले और ब्रह्मनिष्ठ हैं ऐसा लोग समझते थे। मध्यप्रांत में उनकी कीर्ति बहुत फैली हुई थी। अनेक साधु, वैरागी, मुमुक्षु और भक्त लोग तथा राजा महाराजा आदिक उनके दर्शनों के लिये आया करते थे। वास्तविक वे त्यागी योग्य पुरुष थे। मीरां हमेशा साधु समाजों में आया करती थी। यद्यपि उसकी परम तत्व की निष्ठा पूर्ण थी तो भी जो लोग उसे प्रिय थे, उनके दर्शन वह चाहती थी। विशुद्धानन्द की ख्याति सुन कर प्रेम सहित वह उनके दर्शनों को गई। विशुद्धानन्द एक दूर स्थान पर रहते थे जो चारों तरफ से दीवारों से घिरा हुआ और विशाल था। वहां हर किसी को सहज में जाने की आज्ञा न थी। जो कोई वहां जाना चाहता था उसे प्रथम खबर करनी पड़ती थी और आज्ञा मिलने पर जाने पाता था। स्त्रियों को भीतर जाने की बिलकुल मने थी, क्योंकि विशुद्धानन्द स्त्री का दर्शन नहीं करते थे। उनका निश्चय था कि स्त्रियां विकार उत्पन्न करने वाली हैं, वे ही जन्म का कारण होती हैं इसलिये उनका स्मरण, दर्शन और सम्भाषण आदिक उन्हों ने छोड़ रक्खा था। मीरां ने वहां जाकर दरवान से कहा "मैं महात्मा विशुद्धानन्द के दर्शन करने को आई हूं।" दरबान ने कहा "बाई! आपकी यह इच्छा पूर्ण होना असंभवित है क्योंकि हमारी जान में तो महात्मा जी ने आज तक किसी स्त्री को दर्शन नहीं दिये हैं, स्त्रियों को यहां आने की मनाई है।" मीरां बोली "मैं भी एक संत हूं, आप जाकर कह दीजिये कि मीरां बाई आपके दर्शन करने को आई है!" दरबान मीरां का नाम सुनकर चौंका और प्रणाम करके बोला "बाईजी! मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मैंने तो महात्मा जी की आज्ञा आपको सुनाई है।" दरबान ने मीरां की ख्याति सुन रक्खी थी, अत्यन्त पूज्य भाव से बोला "मैं महात्मा जी से आपके दर्शन करने की इच्छा प्रकट करता हूं।" दरबान गया और लौटकर आकर कहने लगा "बाई जी! महात्मा जी ने कहा है कि मीरां से कह दो कि मैं कभी स्त्री को दर्शन नहीं देता, मैं ने सुना है कि वह भी एक संत है परन्तु स्त्री जाति होने से मैं अपने निश्चय से विरुद्ध दर्शन नहीं देसकता!" यह सुनकर मीरां आश्चर्ययुक्त हो बोली "अहो! बड़ा आश्चर्य है! आज तक मैं जगत् में एक ही पुरुष को जानती थी, जगत् में सब स्त्रियां हैं, यह दूसरा पुरुष कहां से आया? जो स्त्री का मुख देखने से घृणा करता है, चाहे जो कुछ हो, मैं उसके दर्शन अवश्य करूंगी! यदि वह अपने को पुरुष सिद्ध कर देगा तो मैं दर्शन नहीं करूंगी! जितने शरीर-धारी हैं, सब स्त्री से ही उत्पन्न हुये हैं, स्त्री से

उत्पन्न हुआ पुरुष कैसा ? जिसे स्त्री ने जन्म दिया है, वह पुरुष कदापि नहीं हो सक्ता ! पुरुष तो असंग, अव्यक्त और अज है, संगवाला, व्यक्तिवाला और जन्मा हुआ पुरुष कैसा !" जब दरबान ने मीरां के ये सब शब्द ज्यों के त्यों संन्यासी को जाकर सुनाये तो वे आश्चर्य करने लगे, और मीरां की निष्ठा अपनी निष्ठा से कई दर्जे ऊंची जानकर उनमें अत्यंत पूज्य भाव उत्पन्न हुआ। "जो सब जगत् को स्त्री बता रही है, उस स्त्री को स्त्री कैसे माना जाय !" ऐसा विचार कर वे एक दम प्रेम में मग्न हो बाहर जहां मीरां खड़ी थी वहां आगये और पैरों में गिर पड़े, प्रणाम किया और नम्र भाव से बोले "मेरा अपराध क्षमा कीजिये, मेरे पुरुषपने के अभिमान वाली तू ही हो ! सच है ! मैं व्यक्ति वाला पुरुष नहीं हो सक्ता ! जिसका व्यक्ति भाव निवृत्त हो गया है, जिसकी स्त्री पुरुष की भावना जाती रही है, वह ही ब्रह्म-निष्ठ है ! मैं त्याग कर चुका था परन्तु त्याग का त्याग सिखलाने वाला गुरू मुझे आज मिला है !" सन्यासी के इस सच्चे भाव से मीरां भी प्रसन्न होकर गद्गद् हो गई !

सन्यासी जो पंडित हो कर भी नींद में पड़ा था, आत्म-तत्व में जाग उठा। मीरां का आत्म प्रकाश सन्यासी के हृदय में तेज़ी से घुस गया और उसके मोह रूप अंधेरे का नाश किया। सन्यासी मीरां को अति सन्मान सहित अपने स्थान पर ले गये। मीरां अति आग्रह से दो दिन रह कर सन्यासी को भी पवित्र कर के चली गई। वह ही सच्ची संत थी !

जिस को परब्रह्म का ही भान है, और जगत् के भेद भाव पर जिस का लक्ष नहीं है, वह ही संत है। जो सब प्रकार से सब का अंत करके एक अपने ही स्वरूप में स्थित है, वह ही संत है। जो अज्ञान रूप अंधेरे में भटक रहे हैं उन्हें जो ज्ञान रूप प्रकाश में ले जाते हैं, वे ही संत हैं।

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गतांङ्क से आगे)

समाधानः—भूतयोनि का शरीर वाला रूप जो कहा है वह 'भूतयोनि का शरीर है' ऐसा कहने की इच्छा से नहीं कहा है परन्तु 'भूतयोनि सर्व का आत्मा है' ऐसा कहने की इच्छा से कहा है इस लिये दोष नहीं है। 'अहमन्नमहमन्नादः' [तैत्ति० ३ । १० । ६] (मैं अन्न हूं, मैं अन्न खाने वाला हूं) जैसे इस श्रुति में भोग्य और भोक्ता रूप एक ही है इसी प्रकार उपरोक्त श्रुति में शरीर और शरीर वाला एक ही भूतयोनि को कहा है।

शंकाः—कोई २ ऐसा मानते हैं कि यह भूत योनि के रूप का उपन्यास नहीं है क्योंकि यहां पर उत्पति भाव का सूचन किया है। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥' (इस में से प्राण, मन और सब इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्व को धारण करने वाली पृथिवी उत्पन्न होती है) इस प्रकार श्रुति प्राण से लेकर पृथिवी तक सब तत्वों की उत्पत्ति बताती है और पीछे भी 'तस्माद्ग्निः समिधोयस्य सूर्यः" (जिस का समिधरूप सूर्य है ऐसा अग्नि उसमें से उत्पन्न हुआ) इस प्रकार आरम्भ करके 'अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च' (और इस में से सब औषधियां और रस उत्पन्न हुये) यहां तक उत्पत्ति ही कथन की है तो यहां बीच में ही एकदम भूतयोनि के रूप का किस प्रकार निरूपण कर सक्ती है ?

समाधानः—श्रुति सृष्टि की परिसमाप्ति करके पीछे 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' [मुण्ड० २ । १ । १०] (पुरुष ही यह विश्व, कर्म है) इस प्रकार भूतयोनि की सर्वात्मता का भी तो कथन करती है। त्रैलोक्य जिस का शरीर है ऐसे प्रजापति का जन्मादि

श्रुति और स्मृति में देखने में आता है। जैसे कि 'हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥' [ऋ० सं० १० । १२१ । १] (प्रथम हिरण्य गर्भ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न हो कर वह भूतों का एक पति हुआ। इसने द्युलोक को और इस पृथिवी को धारण किया, किस हविष्से देव की पूजा करें) 'समवर्त्तत' का अर्थ उत्पन्न हुआ, ऐसा है, इसी प्रकार 'स वै शरीरी प्रथमः सवै पुरुष उच्यते। आदि कर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्त्तते ॥ (वह ही प्रथम शरीरी है, वह ही पुरुष कहलाता है, भूतों का आदि कर्ता वह ब्रह्म प्रथम उत्पन्न हुआ); विकार युक्त पुरुष भी सब भूतों का अंतरात्मा हो सक्ता है क्योंकि प्राणात्मा कर के सब भूतों के आत्म रूप से उस की स्थिति है। यहां पर 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म' (पुरुष ही यह सर्व, कर्म है) इत्यादि सर्व रूप का निरूपण परमेश्वर की प्राप्ति के लिये है ऐसा जानना चाहिये ॥ २३ ॥

(७) वैश्वानराधिकरण।

वैश्वानरः साधारण शब्द विशेषात् ॥२४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—वैश्वानरः [श्री छान्दाग्योपनिषद् में कहा हुआ] वैश्वानर [परमात्मा है] साधारण शब्द विशेषात् साधारण शब्द के विशेष से।

टीकाः—'को न आत्मा किं ब्रह्म' [छान्दो० ५।११।१] (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) और 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहि' [छान्दो० ५।११।६] (इस वैश्वानर आत्मा का ही अब तू स्मरण करता है उसी को हम से कह) इस प्रकार उपक्रम करके द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी के तेज आदि गुण सम्बन्ध बताती हुई और एक २ की उपासना की निन्दा करती हुई वैश्वानर में स्वर्ग आदिक मूर्धा आदि भावों का उपदेश करके श्रुति कहती है:—

'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्म स्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्व रूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' [छान्दो० ५।१८।१-२] (विश्वात्मा जो प्रदेशमात्र रूप अर्थात् जो पृथिवी तथा स्वर्ग में व्याप्त तथा जो अहं शब्द से कहा हुआ मुख्य वस्तु रूप है, उस वैश्वानर आत्मा की प्रत्यक् ब्रह्म रूप से जो उपासना करता है वह सर्व लोकों में, सर्व भूतों में, सर्व आत्माओं अर्थात् सर्व देह इन्द्रिय आदि में स्थिति कर अच्छी प्रकार से अन्न भक्षण करता है, इस सर्वत्र व्यापक परमात्मा का स्वर्ग मस्तक रूप है, आदित्य चक्षु रूप है, वायु प्राण रूप है, आकाश उदर रूप है, जल बस्ति-मूत्र स्थान रूप है तथा पृथिवी पाद रूप है, वेद वक्षस्-छाती रूप है, बर्हि केश रूप है, गार्हपत्य अग्नि उस का हृदय रूप है, अन्वाहार्य पचन अग्नि उसका मन रूप है तथा आहवनीय अग्नि मुख रूप है) इस में संशय होता है कि यहां पर वैश्वानर शब्द से किसका ग्रहण करना चाहिये, जठराग्नि का अथवा उसके अभिमानी देवता का अथवा शारीर-जीव का अथवा परमेश्वर का क्योंकि जठराग्नि, भूताग्नि और देवता के लिये यहां वैश्वानर इस साधारण शब्द का प्रयोग किया गया है और शारीर तथा परमेश्वर के लिये आत्मा इस साधारण शब्द का प्रयोग है इसलिये संशय होता है कि किसका ग्रहण करना ठीक है और किस का त्याग करना ठीक है।

पूर्वपक्षीः—वैश्वानर का अर्थ जठराग्नि लेना उचित है क्योंकि कितने ही स्थानों पर जठराग्नि का विशेषण रूप से प्रयोग देखने में आता है जैसे कि 'अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते' [बृ० ५।९] (शरीर

के मध्य भाग में जो अग्नि रहता है उसको वैश्वानर कहते हैं, जो अन्न खाया जाता है उसको यह अग्नि पचाता है) इत्यादि में जठराग्नि के लिये वैश्वानर शब्द का प्रयोग किया गया है। अथवा केवल अग्नि समझना चाहिये क्योंकि सामान्य अर्थ में भी प्रयोग देखने में आता है जैसे कि 'विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नाम कृण्वन्' [ऋ० सं० १०।८८।१२] (सब भुवनों के लिये देवताओं ने वैश्वानर अग्नि को दिन का चिह्न किया) इत्यादि में ऐसा प्रयोग देखने में आता है। अथवा अग्नि जिसका शरीर है ऐसा देवता समझना चाहिये क्योंकि उसके लिये भी प्रयोग देखने में आता है जैसे कि 'वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामभिश्रीः' [ऋ० सं० १।९८।१] (वैश्वानर की सुमति में हम को रहना चाहिये क्योंकि वह भुवनों का सुख देने वाला राजा है और श्री युक्त है) इत्यादि श्रुति ऐश्वर्य युक्त देवताओं के लिये ही होना सम्भव है। और आत्मा शब्द का वैश्वानर के साथ समानाधिकरण है इसलिये उपक्रम में 'को न आत्मा किं ब्रह्म' (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्म शब्द का प्रयोग होने से आत्म शब्द के साथ वैश्वानर शब्द को जोड़ना चाहिये ऐसा कहो तो भी शारीर आत्मा रूप होना चाहिये क्योंकि आत्मा भोक्ता रूप है और वैश्वानर के समीप में है और आत्मा का प्रादेश मात्र विशेषण उपाधि से परिच्छिन्नपने में हो सक्ता है इसलिये वैश्वानर ईश्वर रूप नहीं है।

सिद्धान्ती:—वैश्वानर परमात्मा रूप ही होना योग्य है क्योंकि साधारण शब्दों का विशेष रूप है—वैश्वानर तथा आत्मा सामान्य शब्द हैं उनमें वैश्वानर विशेष रूप से है। यद्यपि आत्मा और वैश्वानर दोनों शब्द साधारण रूप से हैं उनमें वैश्वानर शब्द तीन साधारण रूप से अर्थात् जीव, परमात्मा और अग्नि रूप से है तथा आत्मा दोनों का सामान्य रूप है अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रूप है तो भी उनमें विशेषता होने से दोनों में परमेश्वरपना कहलाता है। जैसे कि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजा' (उस इस आत्मा वैश्वानार का मस्तक ही अत्यन्त तेज वाला है) इत्यादि। यहां पर परमेश्वर को ही द्युमूर्धत्वादि विशिष्ट रूप से तथा अन्य अवस्थाओं को प्राप्त हुये रूप से प्रत्यगात्मापने से ध्यान करने के लिये अंगीकार किया है क्योंकि वह कारण रूप है। कारण रूप परमात्मा की ही कार्यवाली सब अवस्थाओं में स्थिति होने से द्युलोकादि अवयव रूप से सूचना करनी युक्त है। 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (वह सर्व लोकों में, सर्व भूतों में, तथा सर्व आत्माओं में अन्न भक्षण करता है) इस प्रकार सर्व लोकादिका आश्रय रूप फल जो श्रुति ने कहा है वह परम कारण रूप में ही संभव हो सक्ता है। 'एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' [छान्दो ५। २४। ३] (इस प्रकार अधिकारी के सर्व पाप जल जाते हैं) इस रीति से आत्म साक्षात्कार वाले के सब पापों का नाश कहा है। 'को न आत्मा किं ब्रह्म' (हमारा आत्मा कौन है, ब्रह्म क्या है) इस प्रकार आत्मा तथा ब्रह्म शब्द द्वारा प्रारम्भ करके जितने विशेषण दिये हैं वे परमेश्वर के ही दिखाई देते हैं इसलिये परमेश्वर ही वैश्वानर रूप है ॥२४॥

अब यह ही बात स्मृति का प्रमाण देकर सिद्ध करते हैं।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ—स्मर्यमाणं स्मृति द्वारा कहा हुआ [परमात्मा का रूप वैश्वानर शब्द के परमात्मा रूप होने का] **अनुमानं** लिंग **स्यात्** है **इति** इसलिये [वैश्वानर परमात्मा ही है।]

टीकाः—और स्मृति से भी वैश्वानर परमेश्वर ही है क्योंकि परमेश्वर का ही मुख अग्नि रूप

तथा मस्तक स्वर्ग रूप है इस प्रकार परमेश्वर का तीनों लोक वाला स्वरूप स्मृति भी प्रतिपादन करती है जैसे कि 'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः। सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः॥' (जिसका मुख अग्नि रूप, स्वर्ग मस्तक रूप, आकाश नाभी रूप, चरण पृथ्वी रूप, सूर्य चक्षुरूप तथा दिशायें श्रोत्र रूप हैं, उस लोकात्मा रूप परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूं)। इस प्रकार स्मृति में कहा हुआ परमात्मा का स्वरूप मूलभूत श्रुति के समान ही है इस लिये अनुमान प्रमाण से वैश्वानर शब्द का परमेश्वर रूप ही मानना ठीक है। यहां पर मूलसूत्र में इति शब्द जो लगाया है वह हेतु वाचक है अर्थात् इस प्रकार स्मृति में अनुमान है इस कारण भी वैश्वानर परमात्मा रूप है इस प्रकार का अर्थ है 'तस्मै लोकात्मने नमः' इस प्रकार जो स्तुति है यदि वह मूल रूप वेद में न होवे तो इस रूप में भी योग्य प्रकार से सम्भव न होवे 'द्यां मूर्धानं यस्य विप्रा वदन्ति खं वै नाभिं चन्द्र सूर्यौ च नेत्रे। दिशः श्रोत्रे विद्धि पादौ क्षितिं च सोऽचिन्त्यात्मा सर्व भूत प्रणेता॥' (विद्वान् स्वर्गलोक को जिसका मस्तक, आकाश को नाभि, चन्द्र सूर्य को नेत्र, दिशाओं को श्रोत्र और पृथिवी को चरण कहते हैं वह आत्मा अचिन्त्य रूप तथा सब भूतों का प्रणेता है, ऐसा तू जान) यह स्मृति भी ऊपर कही हुई वार्ता को सिद्ध करती है इसलिये वैश्वानर परमात्मा ही है॥२५॥

अब वाज सनेयी शाखा वालों के मत से वैश्वानर का परमात्मा होना सिद्ध करते हैं:—

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते॥ २६॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:—शब्दादिभ्यः [वैश्वानर] शब्दादि से च और अन्तःप्रतिष्ठानात् [शरीर के] भीतर स्थितपने से [वैश्वानर परमात्मा] न नहीं [है] इति ऐसा [कहो] चेत् तो [यह संभव] न नहीं तथा इसी प्रकार (जठराग्नि अवच्छिन्न ब्रह्म में) दृष्ट्युपदेशात् उपासना के उपदेश से [और] असम्भवात् [केवल जठराग्नि में 'स्वर्ग जिसका मस्तक' इत्यादि के] असंभव होने से च इसी प्रकार [वाजसनेयि शाखा वाले] एनं इसको (वैश्वानर को) पुरुषं पुरुष रूप से अपि भी अधीयते अध्ययन करते हैं, [इसलिये वैश्वानर परमेश्वर ही है।]

टीका:—शंका:—वैश्वानर का शब्दादि से अर्थात् परमात्मा से भिन्न निरूपण होने से और वैश्वानर की स्थिति भीतर होने से वैश्वानर को परमात्मा कहना योग्य नहीं। प्रथम तो वैश्वानर शब्द परमेश्वर विषे लगना संभव नहीं है क्योंकि वह अन्य अर्थमें लगाया गया है और इसी प्रकार 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरः' (वह यह वैश्वानर अग्नि है) इस में अग्नि शब्द परमेश्वर के लिये होना संभव नहीं है। (शब्दादि के) आदि शब्द से 'हृदयं गार्हपत्यः' [छान्दो० ५।१८।२] (हृदय गार्हपत्य है) इत्यादि तीनों अग्नियों की कल्पना का और 'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' [छान्दो०५-१९-१] (उसमें जो अन्न प्रथम आवे वह होम का साधन रूप है) इत्यादि से प्राणाहुति का (वैश्वानर) अधिकरण है, ऐसा कहा है, उसीका ग्रहण करना चाहिये। इन कारणों से वैश्वानर को जठराग्नि जानना योग्य है। इसी प्रकार श्रुति में कहा है कि जठराग्नि की स्थिति भीतर है जैसे कि 'पुरुषे ऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के भीतर स्थित हुआ वह जानता है) यह जठराग्नि के लिये ही संभव है। और 'मूर्धैव सुतेजा' (मस्तक ही अत्यंत तेजवाला है) इत्यादि विशेषरूप कारण से वैश्वानर ही परमात्मा है, ऐसा जो कहा है, इस सम्बन्ध में मैं ऐसा मानता हूं कि ऐसा नहीं होसका। (अपूर्ण)

श्लोकों कर के जो दुर्भाग्यता और तुच्छता लिखी है वहउन पुरुषों की है जिन्होंने वेद के तात्पर्य को न समझ कर भोगों में आसक्त होकर अर्थवाद वाक्यों को ही तात्पर्य मान कर अपने को कृत-कृत्य जाना है । सो भी उनकी निंदा नहीं की है किन्तु इस कारण कि इतर पुरुष अर्थवाद में मग्न होकर अपने दुलर्भ मनुष्य शरीर को व्यर्थ न गवावें । यथा शास्त्र में भी कहा है:—

दुर्लभो मानुषो देहो ब्राह्मय देहं सुदुर्लभम् ।
ब्राह्मय देहं समासाद्य यः स्व मुक्त्ये न यत्यते ।
सुमेरो रग्रामासाद्य स्व देहं पातयत्यधः ॥

और ४५ के श्लोक में भी वेद की तुच्छता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वेद को श्री भगवान् ने जो त्रैगुण्य विषयक कहा है सो वेद प्रसंग की बाहुल्यता करके कहा है ऐसा प्रयोग बाहुल्यता को उद्देश कर किया ही जाता है । जैसे किसी ग्राम में इतर जातियों से ब्राह्मण जाति के अधिक निवास होने से सो ब्राह्मण ग्राम कहा जाता है अर्थात् बाहुल्यता का प्रयोग किया जाता है तैसे वेद में भी केवल ४ ही हज़ार भाग वेदान्त परमार्थ का निरूपण करते हैं, अन्य सम्पूर्ण भाग संसार का प्रतिपादन करतेहैं। सो भी उससे तात्पर्य संसार के प्रतिपादन का नहीं है किंतु उस प्रसंग के अधिकारी अधिक होने से गुड़ जिह्वा न्याय दिखलाया है यथा—भागवत् के एकादश स्कंध में नवयोगीश्वरों ने जनक के प्रति वर्णन किया है ।

परोक्ष वादोवेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्म मोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्मगदोयथा ॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभंते सिद्धिं रोचनार्थाफलाश्रुतिः॥

यदि हम ऐसे श्लोकों के अर्थ को वेद की तुच्छता में लगावेंगे तो क्या मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय खंड में ४ मंत्रों करके (जहां इससे भी अधिक उन दुर्भाग्यों की तुच्छता वर्णन की है)भी वेद की तुच्छता समझेंगे । सो क्या वेद आपही अपनी निन्दा करने लग गया ! वाह ! आक्षेपक की बुद्धि की कौशल्यता ! ये चार मंत्र आप स्वयं वहां पर देख सक्ते हैं क्योंकि पत्रों में श्रुति वाक्य का निरादर होता है ।

और ४६ के श्लोक में उदपान का दृष्टांत देकर विद्वान् की प्रशंसा की है यही वार्त्ता छान्दोग्य के चतुर्थाध्याय में जानश्रुत-रैक्व विद्वान के प्रसंग में हंसों ने रैक विद्वान् की प्रशंसा ४ अंक रूप कृत का दृष्टांत देकर की है । मंत्र स्वयं आप देख सक्ते हैं ॥ "सर्वेपदा हस्तिपदे निमग्नाः" इस न्याय से और ५३ के श्लोक में भी वेद की तुच्छता नहीं प्रतीत होती उसमें भी तात्पर्य यह है कि अर्थवाद सुन २ कर जो तेरी बुद्धि विक्षेप को प्राप्त हुई है सो उन वाक्योंके तात्पर्यको विचारने से स्थिर होकर ज्ञान योग को प्राप्त होवेगी सो इस आशय से कोई वेद की तुच्छता नहीं पाई जाती । आश्चर्य होता है कि आक्षेपक ने किस आशय को लेकर वेद की तुच्छता समझली है !

(२) दूसरे आक्षेप में वर्णाश्रम के विषय में पूछा है ? सो गीता वर्णाश्रम को मण्डन करती है परन्तु इस आशय से मण्डन नहीं करती कि वर्णाश्रम धर्म मात्र से ही तुम कृतार्थ हो जावोगे और इसी अभिमान में ही गलित होकर तुम इतर पुरुषों का निरादर करो किंतु इस आशय को लेकर मण्डन करती है कि वर्णाश्रम धर्मी पुरुष अनायास ही परमपद का साधन जो ज्ञान तथा अनन्यभक्ति है उसको सुलभ रीति से प्राप्त होते हैं इसी कैमुतक न्याय द्वारा नवम अध्याय के अन्त में स्वयं श्री भगवान् ने "किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्यः" इत्यादि श्लोक से प्रतिपादन किया है और महाभारत के शांति पर्व में भीष्म युधिष्ठर के संवाद में "न जाति कारणं तात गुणः कल्याण कारणम् ।" इत्यादि वाक्यों से भी कहा है ॥

और गीता के अष्टादशाध्याय के ६६ श्लोक में जो वर्णाश्रम धर्म का त्याग लिखा है सो इस न्याय से लिखा है कि—

फल कारण फूली बन राय, फल पाको तो फूल विलाय।

लोक में भी विख्यात है कि सिद्धि के प्राप्त होने पर साधनों की कोई जरूरत नहीं रहती । इस कारण जाना जाता है कि भगवान् का वर्णाश्रम धर्म मण्डन का तात्पर्य नहीं है किन्तु परमपद का साधन

जो अभेद ज्ञान और भक्ति है उसमें तात्पर्य है। इसमें और भी बहुत विस्तार है परन्तु यहां पर हमने संक्षेप से लिखा है। और यह जो लिखा है कि वर्णाश्रम रहित पुरुषों का भी निर्वाह होता है उसकी व्यवस्था यह है कि जहां वैदिक कर्म यज्ञादिकों का विधान है उन देशों में वर्णाश्रम धर्म की आवश्यकता है क्योंकि वेद में जाति के अनुसार ही पृथक् २ यज्ञादि कर्म कथन किये हैं। "राजा राजसूय यज्ञ करे" इत्यादि। इसलिये जहां पर वैदिक कर्म का प्रचार नहीं है वहां पर वर्णाश्रम की कोई जरूरत नहीं है। उन देशों में जिस किसी को उत्तम भाग्य योग से भक्ति तथा ज्ञान योग प्रप्त हो जावे तो वह परमपद को प्राप्त हो जायगा नहीं तो कीट पतंगादिवत् "जायस्व-म्रियस्व" अर्थात् जन्म मरण होता रहेगा। (अपूर्ण)

——:*:——

गीता की शंकाओं पर सम्मति

(लेखक—राधाचरण)

शर्मा जी महोदय !

आपने श्रीमद्भगवद्गीता पढ़ी अवश्य होगी किंतु सत्संग द्वारा अथवा गुरुमुख द्वारा श्रवण नहीं की है और पढ़ कर उसका मनन भी नहीं किया है। आपकी शंकायें गीता जनित नहीं हैं किंतु भव विलासी मन गढ़त हैं। अनेक टीकायें भी आपने देखी होंगी परन्तु श्रद्धा विश्वास रहितः—'याभ्यां विना न पश्यंति सिद्धा स्वांतस्थमीश्वरं'। अनुभवी विद्वानों से आप इन शंकाओं का उत्तर मांगते हैं सो अनुभवी विद्वान् यथोचित उत्तर हर किसी को नहीं दिया करते किंतु समित पाणि आये हुये श्रद्धालु मुमुक्षु की कुछ काल परीक्षा करके यथार्थ अनुभव प्रकट किया करते हैं। यह मार्ग अपने लाभ का है, इस मार्ग में अपने से भिन्न और कोई है ही नहीं इस लिये उत्तर न लिख कर उचित सम्मति प्रकट की जाती है:—

(१) सम्मतिः—गीता वाणी है, स्वयं वक्ता नहीं है, उसके वक्ता श्री कृष्ण भगवान् हैं और संग्रहकर्ता व्यास जी हैं। व्यास जी स्वयं वेदव्यास करके प्रसिद्ध हैं और कृष्ण भगवान् का वाक्य है- 'वेदानां सामवेदोऽहं'। वेदों की ही नहीं किंतु गीता में शास्त्र तक की प्रतिष्ठा है जैसा कि कहा है:—'ये शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते काम कारतः' इत्यादि। आपने अध्याय २ के ४२, ४५,४६ और ५३ श्लोकमें वेद का तुच्छता की दृष्टि से कथन किस प्रकार जाना ? वक्ता के भाव से, अथवा अपनी दोष दृष्टि के चाव से ? वेदों का पूर्ण महत्व इन्हीं श्लोकों में दर्शाया है। यदि आपको कुछ तुच्छता प्रतीत हुई थी तो स्पष्ट लिखते, ऐसे गोल शब्द लिखकर सर्वमान्य ग्रन्थ को मिथ्या लांछन लगाना है जो सदाचार से सर्वथा प्रतिकूल है।

(२) सम्मतिः—आपकी इस दूसरी शंका से प्रकट होता है कि गीता की तो बहुत बात है, वेदांत का छोटे से छोटा ग्रंथ भी आपने नहीं देखा है। वर्णाश्रम धर्म शरीर के हैं इसलिए कृष्ण भगवान् तथा व्यास जी ने स्वयं पालन किये थे। अ० १२ श्लोक ६६ का जो सच्चा अर्थ है उसके जानने के लिए आपको विशेष काल चाहिए। 'जब कछु काल करिय सतसंगा। तब ही होय मोह भ्रम भंगा॥" स्वरूप की शरण में अनात्म धर्म स्वयं छूट जाते हैं परन्तु मुमुक्षु को कर्तव्य कोटी द्वारा ही उपदेश दिया जाता है जैसे कि 'सब धर्मों को छोड़ कर मेरी शरण को प्राप्त हो।' वर्णाश्रम धर्म व्यवहार निमित्त है और समस्त विश्व मंडल में किसी न किसी रूप द्वारा व्यवहृत हैं। यह बात प्रत्यक्ष देखने के लिए कुछ काल मनन करने की आवश्यकता है। (अपूर्ण)।

ॐ

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } श्रावण सं० १९७८ अगस्त १९२१ { अंक १०

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य ।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका ।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।

(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।

(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।

(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) लिया जायगा। नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।

(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

सुधार:—गताङ्क के पृष्ठ १९५ के प्रथम कोलम की ३१ वीं लाइन में 'कर्म के त्याग' के बदले 'कर्म-फल के त्याग' पढ़ना।

उत्तेजन।

श्रीमान घनश्यामदास ब्रजमोहन लाल जी–आपने इस पत्र के उत्तेजनार्थ रु० २५) और जो इस पत्र को खरीद न कर सकें ऐसे योग्य दश अधिकारी पुरुषों को एक साल तक पत्र भेजने के लिये रु० ३०) भेजे सो कुल रु० ५५) हम को मिल गये हैं। आपकी शुद्ध बुद्धि की वृद्धि हो!

सम्पादक।

सूचना।

वेदान्त केसरी प्रथम पुस्तक सजिल्द	... ...	मूल्य रु०	३।–)
,, द्वितीय ,, ,,		,,	३।–)
,, प्रथम ,, बिना जिल्द		,,	३)
,, द्वितीय ,, ,,		,,	३)

डाक महसूल ग्राहकों को देना पड़ेगा।

प्रकाशक।

पुस्तक ३ | श्रावण सं० १९७८। अगस्त १९२१ | अंक १०

बोध ।

हरि गीत छन्द ।

(१)

सुख वास्तविक है आत्म में, गुरु, संत, शास्त्र प्रमाण हैं।
जो ढूंढते सुख जगत् में, वे मूर्ख, पशु, अंजान हैं॥
सुख प्राप्त करने जगत् में, जितने हि जितने धायंगे।
उतने हि उतने आत्म से हम दूर हटते जायंगे॥

(२)

जग में प्रतिष्ठा मान हित नर अज्ञ आयु वितायं हैं।
हैं आप करते यत्न यहि, यहि अन्यको सिखलायं हैं॥
अपयश न हो जगमें कहीं दिन रात यह ही ध्यान है।
बिगड़ी प्रतिष्ठा आत्म में, इसका न कुछ भी ज्ञान है॥

(३)

छोटे, बड़े, निर्धन, धनी सर्वत्र ईश्वर जानते।
पर पाप करने में नहीं भय लेश उसका मानते॥
नर तुच्छ देखें सामने तो पाप से रुक जायं हैं।
सर्वत्र व्यापक ईश से पर मूढ़ नहिं सकुचायं हैं॥

(४)

सत् आत्म अपना छोड़ कर मिथ्या पदारथ चाहना।
इस से अधिक क्या होयगा मूरखपना पागलपना॥
नहिं नाश जिसका होय उसको नाश वाला मानना।
यहि जन्म, यहि दुख, यहि मरण, संसार यह ही जानना॥

(५)

भीतर जगत् है चित्त में, बाहर निकालें चित्त से।
यह बात हैं नहिं जानते, हैं मानते बाहर उसे॥
यह भूल नरको मारती, भवकूप मांहिं गिरावती।
दे जन्म नाना योनि में, बहु काल तक भटकावती॥

(६)

नहिं शब्द होता ठोस में, सुन शब्द पड़ता पोल में।
डंडा लगे जब अन्य का आवाज हो तब ढोल में॥
नहिं पोल जिसमें ठोस ऐसा एक आतम तत्व है।
कैसे वहां हो शब्द जहँ नहिं नामको अन्यत्व है॥

(७)

मिथ्या पदारथ स्वप्न के, हैं स्वप्न में ही सोहते।
जागे हुए प्राणीन को नहिं वे कभी भी मोहते॥
जो सो रहे हैं आत्म में, उनको हि सत् भासे जगत्।
जो जागते हैं तत्व में, देखें जगत् शश शृंगवत्॥

(८)

जग में नहीं अच्छा बुरा, चातुर्यता या मूर्खता।
नहिं ज्ञान नहिं अज्ञान हो, नहिं नम्रता नहिं क्रूरता॥
अंतःकरण के धर्म ये अंतःकरण ही में बसें।
जो मूढ़ जाने जगत् में, भवकीच में क्यों नहिं फँसें॥

(९)

जो भाव भीतर होय है, वहि भाव बाहर आय है।
वैसी डकारें आयं हैं जैसा पदारथ खाय है॥
भीतर जगत् जो राखता बाहर उसे जग संभवे।
जो मग्न रहता आतम में सर्वत्र आतम अनुभवे॥

(१०)

घट तेलका धोया करो नहिं शुद्ध होवेगा कभी।
जावे तपाया आग में चिकनापना जावे तभी॥
नहिं मुक्त हो कौशल्य! जब तक कर्म में अनुरक्त है।
बोधाग्नि में तपता जभी होता तभी नर मुक्त है॥

श्रीमद्भगवद्गीता में की

आठ शंकाओं उत्तर।

(गतांक से आगे)

(३) प्रश्नः—गीता शास्त्र कर्म प्रतिपादक है या ज्ञान प्रतिपादक ? या दोनों ? यदि केवल कर्म प्रतिपादक है तो ज्ञान निष्फल है, यदि ज्ञान प्रतिपादक है तो कर्म निष्फल है। गीता ज्ञान ही बताती है तो कर्म का आग्रह क्यों करती है ? कर्म और ज्ञान दोनों के बताने में आपस में दोनों का विरोध है।

उत्तरः—गीता शास्त्र कर्म प्रतिपादक नहीं है क्योंकि कर्म प्रतिपादक शास्त्र वह कहा जाता है, जिसमें भिन्न २ कर्मों का भिन्न २ फल निरूपण किया जाय। जो कर्म कर्मों की-वृद्धि का हेतु हो उसे कर्म कहते हैं किंतु जो कर्म, ज्ञान रूप प्रकाश की आड़ को दूर करने वाला हो, वह कर्म नहीं कहलाता। जिस कर्म का फल मात्र अंतःकरण की शुद्धि ही हो, वह कर्म ज्ञान का हेतु होने से कर्म नहीं है। प्रवृत्ति के हेतुरूप कर्म को कर्म कहा जाता है परन्तु जब वह ही कर्म उलट कर निवृत्ति के निमित्त किया जाता है तब वह कर्म को समाप्त करने वाला होने से कर्म होते हुये भी कर्म नहीं कहा जाता। जो स्वभाव प्राप्त कर्म हैं उनके करने का गीता में आग्रह किया है परन्तु फल की इच्छा के त्याग का उपदेश होने से गीता शास्त्र कर्म प्रतिपादक नहीं है। गीता मात्र ज्ञान प्रतिपादक भी नहीं है किन्तु अंतःकरण की शुद्धि कराते हुये ज्ञान के भाव में लाने का शास्त्र है। ज्ञान भाव में लाने को ज्ञान का संपूर्ण विवेचन उसमें है। प्रारब्ध प्रवाह के कर्मों को निष्काम भाव से करते हुये अन्तःकरण की शुद्धि करके ज्ञान में टिकने का गीता का आशय है। सब प्रकार के कर्मों को सब प्रकार से छोड़ कर ज्ञान में आना यह गीता का सिद्धांत नहीं है। अधिकारी तीन प्रकार के हैं:—(१) केवल कर्म का अधिकारी, (२) कर्म से कुछ उच्च भाव का-निष्काम कर्म का अधिकारी और (३) उत्तम अधिकारी। केवल कर्म के अधिकारी को गीता उपयोगी नहीं है। इसी प्रकार उत्तम अधिकारी के लिये भी कर्म भाग मिश्रित होने से गीता पूर्ण उपयोगी नहीं है, मात्र ज्ञान भाग ही उसके लिये उपयोगी है। गीता में जो निष्काम कर्म बताये हैं वे कर्म ज्ञानियों के स्वाभाविक प्रारब्ध के प्रवाहरूप हो जाते हैं। निष्काम कर्म करना ही चाहिये ऐसा आग्रह निष्काम कर्म के अधिकारी को रखना पड़ता है परंतु ज्ञानियों को ऐसा नहीं होता। गीता के अन्त में कहा है:— जिसने स्वधर्म आचरणरूप तप कर के अपने को शुद्ध नहीं किया है, जो भोगों की भक्ति छोड़ कर आत्म भक्ति करने वाला नहीं है अथवा जो गुरु, ईश्वर का भक्त नहीं है, जो उपदेश की इच्छा नहीं रखता अथवा जो मेरी—आत्मज्ञान की निन्दा करता है, वह गीता का ज्ञान देने के योग्य नहीं है इस से स्पष्ट होता है कि मध्यम अधिकारी ही गीता का अधिकारी है। उत्तम अधिकारियों को जिस ज्ञान की आवश्यकता है, वह गीता में है, उसको वे ग्रहण कर सकते हैं किंतु अंतःकरण की शुद्धि के निमित्त जो निष्काम कर्म, योग, तप आदिक कहा है, उसके करने की, प्रथम किया हुआ होनेसे शुद्धअंतःकरण वाले को आवश्यकता नहीं है। अर्जुन को जिस पद्धतिसे उपदेश कियाहै वह अनेक युक्ति पूर्वक और चतुराई युक्त है। ज्ञानी अर्जुन के प्रति दिये हुये उपदेश को अयोग्य न कहे, इस प्रकार बुद्धि भेद न करने के लिये अः३ श्लोक २६-२९ में कहा है:- "ज्ञानी पुरुष कर्म करने वाले अज्ञानियों की बुद्धि को चंचल न करे परंतु सावधान होकर सब कर्म करता हुआ उनसे भी कर्म करावे। प्रकृति के गुणों करके मोह को प्राप्त जो अज्ञानी देहादिक के व्यापार में आसक्त रहते हैं, ऐसे मंद बुद्धि वालों को आत्मज्ञानी कर्म से विमुख न करे" इस से स्पष्ट होता है कि जो जिस प्रकार का अधिकारी हो उसको इस युक्ति से उपदेश देना चाहिये कि वह ग्रहण कर सके, यदि वह ग्रहण

करने योग्य न हो तो प्रथम योग्यता प्राप्त हो ऐसा उपदेश दे। अर्जुन को उत्तम अधिकारी नहीं कह सकते क्योंकि उत्तम अधिकारी का अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसे कर्म का अधिकारी भी नहीं कह सकते क्योंकि कर्मफल छोड़ने का उपदेश है। इससे सिद्ध है कि अर्जुनको भक्ति, उपासना सहित अन्तःकरण की शुद्धि करते हुये ज्ञानभाव में आने के योग्य समझकर उपदेश दिया गया है। गीता शास्त्र अन्तःकरण शुद्ध करते हुये ज्ञान प्रतिपादक है। निष्काम कर्म और ज्ञान दोनों का उसमें विवेचन है। निष्काम कर्म होने से ज्ञान निष्फल नहीं है और मध्यम अधिकारी को ज्ञान में प्रवर्त कराने से निष्काम कर्म भी निष्फल नहीं है। ज्ञान का उपदेश देने पर भी, जिसमें ज्ञान टिकता है, ऐसा अन्तःकरण शुद्ध न होने से, उसकी शुद्धि कराने के लिये कर्म का आग्रह है। यह आग्रह कर्म के निमित्त नहीं हैं किंतु शुद्धि के निमित्त है इसलिये कुछ विरोध नहीं है। कर्म और ज्ञान का विरोध तब होता है कि जब कर्म अज्ञान सहित हो। जो स्वाभाविक प्रकृतिस्थ कर्म है, जिसमें फल का भाव नहीं है, ऐसे कर्म का ज्ञान से विरोध नहीं होता क्योंकि ज्ञान का विरोध अज्ञान से है कर्म से नहीं है। अज्ञान वाला-फल की इच्छा वाला कर्म अज्ञान स्वरूप होने से ज्ञान का विरोधी होता है। जिस कर्म में से कर्मासक्ति चली गई है और जो शुद्धि का हेतु है उसका ज्ञान से विरोध नहीं होता किन्तु वह ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है। ज्ञानी जीवन् मुक्त भी सब कर्मों को नहीं छोड़ सकते। जिस कर्म के भोग निमित्त शरीर की उत्पत्ति है वह ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के शरीर से भोगा जाता है। ज्ञानियों का उनमें भाव न होने से कर्मों की चाल आगे नहीं चलती, मात्र पूर्व की चली हुई चाल समाप्त होती है। ज्ञानियों के ये कर्म मुक्ताचार कहलाते हैं। जब ऐसा ज्ञान न हो और मुमुक्षुता हो तब जो कर्म निष्काम भाव से किये जाते हैं वे मुक्ताचार के समान ही होते हैं किंतु ज्ञानी उनको जानता है इसलिये वे उसका आचार रूप हैं और मुमुक्षु उनको यथार्थ नहीं जानता इसलिये उसके कर्म निष्काम कहे जाते हैं। कुछ कुछ दोनों एक ही पंक्ति के हैं।

अर्जुन से जिन कर्मों के कराने का आग्रह किया गया था वे कौन से कर्म थे? वे वेही कर्म थे जिनके लिये अर्जुन का जन्म हुआ था। जो कर्म अर्जुन के भोग-प्रारब्ध रूप थे यदि उनको करते हुये, उनमें भाव न हो तो वे आगे के कर्म पैदा नहीं कर सकते क्योंकि स्वाभाविक—स्वभाव सिद्ध कर्म ज्ञान भाव से भोगे जाते हैं तो वे आगे के कर्म नहीं बनाते किन्तु उनसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण शुद्ध होने से ज्ञान उसमें टिकता है। कर्म को न करने से ज्ञान नहीं होता, अज्ञान का निवृत्त होना ही ज्ञान है। कोई कर्म करे या न करे जैसा जिसका प्रारब्ध होगा वैसा कर्म उससे होता ही रहेगा।

एक नगर में एक बढ़ई रहता था। उसके दो लड़के थे। एक दिन उसने बड़े लड़के को जंगल में से लकड़ी काटकर ले आने को भेजा और दोपहर का भोजन उसके साथ बांध दिया। जंगल में उसे एक वृद्ध मिला और कहने लगा "हे लड़के! मुझे बहुत ही भूख लग रही है, भूख के कारण मैं बहुत व्याकुल हो रहा हूं, तेरे पास जो भोजन है उस में से थोड़ा मुझे दे दे, ईश्वर तेरा भला करेगा!" लड़का मुख को बिगाड़ कर बोला "वाह! पैर पसार के बैठा हुआ हमारी राह ही देखता रहता है! क्या मेरे पास हराम का अन्न आगया है? जिसमें से दान लेने को खड़ा है! जा! जा डोकरा! आगे चलकर ग्राम में जा! वहाँ किसी के पास हराम का धन होगा, उसमें से तुझ जैसे को दान करेगा! मेरे पास मेरे खाने लायक ही भोजन है, मैं तुझे देने वाला नहीं हूं!" वृद्ध चला गया और लड़के ने लकड़ियां काटना आरंभ किया। दैवयोग से उसके पैर में कुल्हाड़ा

लग गया और रक्त बहने लगा। बिचारा धोती फाड़कर पैर में बांधकर ज्यों त्यों करके घर पर पहुंचा। दूसरे दिन छोटा लड़का जंगल में लकड़ियां काटने गया और वहां उसे वह ही वृद्ध मिला और उसने उससे भोजन मांगा। लड़का नम्रता पूर्वक बोला "बाबा! मैं अपने योग्य ही लाया हूं परंतु आप क्षुधातुर हो, आओ हम दोनों बांट कर खालें!" दोनों ने बांटकर भोजन किया, पश्चात् वृद्ध ने कहा "हे वत्स! तू इस पेड़ को मत काट,(दक्षिण की तरफ उँगली करके) देख! वह एक विशाल वृक्ष दीख रहा है, ऊपर और नीचे दोनों तरफ फैल रहा है उसके ऊपर के भाग में एक हंस है, वह बहुत सुन्दर और प्रकाश वाला है, चुप चाप बैठा रहता है, उसे तू जाकर ले ले, उससे तेरे सब कार्य पूर्ण होंगे और तुझको सब प्रकार के ऐश्वर्य के साथ अखंडित "आनन्द मिलेगा!" वृद्ध के कहे अनुसार लड़का जाकर पेड़ पर चढ़ा और दिव्य हंस को लेकर उतर आया और एक शहर जो वहां से एक कोस पर था, वहां उसे बेचने चला। शाम होगई थी,रात्रि को वह एक धर्मशाला में टिका। धर्मशाला के रक्षक की तीन कन्यायें थीं, वे हंस को देखकर बहुत प्रसन्न हुईं सुबह जब लड़का हंस को लेकर शहर को चलने लगा तब तीनों कन्यायें भी उसके पीछे २ हो लीं। युवान लड़कियों को एक परदेशी के पीछे जाती हुई देख उनकी दादी बोली "लड़कियो! तुम इस परदेशी के पीछे कहां जाती हो?" लड़कियों ने कुछ न सुना, वे हंस वाले बढ़ई के लड़के के पीछे २ खिचकर इस प्रकार जाने लगीं,जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। डोकरी उनके पीछे दौड़ी और एक लड़की का कपड़ा पकड़कर खैंचने लगी तो वह भी उसके साथ खिचती हुई आगे जाने लगी! मार्ग में डोकरी का लड़का मिला। तीनों लड़कियों और चौथी मा को परदेशी के पीछे जाता हुआ देखकर वह इन्हें रोकने लगा। किसी ने उसका कहा न माना! अंब वह डोकरी का कपड़ा पकड़ कर खैंचने लगा तो वह भी खिचता हुआ चलने लगा।

इस नगर के राजा की कुमारी युवावस्था को प्राप्त हुई थी। वह सौन्दर्यता वाली थी परन्तु कितने ही दिनों से उदास रहा करती थी, प्रसन्न न दीखती और कभी हंसती न थी। राजा ने उस के हंसाने को अनेक उपाय किये, बहुत मसखरे, नट, भांड़ आदिक बुलवाये, उन्होंने क्रम से अपनी सब सामर्थ्य को खर्च कर डाला परन्तु कुमारी पर उस का कुछ भी असर न हुआ। जब वह न हंसी तो राजा ने डौंडी पिटवाई कि जो कोई राजकन्या को हंसा देगा, उसके साथ मैं उसका विवाह कर दूंगा। राजमहल के झरोखे में कुमारी सखीमंडल सहित बैठी हुई थी। अचानक उसकी दृष्टि बाहर गई तो उसने हंस वाले बढ़ई के लड़के को देखा कि उसके पीछे पांच प्राणी एक के पीछे एक खिंचे चले जा रहे हैं। यह तमाशा देख कर राजकुमारी को हंसी आ गई, वह बोल उठी "कैसा अच्छा तमाशा जा रहा है! जैसे ऊंट के पीछे बंधा हुआ ऊंट जाता है, इसी प्रकार ये सब जा रहे हैं! युवान कन्याओं को शरम भी नहीं आती! जैसे भंगी मरे हुए कुत्ते को घसीट कर लेजाता है इसी प्रकार हंस वाला लड़का जीते हुये मनुष्यों को खैंचता हुआ ले जारहा है! आश्चर्य है! महान् आश्चर्य है!! यह क्या कौतुक है?" राज कन्या को इस प्रकार हंसती और बोलती देखकर सखियां भी खिलखिला कर हंसने लगीं! सब के हंसने की आवाज राजा के कानमें पहुंची, उसने वहां आकर देखा तो कुमारी को खिलखिला कर हंसता हुआ पाया। तब उसने बढ़ई के लड़के को बुलाया और उसके साथ राजकन्या का विवाह कर दिया और कन्या दान के साथ उसे बहुत सा धन दिया। राजकन्या और उस धनको लेकर बढ़ईका लड़का अपने ग्राम में गया और आनन्द पूर्वक रहने लगा।

बढ़ई का बड़ा लड़का सकाम कर्म वाला था इसलिये वह उदर तृप्तिरूप फल का ही अधिकारी

था। अर्जुन ऐसा अधिकारी नहीं था। दूसरा छोटा लड़का निष्काम कर्म वाला था। उसने भूखे को अपने भोजन में से भोजन दिया। इसी प्रकार का अधिकारी अर्जुन था। उपदेश देने वाले वृद्ध को श्रीकृष्ण समझो क्योंकि सनातन परब्रह्म सब से वृद्ध है। उसने जो उपदेश दिया वह निष्काम था। हंस से तत्क्षण कामना पूर्ण होने वाली न थी। जो विशाल वृक्ष वृद्ध ने बताया वह संसार वृक्ष है, संसार वृक्ष में जीव और ईश्वर दोनों ही स्थित हैं। अक्रिय भाव से टिका हुआ ईश्वर हंस है। ईश्वर रूप हंस को लेने की वृद्ध ने आज्ञा की थी, उसे लेने के लिये संसार रूप वृक्ष पर चढ़ने की क्रिया बताई थी। हंस कूटस्थ प्रत्यगात्मा है। हंस सहित लड़के के साथ खिंचती हुई धर्मशाला वाले की तीन कन्यायें, सतो, रजो और तमोगुणी वृत्तियां हैं। धर्मशाला शरीर है। डोकरी अविद्या (वासना) है। डोकरी का लड़का चिदाभास है। जब जीव रूप लड़का ईश्वर रूपी हंस को पकड़कर चलता है तब वृत्तियां रूप लड़कियां, अविद्या रूप डोकरी और चिदाभास रूप डोकरी का लड़का भिन्न नहीं रह सक्ते। जब तक हंस पकड़ने में नहीं आता तब तक ही वे अपना प्रभाव जमा सक्ते हैं। जब हंस प्रत्यक्ष पकड़ा जाता है तब वही अधिष्ठान होने से मायिक अविद्या का फैलावा उसके साथ खिंच कर सम्मिलित हो जाता है। राज कुमारी परम शांति है। हंस के प्रत्यक् बोध बिना परम शान्ति रूप प्रसन्नता नहीं होती–परमानन्द नहीं होता। जब मायाका अच्छादित भाव हंस रूप परामात्मा में नहीं रहता और जब वह खिंच कर उसके साथ एकता को प्राप्त होती है। तब ही परमानन्द का अनुभव होता है। परम शांति जब सब को परमात्मा के साथ एकता प्राप्त हुई देखती है तब प्रकाशित होती है। इस प्रकार के निष्काम कर्मयोग के साथ ज्ञानका उपदेश अर्जुनको दिया गया था।

(४) प्रश्न :—गीता मूर्ति पूजा को मानती है या नहीं? यदि नहीं मानती तो अः ८ श्लो० २६ का क्या अर्थ है? यदि मूर्ति पूजा को मानती है तो किस प्रकार मानती है? यह निर्गुण प्रतिपादक शास्त्र है या सगुण?

उत्तरः—जिसमें सब गुणों का निषेध हो उसे निर्गुण कहते हैं और जिसमें सब गुण हों उसे सगुण कहते हैं। मंद अधिकारियों के लिये सगुण में ही मूर्ति का समझना युक्त होता है। सगुण भी दो प्रकार का है, साकार और निराकार, स्थूल साकार होता है और मानसिक गुण-भाव सूक्ष्म होते हुए भी साकार ही हैं किंतु मानसिक होने के कारण निराकार कहे जाते हैं। निर्गुण को भी निराकार कहा है। गीता सगुण, साकार, निर्गुण, निराकार इन चारों बातों को मानती है, उनका मंडन ही करती है खंडन किसी का नहीं करती। अः ७ श्लोक १६ में चार प्रकार के भक्त बताये हैं निर्गुण भक्त ज्ञानी है, निराकार भक्त जिज्ञासु है, सगुण भक्त अर्थी है और साकार भक्त मुख्यता से आर्त कहेजाते हैं। चार प्रकारके भक्तों का कथन करने से ईश्वर के चारों प्रकार के भाव गीता को मान्य हैं उनमें ज्ञानी को मुख्य कहा है। जिस ज्ञान से भिन्न २ भूतों में विभाग रहित एक ही निराकार तत्व दीखता है उसे सात्वकी ज्ञान जान, (अ० १८ श्लो० २०) यह जिज्ञासु भक्त का निराकार भाव है। जिस ज्ञान से भिन्न २ भूतों में अनेक प्रकार के असंख्य भाव जाने जांय उसे राजस ज्ञान जान, (अ० १८ श्लो० २१) यह सगुण भक्त अर्थी का भाव है। एक ही देहादिक में सम्पूर्ण समान व्याप्त यानी इतना ही ईश्वर है, ऐसा आग्रह युक्त, प्रमाण रहित, असत्य और तुच्छ ऐसा जो ज्ञान है उसे तामस ज्ञान कहते हैं, (अ० १८ श्लो० २२) यह साकार भक्त आर्त का भाव है। निर्गुण भक्त का विवेचन तो स्थितप्रज्ञादिक में बहुत स्थानों पर किया है। एक ही ईश्वर अधिकारी भेद से उपासना में भेद वाला है

ऐसा अधिकारी भेद गीताको मान्य है। अधिकार के आधार पर ही गीता की नीव खड़ी है। गीता में अर्जुन जैसे अधिकारी के लिये विशेष विवेचन है तो भी अन्य अधिकारियों के उपास्य भाव का खंडन नहीं है। मंद को तुच्छ कहा है और उत्तम की प्रशंसा भी की है। मूर्ति माने विना मूर्ति भाव वाले मनुष्य का काम ही नहीं चल सकता। मूर्ति-मान् मूर्ति वाले के ही पकड़ने को शक्तिवान् होता है। मनुष्य अपने स्थूलता के भावको जितना क्षीण करेगा उतना २ सूक्ष्म में जाता हुआ सूक्ष्म को ग्रहण कर सकता है। सूक्ष्म हुए बिना सूक्ष्म भाव का ग्रहण नहीं हो सकता। साकार वाला साकार को, निराकार होकर निराकार को, सगुण होकर सगुण को, और निर्गुण होकर निर्गुण को ग्रहण कर सकता है। ईश्वर और ईश्वर का ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म है उसको किसी प्रकार प्राप्त करने के लिये सहारे की आवश्यकता है। मंद अधिकारियों को अपने समान ऐश्वर्य वाले ईश्वर का होना जच जाता है इसलिये अवतार, गुरु आदिक की मूर्तियों में ईश्वर भाव करके वे उन्नति मार्ग में आ सकते हैं। जब स्थूल से कुछ शुद्ध होते हैं तब गुणों की मानसिक प्रतिमा का अवलम्बन ले सकते हैं इस प्रकार क्रमशः बढ़ते जाते हैं। ॐकार भी तो परब्रह्म की एक मूर्ति प्रतिमा ही है। उसका अवलम्बन बहुत प्राचीन समय से ही प्रवर्त है। ज्यों २ बुद्धि स्थूल होती गई त्यों २ स्थूल अवलम्बन की आवश्यकता होती गई।

गीता के दशवें अध्याय में जिन विभूतियों का वर्णन है वे सब ईश्वर के चिंतवन करने की मूर्तियां ही हैं। उनमें कई दृश्य और कई अदृश्य हैं। ये सब मूर्तियां तो भिन्न २ हैं और एकादश अध्याय में समग्र विभूतियों का एक मूर्ति में समावेश है। पृथक् इष्ट की मूर्ति मंद अधिकारी के लिये, अनेक मूर्तियों में एक ही की विभूति मध्यम अधिकारी के लिये और एक मूर्ति में समग्र मूर्तियां उत्तम अधिकारी के लिये उपयोगी हैं। अन्तिम का अधिकारी अर्जुन समझा गया है और उसी के मनन से उसके निष्काम योग की सिद्धि है। श्री कृष्ण ने ईश्वर रूप से अपना कथन इस प्रकार किया है:- मैं जन्म से रहित, अव्यय आत्मा और प्राणियों का स्वामी होकर भी अपनी प्रकृति का आश्रय लेकर माया से जन्म लेता हूं। (अ० ४ श्लो० ६) जब माया वाली प्रतिमायें सब उसी की हैं तब सालिग्रामादि की सारी मूर्तियों में विष्णु की भावना अथवा श्रीकृष्ण में परब्रह्म की भावना करना अयुक्त नहीं है। मूर्ति मूर्ति के निमित्त नहीं होती किंतु भाव दृढ़ करने का स्थान—अवलम्बन होती है। ऐसा होते हुए भी जिस निमित्त मूर्ति है उस निमित्त को न समझ कर मूर्ति ही ईश्वर है ऐसा समझना तुच्छ है। जिस प्रकार किसी मनुष्य का फोटो उस मनुष्य की स्मृति को पैदा करने वाला है इसी प्रकार प्रतिमा मनुष्य में ईश्वर की तरफ लेजाने वाले भाव को उत्पन्न करने वाली है।

एक लड़के को उसके पिता ने एक शेर की कहानी सुनाई। लड़का शेर को देखने के लिये उत्सुक होकर बोला "पिता जी! आपने जिस शेरकी बात कही, वैसा शेर मुझे लादो!" पिताने कहा "बेटा! शेर पशुओं और मनुष्यों को मार डालता है, मैं उसको लाकर तुझे किस प्रकार दूं!" लड़का बोला "नहीं! मुझे तो शेर ला ही दो!" पिता ने कहा "अच्छा! मैं शाम को ला दूंगा!" लड़का राजी हो गया। शामको लड़के का पिता बाजार में जाकर शेर का एक खिलोना ले आया और उसने उसे लड़के को देदिया। लड़का उसे देख कर बहुत प्रसन्न हुआ। पिता ने शेर की सब आकृति का इस प्रकार वर्णन किया:—देख! यह इसके पंजे हैं इनसे ही पशु आदिक को मारता है, मुख में बहुत तेज और मजबूत दांत और डाढ़ें हैं, इन से यह मारे हुओं को खा जाता है, पीछे इसकी पूंछ है। कुछ दिन तक लड़का उस शेर के खिलोने से खेलता रहा। एक दिन लड़का

विचारने लगा "मेरा पिता कैसा शेर लाया है! मैं उसे पीटा करता हूं तो भी वह कुछ बोलता नहीं है! पिताजी तो कहते थे कि शेर मनुष्य और पशुओं को मार खाता है! शेर घरमें है! हम सब मनुष्य हैं! गाय बछड़े भी बंधे रहते हैं! इस शेर ने तो न किसी को मारा न किसी को खाया!' ऐसा विचार कर वह पिताके पास गया और कहने लगा "पिताजी! यह शेर तो किसी को मारता नहीं है! यह कैसा शेर है? देखो! (दो चार थप्पड़ लगा कर) मैं उसे मारता हूं, यह कुछ बोलता ही नहीं!" पिता को हंसी आई और लड़के की बुद्धि पर प्रसन्न हो कर बोला "सच है! यह शेर किसी को मारता नहीं है! यह शेर नहीं है, किन्तु शेरकी आकृति का निर्जीव खिलोना है!" लड़का बोला "तब तुम क्यों कहते थे कि यह शेर है?" पिता बोला "बेटा! यह शेर की आकृति का होने से शेर कहा जाता है, सच्चा शेर नहीं है, सच्चा शेर घर में हो तो सब को मार खाय!" लड़का बोला "तब, सच्चा शेर कैसा होता है?" पिता ने कहा "जैसा यह खिलोना है, ऐसी ही आकृति का होता है, तीन चार हाथ लम्बा चौड़ा होता है, उस में बल बहुत होता है, उसकी गर्जना भी भयंकर होती है, यह खिलोना छोटा है और मट्टी का है, उसमें शेर की समान चेतनता नहीं है।" लड़का बोला "फिर सच्चे शेर को किस प्रकार जान सकता हूं?' पिता ने कहा "जो इसकी आकृति के समान आकृति वाला, इससे बड़ा, घूमता फिरता, जीव वाला, हो उसे शेर समझ कर तू उस के सामने न जाना क्योंकि वह मार खाता है।" पुत्र ने इस प्रकार शेर के ज्ञान को प्राप्त किया। यद्यपि खिलोने का शेर शेर नहीं है तो भी शेर का ज्ञान कराने में उपयोगी है। इसी प्रकार इष्ट की मूर्तिही इष्ट है ऐसा नहीं है किंतु इष्ट के ज्ञान कराने में मदद रूप है इसलिये ईश्वर-भाव से मूर्ति पूजन मंद अधिकारियों को कभी भी निष्फल नहीं है।

एक समय एक देश में जहां चना पैदा नहीं होता था वहां चार मनुष्य बैठे हुये बात चीत कर रहे थे। एक बोला 'मैंने हिन्दुस्तान में एक प्रकार का अन्न देखा, वहां उसे चने के नामसे पुकारते हैं। मैं जब मदरास की तरफ गया था तब देखा था कि चने के आटे से चिकनाई मिट जाती है, चने का आटा चिकनाई मिटाने को बहुत काम का है।" दूसरा बोला "सच है, चिकनाई मिटाने के सिवाय उसमें और भी गुण है, उसे भुनवा कर लोग पास रख लेते हैं और मुसाफिरी में चबा कर खा, पानी पी तृप्त हो जाते हैं।" तीसरा बोला "सच है! उस में और भी विशेष गुण हैं, उस के चीले बहुत उत्तम बनते हैं, मगद के लड्डू और कई प्रकार की मिठाइयां उसकी बनाई जाती हैं, दाल भी बनती है।" चौथा बोला "सच है, उन सब गुणों के साथ उस में सब से विशेष एक गुण और भी है, चना खाने की वस्तु है और खाने से उसका नाश हो जाता है परन्तु वह यदि खेत में बो दिया जाय तो एक के अनेक हो जाते हैं।" इस प्रकार जितनी बात जिस के अनुभव में आई थी, जितना जो जानता था उतना उसने वर्णन किया। ईश्वर का भी इसी प्रकार चार प्रकार का ज्ञान-भाव-पूजन होता है। झूठा कोई भी नहीं है, सब ही सच्चे हैं परन्तु सच्चाई की मर्यादा में अन्तर है। मूर्ति में भी इन चारों प्रकार का भाव हो सकता है। मूर्ति गीता को अमान्य नहीं है। पत्र, पुष्प, फल और जल वाला श्लोक केवल मूर्ति के पूजन के लिये ही नहीं है। जब तक ज्ञान में स्थिति न हो तब तक सब पुरुषों को किसी न किसी प्रकार के अवलम्बन की आवश्यकता है। अपने अहंभाव को कम करने और अपने अवलम्बन में अर्पित होने के लिये छोटी सी वस्तु से लेकर बड़ी से बड़ी वस्तु को दे देने के भाव के के निमित्त यह श्लोक है। 'जो मुझको भक्ति से अर्पण करता है, उसका अर्पण किया हुआ मैं प्रेम से आरोगता हूं' इसका अभिप्राय यह है कि मैं

किसी पदार्थ का भूखा नहीं हूं, किसी पदार्थ की कीमत मेरे सामने नहीं है, किसी वस्तु की मुझे आवश्यकता भी नहीं है, मैं केवल प्रेम का भूखा हूं, मूल्य अथवा तुच्छ मूल्य की वस्तु हो, मैं प्रेम ही देखता हूं, मेरी तरफ भेजे हुए प्रेम से मैं प्रसन्न होता हूं; यानी अपनी प्रसन्नता मैं उसकी तरफ भेजता हूं। इसी श्लोक के साथ के श्लोकों में लिखा है:—"हे कौन्तेय! तू जो करता है, जो भोजन करता है, जो होमता है, जो दान करता है और जो तप करता है, वह सब ही तू मुझ-परमेश्वर के अर्पण कर, इस प्रकार करने से तू-अर्जुन इष्ट और अनिष्ट फल वाले कर्मों के बन्धन को परित्याग करके और सन्यास योग युक्त होकर कर्म बंधन से छूट कर मुझ-परमेश्वर को प्राप्त होगा"। तुच्छ पदार्थ की ममता से लेकर देहाध्यास तक के अहंभाव के निवृत्त करने को पत्र-पुष्पादि आरंभक हैं; जिस देवमें, जिस इष्ट में, जिसकी प्रतिमा में श्रद्धा हो उसे अपना माना हुआ, अपना परिश्रम किया हुआ देना ही चाहिये इस प्रकार करने से भाव की वृद्धि होती है और भाव के साथ निर्मलता भी आती है। जो कोई सकाम पूजनादिक करता है, वह भी समय पाकर निष्काम कर्म करने लगता है इसलिये बुद्धि अनुसार प्रतिमा, साकार, निराकार अथवा निर्गुण के भाव से देना ही उचित है। ग्रहण भाव बंधन का और त्याग भाव बंधन निवृत्ति का हेतु है। त्याग तीन प्रकार का होता है, छोड़ देना, दान करना, और ईश्वरार्पण करना। अज्ञानी अपने माने हुये कीमती पदार्थ को छोड़ नहीं सकते इसलिये दान का विधान है। दान में देश, काल और पात्र देखने की आवश्यकता है, ईश्वरार्पण में इनके देखने की भी आवश्यता नहीं है। ईश्वरावतार की प्रतिमा कल्याण मार्ग में लेजाने वाला प्रथम सोपान है। जिस उच्च भाव में भेजने के निमित्त ईश्वर की प्रतिमा है, यदि उस भाव में क्रम २ से जाय तो ठीक ही है, यदि क्रम मार्ग का परित्याग होजाय तो विशेष फल नहीं होता। अवलम्बन कोई भी हो जब ईश्वर सर्वव्यापक है तब अवलम्बन में भी अवश्य है। लक्ष पहुंचाने के निमित्त का अवलम्बन किसी प्रकार हानि नहीं करता, किंतु श्रेय की तरफ अवश्य ले जाता है।

(अपूर्ण)

लक्षणावृत्ति।

तत्त्वमसि-आदिक महावाक्यों के यथार्थ उपदेश से आत्मबोध होता है। वाक्य में पद होते हैं। ककारादिक वर्णों का जो समूह है, उसे पद कहते हैं। पद में रहनेवाले ककारादिक वर्णों में जो एक ज्ञान की विषयता है, उसको समूहपना कहते हैं। जिस पद का अन्वय जिस पद बिना नहीं हो सक्ता उस पद का उस पद के साथ समभिव्याहार, उसका नाम आकांक्षा है; 'जैसे घट ला' इस वाक्य से श्रोता पुरुष को घट लाने का बोध होता है। यह बोध केवल घट जो कारक पद है, उससे नहीं होता, तैसे ही ला क्रिया पद से भी नहीं होता किंतु जब दोनों पद विद्यमान हों तब ही होता है इस लिये घट पद का ला के साथ और ला शब्द का घट के साथ समभिव्याहार है। दोनों पदोंको परस्पर आकांक्षा है। समभिव्यहार का अर्थ समीपता का होता है। आकांक्षा इच्छा को कहते हैं। इच्छा चेतन का धर्म है तो भी यह पद श्रोता पुरुष के स्वविषय की आकांक्षा को उत्पन्न करने वाला है, इसलिये आकांक्षा वाला कहा है। वाक्य में प्रत्यक्षादि प्रमाण से अबाधित अर्थ की रही हुई सामर्थ्य को योग्यता कहते हैं। जैसे 'घट ला' इस वाक्य का अर्थ घट ले आने का है, इसका किसी प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध नहीं होता, यह घट पद में योग्यता है। एक पद के उच्चारण के बाद विलम्ब रहित दूसरे पद के उच्चारण को संनिधि कहते हैं। आकांक्षा, योग्यता और संनिधि के समुदाय को वाक्य कहते हैं। पद और पदार्थ इन दोनों में जो स्मार्य और स्मारक भाव संबंध है, उसका

नाम संगति है। जैसे 'घट' इस पद के श्रवण से पुरुष को घट रूप अर्थ की स्मृति होती है इसलिये घट पद स्मृति को उत्पन्न करने वाला होने से स्मारक कहा जाता है। घट रूप अर्थ स्मृति का विषय होने से स्मर्य (जिसकी स्मृति उत्पन्न होती है) कहा जाता है। इस संगति को वृत्ति भी कहते हैं, वृत्ति रूप संगति दो प्रकार की है, शक्ति वृत्ति और लक्षणा वृत्ति। किसी २ शास्त्र में शक्ति वृत्ति, गौण वृत्ति और लक्षणा वृत्ति ऐसे तीन प्रकार की वृत्ति कही है। शक्ति को मुख्य शक्ति भी कहते हैं। यह शक्ति वृत्ति भी योग और रूढ़ि भेद से दो प्रकार की है। पद में प्रकृति और प्रत्यय रूप अवयवों की जो बोध रूप शक्ति है, उसका नाम योग शक्ति है, अथवा दो या दो से अधिक अवयवों का पृथक् २ बोध होते हुये योग (मेल) से जो बोध होता है, वह योग शक्ति है। जैसे पाचक (रसोई बनाने वाला) पद की पाक कर्त्ता रूप में योग शक्ति है। पच् धातु है, इसे प्रकृति भी कहते हैं, अक् प्रत्यय है, इन दोनों से पाचक शब्द सिद्ध होता है। इन दोनों अवयवों की शक्ति से पाक कर्ता पुरुष का बोध होता है। और जो पद में प्रकृति और प्रत्यय के समुदाय रूप अर्थ की बोध कराने वाली शक्ति होती है उसे रूढ़ि शक्ति कहते हैं। शक्ति का ज्ञान पुरुष के व्यवहार से होता है। जिस पदार्थ के उच्चारण के साथ उसकी क्रिया होती हुई देखी जाती है, जब इस प्रकार के अभ्यास में आ जाता है तब पदार्थ के देखते ही उसके शब्द का बोध होता है और शब्द के साथ पदार्थ का बोध होता है, जैसे दो कड़ियों में से किसी एक को भी पकड़-ने से दूसरी भी पकड़ी जाती है इसी प्रकार पद और पदार्थ दो कड़ियां हैं। पद-नाम से पदार्थ और पदार्थ से पद-नाम आता है। जहां जिस पदार्थ में जिसके नाम का व्यवहार होता है, वहां उसके नाम से, उस पदार्थ का स्मृति से बोध होता है।

ऊपर जो शक्ति वृत्ति कही है, उसका जो विषय है, उसको शक्य कहते हैं, और वाच्य भी कहते हैं। इस शक्य पदार्थ का लक्ष्यमान पदार्थ के साथ जो संबन्ध है, उसका नाम लक्षणा है। जैसे किसी एक पुरुष ने मंडप में बैठे हुये पुरुषों को भोजन कराने के अभिप्राय से अपने मित्रों से कहा "मंडप को भोजन कराओ" इन वचनों को सुन कर सुनने वाला, मंडप में भोजन करने की अ-शक्य योग्यता है, ऐसा जान कर मंडप में बैठे हुये पुरुषों में लक्षणा करता है, वह समझता है कि मंडप में बैठे हुये पुरुषों को भोजन कराने को कहता है। मंडप पद का शक्य-वाच्य अर्थ जो गृह विशेष है उसका पुरुषों के साथ संयोग संबंध है, इसका नाम लक्षणा है अथवा वाच्य अर्थात् मुख्य अर्थ का होना असंभवित दीखे-मुख्य अर्थ का बाध होजाय तब प्रयोजन के निमित्त मुख्य अर्थ अथवा पदार्थ से संबंध रखने वाला अन्य-अर्थ जिस वृत्ति से मालूम हो उसे लक्षणा वृत्ति कहते हैं।

लक्षणा वृत्ति केवल लक्षणा और लक्षित लक्षणा ऐसे भेद करके दो प्रकार की है। पद के शक्य-वाच्य अर्थ का लक्ष्य अर्थ के साथ जो साक्षात् संबंध है, उसका नाम केवल लक्षणा है, केवल लक्षणा, जहत् लक्षणा, अजहत् लक्षणा और जहदाजहत् लक्षणा, ऐसे तीन प्रकार की है। पद के शक्य (सीधे) अर्थ का त्याग करके उससे संबंध वाले अन्य पदार्थ में पद की जो लक्षणा वृत्ति है, उसका नाम जहत् लक्षणा है। जैसे किसी ने कहा "गंगा में घोसियों का ग्राम है" सुनने वाला समझता है कि गंगा जल का प्रवाह रूप है, जल में ग्राम का होना असंभवित है, इस लिये गंगा के जल में ग्राम नहीं होगा किंतु गंगा के जल प्रवाह के किनारे पर ग्राम होगा। इस स्थान पर वह गंगा पद की किनारे में लक्षणा करता है। शक्य अर्थ जो गंगा है, उसके संबंध वाले किनारे के अर्थ में गंगापद की लक्षणा

वृत्ति है। जो गंगा पद के शब्दार्थ का त्याग कराती है, उसे जहत् लक्षणा कहते हैं।

जैसे किसी एक मनुष्य का मित्र है, मित्र २ होने से दोनों में आपस में पूर्ण परिचय है, दोनों एक दूसरे के शब्दों को भी पहिचानते हैं। एक मित्र दूसरे के यहां गया, उस समय उस के किवाड़ बंद थे, जब उसने किवाड़ खड़ खड़ाये तब मकान वाले मित्रने कहा "कौन है ?" तब बाहर खड़े हुये मित्र ने कहा "कोई नहीं" कोई नहीं की आवाज सुनकर मकान वाला विचारने लगा "किसी का भी न होना, यह उसका अर्थ है इस प्रकार का बोलना तब ही हो सका है, जब कोई होवे, किसी का होना निश्चय होता है, इसलिये मालूम होता है कि जिसने यह आवाज दी है, वह मेरा मित्र है।" इस प्रकार शब्दार्थ को छोड़ कर उसने शब्द के सम्बन्ध वाला जो उस का मित्र है, उसमें लक्षणा की और किवाड़ खोल दिये। यह लक्षणा जहत् लक्षणा हुई। शब्दार्थ छोड़ कर उसके सम्बन्ध वाले मित्र का ग्रहण किया गया—समझा गया।

एक वैश्य प्रथम गरीब था इस कारण योग्य उमर होते हुये भी उसका विवाह न हुआ। वह विवाह करने की इच्छा वाला था परन्तु निर्धन होने से बिरादरी में से किसी ने अपनी कन्या न दी। संयोग वश धंधा करते २ वह श्रीमान् हो गया। इस समय उसकी उमर पचास वर्ष उपरांत होगई थी। वह धन देकरके भी विवाह करना चाहता था। अन्त में एक परदेशी उसे मिला और एक कन्या से उसका विवाह भी हो गया। न मिलते हुये कन्या मिली इसलिये उसने विशेष तलाश नहीं की कि वह कहां की है, उसका जानने पहिचानने वाला कौन है, परदेशी माता, पिता, भाई आदि बन कर आये थे। वे लोग पांच हजार रुपये लेकर कन्या का विवाह करके चले गये। वैश्य विवाह हो जाने से बहुत प्रसन्नता के साथ स्त्री के साथ रहने लगा। घर में वह अकेला था। एक साल तक दोनों आनन्द से रहते रहे। कन्या के विषय में शक होने का कारण किसी प्रकार न मिला। एक दिन वे दोनों स्त्री पुरुष रात्रि में सो रहे थे, बनिया अचानक जागा और स्त्री से पूछने लगा—"कितनी रात बाकी होगी ?" स्त्री अर्ध नींद में थी बोल उठी "अभी तो बहुत रात बाकी है! आनन्द से एक जूता सी सके, इतनी रात है!" ऐसे कहती हुई वह फिर सो गई। बनिये ने स्त्री की बात सुनी, क्योंकि वह जाग्रत् था। वह विचारने लगा "बनिये की लड़की इस प्रकार समय का माप नहीं बता सकती, हो न हो, यह स्त्री बनिये की लड़की नहीं है, अवश्य मोची की लड़की है, जिसके यहां जो कार होता है, उसी का सम्बन्ध बात चीत में भी रहता है, उसके विवाह कर जाने वाले पूरे ठग थे। वे मुझ से रुपये ले गये और मेरे ईमान को भृष्ट कर गये। अब मैं सुबह निश्चय करके उसे निकाल दूंगा।" सुबह बनिये ने स्त्री को एक डाट बताई तब उसने स्वीकार कर लिया कि मैं मोची की लड़की हूँ। मुझ से 'बनिये की लड़की हूं' ऐसा कहने को और इसी प्रकार वर्तने को कहा गया था। मैं नींद में थी इसलिये इस प्रकार की बात मुख से निकल गई। बनिया भृष्ट हो ही चुका था। उसने प्रायश्चित्त किया और स्त्री को घर से निकाल दिया।

इस समय बनिये ने जो परीक्षा की थी, वह जहत् लक्षणा थी। "एक जूता सी सके इतनी रात है" यह बात जूता सीने वाली जाति के मुख से निकलती है, बनैनी के मुख से नहीं निकलती। वाक्य का त्याग करते हुए जिस जाति में वह होता है, उसका उसने ग्रहण किया। वाक्य के त्याग पूर्वक उसकी सम्बन्ध वाली जाति का ग्रहण जहत् लक्षणा है।

पदार्थ का शक्य (सीधा) अर्थ त्याग किये बिना उसके सम्बन्ध वाले अन्य पदार्थ का ग्रहण

रूप जो लक्षणा वृत्ति है उसका नाम अजहत् लक्षणा है। जैसे खाट पर बैठे हुए पुरुष का बोध करने निमित्त किसी ने कहा "खाट बोलती है" इस प्रकार वचन सुन कर सुनने वाला पुरुष खाट में बोलने की अयोग्यता जानकर खाट पद की लक्षणा खाट सहित खाट पर बैठे हुए पुरुष में करता है। यहां खाट शब्द के शक्य अर्थ खाट को त्याग किये बिना खाट सहित खाट पर बैठे हुये पुरुष में लक्षणा वृत्ति है, इसको अजहत् लक्षणा कहते हैं।

जैसे दो मनुष्य एक रास्ते से जा रहे हैं। वहां दूर से एक लाल रंग का घोड़ा उनमें से एक ने दौड़ता आता हुआ देखा, दूसरे का लक्ष वहां न था, उसको दिखलाते हुए उस मनुष्य ने कहा "देख. वह लाल दौड़ रहा है" दूसरे ने देखा तो लाल रंग का घोड़ा दौड़ता हुआ दिखाई दिया उसने विचार किया "लाल रंग में दौड़ने की शक्ति नहीं है परन्तु जिस में लाल रंग है वह दौड़ रहा है इसलिये कहने वाले का मतलब 'लाल रंग का घोड़ा दौड़ रहा है' ऐसा है। यहां लाल रंग के संबंध युक्त जो घोड़ा उसका लाल रंग सहित गृहण है, इसी का नाम अजहत् लक्षणा है।

एक अंधे ऋषि अपने कुटुम्ब सहित अरण्य में रहते थे। उनका एक पुत्र और एक पुत्र बधू थी। वे स्त्री, पुरुष, पुत्र और पुत्र बधू मिल कर चार प्राणी थे। पुत्र की आयु कम थी। 'वह सोलह वर्ष होने पर सर्प के काटने से मर जाने वाला है' यह बात ऋषि को मालूम थी। पुत्र बधू का नाम सावित्री था, वह पतिव्रता स्त्री थी। ऋषि पुत्र जंगल में लकड़ियां काटने जाया करता था। जिस दिन उसकी मृत्यु की खबर थी, उस रोज उसकी स्त्री उसके साथ जंगल में गई। ऋषि पुत्र एक तरफ लकड़ियां काट रहा था और दूसरी तरफ सावित्री लकड़ियां बीन रही थी। नियत समय पर लकड़ी काटते समय ऋषि पुत्र का पैर एक सर्प के बिल पर पड़ा, यह देख कर सर्प निकला और पैर में; काट खाया। ऋषि पुत्र क्षण भर में बेहोश होकर जमीन पर गिर गया। थोड़ी ही देर में विष सब शरीर में व्याप गया। पति को गिरा हुआ देख, सावित्री उसके पास दौड़ी आई और उसका शिर अपनी गोद में रख कर यम से प्रार्थना करने लगी। उसके पतिव्रत के प्रभाव की एकता से दृढ़ि भूत की हुई प्रार्थना देख कर ऋषि पुत्र को लेने यमदूत आने के बदले स्वयं यमराज आये, और सावित्री को प्रत्यक्ष दर्शन देकर बोले "तेरी प्रार्थना से मैं प्रसन्न हुआ हूं, तुझे वरदान देने आया हूं; तेरे पति की मृत्यु हुई है, वह सजीवन नहीं हो सक्ता, यदि तेरी इच्छा हो तो उसे सजीवन करने के सिवाय कोई एक ऐसा वरदान मांग ले जिससे तू इस जगत् में अपना जीवन भली प्रकार व्यतीत कर सके।" सावित्री हाथ जोड़ कर बोली "हे यमराज! पति सिवाय सब पदार्थ मेरे किस काम के हैं? मेरा तो ईश्वर या जो कुछ कहो पति ही है, आप कृपा कीजिये और पति को सजीवन करने का वरदान छोड़ कर अन्य वरदान देने का आग्रह न कीजिये!" यमराज बोले "हे बाले! उस के आयु का निर्माण इसी प्रकार है, मैं उस में विघ्न रूप वरदान नहीं दे सक्ता, उसके जिलाने की बात छोड़ दे, जिलाने का शब्द छोड़ कर और वरदान जो तेरी इच्छा में आवे ऐसा लौकिक वरदान मांग ले।" सावित्री खिन्न होतीं हुई विचार कर बोली "हे यमराज! आप प्रथम प्रतिज्ञा कीजिये, मैं पति के जिलाने का शब्द उच्चारण नहीं करूंगी, जो मैं मांगू वह आप को देना पड़ेगा!" यमराज ने यह बात स्वीकार करली, सावित्रीबोली "मेरे श्वशुर जी अपने पोते को सुवर्ण के थाल में भोजन करता हुआ देखें ऐसा वरदान दीजिये!" इस प्रकारका वरदान मांगने से सावित्री की चतुराई पर आश्चर्य करते हुये, वचन से बांधे हुये यमराज ने 'तथास्तु' कहा और ऋषि पुत्र को छोड़ कर अपनी राह ली। सावित्री ने जो वरदान मांगा था, उस

का यह भाव था:—श्वशुर देखें अर्थात् श्वशुर जो अंधे हैं वे देखने लगें। पोते को सुवर्ण के थाल में भोजन करता हुआ देखें, इसका मतलब यह था कि हमारा कुटुम्ब समृद्धिवान् हो क्योंकि श्रीमान् होने से ही सुवर्ण के थाल में भोजन हो सक्ता है। ऋषि के एक ही पुत्र है, दूसरा नहीं है, न होने का सम्भव है, इसलिये जब मेरा ही पति सजीवन हो और मेरे पुत्र हो तब ही मेरे श्वशुर का पोता बने। मेरा श्वशुर देखने लगे, श्रीमान् हो, मेरा पति जी उठे और मेरे पुत्र हो इन चारों बातों की सिद्धि एक वरदान में हो गई। पतिव्रत के प्रभाव, यमराज की प्रार्थना और उसकी कृपा से ये सब ही उसको प्राप्त हुआ। पति सजीवन हुआ, आनन्द पूर्वक उसे घर पर ले आई। घर समृद्धि से पूर्ण हुआ और श्वशुर की आंखें खुल गईं, कुछ दिनों पीछे पोता हुआ और सुवर्ण के थाल में खाता हुआ देखा। ये चारों बातें सिद्ध हुईं।

"मेरे श्वशुर जी अपने पोते को सुवर्ण के थाल में भोजन करता हुआ देखें" इस वाक्य में पोता वाच्यार्थ है. मरे हुये पति से पुत्र होना असम्भवित है इसलिये पोते की सिद्धि के लिये ऋषि पुत्र की जीवित दशा रहना लक्ष्यार्थ है। पोते के साथ उसके पिता का भी ग्रहण है। वाच्यार्थ को न छोड़ते हुये वाच्य से सम्बन्ध वाला जो ऋषि पुत्र है, उसका भी ग्रहण है, यह अजहत् लक्षणा हुई। यहां वाच्यार्थ के सम्पूर्ण ग्रहण सहित अधिक का ग्रहण है।

जहां पद के शक्य (सीधे) अर्थ के एक अंश का त्याग करके उसमें रहने वाले दूसरे अंश का ग्रहण हो उसका नाम जहदाजहत् लक्षणा है, इस को भाग त्याग लक्षणा भी कहते हैं। जैसे किसी पुरुष ने कहा "यह वह देवदत्त है" इस वाक्य को सुन कर यह और वह दोनों पदों का त्याग कर के एक देवदत्त में ही लक्षणा है। इस देश, काल, अवस्था वाला 'यह' पद है और उस देश काल, अवस्था वाला वाला 'वह' पद हैं। यह और वह के जो शक्यार्थ हैं उन की एकता होना असम्भवित है क्योंकि उन दोनों के देश, काल में बहुत अंतर है। दोनों देश, काल, अवस्था वाले अंशों का त्याग कर के देवदत्त के शरीर रूप अंश में इस वाक्य की लक्षणावृत्ति है, इस को जहदाजहत् लक्षणा कहते हैं। इस प्रकार भेद अंश के त्याग पूर्वक दोनों में रहने वाले देवदत्त की एकता है। यह लक्षणावृत्ति चारों वेदों के महा वाक्यों में जीव ईश्वर की एकता का बोध कराने वाली है। महावाक्यों में जहत् लक्षणा का सम्भव नहीं है और अजहत् लक्षणा का भी नहीं है, केवल जहदाजहत् अर्थात् भाग त्याग लक्षणा का ही उपयोग है। जहत् लक्षणा में सारे वाच्यार्थ का त्याग होने से तत्त्वमसि आदि में अनर्थ होगा और अजहत् लक्षणा से भी उपाधियों के ग्रहण सहित योग्य अर्थ न होगा। इसलिये तत्त्वमसि आदिक महावाक्यों का ठीक २ अर्थ भाग त्याग लक्षणा से ही करना पड़ेगा।

एक विद्वान् ब्राह्मण एक दिन रात्रि को शय्या में पड़ा हुआ जाग रहा था। उसने छप्पर में से नीचे की तरफ एक रस्सी लटकती हो इस प्रकार देखी। क्षण २ में वह बढ़ती गई और मालूम हुआ कि एक बड़ा सर्प है। वह घबराता हुआ उठ खड़ा हुआ और अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्री को जगाना चाहता था कि इतने में सर्प उन तीनों को काट कर चल दिया। वे तीनों मर गये। विद्वान् बहुत दुखी हुआ और बहुत घबराया। फिर वह विचारने लगा "अब यहां रहने की क्या आवश्यकता है।" उसने सर्प को गैया के स्थान पर जाते देखा था, वह वहां गया तो सर्प देखने में न आया परन्तु एक शेर दिखाई दिया वह गैया को उठा कर चल दिया। विद्वान् ने अपने आत्मिक जनों को अन्तिम क्रिया भी न की और वह अरण्य में चल दिया, कई कोश निकल गया तब सूर्य उदय हुआ। विद्वान् घबराहट और थकन से शिथिल होकर एक वृक्ष के नीचे बैठ गया, वहां उसने

अपने सामने एक मनुष्य को खड़ा हुआ देखा और उस से पूछा "कौन है ?" खड़े हुये मनुष्य ने उत्तर न देते हुये कहा "तू कौन है ?" ब्राह्मणने कहा "मैं विद्याधर नाम का ब्राह्मण हूं, गई रात को मेरी स्त्री, पुत्र और पुत्री का सर्प के डसने से स्वर्गवास हुआ और मेरी गैया को एक व्याघ्र ले गया, इस दुःख से मैं अरण्य में भटक रहा हूं, तू कौन है ?" उस खड़े हुये पुरुष ने कहा "मैं दूसरा कोई नहीं हूं, वह सर्प और व्याघ्र मैं ही हूं।" विद्याधर आश्चर्य करता हुआ बोला "तब तू मनुष्य रूप में कैसे दीख रहा है ? तेरा नाम क्या है ?" उस मनुष्य ने कहा "मेरा नाम मृत्यु है, मैं अनेक रूप से दीखता हूं, सब सृष्टि में भ्रमण करता हूं; जिसका जिस प्रकार मरण होने वाला होता है उसका मरण उसी प्रकार करता हूं!" विद्याधर बोला "तेरे कहने से मालूम होता है कि मेरे कुटंब और गैया का मारने वाला तू ही है, तूने सबको मार डाला, मुझे क्यों जीता रक्खा ?" मृत्यु बोला "तेरे मरने का यह काल नहीं है, तेरा मृत्यु इस प्रकार निश्चित भी नहीं हुआ है, जब तू गंगा में कमर कमर पानी में पहुंचेगा तब एक मगर से तेरा मृत्यु होगा !" यह कह कर मृत्यु अदृश्य हो गया।

"वह सर्प और वह व्याघ्र मैं हूं" इस में वह सर्प और वह व्याघ्र इन दोनों के स्वरूप का त्याग करके, उस निमित्त से रहे हुये मृत्यु के मैं का जो ग्रहण है, उसका नाम भाग त्याग लक्षणा है, सर्प और व्याघ्र में विरुद्धता है, सर्प और व्याघ्र की मनुष्य से विरुद्धता है परन्तु तीनों में रहने वाला मृत्यु रूप चेतन एक है, इन तीनों की एकता उस एक में ही होती है।

विद्याधर ब्राह्मण आगे चला और एक शहर में पहुँचा वहां एक उत्सव हो रहा था, अनेक देशों से आये हुये विद्वान् लोग राजा से सीधा सामान प्राप्त कर अपने भोजनों की व्यवस्था में लग रहे थे। विद्याधर भी स्नान, संध्या आदि से निवृत्त हो कर अपने लिये भोजन बनाने लगा। भोजन के बाद राज दरबार में पण्डितों की सभा हुई, वहां शास्त्रार्थ हो रहा था विद्याधर ने वहां जा कर शास्त्रार्थ में भाग लिया। राजा ने उसकी विद्वत्ता से मुग्ध हो कर उसको सभा का मुख्य पण्डित नियत किया। विद्याधर ने बहुत समय तक राजा के साथ रह कर आनन्द में दिन व्यतीत किये। थोड़े दिन में राजा के पुत्र हुआ। जब वह बड़ा हुआ तब उसके पढ़ाने का कार्य भी विद्याधर को दे दिया गया। कुंवर विद्याधर पर बहुत प्रेम रखता था। जब वह चौदह वर्ष का हुआ तब राजा को गंगा स्नान की इच्छा हुई। विद्याधर ने यह जान कर कि मुझे भी राजा के साथ जाना पड़ेगा, राजा से कहा "महाराज! आप की इच्छा गंगा तीर पर निवास करने की और गंगा स्नान करने की हो तो आप जाइये, मैं नहीं जा सका क्योंकि मैं ने गंगा के तीर पर न जाने का दृढ़ निश्चय किया है।" राजा ने कहा "ऐसा निश्चय किस कारण किया है ?" विद्याधर बोला "जो मैं गंगा के समीप के देश में जाऊंगा तो मेरा मृत्यु अवश्य होगा! यह मेरा निश्चय है, इसलिये काल के मुख में जाने की मैं इच्छा नहीं करता।" राज कुंवर ने हठ की कि यदि गुरु जी नहीं चलेंगे तो मैं भी नहीं जाऊंगा, चाहे जो कुछ हो गुरु जी को हमारे साथ चलना ही चाहिये। राजा ने आग्रह पूर्वक कहा "पूज्य महाशय! आप को हमारे साथ चलना ही पड़ेगा! मैं आप की इच्छानुसार सब व्यवस्था कर दूंगा" अन्त में विद्याधर को राजा के साथ जाना ही पड़ा! राजा ने गंगा के निकट एक भव्य स्थान बनाया और उसमें अपनी राज सभा सहित आनन्द से रहने लगा। राज कुमार जहां जाता वहां विद्याधर को साथ ही ले जाता था, उसे छोड़ कर वह अकेला कहीं न जाता। एक दिन राजकुमार अपने पिता से बोला "पिता जी! मुझे गंगा जी स्नान करने की इच्छा है, आप आज्ञा दीजिये।" राजा ने कहा "पुत्र! आनन्द से गंगा स्नान करो।" इस

प्रकार कह कर राजा ने अपने अनुचरों को साथ जा कर, संभाल पूर्वक स्नान करा लाने की आज्ञा दी।

सब स्नान करने को चले। राजकुमार ने देखा तो उस का गुरु विद्याधर कहीं दिखाई न दिया, तब उसने पिता के पास जा कर कहा "पिता जी! जो मेरे गुरु मेरे साथ गंगा स्नान करने नहीं जायंगे तो मैं अकेला गंगा में कभी भी स्नान न करूंगा।" राजा ने अनुचरों द्वारा विद्याधर को बुलवाया और राजकुमार के साथ गंगा स्नान करने जाने की प्रार्थना की। विद्याधर बोला "महाराज! मैं ने आप से प्रथम ही कह दिया है, कि मैं कभी भी गंगा स्नान करने नहीं जाऊंगा, मैं जो वहां जाऊंगा तो मगर आकर मुझ को मार डालेगा! क्या आप मुझे मरा हुआ देखना चाहते हैं? (राजकुमार से) तू यह हठ छोड़ दे, अकेला जाकर स्नान कर आ।" राजकुमारने हठ न त्यागी और बिना विद्याधर के साथ चले गंगा स्नान करने की साफ मना कर दी। राजकुमार की हठ होते हुये भी विद्याधर को स्नान करने जाने की किंचित् भी इच्छा न थी। राजकुमार अपनी हठ नहीं छोड़ता, यह जान कर राजा विद्याधर से बोला "पूज्य महात्मन्! कृपा करके आप राजकुमार के साथ जाइये, मैं आप को सब प्रकार के भय से सुरक्षित रखने की व्यवस्था करता हूं, (अनुचरों से) देखो, गंगा के प्रवाह में जिस स्थान पर यह विद्वान् महात्मा और राजकुमार स्नान करने को जांय, उस स्थान को एक मजबूत जाल से घेर लेना, जल में चारों तरफ सैनिक घोड़े सवार खड़े रहें, किनारे पर भी शस्त्रधारी सैनिक खड़े रहें और खास करके यह विद्वान् गुरुजी जब जल में उतरें तब उनके आस पास रह कर खास संभाल रखना, सब का ध्यान बराबर उनके ही ऊपर रहें!"

राजा की आज्ञा का यथार्थ रीति से अक्षर सहपालन किया गया। विद्याधर और राजकुमार गंगा में स्नान करने गये। राजा की आज्ञानुसार रक्षक दोनों को आस पास घेरे खड़े रहे। धीरे २ विद्याधर के हृदय का भय कम हुआ देखकर राजकुमार बोला "गुरुजी! मैं राजकुमार नहीं हूँ, किन्तु वह ही मृत्यु हूं!" इस वाक्य के साथ ही राजकुमार का शरीर अदृश्य हो गया और एक मगर खड़ा हो गया! उसने विद्याधर को पकड़ लिया, उसे पकड़ कर पानी में ले गया और एक निमेष में गुप्त हो गया। रक्षक राजकुमार का गुम होना देखकर आश्चर्य में पड़े और रोते पीटते उन्होंने राजा के पास जाकर सब वृत्तांत कहा। तब राजा शोक करता हुआ बोला—

दोहा।

मामा जिसके कृष्ण जी, अर्जुन जिसका बाप।
सो अभिमन रण में मरा, मिटे न भावी पाप॥

जो सर्प था, जो व्याघ्र था, जो मनुष्य था, जो राजकुमार था, और जो मगर था, वह ही मृत्यु था: सब के नाम, रूप का त्याग और मृत्यु रूप शक्ति का ग्रहण भाग त्याग लक्षणा है। इस प्रकार उन सब की एकता होती है।

पद के शक्य अर्थ के साथ, जो लक्ष्य अर्थ का परंपरा संबंध होता है, उसका नाम लक्षित लक्षणा है। जैसे भ्रमर शब्द करता है, इस अर्थ का बोध करने के लिये किसी ने कहा "दो रकार बोलता है" दो रकार शब्द की योजना भ्रमर शब्द में है, भ्रमर में दो रकार हैं। दो रकार शक्य अर्थ है, और भ्रमर उसका लक्ष्यार्थ है। भ्रमर शब्द के साथ मधुकर शब्द का साक्षात् संबंध संभवित नहीं है परन्तु भ्रमर में दो रकार का संबंध और भ्रमर पद का मधुकर व्यक्ति के साथ संबंध है। इस प्रकार दो रकार से बना हुआ वाच्यत्व रूप परंपरा संबंध मधुकर व्यक्ति है। यह शक्यार्थ के परंपरा संबंध से लक्षित लक्षणा कहलाती है। इस लक्षणा का भी तत्त्वमसि आदिक महावाक्यों में उपयोग नहीं है।

देवदत्त सिंह है, इस वाक्य में देवदत्त नाम के पुरुष में सिंह की गौणी वृत्ति है। यह गौणी वृत्ति लक्षणा वृत्ति से भिन्न सिद्ध नहीं होती किंतु लक्षित लक्षणा के अंतरभूत है। सिंह पद के शक्य अर्थ का देवदत्त पुरुष के साथ स्ववृत्ति रूप क्रूरता आदिवाला परंपरा संबंध है। यह गौणी वृत्ति लक्षित लक्षणा के अंतरभूत है। इस प्रकार पुरुष को शक्ति वृत्ति और लक्षणा वृत्ति से ज्ञान होता है।

——:※:——

मणिरत्न माला।

इन्द्र वज्रा वृत्तम्।

को वा ज्वरः प्राण भृतां हि चिन्ता।
मूर्खोस्ति को यस्तु विवेक हीनः॥
कार्या मया का शिव विष्णु भक्तिः।
किं जीवनं दोष विवर्जितंयत्॥१०॥

अर्थः--प्राणी मात्र को बुखार कौनसा है? उत्तरः--चिन्ता ही बुखार है। प्रश्नः-मूर्ख कौन है? उत्तरः-जिसको विवेक नहीं है, वह मूर्ख है। प्रश्नः-मेरा कर्त्तव्य क्या है? उत्तरः-शिव और विष्णु की भक्ति करना! प्रश्नः-जीवन क्या है? उत्तरः-जो दोष रहित जीना है, वह।

भाषा छप्पय छन्द।

ज्वर दुख दायक कौन, कष्ट दे चित्त जलावे?
चिंता ज्वर अति दुष्ट, सर्व प्राणीन सतावे॥
मूर्ख शिरोमणि एक, कौन संतन बतलाया?
जिसको नहीं विवेक, मूर्ख सब से हि सवाया॥
क्या मेरा कर्तव्य है, हरि हर भक्ति विशेष है।
जीवन शुचि है कौन सा, दोष न जिस में लेश है॥१०

विवेचन।

जो अनेक प्रकार से जलन को उत्पन्न करे, उसे ज्वर कहते हैं, उसका ही नाम बुखार है। चिन्ता सबको जलाने वाली और दुःख देने वाली होने से बुखार है। बुखार जब होता है तब ही दुःख देता है, चिन्ता हमेशा दुःख दिया करती है। अविवेकियों को किसी न किसी प्रकार की चिंता बनी ही रहती है इसलिये चिंता बुखार से भी विशेष है। जो चित्त को जलावे उसका नाम चिंता है। अज्ञान से चित्त में जलन हुआ करती है। सौन्दर्य असौन्दर्य रूप और सिद्धासिद्ध रूप जो चित्त की वृत्ति है वह ही चिंता है। 'मैं धनाढ्य क्यों नहीं हूं? मेरा यह काम सिद्ध क्यों नहीं हुआ? मुझे रहने को मकान चाहिये, मेरी स्त्री मेरी आज्ञानुसार नहीं है, मालिक अच्छा नहीं है, धंधे में नुकसान है, मुझे एक घोड़ा चाहिये, मुझे कोई अच्छा नौकर नहीं मिलता, यह दुःख किस प्रकार मिटे? यह कार्य किस प्रकार सिद्ध हो?' ऐसे २ अनेक विचारों से, चित्त में जो जलन होती है, उसका नाम चिंता है। चिंता से शरीर का रूप बिगड़ जाता है, शुभ गुणों का नाश होता है, मन मलिन रहता है, विवेक और चातुर्यता जाती रहती है, इस प्रकार चिंता में अनेक प्रकार की हानि ही हानि भरी है, चिन्ता करके किसी का भी कभी कोई कार्य सिद्ध नहीं होता। किसी विद्वान् ने कहा है:—चिंता और चिता दोनों ही शब्दाकृति से समान हैं परन्तु चिता से चिन्ता में एक बिन्दु अधिक है, उस अधिक का यह फल है कि चिता जिस में मुरदा फूंका जाता है, उसकी अग्नि मरे हुये मुरदे को जलाती है और बिन्दु की अधिकता वाली चिन्ता जीते हुये शरीर को जलाती है—बिन्दु के समान जिस शरीर में जीव का वास है, उसे जलाती है। मतलब यह है कि चिता की अग्नि से भी चिन्ता की अग्नि विशेष जलाने वाली है। चिता मरे हुये को जलाती है; मरे हुये को जलने का दुःख नहीं होता परन्तु चिन्ता तो जीते हुये को जलाती है, जो जीता होने के कारण बहुत कष्ट पाता है। और कहा है-दोहाः-चिन्ता से सुधि बुधि घटत, घटत रूप गुण ज्ञान। लाज,

काज, विद्या घटत, चिन्ता चिता समान ॥ संसार में जितने दुःख होते हैं, चिन्ता से ही होते हैं। जब मनुष्य निश्चय पूर्वक चिंता का त्याग करता है तब शांति पाता है और तृष्णा भी नहीं रहती। एक चिन्ता हो कर जल्दी से मिटती नहीं है। जैसे किसी का शरीर किसी कारण जल जाय तो अग्नि हटा लेने से भी वहां का दुःख नहीं जाता, जब कई दिन औषधोपचार करते हैं, तब शांति होती है, इसी प्रकार की चिंता है।

जिस को आशा लगी हुई है, उसे चिंता लगी रहती है। चाहे कैसा भी हो, अज्ञानी की आशा की निवृत्ति नहीं होती इस लिये उस की चिंता की भी निवृत्ति नहीं होती। जब गुरु कृपा और अपने पुण्य करके अज्ञान की निवृत्ति होती है तब आशा की निवृत्ति होती है और सम्पूर्ण आशा की निवृत्ति होने से स्वरूप में स्थिति होती है और स्वरूप में स्थिति होने से चिंता का समूल नाश होता है।

मूर्ख शिरोमणि—सब से विशेष मूर्ख कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि जिसको नित्य अनित्य तत्व का निश्चय रूप विवेक नहीं है, वह ही महा मूर्ख है और सब प्रकार के मूर्ख उस से न्यून हैं क्योंकि उन्हें मूर्खता का फल न्यून होता है और अविद्या रूप अविवेक का फल अनेक जन्मों तक भोगा जाता है इसलिये आत्म विवेक रहित अविवेकी महा मूर्ख है। जो अनन्त काल तक अपना नुकसान ही करता रहे उसे महा मूर्ख कहना चाहिये। पृथ्वी पर मूर्खता के समान मनुष्य के लिये विष, अग्नि आदिक कोई भी अन्य व्याधि नहीं है। मूर्खता ही शरीर को दुःख देने वाली है। अंधेरे कुये की गुफा में रहना, चांडाल के द्वार पर पड़े रहना, तुच्छकार के साथ भिक्षा से उदर भरना, ये अच्छा है परन्तु मूर्खता अच्छी नहीं है इसलिये विवेक प्राप्त कर के मूर्खता छोड़ना योग्य है। विवेक विना ज्ञान नहीं होता, ज्ञान विना मोक्ष सुख नहीं होता। विवेक, वैराग्य, षट सम्पत्ति और मुमुक्षुता, ज्ञान के चार साधन हैं परन्तु इन सब की आदि विवेक है, विवेक से वैराग्य आदि होते हैं, इसलिये विवेक ही प्रधान साधन है। जो विवेक रहित है उसका कभी भी कल्याण नहीं होता। विवेक रहित मूर्ख अनेक प्रकार के कष्टों को प्राप्त होकर चौरासी लक्ष योनियों में अनेक प्रकार के दुःख भोगता है। महा-मूल्यवान् ऐसे मनुष्य शरीर को प्राप्त करके जिस ने अपने कल्याण निमित्त विवेक नहीं किया वह महा मूर्ख है।

तीन गंजेरी मित्र एक समय मुसाफिरी में निकले। वे तीनों एक समान मूर्ख, ऐदी और अविवेकी थे। उनको व्यवहारिक विवेक यानी हिता-हित का भी बोध न था। चलते २ जब वे थक गये तब एक ग्राम के किनारे एक वृक्ष के नीचे विश्राम लिया और जो सामग्री उनके पास थी, उसकी तीनों ने मिल कर रसोई बनाई। अब भोजन करने की देर थी। पत्ते वहां थे नहीं, थोड़ी दूर पर केलों का एक बगीचा दीख रहा था। जब वहां से केले के पत्ते लाये जांय तब भोजन हो। एक ने अपने पास से एक छुरी निकाल कर दूसरे के हाथ में देकर कहा "पास के बगीचे में से तू अपने लिये केले के पत्ते काटला!" उसने तीसरे के हाथ में छुरी देकर कहा "तू अपने लिये केले के पत्ते काटला!" उसने छुरी ले पहिले को देकर कहा "तू ही जाकर काटला!" इस प्रकार तीनों में से कोई भी पत्ते लेने न गया। तब क्या करना चाहिये यह विचार कर तीनों ने इस प्रकार मौन्य वाद ग्रहण किया कि जो प्रथम बोले वह केले के पत्ते लावे। अब वे तीनों चुप हो गये, बोलने की मनाई थी। थोड़ी देर में कुत्ते आये। अब उनमें से जो कोई चिल्लावे उस का मौन भंग हो जाय इसलिये तीनों चुप बैठे रहे और कुत्तों ने आनन्द से रसोई का भोग लगाया। तीनों देखते रहे, कोई न बोला, न कोई हिला। रात्रि हुई और बारह बजे के अन्दाज ग्राम के चौकीदार ने आकर

पूछा " तुम कौन हो ? यहां बैठने का क्या कारण है ? " जब उसे कुछ भी उत्तर न मिला तब उसने निश्चय किया कि ये चोर हैं। ऐसा विचार कर उसने सीटी बजाई, दूसरे दो चौकीदार आ पहुंचे। तीनों ने मिल कर उन में डंडे लगाना आरम्भ किया तो भी किसी ने चूं या चां न की। चौकीदार तीनों को बांध कर पोलिस की चौकी पर ले गये और हवालात में बन्द कर दिया। रात भर तीनों हवालात में बन्द रहे, सुबह जब कचहरी खुली तब पोलिसनायक उन्हें मेजिस्ट्रेट के सामने ले चले। अभी तक किसी ने एक शब्द भी उच्चारण नहीं किया था, पोलिस के मारने पर भी कोई कुछ न बोला। अन्त में पोलिस ने एक को ले जाकर मेजिस्ट्रेट के सामने खड़ा किया। मेजिस्ट्रेट ने उससे बहुत कुछ पूछा परन्तु वह न बोला। तब मेजिस्ट्रेट ने कहा "यह पागल है, इसे निकाल दो!" एक सिपाही धक्के मार कर उसे बाहर निकाल रहा था और दूसरा सिपाही दूसरे को लाने की तैयारी में था। अन्त में सिपाही ने पहिले को ऐसा धक्का दिया कि वह बाहर निकलता हुआ गिर गया, उसका अत्यन्त अपमान हुआ इस आवेश में वह मौन्य व्रतको भूल गया और एक दम बोल उठा " दूर हो हराम खोर! तू किसको धक्के मारता है ?" अभी वाक्य पूर्ण होने नहीं पाया था कि दोनों गंजेड़ी दौड़ आये और विजय नाद कर, छुरी हाथ में देकर कहने लगे " हे मूर्ख! अब तो यह छुरी ले और केले के पत्ते काट ला! " तीनों की यह चेष्टा देख कर कचहरी वाले आश्चर्य करने लगे! मेजिस्ट्रेट ने पूछा "तुम्हारी इस चेष्टा का क्या भाव है ?" गंजेड़ियों ने अपना सब वृत्तांत सुनाया। उनका वृत्तांत सुन कर तीनों की मूर्खता पर मेजिस्ट्रेट को हंसी आई और उसने तीनों को निकलवा दिया।

यह कितनी मूर्खता थी! कितना अविवेक था! थोड़ी सी देर के काम के निमित्त मौन्य को ग्रहण किया, मौन्य की कीमत विशेष समझी, रसोई का नाश होना, रात भर भूखा मरना, बंदीवान् होना, मार खाना, ये सब सहन किया-तुच्छ समझा! यह ही अविवेक है। अज्ञानी मनुष्य इसी प्रकार हैं, आत्मा की तरफ मौन्य ग्रहण किये हुए हैं, माया का गांजा पीकर गंजेड़ी बने हैं, संसार में अनेक कष्ट पारहे हैं परन्तु आत्माकी तरफ बोलते नहीं हैं, वहां के मौन्य को त्यागते नहीं हैं। यह मूर्खता मूर्ख-शिरोमणिपना ही है। मायिक तुच्छ पदार्थों को विशेष महत्त्व का समझते हैं और जो महत्त्व का है, उसे तुच्छ—कुछ भी नहीं समझते हैं। एक ने कहा है:—"सब जगत् मूर्खों से भरा है, कोई एकाद ही मूर्खता को त्यागने में समर्थ होता है"।

मुझे क्या करना योग्य है? इस के उत्तर में कहा है कि शिव विष्णु की भक्ति करनी चाहिये। जो वेदांत का ठीक २ अधिकारी नहीं है और जो विवेक करने में असमर्थ है, ऐसेका यह प्रश्न है। ऐसे के अंतःकरण की शुद्धि के निमित्त भक्ति बताई है। भक्ति उपासना को कहते हैं। जो ब्रह्म को न जानसके उसके लिये ब्रह्म के समीप जाने का उपाय उपासना है। जैसे चाहे सैकड़ों उपाय करो, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती ऐसे ही अन्य सैकड़ों उपाय करो परन्तु भक्ति बिना ज्ञान नहीं होता ज्ञान और भक्ति एक दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। उपासना बिना ज्ञान नहीं और सामान्य ज्ञान बिना उपासना नहीं होती। उपासना दो प्रकार की है, सगुण उपासना और निर्गुण उपासना, इन्हीं का नाम अपरा और पराभक्ति है। ये दोनों प्रकार की उपासनायें साथ २ हों ऐसा नहीं है। जो निर्गुण उपासना कर सक्ता हो वह उसे करे और जो उसके करने में असमर्थ हो वह सगुण उपासना करे। शिव और विष्णु की भक्ति कहने से दोनों प्रकार की उपासनाओंका भाव है। शिव का जहां २ वर्णन है, वहां २ बहुत कर के निर्गुण रूप से है और विष्णु का सगुण भाव से है इसलिये

शव, विष्णु की भक्ति करने का अर्थ निर्गुण और सगुण उपासना का है। पुराणों में जहां शिव और विष्णु का भिन्न २ प्रकार से वर्णन है वहां शिव की उपासना करने वाले के लिये शिव का सगुण और निर्गुण दोनों रूप से वर्णन है, ऐसे ही विष्णु के उपासकों के लिये विष्णु का सगुण और निर्गुण दोनों रूप से वर्णन है। ऐसे स्थानों पर नाम गुण, अगुण से भी अन्तिम तत्व एक ही रक्खा गया है। सगुण उपासना-भक्ति में भी साकार और निराकार दो भेद हैं। साकार गुण सहित और निराकार स्थूल सूक्ष्म गुण रहित है। जो स्थूल गुणों को धारण करता है उसके लिये साकार और जो सूक्ष्म गुणों को धारण करता है उसके लिये निराकार है। ऐसे ही निर्गुण में भी दो भेद हैं:- निर्गुण रहितपने का जो एक गुण है वह सूक्ष्म है और सगुण निर्गुण के भाव रहित सगुण की अपेक्षा रहित निर्गुण तत्त्व रूप है। प्राचीन काल में जो उपासना विधि थी उसके बदले पुराणोक्त भक्ति की विधि हाल में विशेष प्रचलित है, उसमें अपरा भक्ति के नव भेद इस प्रकार किये हैं:—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दासभाव, सखा भाव और आत्म समर्पण। जिसने जिस स्वरूप से ईश्वर को माना है, उसके लक्षण और चरित्रों को सुनना श्रवण है, उसके स्तोत्र कथन करना, उसके गीत गाना कीर्तन है, उसको वारम्वार याद करना स्मरण है, मन्दिर को धोना, झाडू देना, गुरु के पग दबाना पाद सेवन है, आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, उपवीत, गंध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, नमस्कार, प्रदक्षिणा इन षोडश उपचारों से पूजन करना अर्चन है, हृदय, मस्तक, दृष्टि, मन, वाणी, चरण, हाथ और कर्ण इन अष्टांगों से प्रणाम करना वंदन है, आप ही मेरे मालिक और रक्षक हैं, मैं आपका किंकर हूं, ऐसा भाव धारण करना दास भाव है, मित्रता की भावना सखा भाव है और मैं आप को ही अर्पण हो चुका, अब मैंने अपनी भिन्न भावना नहीं रक्खी, ऐसा भाव आत्म समर्पण है।

प्राणी मात्र पर दया, प्रिय भाषण, सबके हित में प्रेम, संत, शास्त्र पर श्रद्धा, प्राणियों के दोष न देखना, गुण देखना और ग्रहण करना, सबसे मैत्री रखना, इष्ट पर पूर्ण प्रेम रखना, गुरु की तन मन और धन से सेवा, ये सब भक्ति के ही लक्षण हैं। परा भक्ति-निर्गुण उपासना में विष्णु के अवलम्बन का भाव इस प्रकार होता है:-ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र और मरुत देवता दिव्य स्तोत्रों करके जिसकी स्तुति करते हैं, अंग, पद, क्रम और उपनिषद् सहित सामवेद के पढ़ने वाले जिसका गायन करते हैं, योगीजन जिसमें लगे हुये निश्चल मन से जिसे जानते हैं, देव और दैत्य जिसका पार नहीं पा सकते, ऐसे विष्णु देव को मैं प्रणाम करता हूं। शिव के अवलम्बन से भी इसी प्रकार का भाव प्रकट होता है:-पाताल में, अंतरिक्ष में, दशों दिशाओं में, आकाश में, सब पर्वतों में, समुद्रों में, राख में, लकड़ी में, मिट्टी के ढेले में, पृथ्वी में, जल में, पवन में, असुर और देवताओं के पतियों में, औषधियों के बीजों में, पुष्पों की पंखड़ियों में, घास में और सब स्थावर जंगम में, जो एक शिव व्यापक है, उसे मैं प्रणाम करता हूं अथवा जो व्यक्त और अव्यक्त के गुणों से पर है, सुख का देने वाला है, सब तत्वों से पर जो एक महातत्त्व रूप है, जो योगीजनों के हृदय में ही जानने योग्य है, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म है, परम, शांत, चारों अवस्थाओं से रहित, पंचम स्वरूप, आकाश के समान व्यापक, तेजोमय जो तत्त्व है, उसे मैं निर्मल मन से प्रणाम करता हूं।

जो अपने इष्ट देव को सर्वत्र व्यापक जानता है, वह उत्तम भक्त कहलाता है, जो परमेश्वर के भक्त की सेवा करता है, और उसके ऊपर आस्ता रखता है वह मध्यम भक्त कहलाता है और जो प्रतिमा में ईश्वर को एक देशी मानता है वह अधम भक्त

कहलाता है और जो किसी प्रकार के भाव से भी भक्ति नहीं करता वह पामर है। सर्वत्र व्यापक एक ईश्वर को उत्तम भक्ति की रीति से भजना यह मुख्य कर्त्तव्य कर्म है, जिसने यह नहीं किया उसने संसार में आकर चाहे जितने शुभ कार्य किये हों, यश संपादन किया हो, द्रव्य प्राप्त किया हो या ग्राम, जमीन प्राप्त किये हों ये सब उसको वृथा हैं और इनमें से कुछ भी प्राप्त न किया हो, एक परमात्मा की भक्ति की हो, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया है।

प्रह्लाद हिरण्यकशिपु दैत्य का पुत्र था। वह दैत्य का पुत्र होने पर भी विष्णु का परम भक्त था क्योंकि वह जितेन्द्रिय, शुशील और सत्य प्रतिज्ञा वाला था और सब प्राणियों को आत्म स्वरूप ही मानता था, बड़ों के साथ नम्रता से वर्तता था, दीन जनों पर दया करता था, और बराबर वालों पर स्नेह रखता था। विद्या, धन, रूप और कुलीनता से युक्त होकर भी वह अहंकार से रहित था, विपत्ति पड़ने पर भी घबड़ाने वाला न था, देखे, सुने सब पदार्थों को मिथ्या मानता था इसलिये उसमें किसी प्रकार की कामना न थी। भगवद्भक्त में जितने गुण आवश्यक हैं वे सब उसमें थे। भगवान् के ध्यान में चित्त आनन्दित होने पर कभी वह विरह के कारण रोता था, कभी आनन्द में आकर गाता था और हंसता था, कभी ऊंचे स्वर से भगवान् को पुकारता था, कभी लज्जा त्याग कर नाचने लगता था, जब कभी भगवद् लीला का अनुकरण करने लगता था तब शरीर के रोंगटे खड़े हो आते थे, और कभी चेष्टा रहित ईश्वर के ध्यान में लीन हो जाता था, दृढ़ प्रेम के कारण हर्षाश्रु के जल से उसके नेत्र पूर्ण रहते थे। इस प्रकार के भागवत् पुत्र को गोद में लेकर उसका पिता पूछने लगा "हे वत्स ! इतने समय में तूने गुरु से क्या शिक्षा पाई है, तूने किसको उत्तम समझा है ?" प्रह्लाद बोला "हे असुर श्रेष्ठ ! लोगों की बुद्धि 'मैं और मेरा' इस प्रकार के असत् भाव से हमेशा उद्विग्न रहती है, यह ही आत्मा के अधःपात का कारण है; गृह अंध कूप के समान है उसे त्याग कर बन गमन पूर्वक हरिशरण ग्रहण करना ही मैं उत्तम समझता हूं!" पुत्र के इस प्रकार के वचनों से हिरण्यकशिपु क्रोधित हुआ और प्रह्लाद के गुरु के पास जाकर कहने लगा "तुमने उसे इस प्रकार का बोध क्यों दिया ? यदि किसी दूसरे ने उसे बहकाया हो तो उसकी निगाह रखनी चाहिये!" गुरु ने कहा "मैंने उसे इस प्रकार का बोध नहीं दिया है और दूसरा भी न देने पावे इसकी मैं निगाह रक्खूंगा!" पश्चात् गुरु ने विष्णु का भाव छुड़ाने को प्रह्लाद को अनेक प्रकार से समझाया और ताड़ना भी दी परन्तु उसने अपने निश्चित भाव को न त्यागा। इतना ही नहीं किंतु जब २ अवसर मिलता तब २ अन्य लड़कों को भी अपना निश्चय समझाता था। लड़कोंको उसकी बात मानते देखकर गुरु अप्रसन्न होते रहे और इस प्रकार का बर्ताव पाठशाला में न करने को शिक्षा भी देते रहे परंतु प्रह्लाद के ऊपर इस शिक्षा का कुछ असर न हुआ। धर्म, अर्थ और काम के शास्त्र जो प्रह्लाद को सिखाये गये थे वे सब उसने सीख लिये थे परंतु उन पर उसकी निष्ठा नहीं थी।

एक दिन गुरु उससे उसका निश्चय पूछने लगे तब उसने कहा "अपना पराया ये सब ज्ञान माया के कारण से है,जिसकी बुद्धि माया से मोह को प्राप्त हुई है, वह ही उसे मानता है। जब भगवान् परम पुरुष का मनुष्य पर अनुग्रह होता है तब उसकी पशु बुद्धि यानी यह अन्य पुरुष है, मैं अन्य हूं, ऐसा बुद्धि भेद नष्ट हो जाता है और सम दृष्टि होती है। भेद बुद्धि मिथ्या है, अविवेकी पुरुष अपना और पराया करके उस परमात्मा का ही निरूपण करते हैं।" इस प्रकार की भक्ति देखकर गुरु ने प्रह्लाद को डांटा और कहा "लच ! तू मुझे अपयश दिलाने वाला है! तू

अपने कुल में कलंक रूप है! दैत्य वंश चंद्र रूप है, तू उसमें कंटक कहां से उत्पन्न हुआ? जो दैत्यों के शत्रु विष्णु का ही भजन करता है.तुझे कुल का भी कुछ अभिमान नहीं है!" इस कहने का भी प्रह्लाद पर कुछ असर न हुआ! कई दिन पीछे दैत्य राजा ने फिर प्रह्लाद को बुला कर कहा "हे पुत्र! अब तू बता कि तू ने सब से श्रेष्ठ क्या समझा है?" तब प्रह्लाद बोला "हे पिता! श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरण सेवा, पूजा, वंदना, दास्यभाव, सखा भाव और आत्म समर्पण यह भगवान् विष्णु की नवधा भक्ति है, पढ़ा लिखा पुरुष यदि इसे करे और निष्काम होकर कृष्णार्पण करे तो मेरी समझ में यह उत्तम शिक्षा है, यह ही श्रेष्ठ है।" हिरण्यकशिपु बोला "यह बात तू कहां से सीखा है? विष्णु मेरा शत्रु है तू उसका गुणानुवाद करता है, तुझे जिसने यह सिखाया हो उसका नाम बता!" प्रह्लाद बोला "गृहस्थाश्रम में आसक्त पुरुषों की बुद्धि किसी के सिखाने से परमात्म में नहीं लगती किंतु कृष्ण कृपा से ही लगती है, माया में फँसे हुये की इन्द्रियां शांत नहीं रहतीं इसलिये वह संसार में आकर भोगे हुये भोगों को ही वारंवार भोगता है और मोहित होता है। जिनका अंतःकरण विषयों में आसक्त है, वे विष्णु को नहीं जान सक्ते। विचित्र सूत्र से ग्रथित् वेद रूप ईश्वर की बड़ी रस्सी उनको कर्म जाल में जकड़े हुये है। वे जब तक विषयाभिमान से शून्य परम पुरुष की पद धूलि को अपने शिर पर नहीं चढ़ाते तब तक भगवान् का स्पर्श असंभवित है। उनके स्पर्श से मनुष्य का जन्म मरण निवृत्त हो जाता है।" इन वचनों से हिरण्यकशिपु अत्यंत क्रोधित होकर बोला "हे असुर गण! यह दुष्ट मारने योग्य है, इसको शीघ्र मार डालो, इसे मेरे पास से दूर ले जाओ, यह अपने कुटुम्ब का त्याग कर अपने ताऊ के मारने वाले विष्णु की उपासना करता है, मारो! मारो!" ऐसी आज्ञा पाते ही सब दैत्य प्रह्लाद को मारने लगे, मर्म स्थान में कई प्रहार किये परंतु प्रह्लाद का चित्त ईश्वर में लगा हुआ होने से उसे कुछ भी दुःख न हुआ! जब यह उद्यम निष्फल गया तब हिरण्यकशिपु को चिंता हुई और वह उसे मारने को नये नये उपाय करने लगा, उस ने मस्त गजराज को प्रह्लाद पर छोड़ा, विषधर सर्पों से कटवाने का यत्न किया, जादू टोने करवाये, पर्वत के ऊंचे शिखर पर से गिरवाया, माया से मारने का उद्योग किया, जहरीला धुवां भरके अंधेरी कोठरी में बंद किया, बरफ,वायु, अग्नि और जल से मारने का उपाय किया और पत्थर के नीचे दाब कर मारना चाहा परंतु असुरराज निरपराध पुत्र को मार न सका! तो भी उसने मारने का उद्योग न त्यागा और चिंतावान् रहने लगा।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद से कहा "हे मूर्ख! तेरे मरने का समय निकट आगया है। तब ही इस प्रकार की अंट संट बातें करता है, हे मंद भाग्य! तू मेरे सिवाय जो अन्य ईश्वर बताता है, वह कहां है? यदि तू कहे कि सर्वत्र है, तो इस खम्भे में क्यों नहीं दीख पड़ता?" प्रह्लाद ने ईश्वर को प्रणाम करके कहा "इस खंभे में दीख पड़ता है!" हिरण्यकशिपु बोला "अब मैं तुझको खड्ग से मारता हूं, तेरा जो कोई रक्षक हरि हो वह आकर तेरी रक्षा करे!" इस प्रकार कहता हुआ, पुत्र को पीड़ा देने को हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से उतर कर हिरण्यकशिपु ने बताये हुये खंभे में घूंसा मारा। उसी क्षण खंभे में बड़ा भयानक शब्द हुआ और भक्तवत्सल भगवान् प्रह्लाद के वाक्य को सत्य करने के लिये खंभे में से अपूर्व रूप से प्रकट हुए! उनका आधा रूप मनुष्य का और आधा सिंह का था। उन्होंने दुष्ट दैत्य को पकड़ लिया और उसको वरदान में प्राप्त की हुई सब बातों को ठीक रखते हुए उसे मार डाला।

भक्ति की दृढ़ता इस प्रकार की होती है। भक्तों के दृष्टांतों में प्रह्लाद का दृष्टांत सर्वोच्च है। भक्ति अनेक कारणों से की जाती है परंतु श्रेष्ठ भक्त वह ही होता है जो जगत् को निष्कारण—तुच्छ भाव से देखता है और वैराग्य पूर्वक ईश्वर भक्ति में लीन होता है। संसार में जब २ दुःख पड़ता है तब २ भक्ति की तरफ चित्त जाता है, और कोई २ संस्कारी भक्ति को प्राप्त भी करते हैं, अथवा किसी कामना से भक्ति की जाती है। अहेतुक निष्काम भक्ति का कहना ही क्या है! भक्ति और उपासना दोनों का एक ही स्वरूप है, और उनका अंतिम फल परब्रह्म की प्राप्ति है।

दोष रहित जीवन ही कल्याण कारक जीवन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा, ईर्षा और जुगुप्सा आदि दोष मनुष्य को त्यागने चाहियें। ये दोष अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं। क्रोध से जलन होती है, कामना में द्रव्य का व्यय और दुःख होता है, मोह से कार्य अकार्य का विवेक नहीं रहता। अपने प्रिय पदार्थ का नाश होता हो तो भी चित्त को समान रखना—शोकातुर न होना, इस प्रकार जीवन व्यतीत करना शोभा रूप है और इससे विरुद्ध जीवन बूढ़े गधे के समान दुःख रूप ही है। शास्त्र विधि निषेध से युक्त जीवन श्रेष्ठ है। कपट, चोरी, हिंसा, दंभादिक सहित किया हुआ व्यवहार और ऐसे उपायों से प्राप्त किये द्रव्य से जीवन व्यतीत करना दोष रूप है।

न्याय से पैदा किये हुए धन से प्राणकी रक्षा करनी चाहिये। अन्याय से जीवन बिताना धर्म विरुद्ध है। अन्याय से पैदा किये हुये धन से जो धर्म करने में आता है, वह धर्म अधर्म रूप होने से नरक में ले जाने वाला होता है। अपने अथवा दूसरे के स्वार्थ हेतु कभी भी अन्याय न करना चाहिये। ऐसा करना उत्तम जीवन है इससे विरुद्ध यदि श्वास लेने का नाम ही जीवन हो तो लोहार की धौंकनी भी श्वास लेती ही है। जिस जीवन से ऐहिक सुख की प्राप्ति नहीं होती अन्य का लाभ नहीं होता, परमार्थ की सिद्धि नहीं होती, वह जीवन व्यर्थ है।

प्रपंच की आसक्ति से लिप्त जीवन निर्दोष नहीं होता इसलिये व्यवहारिक कार्य करते हुये, स्त्री, पुत्र, द्रव्यादि से संतोष रखते हुये, कीर्त्ति प्राप्त करना चाहिए, असन्मार्ग से कीर्त्ति की इच्छा करना अच्छा नहीं है, सन्मार्ग में यदि कीर्त्ति न मिले तो भी अच्छा है। असन्मार्ग में, दंभ और छल से पैदा किया हुआ लाभ और कीर्ति जीवन को भ्रष्ट करने वाली है इसलिये शास्त्रोक्त लौकिक सन्मार्ग में विचरना चाहिये। इस लोक की कीर्त्ति की इच्छा से आत्म प्राप्ति के मार्ग में विघ्न न आवे इसे भी विचारते रहना चाहिये। जब लौकिक जीवन शुद्ध होता है, समानता वाला होता है तब उससे पारलौकिक प्रारंभ हो सकता है। यदि लौकिक जीवन अशुद्ध होगा—विषम होगा तो मनुष्य पारलौकिक में चल नहीं सकता इसलिये वर्णाश्रमोचित धर्म का आचरण करते हुये, इन्द्रिय निग्रह करके ईश्वर परायण होना चाहियें, भक्ति से ज्ञान और ज्ञान से भक्ति को दृढ़ करते हुये आत्म स्वरूप को जान कर मनुष्य जन्म को सार्थक करना चाहिये। जिसने इस प्रकार के मायिक भाव को तोड़ दिया है, उसके जीवन को धन्य है। पूर्ण आत्मिक भाव में निर्दोष, शुद्ध जीवन, शांति का देने वाला जीवन ज्ञान प्राप्ति के बाद ही हो सकता है तो भी जहां तक बने व्यवहार में भी निर्दोष भाव रख कर वर्तना अच्छा ही है। काम, क्रोध और मोह की चोटें खाते हुये जीते रहना अत्यंत दुःख रूप है। ऐसे दुःख रूप जीने से मरना भला है। क्षण २ में दुःख की आशंका रहती है, अनेक प्रकार के दुःखों से पीछा नहीं छूटता और चित्त में कभी शांति नहीं रहती। आंतरिक जलन नहीं बुझती, ऐसा जीवन जीने वाले को नरक का अनुभव कराता है और मरने के प [illegible] ी शुभ

कर्म न होने के कारण दुःख ही प्राप्त होता है ऐसा नाम मात्र का जीना अज्ञानियों का है, विवेकी लोग मरण को और पशु आदिक के जीवन को ऐसे जीने से अच्छा बताते हैं इसलिये सदाचार युक्त निर्दोष उद्यम से, आसक्ति रहित कर्तव्य कर्म से आत्म श्रेय साधते हुये जीता रहना सुख रूप होता है।

——*——

ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका।

(गतांक से आगे)

क्यों कि यद्यपि दोनों प्रकार से विशेष का ज्ञान होता है तो भी परमेश्वर सम्बन्धी ही विशेष का आश्रय करना योग्य है, जठराग्नि सम्बन्धी विशेष का नहीं, यह नहीं हो सकता। अथवा अन्दर और बाहर रहने वाले भूताग्नि का यह कथन होगा क्योंकि उसका भी द्युलोक आदिक के साथ सम्बन्ध इस मंत्र वर्ण से समझाया गया है:-'यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान रोदसी अन्तरिक्षम्' [ऋ० सं० १० । ८८ । ३] (जिसने [भूताग्नि ने] इस पृथिवी, द्युलोक और अंतरिक्ष को अपने तेज से व्याप्त किया है [उसका ध्यान करना चाहिये])। भूताग्नि जिस का शरीर है ऐसे देवता के योग से द्युलोक आदि अवयव होवेंगे इसलिये वैश्वानर परमात्मा नहीं है।

समाधानः-यह दोष नहीं है, क्योंकि वैश्वानर को परमेश्वर रूप समझने का उपदेश है शब्दादि, कारणों को लेकर वैश्वानर परमेश्वर नहीं है ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वैश्वानर को जठराग्नि रूप मानते हुये भी वह परमेश्वर रूप है ऐसा उपदेश है। यहां पर जठराग्नि तथा वैश्वानर दोनो में ही परमेश्वर दृष्टि रखने का उपदेश किया गया है जैसे कि 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [छान्दो० ३। १८। १] (मन की ब्रह्म रूप से उपासना करे) अथवा जठराग्नि तथा वैश्वानर जिसकी उपाधि है ऐसे परमेश्वर का यहां द्रष्टव्य-रूप से उपदेश किया है जैसे कि 'मनोमयः प्राणशरीरो भा रूपः' [छान्दो० ३ । १४ । २] ([वैश्वानर] मनोमय रूप, प्राण शरीर रूप तथा प्रकाश स्वरूप है) यदि यहां पर परमेश्वर का निरूपण न हो, मात्र जठराग्नि का ही निरूपण हो तो 'उसका मस्तक अत्यन्त तेज वाला है' इत्यादि विशेष का संभव न होवे। देवता तथा भूताग्नि का आश्रय लिये बिना परमेश्वर सम्बन्धी इस विशेष मात्र का निरूपण करना सम्भव नहीं है इस के सम्बन्ध में आगे के सूत्र में कहेंगे। यदि केवल जठराग्नि का ही निरूपण हो तो पुरुष का मात्र भीतर रहना ही समझा जाय, पुरुषपना नहीं समझा जाय। वाजसनेयि शाखा वाले भी वैश्वानर को पुरुष रूप से ही कहते हैं:— 'स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो है तमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुष विधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' [श० ब्रा १० । ६ । १ । ११] (जो पुरुष है वह यह वैश्वानर अग्नि है निश्चय जो इस प्रकार से उस वैश्वानर अग्नि को पुरुष रूप और पुरुष के विषे अन्दर रहा हुआ जानता है वह [सर्व भोग भोगता है])। परमेश्वर सर्वात्मक होने से पुरुष का तो पुरुषपना और पुरुष के अन्दर रहना दोनों ही युक्त हो सकते हैं। जो लोग 'पुरुष विधमपि चैनमधीयते' इस प्रकार सूत्र का पाठ स्वीकार करते हैं वे उस का अर्थ इस प्रकार करते हैं:-केवल जठराग्नि ही स्वीकार करें तो मात्र पुरुष के भीतर रहना ही घट सक्ता है परन्तु पुरुष के समान होना नहीं घट सक्ता और वाजसनेयि शाखा वाले 'यह पुरुष के समान है' ऐसा भी अध्ययन करते हैं जैसे कि 'पुरुष विधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान, पुरुष के भीतर रहा हुआ [जो] जानता है)। इस प्रकार स्वर्ग रूप मस्तक से लेकर पृथिवी प्रतिष्ठित पर्यन्त जो पुरुषके समान अधिदेव रूप है और मस्तक से लेकर डाढ़ी पर्यन्त अध्यात्म रूप है उस पुरुष सदृश का यहां ग्रहण करना चाहिये ॥ २६ ॥

अत एव न देवता भूतं च ॥२७॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—अतः इसीलिये (पूर्वोक्त हेतु से) एव ही देवता [अग्नि का अभिमानी देवता] देवता [वैश्वानर] न नहीं च और भूतं भूताग्नि [भी वैश्वानर नहीं है] ।

टीका:—मंत्र वर्ण में भूताग्नि का सम्बन्ध द्यु लोक आदि के साथ देखने में आता है इसलिये 'मूर्धैव सुतेजा' (मस्तक ही अत्यन्त प्रकाश वाला) इत्यादि भूताग्नि के अवयवों की ही कल्पना होगी अथवा भूताग्नि जिस का शरीर है ऐसे देव के अवयवों की कल्पना ऐश्वर्य योग से होगी ऐसी शंका जो पूर्व की है उस का समाधान यह है कि इन ऊपर कहे हुये कारणों से ही वैश्वानर भूताग्नि नहीं है और भूताग्नि का अभिमानी देव भी नहीं है क्योंकि उष्णता और प्रकाश मात्र जिस का स्वरूप है ऐसे भूताग्नि का द्यु मस्तक है, ऐसी कल्पना करना युक्त नहीं है क्योंकि भूताग्नि कारण नहीं है किन्तु कार्य—विकार है और विकार दूसरे विकार का स्वरूप होवे, यह नहीं हो सका इसी प्रकार ऐश्वर्य योग होने पर भी देव का द्यु मस्तक है ऐसी कल्पना करना नहीं बन सकता। देव भी कारण नहीं है क्योंकि उसका ऐश्वर्य परमेश्वर के आधीन है और आत्म शब्द तो किसी पक्ष में भी भूताग्नि अथवा देव के लिये नहीं हो सकता इसलिये वैश्वानर भूताग्नि अथवा उसका अभिमानी देव नहीं है किंतु परमेश्वर ही है ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—साक्षात् साक्षात् (जठराग्नि के संबंध बिना) [ईश्वर के उपास्यपने में] अपि भी अविरोधं [शब्द का] अविरोध [है ऐसा] जैमिनिः जैमिनि [मानता है]

टीकाः—शंकाः-पूर्व में ऐसा कहा था कि जठराग्नि स्वरूप अथवा जठराग्नि उपाधि वाले परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये क्योंकि अग्नि की स्थिति भीतर है और अब ऐसा कहते हो कि स्वरूप अथवा उपाधि की कल्पना के बिना भी साक्षात् परमेश्वर की उपासना ग्रहण करने में भी कुछ दोष नहीं है ऐसा जैमिनि आचार्य मानता है परंतु यदि जठराग्नि का ग्रहण न किया जायगा तो (वैश्वानर की) भीतर स्थिति है इस वचन में और शब्दादि कारण में विरोध आवेगा, इसका क्या ?

समाधानः—यह दोष नहीं है क्योंकि (वैश्वानर की) भीतर स्थिति है यह कहना अयुक्त नहीं है। यहां पर 'पुरुष विधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान, पुरुष के भीतर स्थिति वाले को जो जानता है) ऐसा जो कहा है वह जठराग्नि के अभिप्राय से नहीं कहा है क्योंकि यहां पर जठराग्नि प्रकृत रूप नहीं है और शब्द से वाच्य भी नहीं है। यदि कहो कि प्रकृत रूप और शब्द से वाच्य नहीं है तो और क्या है तो उसका उत्तर सुनोः—मस्तक से लेकर डाढ़ी तक पुरुष के अवयवों में जो कल्पना की गई है, वह नीचे के अभिप्राय से की गई है:—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के समान, पुरुष के भीतर स्थिति वाले को जो जानता है) जैसे यह कहा जाय कि वृक्ष में रही हुई शाखा को देख इसी प्रकार यहां कहा गया है। अथवा जिस प्रकृत परमात्मा का पुरुष समानपना, अधिदैव और अध्यात्म उपाधि है, उसका जो केवल साक्षी रूप है उसी के अभिप्राय से यह कहा है जैसे—'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' (पुरुष के भीतर रहा हुआ जानता है) पूर्वापर अनुसंधान से परमात्मा स्वीकार करना ही निश्चित होता है अर्थात् किसी व्युत्पत्ति से भी वैश्वानर शब्द परमात्मा के अर्थ का ही सूचन करेगा। वैश्वानर की व्युत्पत्ति इस प्रकार है:—'विश्वश्चायं नरश्चेति' (विश्वरूपी नर) अथवा 'विश्वेषामयं नरः' (विश्व का यह नर) अथवा 'विश्वे नरा अस्येति विश्वानरः' (विश्व जिसका नर है वह विश्वानर) अर्थात् पर-

मात्मा क्योंकि परमात्मा सर्वात्मक है।' विश्वानर एव वैश्वानरः—विश्वानर ही वैश्वानर है, इस में राक्षस, वायस की समान अनन्यार्थ वाचक—प्रकृत अर्थ का सूचन करने वाला तद्धित प्रत्यय है 'अग' धातु और 'नि' प्रत्यय मिल कर अग्नि शब्द बनता है इसलिये अग्नि शब्द का अर्थ अग्रणीत्व—आगे जाना हुआ, इस व्युत्पत्ति से अग्नि शब्द परमात्मा के लिये ही युक्त होता है । गार्हपत्य आदि कल्पना और प्राणाहुति का अधिकरणपना परमात्मा के लिये ही युक्त है क्योंकि वह सब का आत्मा है ॥ २८ ॥

यदि वैश्वानर का अर्थ परमात्मा अंगीकार करें तो उस के प्रदेश मात्र का कथन करने वाली श्रुति किस प्रकार युक्त होगी ? इस शंका का उत्तर आगे के सूत्र से देते हैं:—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-अभिव्यक्तेः-[प्रादेश मात्रपने का कथन] प्रकटता के लिये [है] इति ऐसा आश्मरथ्यः आश्मरथ्य [आचार्य मानता है]

टीकाः—अपरिमाण रूप व्यापक परमात्मा के प्रादेश मात्रपने का जो कथन है वह मात्र उसकी प्रकटता के निमित्त से है। उपासकों के हित के लिये प्रदेश विशेष में (हृदयादि स्थानों में) जो प्रकट होता है वह परमात्मा प्रादेश मात्र कहलाता है। परमात्मा का साक्षात्कार हृदय आदि स्थानों में ही हो सक्ता है। इसलिये परमेश्वर के सम्बन्ध में प्रादेश मात्र रूप जो श्रुति कही है वह योग्य है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानता है ॥ २९ ॥

इस सम्बन्ध में बादरिआचार्य का मत कहते हैं:-

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-अनुस्मृतेः-[प्रादेश मात्र हृदय में रहे हुये मन द्वारा] अनुस्मरण होने से [परमात्मा को प्रादेश मात्र कहा है ऐसा] बादरिः बादरि [आचार्य मानता है],

टीकाः—प्रादेश मात्र हृदय में रहे हुये मन द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है इसलिये परमेश्वर प्रादेश मात्र है, ऐसा कहा जाता है। जैसे प्रस्थ (एक प्रकार के माप) से मापा हुआ जव प्रस्थ कहलाता है इसी प्रकार परमेश्वर प्रादेश मात्र कहा है। यद्यपि जव में रहा हुआ परिमाण प्रस्थ के सम्बन्ध से व्यक्त—भिन्न हो जाता है और यहां परमेश्वर में कोई भी परिमाण नहीं है जो हृदय के सम्बन्ध से व्यक्त—भिन्न हो जाय तो भी श्रुति में परमेश्वर को जो प्रादेश मात्र कहा है, वह केवल अनुस्मरण-ध्यान-चिंतवन का अवलम्बन लेकर कहा है। अथवा यों समझना चाहिये कि यद्यपि परमात्मा प्रादेश मात्र नहीं है तो भी प्रादेश मात्र कहने वाली श्रुति सार्थक है क्योंकि प्रादेश मात्र द्वारा ही परमात्मा का स्मरण हो सक्ता है। इस प्रकार से बादरि आचार्य मानता है कि परमेश्वर के सम्बन्ध में जो प्रादेश मात्र श्रुति है वह अनुस्मरण—ध्यान के निमित्त ही है ॥ ३० ॥

अब इस विषय में जैमिनि का मत कहते हैं:—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥३१॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—सम्पत्ते सम्पत्ति से (मूर्धादि स्थान की प्राप्ति रूप निमित्त से) [परमात्मा प्रादेश मात्र है, श्रुति भी] तथाहि तैसे ही दर्शयति दिखाती है, इति ऐसा जैमिनिः जैमिनि [आचार्य मानता है]

टीकाः—अथवा सम्पत्ति के निमित्त प्रादेश मात्र श्रुति होनी चाहिये। (छोटी वस्तु का आलम्बन लेकर उसके समान बड़ी वस्तु की प्राप्ति करने का नाम सम्पत्ति है) यदि कोई शंका करे कि सम्पत्ति के निमित्त प्रादेश श्रुति किस प्रकार है तो उस का उत्तर यह है कि समान प्रकरण वाले वाजसनेयि ब्राह्मण में परमात्मा की प्रादेश मात्र सम्पत्ति इस प्रकार वर्णन की है:—(अपूर्ण)

गीता की शंकाओं का समाधान।

(गतांक से आगे)

(३) तृतीय आक्षेप में कर्म और ज्ञान के विकल्प में जो यह लिखा है कि अधिकारी के प्रति दोनों साधनों का परस्पर विरोध है। इस की व्यवस्था श्री भगवान् ने स्वयं ही तृतीय अध्याय के आदि में की है आप वहां पर देख सक्ते हैं। इस में विशेषता—छठे अध्याय में भगवान् ने एक ही अधिकारी के प्रति दोनों का विधान किया है। आक्षेपक ने जो विरोध लिखा है सो समसमुच्चय में विरोध है क्रम समुच्चय में विरोध नहीं है यथा स्मृतिः

नित्य नैमित्त कैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्
ज्ञानंच विमली कुर्वन्नभ्यासेन च वासयेत्।
अभ्यासात् पक्वविज्ञानं कैवल्यं लभतेनरः।

इसी का नाम क्रम समुच्चय है जिसको लक्ष्य कर भगवान् ने षष्टाध्याय के तीसरे श्लोक में एक ही अधिकारी को दोनों साधनों का निरूपण किया है।

(४) चतुर्थाक्षेप में गीता के मूर्त्ति मण्डन विषयक पूछा है इस विकल्प जाल का समाधान तो भगवान् ने द्वादश अध्याय के आदि के आठ श्लोकों में स्वयं कर दिया है। इस से जो विशेषता है सो लिखते हैं:-इन आठ श्लोकों में सगुणोपासना में सुखैनता दिखला कर निर्गुणोपासना में जो क्लेश दिखाया है सो उन्होंने कृपा कर के सोपान न्याय दिखाया है इसी आशय को वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य जी ने स्पष्ट कर के वर्णन किया है। यथा—

निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कतुं मनीश्वराः
ये मन्दाः तेऽनुकम्पंते सविशेष निरूपणै॥
वशी कृते मनस्येषां सगुण ब्रह्म शीलनात्
तदेवाविर्भवेत्साक्षादपेतोपाधि कल्पना॥

और मूर्ति मण्डन विषयक श्री वसिष्ठ जी ने भी इसी सोपान न्याय को दिखाया है यथाः—

अप्राप्तात्मविवेकोऽन्तरज्ञश्चित्तं वशीकर्तुं।
शंख चक्र गदापाणिमर्चयेत्परमेश्वरम्॥
तत्पूजनेन कष्टेन तपसातस्यराघव।
कालेनिर्मलतामेति चित्तवैराग्य कारिणा॥

यथा सोपान न्याय में:—कोई पुरुष मंदिर के ऊपर चढ़ने की इच्छा वाला यदि सीढ़ी २ द्वारा चढ़ेगा तो सुखेन प्राप्त होगा यदि छलांग मार के जावेगा तो अंग भंग रूप क्लेश को पावेगा। तैसे यहां उपासना में भी समझना।

(५) पंचमाक्षेप में श्री कृष्ण जी के परब्रह्म होने के विषय में शंका है। इसका समाधान श्री भगवान् ने स्वयं चतुर्थाध्याय के चौथे श्लोक से नवें श्लोक तक कर दिया है।

विशेष यह है कि उन्होंने अपने जन्म कर्म दिव्य लिखे हैं जीवों के जन्म कर्माधीन परतंत्र हैं और पंच भूतों का परिणाम हैं और राम कृष्ण आदिकों का जन्म अन्य जीवों के समान नहीं है किंतु केवल भक्तों की प्रार्थना से शुद्ध सत्व प्रधान जो माया है उसको स्वाधीन करके शैलूष की न्याईं आविर्भावमात्र है। और उन्होंने जो जो कर्म किये उनकी दिव्यता भी प्रत्यक्ष है क्यों कि जो कर्म देवताओं को भी अशक्य हैं यथा बालकावस्था में अघासुर दैत्य को यों पटकमारा कि ब्रह्मा जी भी चकित रहगये इत्यादि सब चरित्र विदित हैं हम को केवल स्मरण कराने के वास्ते दिक्‌मात्र जनाते हैं और जो चतुर्भुज होने की शंका की है सो उनकी तो दो ही भुजा थीं कहीं पर भी उनके चतुर्भुज होने का प्रमाण नहीं मिलता। प्रतिमाओं में भी चार भुजा कहीं नहीं दिखाई गईं और चार भुजा दिखाने की आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि वे स्वयं लिखते हैं कि "नाहं प्रकाशः सर्वस्य" इत्यादि से यदि वे अपना चतुर्भुज रूप रक्खें तो स्वयं ही कार्य प्रतिघात करके स्ववचन से विरुद्ध हों। कार्य घात यह है कि जिन दुष्ट पुरुषों के संहार के वास्ते वे आये वे दुष्ट तो उनके चतुर्भुज रूप को देख कर उनके सामने ही न आवें फिर संहार कैसे होवे। इस से सिद्ध है कि उनका चतुर्भुज रूप नहीं था। यदि आक्षेपक ने "ते नैवचतुर्भुजेन" इस वाक्य को देख कर लिखा हो तो अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा यह कल्पना होती है कि अर्जुन को कृष्ण जी में उत्कट विष्णु बुद्धि थी जिससे उसको चतुर्भुज रूप ही प्रतीत होता था तत्शब्द से भी यही पूर्वला संकेत सिद्ध

होता है। जैसे दिवाभोजी पुरुष को हृष्ट पुष्ट देख कर उसके रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है तैसे यहां भी विचार लेना। (अपूर्ण)

गीता की शंकाओं पर सम्मति।

(गतांक से आगे)

(३) सम्मतिः—कृष्ण भगवान् ने कर्मयोग का प्रतिपादन किया है, जो बाहुल्यता से सभी अध्यायों में मिलता है और कर्मयोग और ज्ञान को एक ही कथन किया है, भेद मानने वालों को मूर्ख माना है यथा 'सांख्य योगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति न पण्डिताः'। यदि आप को विरोध प्रतीत होता है तो विरोध प्रतिपादक श्लोक अपनी युक्तियों सहित लिख भेजिये। इस विषय का सच्चा भाव गुरुमुख द्वारा प्रकट हो सक्ता है, लिखने का विषय नहीं है।

(४) सम्मतिः—गीता शास्त्र अव्याकृत तत्व प्रतिपादक है, जिस तत्व की निर्गुण, सगुण दोनों ही उपाधियां हैं। मूर्ति पूजा व्यक्ति दशा—व्यवहार कोटी में मंतव्य है, अव्याकृत दशा में मंतव्य नहीं है। विचार का काम है। वस्तुतः 'है' और 'नहीं' दोनों ही जिस करके सम हो जांय वह गीता शास्त्र है। अध्याय ८ श्लोक २६ का अर्थ वह ही है जो समस्त टीकाकारों ने किया है और आपने पढ़ा भी है। यदि उसमें कोई अंश समझ में न आया हो तो पुनर्वार लिखने की कृपा कीजिये।

(५) सम्मतिः—श्री कृष्ण का परब्रह्म होना उनके अलौकिक कर्मों से घटित हो सक्ता है। उनके अलौकिक कर्मों की वर्तमान में भी ब्रह्मांड भर में धूम हो रही है। कृष्ण भगवान् के विषय में आज तक किसी की सम्मति नहीं है कि चतुर्भुजी थे, न किसी शास्त्र में ऐसा लेख है फिर भी आप को यह विकल्प न जाने कहां से उत्पन्न हुआ है। गीता शास्त्र में तो यहां तक स्पष्ट कर दिया है कि विराट से अर्जुन के प्रार्थना करने पर भी भगवान् ने अपने आद्य स्वरूप चतुर्भुजी का दर्शन नहीं दिया। आगे आपने सृष्टि के क्रम के ऊपर विशेष आग्रह किया है सो शर्मा जी! सृष्टि क्रम यही है और इतना ही है, यह आपने कैसे जाना? जिस सृष्टि में असंख्य बार, असंख्य कर्मों द्वारा आप का जन्म मरण हो चुका है और आगे के लिये क्रम चालू है, उस सृष्टि का क्रम यह ही और इतना ही है, यह आप कैसे कह सक्ते हैं! सृष्टि का ज्ञाता स्रष्टा ही हो सक्ता है न कि अस्मदादिक जीव!

(६) सम्मतिः—श्रीमन्! विराट सृष्टि का अर्थ जानने के लिये स्वयं विराट होना पड़ता है, जितने न्यून रहोगे उतनी ही कमी रह जायगी! यदि दिव्य दृष्टि प्राप्त कर ली जाय तो विराट सृष्टि के दर्शन हो सक्ते हैं। विराट सृष्टि परब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है, स्थूल रूप अवश्य है। जिस प्रकार जीव का स्थूल शरीर विश्व कहा जाता है इसी प्रकार परब्रह्म का स्थूल शरीर विराट कहलाता है। परब्रह्म के विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर सब ही स्वरूप उपासना के निमित्त हैं। अपने से किसी दूसरे को बड़ा न देख कर वैराट ने अपने को परब्रह्म कहा था।

(७) सम्मतिः—अर्जुन मुमुक्षु नहीं था किंतु शोक मोह ग्रसति कर्तव्यनिष्ठ था। जिस कर्त्तव्य पथ से विचलित हुआ था, गीता के उपदेश से पुनः कर्त्तव्यारूढ हो गया था। कर्त्तव्य की इतिसमाप्ति का नाम ही परम पद है जो अर्जुन को जीवित दशा में ही प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार अन्य महानुभावों के लिये भी परमपद प्राप्ति की आशा कर सके हैं।

(८) सम्मतिः—इस पर हम कुछ सम्मति प्रदान नहीं कर सके। इस का उत्तर कृष्ण भगवान् ही दे सक्ते हैं कि दिव्य दृष्टि प्रचलित मेस्मिरेजम थी या कोई अन्य शक्ति थी। जो नहीं था सो दीख रहा था, इस प्रकार का योग सामर्थ्य था। ईश्वर शक्ति को ईश्वर ही जान सक्ता है। इस प्रकार का चमत्कार वर्तमान समय में भी ईश्वर अनन्य भक्त को दिखला सकता है। यदि इस प्रकार के चमत्कार देखने की आपकी अभिलाषा हो तो अनन्य भक्त हूजिये। जब आप अनन्य भक्त होंगे तब सारी शंकायें प्रत्यक्ष हो कर तत्व रूप हो जांयगी। राधाचरण।

इस प्रकार सम्मति देने में हम पूर्ण सहमत नहीं हैं। यथा सम्भव उत्तर देकर समझाना चाहिये था।

सम्पादक।

ॐ

वेदान्त केसरी।

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } भाद्रपद सं० १९७८ सितम्बर १९२१ { अंक ११

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक वन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

वार्षिक मूल्य ३) एक प्रति का मूल्य।-)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा—आगरा।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।
(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) लिया जायगा। नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

—※—

सूचना।

पुस्तक ३ | भाद्रपद सं० १९७८। सितम्बर १९२१ | अंक ११

वहि धन्य है ! वहि धन्य है !!

हरिगीत छन्द ।

(१)

धन पाय मन में गर्व नहिं, दारिद्र में नहिं दीनता ।
नहिं मित्र से ही मित्रता, नहिं शत्रु से ही शत्रुता ॥
आपत्ति सम्पति एकसी, सम चित्त नित्य प्रसन्न है।
जीवन उसीका है सफल,वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(२)

कामिनि रसीले नयन लखि नहिं क्षोभ मनमें लाय है।
सोते समय, नहिं स्वप्न में भी ध्यान उसका आय है ॥
गुरुभक्ति शम दम आदि शुभ गुण से सदा सम्पन्न है।
जीवन उसीका है सफल,वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(३)

पांचो विषय विष जानकर, है दूर से ही त्यागता ।
धन पुत्र अरु परिवार में नहिं भूलकर अनुरागता ॥
सुख को नहीं सुख मानता दुख में नहीं मनखिन्न है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(४)

इच्छा नहीं स्वर्गादि की, नहिं द्वेष कुछ नरकादि से।
कीटादि से ब्रह्मा तलक, हैं दीखते मिथ्या जिसे ॥
जल में कमल जल से अलग संसार से त्यों भिन्न है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(५)

निन्दा प्रशंसा एकसी, नहिं हर्ष ही न विषाद ही ।
नहिं मान नहिं अपमान कुछ है नित्य आत्म प्रसादही॥
निर्द्वन्द्व जिसकी दृष्टि में नहिं पाप है नहिं पुण्य है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है ! वहि धन्यहै!!

(६)

सत् वस्तु क्या है असत् क्या, अच्छी तरह से जानता।
आशा असत् की त्याग कर सत् में परम रति मानता॥
तजि कर अनातम भाव सब ही आत्म भाव अनन्य है।
जीवन उसीका है सफल वहि धन्य है ! वहि धन्य है!!

(७)

मैं, तू तथा वह भेद यह है त्रिपुटी में भासता ।
रहती नहीं जब त्रिपुटी अद्वैत एक प्रकाशता ॥
ऐसा समझ त्रिपुटी परे निज रूप में संलग्न है ।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

(८)

करता श्रवण निज आत्मका नितआत्मका हि विचारहै
है ध्यान हरदम आत्म का, दूजा नहीं आचार है ॥
मन आत्म में, चित आत्म में, मति आत्म सुखमें मग्न है!
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है !!

(९)

गुरु वाक्य सुनि मन मांहि गुनि देखे अखिल अद्वैतता
मेटे असंभव दोष, नाशे मूल से विपरीतता ॥
निश्चय करे मेरे सिवा नहिं ब्रह्म कोई अन्य है ।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्यहै!!

(१०)

कौशल्य! नरतनु पाय के भव कीच में क्यों जाय है।
द्विज देह, गुरु पूरण कृपा, बड़ पुण्य से नर पाय है॥
अवसर मिले चूके नहीं सो ही पुरुष जग मन्य है।
जीवन उसीका है सफल, वहि धन्य है! वहि धन्य है!!

श्रीमद्भगवद्गीता में की

आठ शंकाओं का उत्तर।

(गतांक से आगे)

(५) प्रश्नः-श्रीकृष्ण अपने को परब्रह्म रूप से कथन करते हैं, यह किस प्रकार घटित होसका है? श्रीकृष्ण का मनुष्य शरीर चार हाथ वाला था या दो हाथ वाला? चार हाथ वाला कहा जाय तो इस प्रकार होना सृष्टि क्रम से विरुद्ध है, यदि कोई यमल (साथ जुड़े हुये दो) जन्मता है तो चार हाथ के साथ पैर भी चार और दो शिर होने चाहियें।

उत्तरः—ज्ञानी अपने को व्यक्ति भाव से शरीर वाला नहीं मानता, उसने उपाधि के भाव का त्याग किया होता है इसलिये वह अपने को ब्रह्म स्वरूप ही मानता है और उपदेश के समय इस प्रकार का कथन भी करता है। श्रीकृष्ण ईश्वर अवतार थे उनका अपने को ब्रह्म स्वरूप कहना अयुक्त नहीं है,। शास्त्र में ज्ञानियों का इस प्रकार का कथन सुना गया है। काशी के राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन को जब इन्द्र ने आत्म ज्ञान का उपदेश दिया था तब कहा था कि तू मुझको जान, मेरा ध्यान-भजन कर, मैं ही सब में अन्तर बाहर व्याप्त हूं, मुझसे ही सब की प्रवृत्ति होती है इत्यादि। इसी प्रकार वामदेव ऋषि ने भी सर्वात्मक भाव से कहा था कि मैं मनु हुआ, इन्द्र हुआ, इत्यादि। तब श्रीकृष्ण भगवान् अपने आद्य स्वरूप को प्रसंगोपात कहें तो आश्चर्य ही क्या है! जब २ उन्होंने अपने को ब्रह्म स्वरूप कहा है तब २ आत्म-ब्रह्म भाव से ही कहा है, शरीर भाव से नहीं कहा है, इस का पूरा भाव अ० ७ श्लोकः २४ में है कि मेरे नित्य और अत्युत्तम स्वरूप को न जान कर मन्द बुद्धि वाले लोग मुझ प्रकट न होने वाले को प्रकट हुआ मानते हैं और अ० ९ श्लोक ११ में कहा है कि मूढ़ जन मनुष्य रूप धारण करने वाले और सम्पूर्ण प्राणियों के स्वामी मुझको न जान कर मेरी अवज्ञा करते हैं। इस से सिद्ध है कि जहां २ ईश्वर भाव से कथन है वहां २ आत्म-ब्रह्म भाव से ही कथन है। न जानने और अवज्ञा करने का कारण कहा है कि योग माया से आच्छादित हुआ मैं सबको नहीं दीखता, ये मूढ़ लोग मुझ अनादि और अविनाशी को नहीं जानते। (अ० ७ श्लोक २५) जिनका माया का आच्छादन निवृत्त नहीं हुआ है ऐसे लोगों का श्रीकृष्ण को ब्रह्म स्वरूप से अथवा आत्मा को ब्रह्म स्वरूप से न जानना स्वाभाविक है किन्तु इससे ब्रह्म नष्ट नहीं होता। भगवान् ने चौथे अध्याय में अपनी ऐश्वर्यता को दिखलाया है और गीता ज्ञान की परंपरा का कथन किया है। अवतार का कारण दिखलाते हुये कहा है कि हे अर्जुन! मेरे अलौकिक जन्म और कर्म जो भली प्रकार जानता है वह देह त्याग के पीछे फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता, मुझ को ही प्राप्त होता है। अ० ४ श्लोक ९ में कहा है कि मेरा जन्म, कर्म और तत्त्व दिव्य है, वह अज्ञानियों के जानने में नहीं आता और जो जान जाता है वह अज्ञानी नहीं रहता। मनुष्य का जन्म, कर्म और तत्त्व जानना तो सहज है, उसे जानने से परमपद की प्राप्ति नहीं होती। जन्म मरण की निवृत्ति को जानना परब्रह्म स्वरूप ही है। आत्मा का जन्म न होते हुये भी जन्म का दीखना किस प्रकार है, यह जानना जन्म का जानना है। अकर्ता हो कर कर्म कैसे होते हैं, कौन करता है, और कौन अपने शरीर पर लेता है यह जानना कर्म को जानना है। वास्तविक तत्त्व किस प्रकार का है, यह जानना तत्त्व का जानना है। यह जानने से मोक्ष प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि श्री कृष्ण ने अपने मोक्ष स्वरूप से ही ईश्वरत्व आदिक का कथन किया है। जब अज्ञानी जीव भाव के सिवाय अपना दूसरा स्वरूप नहीं जानते तब ज्ञानी, योगेश्वर, ईश्वरावतार, अधिकारीवर्ग का भाव प्रधानता से उनका आद्य स्वरूप ही होता है। इस प्रकार

श्रीकृष्ण का ब्रह्म स्वरूप से कथन योग्य ही है। श्रीकृष्ण ने सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और लय को अपनी प्रकृति में बताया है, मेरे सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है, ऐसा भी कहा है इससे सिद्ध होता है कि वे ही जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं। मेरी उपासना कर, मेरा भक्त हो, मुझ में चित्त लगा, मैं तुझे दोषों से मुक्त करूंगा। इत्यादिक जो कहा है वह केवल स्थूल दृष्टि के शरीर के भाव से नहीं कहा है, किंतु यदि वास्तविक स्वरूप समझने की किसी को योग्यता न हो और वह स्थूल दृष्टि का अवलम्बन ले तो भी उसे कुछ न कुछ फल की प्राप्ति होगी और तत्त्वार्थ जानने से तो परमपद की ही प्राप्ति होगी। अनेक स्थानों पर परब्रह्म का प्रतिपादन करके अपने से उसकी एकता दिखाई है; मेरे शरण में आ, आदिक कहा है इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने को परब्रह्म कहा है।

कोई २ मानते हैं कि जब श्रीकृष्ण के मनुष्य शरीर का जन्म हुआ था तब चार हाथ थे और कोई २ उन्हें चार हाथ वाला ही मानते हैं, और कोई २ कहते हैं कि अर्जुन को हमेशा चार हाथ ही दीखते थे। यह पुराणोक्त कथा है और भक्ति को दृढ़ करने के लिये भक्तों की भावना है। पुराणों में बहुत सी बातें अलंकार रूप से हैं और उनका गर्भित रहस्य उच्च होता है। उस रहस्य को न जानने वाले भक्ति से चार हाथों का ही कथन करते हैं। विष्णु के चार हाथों का कथन है इसलिये श्रीकृष्ण के मनुष्य शरीर को ही स्वयम् भगवान् मानने वालों ने उनके भी चार हाथों की कल्पना की है। मनुष्य के दो ही हाथ होते हैं। यह प्रकृति का सामान्य नियम है; ऐसी शंका वाला सृष्टि नियम विरुद्ध जुड़े हुये आदिक की कल्पना करके जो दोष लगाता है, वह अयुक्त है, श्रीकृष्ण का मानुषी शरीर जो स्थूल पंचभौतिक था उस के दो ही हाथ थे। विष्णु के चार हाथों का वर्णन अलंकारिक है, विष्णु ही ॐकार है—ब्रह्म है। ब्रह्म के जो चार पाद हैं, वह ही विष्णु के चार हाथ हैं। चारों हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म जो धारण किये हैं, वे ॐकार के अकार, उकार, मकार और अमात्र रूप हैं। शंख उत्पत्ति रूप अकार है, चक्र आवृत्तिवाला-घूमने वाला स्थिति रूप उकार है, गदा नाश करने वाली होने से मकार लय रूप है और पद्म मुंदे हुये में से खिलता है इसलिये अमात्ररूप है इस प्रकार चार हाथों की योजना है यह रहस्य है और उपासना में उपयोगी है। श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानते हैं इसलिये विष्णुरूप से चार हाथों का भाव करते हैं परन्तु रहस्य यह ही है जो ऊपर दिखलाया है।

जब अर्जुन वैराट का उग्रस्वरूप देख कर घबरा गया था और विशेष समय तक उसे देख न सका था तब ही उसके सामने श्रीकृष्ण का पूर्ण प्रभाव आया था। इस प्रभाव को देख कर प्रथम तो उस ने अनेक प्रकार से प्रणाम और प्रार्थना की पश्चात् श्रीकृष्ण का प्रभाव न जान कर पूर्व में उनके साथ तुच्छता से जो वर्ताव कर चुका था, उसको दोष रूप समझ कर, उन दोषों के क्षमा करने को प्रार्थना की और कहा कि आपका यह स्वरूप देख कर मैं घबड़ा रहा हूं, हे भगवन्! किरीट और गदा को धारण करने वाले, जिसके हाथ में चक्र है, ऐसे परमेश्वर का, जो सौम्य स्वरूप है जिस का विश्व रूप में प्रथम आपने दर्शन कराया था उसको देखने की मैं इच्छा करता हूं, हे हजारों हाथ वाले, आप अपने इस विश्व रूप का संहार करके पूर्व के चतुर्भुज रूप से प्रकट हो। (अ० ११ श्लोक ४६) इस प्रकार गीता में जो चार भुजाओं का वर्णन है यह वैराट के बदले अर्जुन के प्रथम देखे हुये विष्णु रूप के देखने की इच्छा का है। उस समय श्री कृष्ण ने अर्जुन को चार भुजा वाले विष्णु रूप के दर्शन कराने की आवश्यकता न समझ कर इस विष्णु रूप की अलभ्यता का वर्णन करके वैराट स्वरूप के भाव को खेंच लिया और पास खड़े हुये मनुष्य शरीर धारी कृष्ण ही दीख पड़े। यह बात अर्जुन के कथन से ही

सिद्ध है। वैराट के मुख से वैराट का जो जो महात्म कहा गया था, वह ही फिर श्री कृष्ण ने अपने मुख से कथन किया जिससे यह बात सिद्ध की गई कि श्री कृष्ण ही वैराट थे।

जब श्री कृष्ण भगवान्, ईश्वर, योगेश्वर थे और दूसरे को अपना हजार हाथ वाला स्वरूप दिखला सके थे तब किसी भक्त को चार हाथों से दर्शन दिया हो-देते हों तो क्या आश्चर्य है। योग सामर्थ्य प्रकृति नियमों से विरुद्ध नहीं है। योगेश्वर को ऐसी सामर्थ्य का होना भी प्रकृति के नियमों में है। जो स्थूल दृष्टि में ही भाव वाले अज्ञानी हैं, उन्हें योगेश्वर की दिव्यता, अंगवृद्धि आदिक नियम विरुद्ध दीखे, वह अज्ञान का भाव है। सामान्य दृष्टि और दिव्य दृष्टि में महान् अन्तर होता है। योगियों के सामर्थ्य अनेक सुने जाते हैं। शास्त्रादिक में उनका वर्णन है इतना ही नहीं किंतु उस विद्या की संपूर्ण प्रक्रिया दिखाई गई है। श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर अन्त तक जितनी चेष्टाएँ हुई हैं वे सब योगेश्वर की सामर्थ्य युक्त हैं। अयोगी—योग पर विश्वास न करने वाले उन अलौकिक रहस्य युक्त चेष्टाओं को समझ नहीं सके इसलिये कृष्ण चरित्र पर अनेक प्रकार के दोषों का आरोप करते हैं। ऐसे मूर्खों को ब्रह्मा भी समझा नहीं सक्ता।

(६) प्रश्नः-विराट सृष्टि का अर्थ क्या है? क्या वह वास्तविक परब्रह्म स्वरूप है अथवा उपासना के निमित्त है? वैराट ने अपने परब्रह्म होने का किस प्रकार कथन किया?

उत्तरः—भिन्न २ स्वरूपों में से एक स्वरूप के अभिमान वाला जीव जो अपने को एक मानता है, वह व्यक्ति है और ऐसी सब व्यक्तियों का एक भाव करके होना रूप एक अभिमान करने वाले को समष्टि कहते हैं। व्यष्टि जीव है और समष्टि ईश्वर है। जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जीव की तीन अवस्थायें हैं इसी प्रकार ईश्वर—समष्टि की भी तीन अवस्थायें समझनी चाहियें। जाग्रत् अभिमानी जीव विश्व है, स्वप्नाभिमानी जीव तैजस है और सुषुप्ति अभिमानी जीव प्राज्ञ है। सब जीवों—विश्व के जाग्रत् का एक अभिमानी ईश्वर वैराट, सब जीवों—तैजस के स्वप्न का एक अभिमानी ईश्वर हिरण्यगर्भ, और सब जीवों—प्राज्ञ की सुषुप्ति का एक अभिमानी ईश्वर ईश्वर कहलाता है। अर्जुन को जो विराट दिखलाया गया था वह सब सृष्टि के जाग्रत् अभिमानियों के एक अभिमानी का स्वरूप था इसलिये वह ईश्वर ही था। ईश्वर ही परब्रह्म है इसलिये वह परब्रह्म स्वरूप ही था। माया सहित एक स्वरूप और माया रहित एक स्वरूप दोनों ही परब्रह्म के स्वरूप हैं। जब व्यक्ति भाव का अभाव होता है तब व्यक्तियों वाला स्वरूप ही व्यक्तियों रहित परब्रह्म है। वैराट परब्रह्म है इतना ही नहीं जितना जो कुछ है सब ही परब्रह्म है तब वैराट के परब्रह्म होने में शंका ही क्यों करनी चाहिये। शंकाकार की शंका ही उसे परब्रह्म से भिन्न कर डालती है। वैराट उपासना के निमित्त विशेष उपयोगी है, ज्ञान स्थिति के पश्चात् तो वैराट का कोई उपयोग नहीं है क्योंकि ज्ञानी को सर्वात्मक भाव प्रथम ही हो चुका है। भिन्न २ देखने वाले को सब भिन्नता एक में ही दीखती है। भिन्न होते हुए भी परब्रह्म एक से अनेक नहीं हुआ है, ऐसा भाव दृढ़ करने में वैराट स्वरूप उपयोगी है। वैराट स्वरूप, मोह अज्ञान, अहंभाव आदिक का नाश करने वाला है और निर्मल ज्ञान को देने वाला है। वैराट का वैराट के मुख से कथन करना यह श्रीकृष्ण भगवान् की योग शक्ति थी। वैराट-दर्शन रूप महान् युक्ति से अर्जुन को यह बोध कराना था कि जो कुछ करता है वह सृष्टि का कर्त्ता ही करता है। अंतमें परिणाम क्या होगा यह भी सूचित कर दिया गया था। श्रीकृष्ण ने अर्जुन के चित्तको अपना चित्त देकर वैराट भाव का दृश्य दिखलाया था। अर्जुन

जिन चित्रों को देख रहा था वे संसार के सब चित्र एकत्र होकर एक ही स्थान पर दीख रहे थे और अर्जुन के उपयोगी दृश्य का विशेषता से दीखना और वैराट मुख से उपदेश देना यह सब श्रीकृष्ण की प्रेरणा थी। दृश्य परमात्मा का ही था और वैराट-श्रीकृष्ण का कथन व्यक्ति मात्र से अर्जुन के उपदेश के निमित्त था।

(७) प्रश्नः–मुमुक्षु भाव के योग्य शिष्य हुए बिना ज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता। क्या अर्जुन मुमुक्षु था? क्या अर्जुन को उपदेश देने से ज्ञान प्राप्त हुआ? क्या वह परमपद को प्राप्त हुआ? यदि परमपद को प्राप्त न हुआ तो अन्य को परमपद प्राप्त होने की आशा क्यों की जाय?

उत्तरः–जगत् में कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो अपनी मुक्ति न चाहता हो इसलिये जगत् में सब ही मुमुक्षु हैं किंतु योग्यता रहित मुमुक्षुता फल देने वाली न होने से शास्त्र में उसको सच्ची मुमुक्षुता नहीं मानी है। सच्चे मुमुक्षु बहुत कम होते हैं उनमें किसी न किसी अंश में कुछ न कुछ न्यूनता होती है। सद्गुरु उस न्यूनता को पहिचानते हैं इसलिये वे न्यूनता को हटाने की युक्तियों सहित, जिससे मुमुक्षुता पूर्ण होकर ज्ञान की प्राप्ति हो ऐसे उपदेश देते हैं। जिस पुरुष में इतनी न्यूनता है कि युक्ति और प्रयत्न से भी न मिट सके तो ऐसा पुरुष मुमुक्षुता होते हुए भी अनधिकारी समझा जाता है। सच्चे संत शिष्य भाव से उसे ज्ञान का उपदेश नहीं देते किंतु अंतःकरण की शुद्धि के उपाय में, जिसको वह कर सके, प्रवर्त करते हैं यानी जो जिस स्थान पर है उसे वहां से ही उठाने का उपदेश करते हैं। पूर्ण वैराग्य से संसार का त्याग करके कुछ भेट आदिक लेकर गुरु के शरण में जाना, गुरु स्थान में निवास करना और गुरु से ज्ञान का उपदेश लेना उत्तम अधिकारी सिवाय अन्य से बन नहीं सकता। जहां वैराग्य की न्यूनता है, जहां संसारासक्ति हटी नहीं है ऐसी बालू भूमि में अमृत की वर्षा करने से भी अंकुर पैदा नहीं होता। जैसे उच्च भाव वाला उत्तम मुमुक्षु कहा जाता है ऐसा मुमुक्षु वास्तविक में अर्जुन नहीं था तो भी वह मध्यम मुमुक्षु अवश्य था। यद्यपि अर्जुन को ज्ञान के निमित्त वैराग्य नहीं था तो भी कुटुम्ब रक्षा के निमित्त उसमें त्याग का भाव बहुत उच्च था क्योंकि उसे तीनों लोकों के राज्य को भी छोड़ना मंजूर था इसलिए उसमें वैराग्य अवश्य था परन्तु मात्र अवलम्बन का ही अन्तर था। जिसमें वैराग्य नहीं होता उसमें ज्ञान का उपदेश नहीं ठहरता। अर्जुन में वैराग्य था परन्तु उसका अवलम्बन ठीक न था इसलिये कुटुम्ब के भौतिक अवलम्बन को हटाकर आत्म अवलम्बन देना इतना काम उपदेशक का था जिसको श्रीकृष्ण भगवान् ने पूर्ण किया। जगत् में से चित्त हट जाना और आत्मा की तरफ आना, यह स्वाभाविक रीति से किसी एक अत्यन्त पूर्व संस्कारी मनुष्य को ही होता है, विशेष करके तो किसी न किसी निमित्त से, प्रपंच में दुःख देखने से वैराग्य का भाव उत्पन्न होता है, इसी प्रकार कुटुम्ब वध के दोष को देख कर अर्जुन सब को त्यागने को तैयार हुआ था। अर्जुन में विवेक भी था क्योंकि विवेक के कारण ही वह कुटुम्ब को वध करने में डरता था। उस का विवेक भी भौतिक मोह युक्त था, आत्म अनात्म का नहीं था। विवेक में भी उसका अवलम्बन ठीक नहीं था इसलिये भगवान् ने उसके उस अवलम्बन को हटाकर आत्म अनात्म के विवेक के अवलम्बन का उपदेश दिया। इस प्रकार अधिकारी के जितने लक्षण हैं उनमें से बहुत से लक्षण अर्जुन में थे, मात्र अवलम्बन ही ठीक न था इसलिए वह मध्यम मुमुक्षु था, कर्म योग सहित ज्ञान का अधिकारी था और ऐसा ही उपदेश उसे मिला है। यदि वह उत्तम अधिकारी होता तो भगवान् उसे कर्म योग सहित ज्ञान का उपदेश न देते परन्तु ज्ञान का ही उपदेश देते। ज्ञान दो प्रकार का है दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान और

अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान। परोक्ष ज्ञान ज्ञान नहीं है। दृढ़ अपरोक्ष ज्ञान सद्योमुक्ति का हेतु है और अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान क्रम मुक्ति का हेतु है। भोग की विशेषता वाले को अदृढ़ अपरोक्ष ज्ञान तक ही रहना संभव है तो भी वह ज्ञानी है और उसका पुनरागमन नहीं होता। अर्जुन भी इसी प्रकार का ज्ञानी हुआ और क्रम मुक्ति के मार्ग से निर्वाण को प्राप्त हुआ।

एक किसान के दो लड़के थे। किसान बहुत बुड्ढा होगया था। दोनों लड़के बडे आलसी थे, खेती का काम काज नहीं करते थे, बुड्ढे से जितना हो सकता था उतना काम किया करता था और लड़कों से भी काम करने को कहा करता था परन्तु वे कुछ नहीं करते थे, इसलिये गरीब थे। बुड्ढा था बहुत चतुर, जब वह मरने के समीप हुआ तब उसने मरने से थोड़ी देर प्रथम दोनों लड़कों को अपने पास बुलाकर कहा "बालको! अब मेरा अन्त काल है, तुम्हारी चिन्ता से मैं व्याकुल हूं, मेरे जीते जी तुम निश्चिन्त रहते थे, अब तुम्हारा निर्वाह कैसे होगा?" बड़ा लड़का बोला "काका! हमने सुना है कि तुम्हारे पास बहुत धन है, अब आपका अंतकाल है, उस धन को हमें दिखला जाओ, नहीं तो फिर वह धन हमें कैसे मिलेगा?" छोटा लड़का बोला "भाई सच कहता है, आपने धन कहां गाड़ा है? सो कहिये!" बुड्ढा आखों में आंसू भर कर विचारने लगा "ये कैसे मूर्ख हैं! मेरे पास धन कहां है! परन्तु इन मूर्खों को किसी न किसी प्रकार समझाना चाहिये!" ऐसा विचार कर उसने लड़कों से कहा "देखो! मेरी बात को निश्चयता पूर्वक मानो, मेरा सब धन खेत में गड़ा है, उसे तुम खोद लेना, उस में इतना धन है कि तुम उससे श्रीमान् हो जाओगे, गाड़ी, घोड़ा खरीद लोगे और प्रतिष्ठा भी प्राप्त करोगे!" बड़ा लड़का बोला "काका जी! आपके कई खेत हैं, उन में से कौनसे खेत में है, किस जगह पर धन गड़ा हुआ है?" बुड्ढा जान कर भी कुछ न बोला और अधिक घबड़ाने लगा। छोटा लड़का बोला "हायरे मरा! काका जी! हमें धन का स्थान तो दिखाते जाओ!" बुड्ढा अब बेहोश था कुछ बोल न सका और थोड़ी देर में शांत हो गया। लड़कों ने इतना ही सुना था कि खेत में धन गड़ा हुआ है। बुड्ढे की क्रिया कर्म करने के बाद वे खेतों को खोदने लगे। धन की कामना से उन्होंने सब आलस्य को भगा दिया और क्रम से एक २ करके एक छोटे खेत के सिवाय सब खेत खोद डाले परन्तु कहीं धन न मिला। जब धन न मिला तो उन्होंने निराश हो कर वर्षा ऋतु आने पर सब खेतों में अन्न बो दिया। खेत खोदे जाने के कारण अन्न बहुत पैदा हुआ और लड़के आनंद से दिन व्यतीत करने लगे। उनके हिसाब से तो खेत में से धन निकला ही नहीं था इसलिये दूसरे साल उन्होंने खेतों को और भी गहरा खोदा और धन न निकलने पर फिर उनमें बीज डाल दिया। इस साल प्रथम साल से भी अधिक अन्न उत्पन्न हुआ। तीसरी साल भी ऐसा ही किया। इस प्रकार अन्न और धन बढ़ने लगा। बुड्ढे की युक्ति से दोनों लड़के सुधर गये और श्रीमान् हो गये। यदि बुड्ढे ने युक्ति न करके कहा होता कि मेरे पास कुछ भी नहीं है तो लड़के न तो सुधरते और न श्रीमान् होते। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश युक्ति से पूर्ण है। कर्मयोग खेत का खोदना है। जब अंतःकरण रूप खेत निर्मल–मुलायम हो जाता है तब उपदेश रूप बीज पूर्ण रूप से जमते हैं और पाक भी विशेष होता है।

अर्जुन धर्म रूप धन की खोज में था। अधर्म होने से धर्म का नाश होना समझ कर युद्ध करने से रुकता था। परमानन्दरूप धन शरीर रूप खेत में गड़ा हुआ है। कर्मयोग रूप खुदाई करके उस धन की प्राप्ति होती है। जैसे किसान के लड़के 'खेत में धन गड़ा हुआ है, उसे खोद लेना' इतने ही उपदेश के अधिकारी थे इसी प्रकार मध्यम

मुमुक्षु होने के कारण अर्जुन कर्मयोग का अधिकारी था। धन किस प्रकार का है, यह वर्णन ज्ञान है और वह कर्मयोग में प्रेरित करने के लिये उपयोगी है इसलिये कर्मयोग के मुख-द्वार से ज्ञान का उपदेश ही अर्जुन को दिया गया था। अर्जुन निसंशय क्रम मार्ग से परम पद को प्राप्त हुआ है और जो कोई अर्जुन के समान अधिकारी होकर श्रीमद्भगवद्गीता के तत्व को धारण करता है वह उसी प्रकार परम पद को प्राप्त होता है। इतना ही नहीं, यदि कोई उत्तम अधिकारी हो तो संपूर्ण ज्ञानांश को सहज ही ग्रहण करके सद्योमुक्ति को भी प्राप्त हो सकता है और अधम अधिकारी भी गीता के समागम से उत्तम लोक को प्राप्त होता है। गीता को खांड़ का खिलौना समझो। उसमें बाहर भीतर खांड़ भरी हुई है। चार प्रकार के भक्तों में से किसी प्रकार का भक्त हो, योगी हो, ज्ञानी हो, सभी उससे लाभ को ही प्राप्त होते हैं।

(८) प्रश्नः—श्री कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर वैराट स्वरूप दिखलाया, क्या यह हाल के जमाने में का प्रचलित मेस्मिरेजम तो नहीं था? श्रीकृष्ण ने यह भी कहा है कि मेरी योग सामर्थ्य को देख, यदि मेस्मिरेजम नहीं तो किस प्रकार का योग था अथवा कुछ और ही ईश्वर शक्ति थी। इस प्रकार का चमत्कार वर्त्तमान समय में भी कोई किसी को दिखला सकता है या नहीं?

उत्तरः—वैराट दर्शन समष्टि स्थूल शरीर है। जैसे जीव की जाग्रत् की स्थूल सृष्टि होती है और स्थूल शरीराभिमानी विश्व होता है इसी प्रकार समष्टि ईश्वर की जाग्रत् का वैराट स्थूल शरीर है और उस शरीर का अभिमानी विश्वानर कहा जाता है सृष्टि के समग्र जाग्रत् का दृश्य वैराट है। जीव की तुच्छ दृष्टि इस वैराट को देखने में समर्थ नहीं है, किन्तु सूक्ष्म दिव्य दृष्टि जो प्रतिबंध रहित है, वह उसे देख सक्ती है। सूक्ष्म दृष्टि वाले को सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुये भी दृश्य स्थूल ही दीखता है। इस प्रकार की दिव्य दृष्टि संयम से प्राप्त होती है और जो योगेश्वर उसे प्राप्त कर लेता है वह देख सक्ता है, इस देखने को विश्व दर्शन कहते हैं। योगी, योगीराज, योगेन्द्र और योगेश्वर, ऐसे योगियों के चार भेद हैं। अपनी २ सामर्थ्य अनुसार चारों ही विश्व दर्शन करते हैं परन्तु विश्व दर्शन का यथार्थ रीति से देखना योगेश्वर का ही विषय है। योगेश्वर आप देख सकता है और अपने ऊपर भाव वाले अपने भक्त को दिखाने की सामर्थ्य रखता है।

योगेश्वर के सिवाय तीन प्रकार के योगी, पूर्ण प्रकृति का विजय न होने से जो देखते हैं वह छिन्न भिन्न और कल्पना संयुक्त होता है इसलिये हाल का प्रचलित मेस्मिरेजम ही अर्जुन का वैराट दर्शन नहीं था। मेस्मिरेजम योग ही नहीं है किन्तु योग की किंचित् कुस्थान में पड़ी हुई रज है इसलिये उससे जो कुछ झूंठ मूंठ, छिन्न भिन्न देखा जाय उसे वैराट नहीं कह सकते। योगेश्वर की दृष्टि अखिल ब्रह्मांड में प्रतिबन्ध रहित होती है, अखिल ब्रह्मांड उस के वश में होता है। ऐसे योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् के सामर्थ्य से प्राप्त हुई अर्जुन की दिव्य दृष्टि बहुत ही उच्च आशय की थी। उन की सामर्थ्य सूर्य के समान थी और मेस्मिरेजम का दृश्य उस के सामने छोटे, टूटे हुये तारे की सहज चमक के समान है। जिस प्रकार सामर्थ्य देने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण थे ऐसा ही उन की शक्ति का ग्रहण करने वाला उनका परमभक्त, सखा, तेजस्वी, शुद्ध दैवी अंश अर्जुन था। यह योगेश्वर का योग ऐसा नहीं था जैसी कि मेस्मिरेजम वाले की अध्यात्मिक शुद्ध बल रहित मेस्मिरेजम की क्रिया होती है, योगेश्वर की शक्ति ईश्वर ही की शक्ति है। श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने को ईश्वर होने का, अनादि तत्व होने का, और ब्रह्म होने का कथन किया ही है, इससे ही वे पूर्ण योगेश्वर थे। योगेश्वर सृष्टि की सब क्रियाओं को ईश्वर के

समान ही करसकाहै परन्तु सृष्टिके रचनाके आद्य कार्य और नियम में अन्तर करने की उसकी सामर्थ्य नहीं होती। इतने अंश में ही ईश्वर शक्ति से योगेश्वर की सामर्थ्य में न्यूनता है। अर्जुन ने जो कुछ देखा था वह केवल योगेश्वर की शक्ति ही नहीं थी परन्तु उस में ईश्वर शक्ति भी सम्मिलित थी। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप निर्गुण और निराकार होने से देखने का विषय नहीं है परन्तु अधिकार के अनुसार समग्र सृष्टि को एक में देखना भी ब्रह्म प्राप्ति में साधन रूप है क्योंकि व्यक्ति रूप क्षुद्र अहंकार का यह दर्शन नाश करने वाला है। उपासना में वैराट दर्शन उपयोगी है, ऐसा समझ कर और अर्जुन को योग्य अधिकारी देख कर भक्त पर महान् कृपा करने के लिये और उपदेश की पूर्णता के लिये दिखलाया गया था। जो कोई योगेश्वर वर्तमान में भी इस प्रकारका दृश्य दिखाना चाहे तो कई अंश में दिखला सकता है परन्तु अर्जुन के देखने में जो ईश्वर शक्ति सम्मिलित थी वह न्यून रहेगी और कितने भी उच्च प्रकार के मेस्मिरेजम द्वारा ऐसा वैराट दर्शन नहीं होसक्ता। यदि कुछ २ हो भी तो वह शुद्ध वैराट नहीं है इसलिये अर्जुन ने जो वैराट देखा था वह मेस्मिरेजम के समान तुच्छता वाला नहीं था। ईश्वरावतार स्वयं ब्रह्म श्रीकृष्ण के अंतःकरण की जो शुद्धि थी ऐसी शुद्धता रहित सामर्थ्य से देखा हुआ वैराट क्षुद्र कल्पना का चित्र है और यह अर्जुन वाला वैराट सृष्टिके महान् समष्टि भावका पूर्ण चित्रथा।

---*---

तत्त्वमसि।

ऋक्, यजुः साम और अथर्व चार वेद हैं। उन में कई एक महा वाक्य हैं परन्तु एक २ वेद का मुख्य एक २ महावाक्य है। चारों वेदों में साम वेद की विशेषता है क्योंकि वह सब से अन्तिम है और उसमें ज्ञान का भाव भी विशेष है अथर्व वेद तीनों का सार रूप और चौथा है परंतु विशेषता साम वेद की ही है। साम वेद का महावाक्य तत्त्वमसि है। गुरु शिष्य को योग्य देख कर अन्त में तत्त्वमसि का उपदेश करते हैं। उस उपदेश से ही शिष्य को ब्रह्म का अपरोक्ष बोध होता है। जो वाक्य जीव ब्रह्म की अभेदता का बोधक हो वह महा वाक्य है। यद्यपि चारों वेदों के चार महावाक्य हैं वे सभी जीव ब्रह्म की अभेदता के बोधक हैं तो भी जैसा बोध तत्त्वमसि से स्पष्ट युक्ति पूर्वक होता है ऐसा दूसरों से नहीं होता इसलिये महावाक्यों में तत्त्वमसि प्रसिद्ध है। तत्त्वमसि का सामान्य अर्थ 'वह तू है' ऐसा होता है। वह ब्रह्म के लिये और तू जीव के लिए है। भावार्थ यह हुआ कि जो ईश्वर है सो ही तू जीव है। ईश्वर और जीव भिन्न २ नहीं हैं। यदि सामान्य लोगों के सामने इस प्रकार कहा जाय तो वे लोग इस प्रकार कहने वाले को नास्तिक समझेंगे और बात भी यह ही है कि अनधिकारियों से इस प्रकार कहना नास्तिक भाव का उत्पन्न करने वाला ही है इसलिये इस महावाक्य का उपदेश गुरु समय पा कर योग्य शिष्य को ही करते हैं अन्यथा उन का उपदेश हानि रूप होता है। जिस में विशेष ताकत होती है उस में हानि भी विशेष होती है, ऐसा नियम है इसलिये महान् ताकत वाले तत्त्वमसि महावाक्य के उपदेश को जो वाचकता में न डाल दे इस प्रकार के शिष्य को उसका उपदेश दिया जाता है। तत्त्वमसि महावाक्य आत्म ज्ञान का रहस्य रूप, वेद का सार रूप, वेदांत का तत्व रूप, अनेक जन्म जन्मांतर की आपत्तियों को निवारण करने वाला, अविद्या जाल से मुक्त करने वाला और स्वरूप की प्राप्ति रूप है। तत्त्वमसि के रहस्य को गुप्त रखने की आवश्यकता है इसीलिये जैसे और वाक्यों का अर्थ सीधा अर्थ करने से समझ लिया जाता है, ऐसे सीधे अर्थ से तत्त्वमसि का अर्थ समझने में नहीं आता क्योंकि उस में लक्षणा द्वारा लक्ष्य पहुंचाने का है। ऐसे

लक्ष पहुंचाने वाले उत्तम अधिकारी का ही यह विषय है, सामान्य मनुष्य का नहीं है। सामान्य मनुष्य तत्त्वमसि सुन कर उसके रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकता इसलिये उससे इस गुप्त रहस्य को गुप्त रखने के लिये तत्त्वमसि की योजना की गई है।

महावाक्य समझने के लिये बुद्धि की तीव्रता और निर्मलता दोनों की आवश्यकता है क्योंकि निर्मलता बिना ग्रहण नहीं किया जायगा और तीव्रता बिना समझा नहीं जायगा। यदि किसी की बुद्धि तीव्र होगी और निर्मल न होगी तो वह समझने में समर्थ होगा परन्तु ग्रहण नहीं कर सकेगा और जिसकी बुद्धि तीव्रता रहित निर्मल होगी तो वह भक्ति के जोर से ग्रहण करने में काट छांट किये बिना भी कुछ समझ कर ग्रहण कर सकेगा। निर्मलता वाला ब्रह्मनिष्ठ होता है और तीव्रता वाला विद्वरिष्ठ होता है। विद्वत्ता रहित ब्रह्मनिष्ठ स्व कल्याण में समर्थ होता है परन्तु उत्तम अधिकारी के सिवाय औरों के कल्याण कराने में समर्थ नहीं होता। ब्रह्मनिष्ठता रहित विद्वरिष्ट वाचक है। वह अपना कल्याण नहीं कर सकता और दूसरों के कल्याण कराने में भी समर्थ नहीं होता। जब तत्त्वमसि महावाक्य का श्रवण युक्तिपूर्वक लक्ष पहुंचाते हुये किया जाता है तबही सार्थक होता है। यह महावाक्य विद्या है। महा वाक्य विद्या, अधिकारी, संयोग, वियोग, प्रसंग परापूर्व ज्ञान, निश्चय, भक्ति, अपेक्षा आदिक सहित ही प्राप्त होती है। इनके बिना महावाक्य विद्या सिद्ध नहीं होती—उसका यथार्थ फल नहीं होता।

दो ज्योतिषी काका भतीजे धंधे के अर्थ अपने ग्राम से उज्जैन नगरी में आ रहे थे। काका ज्योतिष पढ़ा हुआ तो था परन्तु गुना नहीं था, आस पास के संयोगों का मिलान करके ज्योतिष का फलादेश नहीं कहता था, ग्रंथ में पढ़े हुये के अनुसार एक बात देख कर ही कह देता था इसलिये उसका कहा हुआ बहुधा ठीक नहीं बैठता था। भतीजा पढ़ा हुआ होकर सब संयोगों के साथ में विद्या का उपयोग करता था इसलिये उसका कहा हुआ फलादेश मिलजाता था। उसका यह निश्चय था कि आस पास के संयोग का लक्ष रक्खे बिना ज्योतिष विद्या फलदायक नहीं होती।

जब दोनों शहर में दाखिल होने को थे तब काका बोल उठा "भतीजे! आज हमको खीर का भोजन प्राप्त होगा क्योंकि सामने इमली के वृक्ष की डाली पर बैठे हुये चाषपक्षी का दर्शन होरहा है। उसे बांई तरफ रखने के लिये इमली की दहनी तरफ घूमकर हमें चलना चाहिये।" दोनों घूमकर चले भतीजा बोला "काका जी! तुम कहते हो सो सच है, हमको खीर का भोजन अवश्य मिलेगा परंतु बहुत भटकने के बाद मिलेगा और खीर भी खट्टी होगी!" काका क्रोधित होकर बोला "तू अपनी आदत नहीं छोड़ता! मेरे भविष्य में खोट ही निकाल देता है! देखा जायगा, क्या लक्ष होता है।" दोनों नदी के किनारे पहुंचे। बड़ी २ पगड़ियां और उनमें टीपन लगा हुआ होने से देखनेवालों को सहज ही में मालूम हो जाता था कि ये कोई ज्योतिषी हैं। एक ब्राह्मणी नदी से जल का मटका भर कर आरही थी। वह इन ज्योतिषियों को आता हुआ देखकर खड़ी हो गई और कहने लगी "महाराज! मेरे एक प्रश्न का उत्तर दीजिये, दश मास हुये मेरे पति बाहर गये हुये हैं, उनके आने का पत्र भी आ चुका है परन्तु उन्होंने अपने आने का जो दिन लिखा था उसे बीते हुये आठ दिन हो गये, वे कब आवेंगे? आज के उत्सव के दिन आवेंगे या नहीं?" काका को उसका कहा हुआ 'नहीं' शब्द अच्छा न लगा, क्या उत्तर देना चाहिये, यह विचारने लगा। इतने ही में ब्राह्मणी के शिर के ऊपर का मटका टूट गया, किनार उसके हाथ में

रह गई और फूटे हुये मटके का जल बहकर नदी में मिल गया। ब्राह्मणी मटका फूटने से पीली पड़गई परन्तु उत्तर के लिये खड़ी रही। काका को प्रश्न अच्छा न लगा, उसका उत्तर इसने शुभ न समझा और ग्राम में प्रथम ही अनिष्ट भविष्य कहना उसे ठीक न लगा तो भी वह बोला "हाल में तेरे पति के आने में विघ्न पड़गया है।" ज्योतिषी का ऐसा वचन सुनकर ब्राह्मणी स्तब्ध हो गई और निराश के उत्तर से उसके नेत्रों में जल भर आया। भतीजा ऐसा देखकर बोला "बहिन! तू दुखी क्यों होती है? मैं कहता हूं कि तेरा पति आज ही परदेश से घर पर लौट आवेगा और बहुत धन भी लावेगा। यद्यपि कष्ट पाकर कुछ देर से आवेगा परन्तु रात्रि को तुम दोनों आनन्द से अवश्य मिलोगे!" ब्राह्मणी बोली "भाई! तेरे मुख में मिसरी! जो आज मेरा पति देर में भी आवेगा तो मैं तुम दोनों को खीर पूरी खिलाऊंगी। तुम कहां टिके हो सो बताओ, मैं तुम्हें वहां से भोजनों के लिये बुला ले जाऊंगी।" भतीजे ने सामने की एक धर्मशाला बतादी।

ब्राह्मणी घर पर पहुंची और पति के आने की उमंग में बाजार से दूध आदिक सामान लेकर, खीर पूरी का भोजन बनाकर पति के आने की राह देखने लगी। काका को भतीजे का बीच में बोला हुआ शब्द अच्छा न लगा। ब्राह्मणी के जाने के बाद वह कुछ कुढ़ा और बोला "भतीजे! बैठे रहने से कुछ काम नहीं चलेगा, तू ग्राम में जा और किसी के यहां का न्योता ले आ, अथवा कहीं से सीधा ही ले आ" भतीजा बोला "काका जी! मैं जाने को तैयार हूं परन्तु मेरा निश्चय है कि कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाय, शाम तक भोजन मिलना नहीं है, शाम को मेरे भविष्य के कथन के अनुसार पनिहारिन ब्राह्मणी के यहां ही हमारा भोजन होगा!" काका यह बात सुनकर क्रोधित होने लगा। उसे क्रोधित देखकर भतीजा वहां से चला और मोहल्ला में घूमने लगा परन्तु उसे कुछ न मिला और अन्त में घूम घाम कर खाली हाथों ही स्थान पर लौट आया। उसे खाली हाथ आया हुआ देखकर काका बोला "अन्त में तू ने अपने मन का ही काम किया! बूढ़े काका को भूखा रख कर तू अपना ही पेट भर आया! इतनी देर तुझे कहां हुई?" भतीजा नम्रता पूर्वक कहने लगा "काका जी! शांत होकर मेरी बात सुनिये, आपको छोड़ कर मैं भोजन कर आऊं, भला! यह कैसे बन सक्ता है। आप जानते ही हैं कि अब कलियुग आगया है, लोगों में श्रद्धा नहीं रही है, थोड़ी बहुत श्रद्धा है तो स्त्रियों में ही है, वे सब जल भरने और देव दर्शन को चली गई हैं। मैं कहां २ पर घूम कर आया हूं सो सुनोः—

प्रथम मैं त्रिपाटी मोहल्ले में गया, वहां जाकर मैंने न्योते की याचना की, किसी ने मेरी बात न सुनी, सब चुप होगये, कोई बोला 'आगे जाओ'। वहां से मैं देवपाड़े में गया, वहां भी ऐसा ही हुआ। फिर मैंने पंड्याशेरी, व्यास मोहल्ले, और मिश्र मंडी में चक्कर लगाया। इन सब स्थानों पर मुझपर धक्के ही पड़े। फिर मैं यह सोच कर कि कोई सती सीधा ही दिलादे, वैश्य मोहल्ले में गया, वहां किसी ने सीधा भी न दिया कि रसोई बन जाती, परन्तु मेरा सब परिश्रम व्यर्थ गया! शाम तक फिरते २ थक गया, अन्नदेवता प्रसन्न न हुये!"

सायंकाल को पनिहारी ब्राह्मणी धर्मशाला में गई और कहने लगी "महराज! तुम्हारा कल्याण हो। मेरे पति इसी समय परदेश से आये हैं। यहां से जाकर ही मैंने भोजन तैयार कर रक्खा है। पति की राह देखते २ इतनी देर होगई कि रसोई भी ठण्डी होगई है। वे दो दिन के भूखे हैं। आप चलिये और भोजन कीजिये। आपके भोजन करने के बाद ही वे भोजन करेंगे। महाराज! आपने कहा था वह ही सच हुआ। कुछ रत्न लेकर वे आ रहे थे। मार्ग में

लुटेरे मिल गये। उनको देख कर वे एक वृक्ष के कोटर में घुस बैठे। जंगल में रात्रि पड़ गई, वहां ही पड़ा रहना पड़ा। दूसरे दिन चलने के समय लुटेरे फिर दिखाई दिये इसलिये फिर छुप रहे। दो दिन से कुछ खाया नहीं है परन्तु कष्ट भोगकर धन सहित आ पहुंचे हैं। चलिये, भोजनों के लिए जल्दी चलिये।" दोनों भोजनों के लिये गये। वहां जाकर भोजन किया तो मालूम हुआ कि खीर खट्टी हो गई है। इस प्रकार दोनों प्रश्नों का भतीजे का दिया हुआ उत्तर ठीक २ मिला।

काका ने मात्र ऊपर के भाव से ज्योतिष का कथन किया था और भतीजे ने संयोग के मिलान सहित लक्ष पहुंचा कर फल कहा था। इमली पर चाष दर्शन से खीर और इमली का गुण खट्टा बताया था, घूम के जाने के भाव से भटक कर देरी से भोजन मिलने का कहा था। इसी प्रकार जल का मटका फूटने से आपत्ति का लक्ष किया था और अखंडित किनार हाथ में रहने से नुकसान रहित, ठीकरियां बहुत होने से धन सहित और जल में जल मिलने से देरी से स्त्री पुरुष के मिलान का लक्ष किया था। जैसे संयोगों के साथ लक्ष किये बिना ज्योतिष विद्या निष्फल होती है। इसी प्रकार तत्त्वमसि महा वाक्य में भी योग्य गुरु, अधिकारी शिष्य, उपदेश का प्रसंग, उपाधि का वर्णन, उपाधि का त्याग, चैतन्य का लक्ष और चैतन्य का ग्रहण इन सब का विचार कर के जीव ब्रह्म की हुई एकता ही मोक्ष देने वाली होती है तत्त्वमसि महावाक्य छोटा होते हुये भी भावार्थ से भरा हुआ और सब शास्त्रों का सारांश रूप है। उसे ग्रहण करने की जिसमें ठीक ठीक शक्ति होती है वह ही उससे लाभ उठा सकता है। भतीजे के समान अर्थ करने वाले को ही उसका यथार्थ फल प्राप्त होता है और काका के समान तत्त्वमसि वह तू है ऐसा शब्दार्थ करनेसे मोक्षकी सिद्धि नहीं होती।

आत्मकृपा, ईश्वर कृपा, और गुरु कृपा जब तीनों सम्मिलित होती हैं तब तत्त्वमसि महावाक्य से बोध होता है। जब दयालु गुरु शिष्य को योग्य समझ कर करुणा दृष्टि करके महावाक्य का उपदेश करते हैं तब आत्मा का जैसा अपरोक्ष ज्ञान होता है वैसा अपनी बुद्धि से किये हुये विचार से नहीं होता। श्रुति का भी यह ही कहना है कि गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्ति होती है इसलिये मुमुक्षुओं को गुरु से ही महावाक्य का उपदेश लेना, चाहिए। जिसने पंचकोशादिक का विचार करके विवेक किया है और जिसको सब स्थान पर आत्मा परोक्ष भासता है उसको आत्मा साक्षात्कार के लिये महावाक्य का ही विचार कर्तव्य है, इसके बिना आत्म साक्षात्कार नहीं होता। बहुत करके लौकिक और वैदिक वाक्यों में जो विधि वाक्य हैं, जो अन्य प्रमाण से अप्राप्त अर्थ को प्राप्त कराने वाले हैं। जैसे "स्वर्ग की इच्छा वाले को अग्निहोत्र से यजन करना, इत्यादि वाक्य अप्राप्त स्वर्ग की प्राप्ति के लिये प्रवृत्ति कराने वाले हैं परन्तु नित्य सिद्ध ब्रह्म को प्रकाश करने वाले केवल तत्त्वमसि आदिक महावाक्य हैं। विधि वाक्य ही प्रवृत्ति का हेतु है, ऐसा नहीं है किंतु इच्छा की हुई वस्तु का ज्ञान भी प्रवृत्ति का कारण है जैसे 'राजा है' ऐसा जान कर मनुष्य राजा के दर्शन करने को प्रवर्त होता है। यह विधि वाक्य नहीं है तो भी प्रवृत्ति कराता है परन्तु महावाक्य तो विधि निषेध, प्रवृति अप्रवृत्ति से रहित आत्मबोध का प्रकाशक है इस लिए योग्य अधिकारी को तत्त्वमसि महावाक्य को गुरु द्वारा सुनना चाहिये।

शंकाः—आत्मा को तो इन्द्रिय, मन और बुद्धि का अविषय शास्त्रों में कहा है। ऊपर कहा है कि तत्त्वमसि महावाक्य के सुनने से आत्मा का बोध होता है। जब सुनने से जाना जाता है— ज्ञान होता है तब आत्मा इन्द्रिय आदिका अविषय न रहा। यदि वह इन्द्रियादिक का अविषय ही है तो श्रवण किया हुआ बोध-ज्ञान आत्मा का बोध न हुआ किंतु किसी मिथ्या वस्तु ही का हुआ।

समाधानः-महावाक्य के श्रवण से बोध रूप फल की नई उत्पत्ति नहीं होती किंतु श्रवण अज्ञान का निवर्तक है, यह ही श्रवण की सामर्थ्य है। अज्ञान की निवृत्ति होकर जो बोध रहा वह आत्म बोध है इसलिये तेरे कहे अनुसार श्रवण इन्द्रिय ज्ञनोत्पादक नहीं है इसलिये इन्द्रियादिक का अविषय होते हुए भी आत्मा का बोध होता है और तूने जो कहा कि किसी मिथ्या वस्तु का बोध होता होगा, यह बात भी नहीं है क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति के साथ समग्र मिथ्यापने की निवृत्ति होजाती है, आत्मा ही शेष रह जाता है तब आत्मा जाना जाता है इसलिये बोध मिथ्या नहीं है और सुनने से होने पर भी सुनने का विषय रूप नहीं है किंतु अबोध की निवृत्ति का विषय रूप ही है क्योंकि बोध स्वतः सिद्ध है जैसे किसी एक पुरुष ने दूसरे से कहा कि अमुक स्थान पर पत्थर के नीचे धन है। पत्थर उठा लेने से धन की प्राप्ति होगी। अब दूसरे पुरुष ने 'पत्थर को उठा लेना' यह ही श्रवण किया है। पत्थर से ढका हुआ धन देखने में नहीं आता था जब पत्थर उठा लिया जाता है, तब धन दीख पड़ता है, और लेने वाला जब धन को उठा लेता है तब धन मिला ऐसा कहा जाता है इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य अज्ञान के पत्थर को हटाने वाला है। अज्ञान रूप पत्थर हटने से आत्मा रूप धन प्रकाशित होता है। जैसे मनुष्य को पत्थर से ढके हुए धन को लेने की आवश्यकता पड़ी थी इस प्रकार आत्म धन को उठा लेने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आत्मा स्वयं ही है। इस युक्ति से ही महावाक्य आत्मबोध का जनक कहने में आता है। तत्त्वमसि महावाक्य के पदों को समझना चाहिये, उनके भिन्न २ अर्थ भी समझने चाहिये और अर्थ में वाक्यार्थ और शब्दार्थ का बोध करना चाहिये। केवल शब्दार्थ जानने से बोध नहीं होता किंतु गुरु उपदेशानुसार भाग त्याग विधि से शोधन करके ग्रहण करना आवश्यक है।

एक श्रीमान् पुरुष को विचार हुआ कि मेरे पास धन बहुत है, इसमें से कुछ धन गुप्त रूप से छुपा रक्खूं कि किसी समय काम आवे। यदि मेरे काम में न आया तो मेरे वारिसों के काम में आ जायगा। ऐसा विचार कर उसने परदेश में दस मन सुवर्ण खरीदवा कर एक संदूक बनवाया और उसके ऊपर लोहे का रंग करवाया और परदेश से मंगवा कर उसे अपने भंडार की कोठरी में गड़वा दिया। भंडार की कोठरी के एक कोने पर एक ताम्रपत्र लिखकर दीवार पर गड़वा दिया। पश्चात् वह साहूकार बद्रीनारायण की यात्रा को चला गया। पूर्व समय में मार्ग बहुत विकट था और वहां का वायु भी वनस्पतियों के विकार वाला था। जो मनुष्य यात्रा करने जाता था बहुत करके लौट कर नहीं आता था। जब कोई यात्रा करने जाता था तब अपने घर का सब प्रबंध करके जाया करता था। इसी प्रकार साहूकार भी धन, जागीर, रत्न आदिक सब लड़कों को सुपुर्द करके यात्रा को गया और यात्रा से लौटते ही उसका मृत्यु होगया। लड़के बड़े २ थे उन्होंने सब काम काज सँभाल लिया और कई वर्ष तक उनका काम बहुत अच्छी प्रकार चलता रहा। आप जानते हैं सब दिन एक समान नहीं रहते। लड़कों को नुकसान पर नुकसान होने लगा, घर के मनुष्य भी मरने लगे, जमीन, जागीर भी बेचनी पड़ी और रत्न आदिक भी क्रम २ से सब निकल गये। एक लड़का रह गया, पास कुछ रहा नहीं इसलिये उसे और लोगों से कर्ज लेना पड़ा, कर्ज चुक न सका, दिन पर दिन बढ़ता गया और अन्त में तकाजा होने लगा। लड़के ने विचार किया कि हमारे यहां तो बहुत धन था, बाप दादा करोड़ाधिपति कहलाते थे, हमारी दुकान बहुत प्राचीन थी, संभव है कि किसी स्थान पर धन गड़ा हुआ हो। इस समय लड़के के पास एक पुराना मकान बचा था, वह भी रहन रक्खा हुआ था परन्तु था उसी के कब्जे में। भंडार की

कोठरी कुछ अंधेरे वाली थी। लड़का बत्ती जलाकर उसके चारों तरफ देखने लगा तो दीवार में ताम्र पत्र लगा हुआ देखा। राज को बुलवा कर दीवार को आस पास से खुरचवा कर ताम्र पत्र को निकलवाया। उस में इस प्रकार लिखा था। "यह ताम्र पत्र गाढ़े हुये धन की सूचना देने का है जिस स्थान में यह ताम्र पत्र है, वहां मध्य स्थान में पांच हाथ नीचे जमीन में एक सन्दूक गड़ा हुआ है, सन्दूक में दस मन सुवर्ण है। जब कोई भारी आवश्यकता हो तो यह धन ले लेना संवत् + +" लड़का यह पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुआ और यह सोच कर कि मेरा सब कर्जा चुक जायगा और दुकान भी चालू हो जायगी, मजूरों को बुलवाकर भंडार की कोठरी खुदवा डाली। पांच हाथ नीचे एक सन्दूक मिला। सन्दूक के ऊपर ही सन्दूक की चाबी बंधी हुई थी। चाबी लेकर सन्दूक खोला गया। हाय! आश्चर्य! सन्दूक खाली था! संदूक में कुछ भी न था! लड़का बहुत दुखी हो कर विचारने लगा "यह ताम्र पत्र झूंठा नहीं हो सकता! अक्षर स्पष्ट पढ़े जाते हैं, शब्दार्थ भी ठीक २ है! तब सुवर्ण गया कहां? क्या गाड़ते समय तो किसी ने चुरा न लिया? सम्वत् देखने से मालूम होता है कि यह पिता के यात्रा जाने के प्रथम ही गाड़ा गया है! अच्छा बहीखाता तो देखूं, उस में क्या लिखा है?" यह विचार कर उसने बहीखाता निकाल कर देखा तो कलकत्ते से दस मन सुवर्ण खरीदना भी मिल गया। बात पक्की हुई परन्तु सुवर्ण का कहीं पता नहीं! लड़के ने अपने जान पहिचान वालों को ताम्र पत्र दिखलाया, खाली सन्दूक भी दिखलाया और बही में लिखी रकम भी दिखलाई। सब आश्चर्य में पड़ गये परन्तु मामला क्या है, धन कहां गया, यह किसी की समझ में नहीं आता था। कई दिन तक लड़का पूंछ तांछ करता ही रहा परन्तु भेद न खुला! एक दिन साहूकार का एक पुराना मित्र जो विदेश में रहता था किसी कारण से उसी शहर में आया और एक दिन अपने मित्र के लड़के से मिलने आया। लड़के ने धन्धा, रोजगार और सब मनुष्यों की हानि का वर्णन किया, अन्त में ताम्र पत्र दिखलाया और बही भी सामने रख दी। वह वृद्ध पुरुष बहुत बुद्धिशाली था, उसे निश्चय हो गया कि बात सब ठीक है और सुवर्ण है भी। उसने लड़के से कहा कि मुझे सन्दूक दिखलाओ। लड़के ने सन्दूक वृद्ध को दिखला दी। वृद्ध ने एक छैनी और हतौड़ी मंगवा कर सन्दूक को एक तरफ से काट कर देखा और कहा लो, सन्दूक में सुवर्ण नहीं है, सन्दूक ही दस मन सुवर्ण का बना हुआ है। साफ तो लिखा है कि सन्दूक में दस मन सुवर्ण है, सन्दूक में दस मन सुवर्ण रक्खा है, ऐसा तो नहीं लिखा! लड़का प्रसन्न हो गया और वृद्ध की कृपा से उसका दरिद्र मिट गया।

इसी प्रकार महावाक्य के अर्थ में भी युक्ति लगी हुई है। जैसे सन्दूक की नाम रूप उपाधि को त्याग कर वस्तु रूप सुवर्ण ही था, नाम रूप को देखते हुये सुवर्ण का पता नहीं था इसी प्रकार तत्त्वं के नाम रूप की उपाधियों को छोड़ कर वस्तु रूप एक सत् आत्मा को सद्गुरु दिखलाता है। ताम्र पत्र के शब्द स्पष्ट होने पर भी किसी की समझ में न आये इसी प्रकार महावाक्य के शब्द स्पष्ट होते हुये भी अपने आप समझने के योग्य नहीं हैं।

तत्त्वमसि महावाक्य में तत्, त्वं, और असि तीन पद हैं। उन का विवेचन इस प्रकार है:—

उपनिषद के वाक्य के अनुसार जो सम्पूर्ण जगत् का उपादान कारण है, सब प्रकार के सामर्थ्य से पूर्ण है, सर्व शक्तिमान् है, सर्वज्ञ है, परोक्ष है, (ईश्वर जीव का प्रत्यक्ष विषय न होने से परोक्ष है,) स्वतन्त्र है, व्यापक है, एक है, और माया जिसके स्वाधीन है, ऐसा माया का पति है, इस प्रकार के धर्म वाला ईश्वर है। अव्याकृत माया ईश्वर का देश है। उत्पत्ति, स्थिति और लय ईश्वर के काल हैं। माया के तीनों गुण ईश्वर की वस्तु हैं। विराट, हिरण्यगर्भ, और अव्याकृत ईश्वर के शरीर हैं और इन शरीरों के अभिमानी वैश्वानर

सूत्रात्मा और अन्तर्यामी हैं। एक से बहुत होऊं, ऐसी ईक्षणा से लेकर जीव में प्रवेश होने तक ईश्वर का कार्य है। इन सब सहित माया और उस में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास और उन का अधिष्ठान ये तीनों मिल कर ईश्वर है, यह तत् पद का वाच्य अर्थ है। ईश्वर शुद्ध माया सहित है। शुद्ध माया ईश्वर की उपाधि है। ऐसी उपाधि सहित जो चेतन्य है, उसे ईश्वर का वाच्य अर्थ समझो। जो अर्थ शब्दों के अनुसार होता है उसे वाच्य अर्थ कहते हैं। जब वाच्य अर्थ में विरोध दीखता है तब लक्षणा करनी पड़ती है। माया और चिदाभास का त्याग करके शेष रहा जो अधिष्ठान, ईश्वर, साक्षी, शुद्ध ब्रह्म यह तत् पद का लक्ष्यार्थ है। विचार पूर्वक शोधन करके किया हुआ अर्थ लक्ष्यार्थ होता है जो लक्षणामें समझा चुके हैं। ब्रह्म की सत्यताका संसर्ग ईश्वर में अध्यस्त है इसलिये ईश्वर सत्य प्रतीत होता है। ईश्वर और उसका कारणपना ब्रह्म में अध्यस्त है इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण मालूम होता है। ऐसा अविवेक से होता है।

कर्त्ता भोक्ता जीव, कर्म के आधीन, असमर्थ है, अल्प शक्ति वाला है, अल्पज्ञ है, (अविद्या मोहित होने से बंध मोक्ष वाला) प्रत्यक्ष है। अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नहीं है इसलिए प्रत्यक्ष है। ईश्वर का स्वरूप ईश्वर को प्रत्यक्ष है, परन्तु वह जीव को प्रत्यक्ष न होने से परोक्ष कहा है। जीव टुकड़ा रूप होने से परिच्छिन्न है, नाना-बहुत है और अविद्या वाला है ये जीव के धर्म हैं। चक्षु, कंठ और हृदय जीव के देश हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जीव के काल हैं स्थूल सूक्ष्म भोग जीव की वस्तु है. स्थूल, सूक्ष्म और कारण जीव के शरीर हैं। विश्व, तेजस और प्राज्ञ उनके अभिमानी हैं। जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्य्यन्त जीव का कार्य है और अविद्या उस की उपाधि है। इन सब सहित अविद्या और उस में प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास और उसका अधिष्ठान कूटस्थ ये सब मिलकर जीव कहलाता है। यह त्वं पद का वाच्य अर्थ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का अधिष्ठान, जीव, साक्षी, कूटस्थ, आत्मा यह त्वं पद का लक्ष्यार्थ है। कूटस्थ की सत्यता का संसर्ग (तादात्म्य) जीव में अध्यस्त है इसलिये जीव मिथ्या प्रतीत नहीं होता और जीव उसके कर्तापने आदिक धर्म स्वस्वरूप कूटस्थमें अध्यस्त हैं इसलिये कूटस्थ अकर्ता, अभोक्ता मालूम नहीं होता। ऐसा अविवेक से होता है।

तत्त्वं पद के अर्थ का कोष्टक।

	तत्-ईश्वर	त्वं-जीव
धर्म	समर्थपना	असमर्थपना
	सर्वशक्ति	अल्प शक्ति
	सर्वज्ञ	अल्पज्ञ
	परोक्ष	प्रत्यक्ष
	स्वतंत्र	परतंत्र
	व्यापक	परिच्छिन्न
	एकपना	नानापना
	माया	अविद्या
देश	अव्याकृत माया	चक्षु, कंठ, हृदय
काल	उत्पत्ति, स्थिति, लय	जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति
वस्तु	माया के तीन गुण	स्थूल सूक्ष्म भोग
शरीर	विराट, हिरण्यगर्भ अव्याकृत	स्थूल, सूक्ष्म, कारण
अभिमानी	वैश्वानर, सूत्रात्मा और अन्तरयामी	विश्व, तेजस और प्राज्ञ
कार्य	एक से बहुत होऊं यहां से लेकर जीव में प्रवेश होने तक	जाग्रत् से लेकर मोक्ष पर्यन्त
स्वरूप	माया आभास और चेतन	अविद्या, आभास और चेतन

इस प्रकार दोनों का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ है। वाच्यार्थ से तत् पद और त्वं पद की एकता नहीं हो सकती क्योंकि ये दोनों ही एक दूसरे से विरुद्ध हैं किंतु जो उनके लक्ष्यार्थ को लिया जाता तो असि पद 'है' में उन दोनों की एकता हो सकती है । वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों प्रकार के अर्थों में से लक्ष्यार्थ ही एकता का हेतु हो सकता है क्योंकि दोनों का लक्ष्यार्थ शुद्ध स्वरूप समान एक ही है । तत् पद के लक्ष्यार्थ ईश्वर चेतन्य, साक्षी और त्वं पद के लक्ष्यार्थ आत्म (कूटस्थ)में विरुद्धता नहीं है क्योंकि जीव में कर्ता, भोक्तापना,सुख दुख आदिक की प्रतीति केवल अविद्या कल्पित अंतःकरण आदि उपाधियों के अध्यास से होती है, जीव का शुद्ध स्वरूप शुद्ध सच्चिदानन्द है, कर्ता भोक्ता आदि धर्म अंतःकरण के हैं और जन्म मरणादि धर्म देह के हैं, लक्ष्य स्वरूप आत्मा में इन सबकी गंध भी नहीं है। इसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय की क्रिया माया की उपाधि करके ही ईश्वर की हैं। ईश्वर का वास्तविक स्वरूप तो शुद्ध, अद्वितीय, पूर्ण सच्चिदानन्द रूप लक्ष्य है। उपाधि भेद के विचार किये बिना केवल वाच्यार्थ में जीव और ईश्वर का भेद प्रतीत होता है । भाग त्याग लक्षणा से उपाधि अंश का त्याग करके चेतन में दोनों की एकता है ।

घट और मठ छोटी और बड़ी आकृति वाले हैं। मध्य में दोनों ही अवकाश वाले हैं । दोनों के मध्य का अवकाश घटाकाश और मठाकाश कहलाता है। घटाकाश और मठाकाश उपाधि की दृष्टि से हैं । यदि उपाधि दृष्टिको त्याग कर आकाश को ग्रहण किया जाय तो दोनों के आकाश की एकता है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधियों को त्याग कर चेतन एक ही है । जैसे किसी ने सकोरे में दीपक जलाया और दूसरे ने लालटेन में जलाया। सकोरा और लालटेन दोनों ही दीपक की उपाधि हैं । दोनों उपाधियों का त्याग करके दीपक को ग्रहण किया जाय तो दोनों की एकता है। इसी प्रकार जीव और ईश्वर की उपाधियों का त्याग करके एकता है। ऐसे ही राजा और कहार उपाधिको छोड़कर मनुष्यत्व में एक हैं । नदी के जल और लोटे के जल में नदी और लोटे की उपाधियों को छोड़ कर एकता है। इसी प्रकार जीव ईश्वर की उपाधियों का त्याग करके चेतन में एकता को समझना चाहिये और शुद्ध चेतन ही अपने स्वरूप को निरधारित करना चाहिये। यह ही- तत्त्वमसि महावाक्य की भाग त्याग लक्षणा से प्राप्त हुआ बोध निश्चयता से कैवल्य पद की प्राप्ति है ।

(अपूर्ण)

---:*:---

❋ मणि रत्नमाला ❋

उपजाति वृत्तम् ।

विद्या हि का ब्रह्म गति प्रदा या
बोधो हि को यस्तु विमुक्ति हेतुः
को लाभ आत्मावगमो हि यो वै
जितं जगत् केन मनोहि येन ॥११॥

अर्थः-प्रश्नः-विद्या क्या है ? उत्तरः-जो ब्रह्म गति को देती है, वह विद्या है । प्रश्नः-बोध क्या है ? उत्तरः-जिससे मुक्ति प्राप्त होती है, वह । प्रश्नः-लाभ क्या है ? उत्तरः-आत्म प्राप्ति लाभ है । प्रश्नः—जगत् किसने जीता है ? उत्तरः—जिसने मन को जीता है,उसने जगत् को जीता है।

भाषा छुप्पय ।

विद्या क्या कहलाय ? पाय जिसको नर सोहै,
ब्रह्म प्राप्ति हो इष्ट, श्रेष्ठ विद्या जग सोहै,
किसको कहते बोध, शांति अविचल का दाता,
जिससे होवे मुक्ति, बोध सम्यक् कहलाता,
सर्व श्रेष्ठ क्या लाभ है ? आत्म लाभ उत्तम महा,
जीता किसने है जगत् ? मन जित जग जित है कहा ११

विवेचन।

जिस विद्या से ब्रह्म की प्राप्त हो उसे ही सर्व श्रेष्ठ विद्या कहते हैं, इसके सिवाय जितनी और विद्यायें हैं वे सब अविद्या स्वरूप हैं। योग्य शिष्य को तत्त्वमसि आदि महावाक्यों द्वारा जो उपदेश मिलता है उसका नाम ब्रह्म विद्या-महा विद्या है। जिस विद्या से समग्र अविद्या और अविद्या कृत बंधनों की निवृत्ति होकर स्वरूप में स्थिति हो उसे विद्या कहना चाहिये। शौनक ने अंगिरा से कहा था कि जानने योग्य दो विद्यायें हैं, जिनको ब्रह्मवेत्ता पुरुष परा और अपरा विद्या कहते हैं। परा मुख्य विद्या है जो ब्रह्म का बोध कराती है। अपरा अमुख्य विद्या है जो अविद्या मय है और अविद्या का ही बोध कराने वाली है, वह कर्म रूप है। यदि अपरा विद्या से निष्काम कर्म किये जांय तो वह अंतःकरण की शुद्धि रूप विद्या की प्राप्ति कराने की योग्यता दे सकती है, इस भाव से उसे जानने को कहा है। वह अपरा विद्या रूप ऋक्, यजु, साम, अथर्वण शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष है। वह व्यौहार निमित्त और शुद्धि के निमित्त है।

अक्षर, ब्रह्म अदृश्य रूप, अग्राह्य रूप, अवर्ण रूप, अचक्षु रूप, पाद और हाथ से रहित, नित्य विभु, सब में व्यापक, अत्यंत सूक्ष्म, तत् यानी प्राकृत ब्रह्म रूप, अव्यय रूप, स्थावर जंगम का कारण रूप, जिस को विवेकी विचार से देखते हैं यानी आत्म साक्षात्कार करते हैं, वह पराविद्या है, वह ही विद्या है। ब्रह्म प्राप्ति सिवाय अन्य विद्या-जगत् की विद्या जगत् की बेगार रूप है। सब का आधार रूप ब्रह्म विद्या ही विद्या है। यदि कोई वेद, शास्त्र पुराण सब जानता हो परन्तु ब्रह्म को न जानता हो तो उसका सब जानना झूंठा है, उसका कथन कौवे के कथन के समान है। मात्र वेद, शास्त्र के जानने से मुक्ति नहीं होती। यह सब जगत् माया-मय है, जो कुछ सुनते हैं, देखते हैं वह सब नाम रूपात्मक माया रचित है इसलिए माया का कार्य है, उसमें ईश्वर व्यापक है इसलिए असत्य दृश्य का त्याग करना चाहिये। पदार्थों को फेंक देना रूप त्याग नहीं है, नाशात्मक जगत् की असत्यता ठीक २ समझना विद्या है इसके सिवाय अभिमान से जो कोई जो कुछ करता है, वह अपनी आयु व्यर्थ खोता है। 'यह मैंने जान लिया है यह मुझे जानना बाकी है' ऐसा भाव जो किया करता है, ब्रह्म को जानते हुए भी करोड़ों जन्मों तक उसका मोक्ष नहीं होता इससे समझना चाहिये कि उसे वास्तविक वस्तु का बोध नहीं हुआ। अनेक जन्मों तक पढ़ने से भी शास्त्र का अन्त कभी नहीं आता। जिसने ब्रह्म को जान लिया उसने सब कुछ पढ़ लिया व्यवहारिक पदार्थों की प्राप्ति के समान ब्रह्म की प्राप्ति नहीं है ब्रह्म की प्राप्ति विलक्षण प्रकार से होती है। विद्वानों के व्याख्यान से ज्ञान नहीं होता किंतु पूर्व पुण्य की प्रबलता से पूर्ण वैराग्य से, शुद्ध सतोगुणी वृत्ति से, निर्मल बुद्धि और सत्पुरुष द्वारा होता है। जब ये सब संयोग प्राप्त होजाते हैं तब जीव ब्रह्म की एकता होने में विलम्ब नहीं होता। जिस समय जीव ब्रह्म की एकता का बोध होता है, उसी समय जीव भाव का ब्रह्म में प्रवेश हो जाता है और सब संशय निर्मूल हो जाते हैं, पंचतत्वों के मेल से बना हुआ शरीर मिथ्या समझने में आता है और जब तक ऐसा नहीं होता तब तक शरीर के धर्म अपने में मानने में आते हैं। देह, स्त्री, पुत्र धनादिक में ममत्व रहता है और अन्तःकरण में विषय घूमा करते हैं। अशुद्ध अन्तःकरण में दया, दान, ध्यान, ईश्वर की आराधना, भक्ति, श्रद्धा और समता आदिक नहीं होते। विद्या विना राग द्वेष का त्याग नहीं होता और दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती इसलिये ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। यदि प्रयत्न तीव्र होता है तो सब अनुकूलता भी प्राप्त हो जाती है।

देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त हुये बिना, मलिन-अपक्व अन्तःकरण से, तीव्र वैराग्य बिना, स्त्री के क्लेशों से, धन की आपत्ति से अथवा और किसी दुःख के कारण गृहस्थी का त्याग करके वैरागी बन जाना ब्रह्म प्राप्ति कराने वाला नहीं होता। जंगल या शहर में घूमना, बड़ी २ जटायें रखना, टट्टी पेशाब के मन्त्र बोलना इन को विद्या नहीं कहते। मजहब के बरंडे में कैद रखने वाली विद्या नहीं है। इससे तो गृहस्थी में रहते हुये, आश्रम धर्म करते हुये, व्यवहार करते हुये, अनेक प्रकार के साधनों से अंतःकरण शुद्ध करना उत्तम है। जब तक तीव्र वैराग्य न हो तब तक ऐसा ही कार्य करना अच्छा है। ब्रह्म-निष्ठ होने के पश्चात् तो कोई भी आश्रम धर्म बाधक नहीं होते। प्रतापी पृथु राजा ने बोध के बाद भी राज्य किया था। जनकादि ऐसे अनेक राजा पूर्व में हुये हैं परन्तु 'मैं गृहस्थी में रह कर ही ज्ञान प्राप्त करूंगा' इस भाव वाले को कभी भी ज्ञान प्राप्त न होगा। जो वैराग्य और अन्तःकरण की शुद्धि के अनुसार समस्त अभिमानों को शिथिल करके ब्रह्म प्राप्ति के यत्न में लगते हैं, वे ही अपना कल्याण कर लेते हैं। सब प्रकार की विद्या जिस को लौकिक विद्या—अविद्या कहना चाहिये, अभिमानकी वृद्धि करने वाली होतीहै,उससे विरुद्ध ब्रह्म विद्या अभिमान को तोड़ने वाली होती है। अन्य विद्या पढ़ने की विद्या हैं,प्रपञ्च की वृद्धि की विद्या है, ब्रह्मविद्या स्वयं अपने को जानने की और प्रपञ्च रूप संसार को भुलाने की विद्या है। अन्य विद्या अनेक शाखा, डाल वाली है, ब्रह्म विद्या बिना शाखा डाल की एक ही है और स्थिति होने पर स्वयं अपना ही नाश करने वाली है। ब्रह्म विद्या सिवाय अन्य किसी प्रयत्न से भी जन्म मरण की निवृत्ति नहीं होती—परम कल्याण प्राप्त नहीं होता।

वृषकेतु नाम के एक ऋषि ने वेद, वेदाङ्ग आदि सब शास्त्र पढ़ लिये, अनेक स्थानों में पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ करके उनका पराजय किया। अनेक प्रशंसा पत्र प्राप्त किये, काशी आदिक उत्तम क्षेत्रों के पण्डितों को भी उस की वाचा शक्ति, स्मरण शक्ति और युक्ति प्रयुक्ति से विवाद करने की शैली से परास्त होना पड़ा। बहुत समय तक इस प्रकार विचरते हुये बहुत सा धन भी उस ने प्राप्त किया। अन्त में उस ने अपने पिता के पास जाने का विचार किया। जहां उसका पिता रहता था वह एक विशाल शहर था, वहां भी कई नामी, पण्डित रहते थे। उसने विचार किया "मैं शास्त्र विशारद महा पण्डित हूं, जितना मैं जानता हूं उतना कोई भी नहीं जानता, मैंने सब विद्यायें पढ़ी हैं इसलिये इस शहर के पण्डितों को भी परास्त कर नाम प्राप्त करके ही पिता से मिलना ठीक है इस शहर में मेरी इस प्रकार की विशेष ख्याति से वे अत्यन्त प्रसन्न होंगे।" इस प्रकार विचार कर उसने एक मन्दिर में जाकर मुकाम किया और सब पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिये निमन्त्रण किया। पण्डितों से शास्त्रार्थ हुआ और शहर के सब पण्डितों से वृषकेतु अधिक विद्वान् सिद्ध हुआ। सब लोग उस की बहुत ही प्रशंसा करने लगे। जिससे सुनो वृषकेतु की स्तुति ही सुनी जाय। इच्छित कार्य सिद्ध होने से वृषकेतु अपने पिता के पास गया। वृषकेतु ने समझ रखा था कि पिता मुझे देखकर बहुत प्रसन्न होंगे परन्तु ऐसा न हुआ। पुत्र को देखकर पिता ने कहा "हे अविद्या पात्र! क्या तू आगया?" वृषकेतु बोला "हे पिताजी! मैं सब विद्यायें जानता हूं, फिर भी आपने प्रसन्न न होकर ऐसा क्यों कहा?" वृषकेतु का पिता अनेक शास्त्र पढ़ा हुआ पंडित न था तो भी ब्रह्मनिष्ठ था उसने कहा "मूर्ख जिन विद्याओं को तू जानता है, वे वास्तविक विद्या नहीं हैं, वास्तविक विद्या तो दूसरी ही है! जिस विद्या से अभिमान बढ़े कीर्ति की लालसा हो, जिस से जन्म मरण न छूटे, वह लौकिक विद्या है, अविद्या है, और ब्रह्म-

पूर्णा का औजार है। जिस से ब्रह्म प्राप्ति होती है वह विद्या कहलाती है। तू चाहे जितना विद्वान् है, परंतु ब्रह्मबोध रहित है इस से ही तू अविद्या पात्र है। जैसे बकरी के गले का स्तन देखने मात्र होता है, दूध देनेवाला नहीं होता, इसी प्रकार तेरी विद्या देखने मात्र है। जिसको पढ़ा परंतु गुणा नहीं, कहते हैं, ऐसा तेरा हाल है! तू तोते के समान बोलना जानता है किंतु रहस्य नहीं जानता। करछुली सब रसोई में घूमती है परन्तु स्वाद को नहीं जानती। तू ने विद्या पढ़ी परन्तु उससे होने वाला आत्मबोध न हुआ तब वह विद्या विद्या नहीं है किंतु अविद्या ही है!" सच कहा है:-दोहा:-जीते पंडित सैकड़ों, जग में हुये प्रसिद्ध। जो नहिं जाना आपको कार्य हुआ नहिं सिद्ध ॥

जिस शिक्षा से बोध की प्राप्ति हो जो बोध मुक्ति का देने वाला हो। उसका नाम बोध है। वारम्वार जन्म मरण और उनके मध्य में जो अनेक प्रकार के कष्ट प्राप्त होते हैं जिनकी गिनती नहीं हो सकती उन सब कष्टों को जो मूल सहित नाश करने की समर्थ्य रखता हो उसका नाम बोध है। जो समग्र दुःखों का नाशक नहीं है उसका नाम बोध नहीं है। उच्चार किये हुए शब्दों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसका नाम बोध है। शब्द का अर्थ से और अर्थ का शब्द से सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध का ज्ञान व्यवहार में बारंबार अभ्यास होने से होता है। यह शब्द का बोध है परन्तु परम बोध नहीं है। परम बोध में इससे कुछ विलक्षणता है। जो बोध अपने को भिन्न रख कर होता है वह परोक्ष बोध है और जो बोध अपने को भिन्न न रखते हुए होता है वह अपरोक्ष है। अपने आत्मा को भिन्न रखते हुए आत्मा परमात्मा का ज्ञान होना मुख्य बोध है और अपने सहित आत्मा परमात्मा की एकता का बोध होना परम बोध है। समग्र दुःखों की निवृत्ति एकता के बोध सिवाय नहीं हो सकती। एकता का बोध ही परम पद है इसीलिए कहा है कि बोध तो अनेक हैं परन्तु वास्तविक बोध वही है जिससे परम पदकी प्राप्ति हो। स्वस्वरूप का बोध ही बोध है।

जो युक्ति वाला वचन हो, जिससे किसी प्रकार संशय न रहे; ऐसे बालक के वचन को भी मान्य करना चाहिए. जिससे अपने आत्मा का बोध हो ऐसे नीच के वाक्य को भी ग्रहण करना चाहिए और जो युक्ति रहित, संशय को न छेदने वाले, द्वैत को स्थिर करने वाले वाक्य स्वयं ब्रह्मा भी कहे तो भी मुमुक्षुओं को मानने योग्य नहीं हैं। जिस शिक्षा से चौरासी लक्ष योनियों में भटकना पड़े, अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ें वह शिक्षा मोक्षदायक शिक्षा नहीं है। माता, पिता, स्त्री, पुत्र, सम्बन्धी आदिक की शिक्षा जिससे तीव्र मुमुक्षुता वाले को मोक्ष की प्राप्ति न हो, अथवा जो मोक्ष में सहाय रूप न हो उस शिक्षा को मानना न चाहिए। प्रपंच के दुःख भोगते रहने की जो, शिक्षा दे उसे माता, पिता अथवा गुरु कैसे कहा जाय, वह तो शत्रु ही है, हित करने वाला नहीं है वे सगे संबन्धी नहीं हैं जो अज्ञान के परदे को दृढ़ करते हैं, वे मुमुक्षुओं के पूर्ण शत्रु हैं इसलिये प्रयत्न पूर्वक उनके वाक्यों को छोड़ कर सद्गुरु द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से बोध प्राप्त करना चाहिए। 'मैं कर्ता भोक्ता नहीं हूं, जन्म मरण मेरा नहीं होता, मैं असंग, अक्रिय, सर्वव्यापक, सच्चिदानन्द स्वरूप हूं, सुख, दुःख शरीर आदि मैं नहीं मेरा नहीं है, उनसे होने वाले दुःख मुझ में नहीं हैं' योग्यता सहित इस प्रकार के दृढ़ निश्चय-साक्षात्कार को बोध कहते हैं। जिस बोध से कृतार्थ हो, अन्य बोध की आवश्यकता न रहे, ऐसा परम शांति रूप जो अपना ज्ञान है उसे बोध कहते हैं।

व्यवहारिक माता पिता का उपदेश व्यवहार में ग्राह्य है परन्तु परमार्थ से उलटा उनका उपदेश मुमुक्षुओं को त्याग करना चाहिये, उनका

ऐसा उपदेश त्याग करने से दोष नहीं लगता। प्रह्लाद ध्रुवादिक ने ईश्वर प्रेमार्थ माता पिता का उपदेश नहीं माना इससे उनको कोई दोष न लगा, आज भी उनकी निन्दा न करते हुए सब प्रशंसा ही करते हैं परन्तु इसमें अपनी योग्यता का विचार अवश्य करना चाहिये।

एक गरड़िया जंगल में बकरियां चराया करता था। वह जंगल २ घूमता और पहाड़ों पर भी अपनी बकरियां ले जाया करता था। एक समय उसे एक पहाड़ की तराई में एक सिंह का छोटा सा बच्चा मिला। उसे उसने उठा लिया और बकरियों का दूध पिला २ कर बड़ा किया उसे वह बकरियों के साथ ही रखता था। जब बकरियां चरने जातीं तब उनके साथ सिंह का बच्चा भी जाया करता और उनके साथ ही लौटा करता। बकरियों से उसका मेल होगया था वे उसे अपने में का एक समझकर प्रेम रखती थीं। वह उनके साथ खाता पीता और खेल कूद किया करता था। शाम को जब सब बकरियां बाड़े में बंद की जातीं तब उनके साथ सिंह का बच्चा भी बंद किया जाता। जब गड़रिया उसे बकरा कह कर पुकारता तब वह उसके पास आता इस प्रकार के समागम से वह सिंह अपने को बकरा समझने लगा 'मैं बकरा हूं' ऐसा जानने लगा 'मैं सिंह हूं' न तो उसे ऐसी खबर थी, न गड़रिये ने कभी उसे सिंह के नाम से पुकारा सिंह को 'मैं सिंह हूं' ऐसा स्वप्न में भी विचार न था। बकरियों के सहवास से उसने उलटा यह समझ रक्खा था कि हम बकरियां सिंह की खुराक हैं, वह हमको मार खाता है। जब कभी सिंह देखने में आता तो वह अपनी जान बचाने को भाग जाता। इस प्रकार सिंह को बकरा होने का दृढ़ अभ्यास होगया।

एक दिन जब जंगल में सिंह सहित बकरियों का झुंड चर रहा था तब सामने से एक जंगली सिंह आया। बकरियों के साथ सिंह को चरता हुआ देख कर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ! जंगली सिंह ने गर्जना की, गर्जना सुनते ही सब बकरियां भागने लगीं, उनके साथ सिंह भी भागने लगा। जंगली सिंह ने पालतू सिंह को पुकार कर कहा "हे मित्र! खड़ा रह, बकरियों के साथ मत भाग मैं तुझ से एक बात कहना चाहता हूं!" पालतू सिंह ने कहा "नहीं! मैं खड़ा कैसे रहूं? मैं बकरा हूं, तू सिंह है, तू मुझे मार डालेगा!" पहाड़ी सिंह ने कहा 'मैं तुझे नहीं मार सकता, मैं तुझे नहीं मारूंगा, मुझ पर थोड़ा विश्वास लाकर खड़ा रह!" पालतू सिंह न ठहरा, तब पहाड़ी सिंह ने कहा "देख तुझे शरम नहीं आती! तू सिंह है, तू अपने को बकरी समझ कर क्यों भागता है?" तब पालतू सिंह खड़ा होकर बोला "मैं सिंह नहीं हूं, तू ही सिंह है, मुझ से ऐसी झूंठी बात मत कह! क्या तू मुझे मार खाने को धोखा देरहा है?" पहाड़ी सिंह विचारने लगा: "बकरों के संग रहने से अपने को बकरा समझ कर बन्धन में पड़ा है, इसको सच्चा उपदेश देकर इसके बकरे पने के अभ्यास को छुटा देना चाहिए!" ऐसा विचार कर उसने पालतू सिंह से कहा "मित्र! विचार कर देख, बकरे तो सब छोटे हैं, फिर तू बकरा कैसा?" पालतू सिंह बोला: "वे छोटी बकरियां हैं, मैं बड़ा बकरा हूं!" पहाड़ी सिंह बोला 'तू मेरी तरफ देख, मेरे और तेरे सब लक्षण एक से हैं मैं सिंह हूं और तू भी सिंह है। बकरों के लक्षण तुझ से नहीं मिलते, बकरों के दो दो खुर हैं, मेरे और तेरे पांच २ नाखून हैं, बकरों के छोटी २ दुमें हिला करती हैं, मेरी और तेरी दुम बड़ी है" पालतू सिंह ने लक्षण मिलाये तब उसे कुछ निश्चय हुआ कि हां! ठीक है, सिंह से मेरे लक्षण मिलते हैं बकरों से नहीं मिलते! वह कहने लगा "बात तो कुछ ठीक सी मालूम होती है परन्तु मुझे अभी पूरा विश्वास नहीं आता।" पहाड़ी सिंह ने कहा "तू मेरे साथ तालाब के निकट चल, मैं तुझे अपनी और तेरी

दोनों की आकृति दिखलाऊं !" पालतू सिंह को कुछ विश्वास आगया था वह बकरियों को छोड़ कर सिंह के साथ होलिया । सिंह उसे एक तालाब के किनारे ले गया, दोनों एक साथ खड़े हुए, दोनों का प्रतिबिम्ब जल में पड़ा । पहाड़ी सिंह ने कहा "मेरा और अपना मुख देख, बकरों का मुख लम्बा है, मेरा और तेरा गोलाई लिये हुए है, बकरों के गले में दो दो स्तन है, मेरे और तेरे गले में पुष्कल बाल हैं । कमर, बाल, कान और शरीर का रंग हम दोनों का समान है । बकरों के शिर पर सींग हैं, हम दोनों के शिर पर सींग नहीं हैं, अब बोल तू कौन है सिंह या बकरा ।" पालतू सिंह को विश्वास आगया, वह कहने लगा "मैं सिंह हूं, ऐसा मालूम पड़ता है परन्तु तू यह बता कि मैं बकरा कैसे होगया ।" पहाड़ी सिंह बोला "तू बकरों के साथ रहा किया है इसलिये अपने को बकरा समझने लगा है । "मैं बकरा हूं" इस मिथ्या अभिमान को छोड़ दे और अपने को सिंह जान !" पालतू सिंह गर्जना कर के बोला "सच है ! मैं सिंह हूं, अब मैं स्वतंत्र जंगल में बिचरूंगा, बकरियां मेरा भोजन हैं !" ऐसा कह कर वे दोनों जंगल में चल दिये । दोहाः—

सिंह रहो बकरीन में, सिंहन देख डराय ।
सिंह बतायो सिंह जब, तब बकरिन कूं खाय ॥

अनादिकाल के अज्ञान के कारण कर्मादि संग के संबन्ध से आत्मा अपने को अल्पज्ञ, तुच्छ और विकारी मानता है । वह अपने को स्त्री पुत्र वाला, शरीरधारी, ब्राह्मण आदि वर्ण वाला, आश्रम वाला भूल से मान रहा है और अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को भूल कर भटक रहा है । गड़रिये समान भेदवादी गुरु उसे संसारी कहते हैं, 'तू कर्त्ता है, भोक्ता है' इत्यादि समझाते हैं । जब अपने पूर्ण पुण्य और पुरुषार्थ से वेदान्त का ज्ञाता कोई ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिलता है तब उसे अधिकारी देख कर उपदेश देता है । जिस उपदेश से उसे अपने सच्चे अविचल रूप का बोध होता है, उसी का नाम बोध है । बोध पाकर वह स्वतंत्र सुख स्वरूप हो जाता है । सद्गुरुओं की बोध कराने की युक्तियां अनेक हैं । जिसमें जिस प्रकार का दोष समझा जाता है उस दोष को निवृत्त करके, जिससे स्वरूप का बोध हो, इस प्रकार का उपदेश दिया जाता है । उस उपदेश से जाना गया जो अपना स्वरूप है उसका नाम बोध है ।

आत्म स्वरूप में स्थिति होना ही सब से विशेष लाभ है । उसके समान और कोई भी लाभ नहीं है, अन्य जितने लाभ हैं सब उसके अंतरगत हैं । ऐहिक और स्वर्गादि का लाभ लाभ नहीं है । व्यापार में लाखों रुपये मिल जायं, वह भी लाभ नहीं हैं । वह लाभ प्रत्येक को होना संभव है, जो पामर है उसे भी हो सकता है परन्तु इस लाभ से कोई ठीक तात्पर्य सिद्ध नहीं होता, ऐसा लाभ दुःख का कारण है, क्षणिक है और उसके पश्चात् इस से विशेष लाभ होने की कामना भी होती है । कामना से दुःख होता है । यह लाभ इस प्रकार का समझो कि जैसे कौए को निबोली में दाख की भ्रांति होती है । जिस लाभ को प्राप्त करके उस से अधिक और कोई भी लाभ न हो और किसी लाभ के प्राप्त करने की इच्छा न रहे वह ही पूर्ण लाभ है । उस लाभ को प्राप्त करके चाहे जैसे महान् दुःख आन पड़ें तो भी उनसे पुरुष विचलित नहीं होता—उसे दुःख मालूम ही नहीं होता, वह ही ठीक लाभ है । जिस लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है, जिस सुख से कोई विशेष सुख नहीं, जिस ज्ञान से विशेष और कोई ज्ञान नहीं है वह ब्रह्म स्वरूप है । इस लाभ को संपादन करने के लिये अनेक महर्षि, राजर्षि और ब्रह्मर्षि धरा, धन, धाम आदिक ऐश्वर्य का त्याग कर बन में गये हैं, राज, पाट, सुख का त्याग उसके निमित्त किया है । तब विचारना चाहिये कि वह लाभ कितना महान् है । सगर राजा ने पुत्र लाभ को लाभ समझा, उसका नाश हुआ । रावण ने ऐश्वर्य को लाभ माना, उसका नाश हुआ । नहुष

ने इन्द्रियों के विषय को श्रेष्ठ समझा उसका नाश हुआ। लाभ आनन्द को कहते हैं और आनन्द की अधिकता इस प्रकार हैं:—

जिसने वेद का अध्ययन किया हो, जो युवा और शरीर से पुष्ट हो और अखंड चक्रवर्ती राज्य करता हो—उसे जो सुख है, वह एक मनुष्य आनंद है। उस से सौ गुणा आनन्द मनुष्य गंधर्व को है। मनुष्य गंधर्व के आनन्द से सौ गुणा आनन्द देव गंधर्व को है। देव गंधर्व के आनन्द से सौ गुणा आनन्द पितृ आनन्द है। पितृओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द आजान देवताओं को है। आजान देवताओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द कर्म देवताओं को है। कर्म देवताओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द देवताओं को है। देवताओं के आनन्द से सौ गुणा आनन्द इन्द्र को है। इन्द्र के आनन्द से सौ गुणा आनन्द बृहस्पति को है। बृहस्पति के आनन्द से सौ गुणा आनन्द प्रजापति को है। प्रजापति के आनन्द से सौ गुणा आनन्द प्रत्यगात्मा का है, वह ही आनन्द परब्रह्म की स्थिति रूप सब से श्रेष्ठ और अनन्त है।

सब प्रपंच की रचना मन से हुई है, मन के संकल्प ही दृढ़ीभूतभाव से जगत हो प्रतीत हो रहे हैं। प्रपंच के भाव से भावित मन प्रपंच में घूमा करता है और घूमने से कभी थकता नहीं है। जाग्रत् में और सोने में भटकता ही रहता है। शायद सुषुप्ति में दब जाने से उसकी चाल मालूम नहीं होती परन्तु क्षणभर भी वह स्थिर नहीं रहता। जितना २ वह घूमता है उतना २ अनर्थों को ही पैदा करता है जिसका मन संसार में जीता है वह संसारी है। जब मन आत्म भाव को प्राप्त होता है—जीत लिया जाता है तब मोक्ष का भागी होता है। मोक्ष निमित्त मन को अवश्य जीतना चाहिये। जिस ने मन को जीत लिया उस ने चौदह लोकों को जीत लिया समझना। जिसने अनेकों को जीता परन्तु अपने मन को नहीं जीता वह हारा हुआ है! आश्चर्य है कि मन को जीतना कठिन मालूम होता है। अपना ही मन अपने वश नहीं, यह कितनी मूर्खता है! मन को जीते बिना सब का दास बनना पड़ता है, मन के नाच से नाचना पड़ता है, मन के किये हुये टोटे को भुगतना पड़ता है! विषयों की तरफ भटकने वाले ऐसे दुष्ट मन को पूरे प्रयत्न से स्वाधीन करना चाहिये। इसके लिये वैराग्य और अभ्यास की अति आवश्यकता है। वैराग्य और अभ्यास से भी मन जल्दी से वश में नहीं आता। बहुत समय से बिगड़ी हुई उस की आदत को सुधारने के लिये सतत प्रयास की आवश्यकता है। ॐकार आदिक की उपासना भी मन को वश करने में मदद देती है और बाह्येन्द्रियों का दमन भी उपयोगी है। मन के साथ ही मनुष्यत्व और शुभ अशुभ कर्मों का संचय रहता है। यदि वह वश हो जाय तो इस सब के रहने का स्थान न रहे। जब मन अपने अधिष्ठान को प्राप्त हो जाता है तब सब आपत्तियों की निवृत्ति और परम कल्याण होता है। श्रीमद्भागवत् के सप्तम स्कंध में लिखा है:—हिरण्य कशिपु ने जब अपने पुत्र प्रह्लाद से कहा कि मैंने चौदह लोकों को जीत लिया है, इसलिये मैं सर्व से बलवान् हूं, तब प्रह्लाद ने कहा कि हे पिता! जो आपका मन है, यदि आप उसे जीत लोगे तो सब से बलवान् हो जाओगे, जब तक मन को न जीत सकोगे तब तक कायर गिने जाओगे और सब स्थानों में हारे हुये ही बने रहोगे क्योंकि जिस ने मन को जीता है उसने घर में बैठे हुये ही सब को जीत लिया है। जिसने मन को जीता उस ने समग्र ब्रह्माण्ड और देवताओं को जीत लिया।

छोटा सा मन जिस के वश में नहीं है उस के वश में कुछ भी नहीं है। वह विषयासक्ति में फंसा हुआ मन आत्मा का शत्रु है। मन की मीठी २ बातों से उसके कहने में न आना चाहिये। जिस समय मन अपना कार्य करता है तब ऐसी मोहिनी

डालता है कि आत्मा आत्मभाव से रहित होकर मन को मदद देता है, और आत्मा की मदद से मन प्रबल होता है। जब आत्मा की पहिचान हो जाती है तब मन की एक भी नहीं चलती। मन की हमेशा निगाह रखना चाहिये परन्तु मन के लालच में फंस कर उसका साथी न होना चाहिये मन राग से प्रवर्त होता है। जहां २ मन जाता है वहां २ राग अवश्य होता है। मन को लौटाने के लिये राग के स्थान में द्वेष अवश्य करना चाहिये। मन को प्रवृत्ति की तरफ से हटाने की द्वेष ही चाबी है। जितने लौकिक अथवा पार लौकिक महान् सामर्थ्य वाले हुये है, होते हैं, या होंगे।' उन सब का मन किसी न किसी अंश में अवश्य वश होता है तब ही वे महानता को प्राप्त होते हैं। परम पद साध्य करने में तो मन के ऊपर ही सब आधार है। जिस से मन वश में न किया जायगा वह अनेक प्रयत्न करने पर भी परमपद का भागी नहीं होगा। कहा भी है:—दोहा:—मन से हारे हार है, मन को जीते जीत। माने नहीं तो देख कर, कर वाकी परतीत॥

——:*:——

ब्रह्मसूत्र भाषादीपिका।

(गतांक से आगे)

स्वर्ग से ले कर पृथ्वी तक त्रैलोक्य स्वरूप वैश्वानर के अवयव हैं और इन अवयवों की कल्पना वैश्वानर के देह में की गई है अर्थात् स्वर्गादि अवयव मस्तक से लेकर डाढ़ी पर्यन्त वैश्वानर के शरीर के अवयव बताये हैं जैसे कि। प्रादेशमात्र मिव ह वै देवाः सुविदिता अभि संपान्नस्तथा तु व एतान् वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभि संपादयिष्यामीति। सहोवाच मूर्धानमुपदिशन्नु वाचैश वा अतिष्ठा वैश्वानर इति। चक्षु षी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति। नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति। मुख्यमाकाश मुपदिशन्नु वाचैष वै बहुलो। वैश्वानर इति। मुख्या अप उपदिशन्नु वाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति। चबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति। वस्तुतः पूर्व में [अपरिच्छिन्न ऐसे परमेश्वर के भी] मानो प्रादेशमात्र हो ऐसी कल्पना की। देवताओं ने उस का सम्यक् ज्ञान कर उस को अच्छी प्रकार प्राप्त किया। जिस प्रकार प्रादेश मात्र परमात्मा को मैं प्राप्त करूंगा इस प्रकार देवों को परमात्मा के अवयव कहूंगा, इस प्रकार उसने कहा। उसने मस्तक दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह मेरा मस्तक भूरादि लोकों से ऊंचा द्यु लोक वैश्वानर है। आंखें दिखा कर कहा कि वस्तुतः यह अत्यन्त तेज वाला वैश्वानर है। नासिका दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह भिन्न गति स्वरूप वैश्वानर है। मुख में रहे हुए आकाश को बता कर कहा कि वस्तुतः यह व्यापक रूप वैश्वानर है। मुख में रहे हुए जल को दिखला कर कहा कि वस्तुतः यह रवि स्वरूप वैश्वानर है। डाढ़ी को दिखला कर कहा कि यह प्रतिष्ठा स्वरूप वैश्वानर है। यहां चुबुक का अर्थ मुख के नीचे का भाग है। वाजसनेयि ब्राह्मण में आकाश का उल्लंघन कर के जाता गुण बताया है आदित्य को सुतेज गुण वाला कहा है और छान्दोग्य में आकाश को सुतेज गुण वाला और आदित्य को विश्वरूप गुण वाला कहा है। तो ऐसा होने पर भी इन विशेषणों से किसी प्रकार की हानि नहीं होती क्योंकि प्रादेश मात्र श्रुति विशेष भाव से रहित है और सब शाखाओं में इस प्रकार का प्रमाण है इसलिये जैमिनि आचार्य का मत है कि प्रादेशमात्र श्रुति संपत्ति निमित्त है और योग्य है ॥३१॥

अब जाबाल नाम के ऋषि का मत कहते हैं:—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

अव्यय और अव्यय का अर्थ:—च और एनं इस को (परमात्मा को) अस्मिन् इस में (मस्तक

और डाढ़ी के मध्य में) आनन्ति [जाबाल] उपदेश करता है।

टीका:—इस परमेश्वर को मस्तक तथा डाढ़ी के मध्य भाग में जाबाल मत वाले मानते हैं जैसे कि 'य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वैवरणा का च नासीति॥ (जो यह अनन्त, अव्यक्त आत्मा है वह अविमुक्त (जीव) में स्थित है। वह जीवात्मा किस में स्थित है? वरणा में तथा नासी में स्थित है। अब वरणा क्या तथा नासी क्या?) इस प्रकार वरणा तथा नासी का निरूपण कर के अन्त में कहा कि जो इन्द्रियों से किये हुए सब पापों का वारण करे वह वरणा तथा जो इन्द्रियों से किये हुए सर्व पापों का नाश करे वह नासी ऐसा कह कर फिर कहा कि 'कतमच्चास्य स्थानं भवतीति भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः सएष द्युलोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति।' [जाबा०] (इसका कौनसा स्थान है? भ्रुकुटि तथा नासिका की जो संधि वह इस द्यु लोक और परलोक की संधि है) इसलिये परमेश्वर के विषे प्रादेशमात्र श्रुति युक्त है। अभिविमान श्रुति प्रत्यक् आत्मा का निरूपण करती है। प्रत्यगात्मा के समान सर्व प्राणियों को जिस का ज्ञान होता है उस श्रुति को अभिविमान कहते हैं। अथवा प्रत्यगात्मा के समान प्राप्त हुआ ऐसा विमान, अप्राप्ति के कारण वह अभिविमान अथवा सर्व जगत् को जो निर्माण करता है वह कारण रूप होने से अभिविमानहै इसलिये वैश्वानर परमेश्वर है ऐसा सिद्ध हुआ ॥३२॥ इति ब्रह्म सूत्र भाषा दीपिका के प्रथम अध्याय का दूसरा पाद।

तीसरा पाद।

दूसरे पाद के अंतिम सूत्र से यह सिद्ध किया कि वैश्वानर परमात्मा रूप है, अब ब्रह्म को ज्ञेय रूप से प्रतिपादन करने के लिये इस तीसरे पाद की रचना की जाती है:—

(१) द्युभ्वाद्यधिकरण।

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:-द्युभ्वाद्यातनं स्वर्ग और पृथिवी आदि का आधार [ब्रह्म है] स्वशब्दात् [यह बात श्रुति में उपयोग किये हुये] आत्म शब्द से [सिद्ध होती है]

टीका:—'यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः। तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचा विमुंचथामृतस्यैष सेतुः' [मुण्ड० २।२।५] (जिसमें स्वर्ग, पृथिवी और अंतरिक्ष प्रोया हुआ है और सर्व प्राणों सहित मन भी प्रोया हुआ है, उस एक को ही आत्मा जानो, अन्य वाचाओं का त्याग करो, यह मोक्ष का सेतु है, यह श्रुति है। इसमें ऐसा संदेह होता है कि स्वर्गादि जिसमें प्रोये हुये हैं, ऐसा स्वर्गादि का अधिष्ठान कौन है, परब्रह्म है, अथवा कोई अन्य पदार्थ है? इसमें पूर्व पक्षी का कथन इस प्रकार है:—

पूर्व पक्षी:-मैं ऐसा मानता हूं कि स्वर्गादि का अधिष्ठान परब्रह्म नहीं है किंतु कोई अन्य वस्तु है क्योंकि 'अमृतस्यैषसेतु:' (अमृत का यह पुल है) इस प्रकार की श्रुति है जिसके द्वारा एक किनारे से दूसरे किनारे पर जांय उसे पुल कहते हैं। परब्रह्म को एक किनारे से दूसरे किनारे पर ले जानेवाला नहीं मान सकते क्योंकि 'अनन्तमपारम [बृह० २।४।१२] (अनन्त अपार) यह श्रुति ब्रह्म को अपार और अनन्त कहती है, अपार के पार जाना संभव नहीं है। यदि अन्य वस्तु को अधिष्ठान मानो तो स्मृति प्रसिद्ध प्रधान को अधिष्ठान मानना चाहिये क्योंकि सर्व का कारण होने से प्रधानको अधिष्ठानपना बन सकताहै अथवा श्रुति प्रसिद्ध वायु को अधिष्ठान मानना चाहिये क्योंकि 'वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकःपरश्च लोकःसर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवंति ॥' [बृह० ३।७।२] (हे गौतम! वास्त-

विक वह वायु सूत्र है, हे गोतम ! वायु सूत्र द्वारा) यह लोक परलोक और सर्वभूत गुथे हुये होते हैं। इस श्रुति में वायु को बीधने वाला सूत्र रूप कहा है। अथवा शरीर अधिष्ठान रूप हो सकता है क्योंकि शरीर में भोक्तापना होने से वह भी भोग तथा प्रपंच का अधिष्ठान रूप हो सकता है।

सिद्धान्तीः—ऐसा नहीं है, स्व-आत्म शब्द से स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान परब्रह्म ही है, ऐसा अर्थ है। 'यस्मिन् द्यौ पृथिवी'–इत्यादि वाक्य में 'तमेवैकं जानथ आत्मानम् (उस एक को आत्म रूप जान) आत्म शब्द का प्रयोग किया है, उस आत्म शब्द से परमात्मा का ग्रहण ही बन सकता है, दूसरे पदार्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है क्योंकि कितने ही स्थानों पर स्वशब्द से ही परमात्मा का अधिष्ठानपना श्रुति में कहा है। 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। [छान्दो० ६-८-४] (हे सोम्य ! इस सर्वप्रजा का मूल सत् है, सत् आयतन है और सत् प्रतिष्ठा है) इस श्रुति में आगे और पीछे स्वशब्द से ही ब्रह्म का निरूपण किया है। 'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।' [मुण्ड० २-१-१०] (यह सर्व कर्म, तप पुरुष ही है, पर और अमृत है) और 'ब्रह्मैवेदममृत पुरस्ताद्ब्रह्म, पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणश्चोत्तरेण' [मुण्ड० २-१-११] (जो आगे है वह ब्रह्म ही अमृत है, पीछे है वह ब्रह्म है, दक्षिण में और उत्तर में है वह ब्रह्म है) इसमें अधिष्ठान और अधिष्ठान वाले के भाव की) श्रुति है और 'सर्वं ब्रह्म' (सर्व ब्रह्म है। ऐसा सामानाधिकरण्य है, इसलिये ऐसी आशंका होती है कि जैसे शाखा, स्कंध और मूल ऐसे अनेक स्वरूप वाला वृक्ष होता है, तैसे ही भिन्न २ स्वरूप वाला विचित्र आत्मा है। इस शंका को दूर करने के लिये निश्चय पूर्वक कहा है:–'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को ही आत्मा जानो) तात्पर्य यह है कि आत्मा कार्य प्रपंच से विशिष्ट विचित्र रूप है, ऐसा न समझना चाहिये किंतु ऐसा समझना चाहिये कि सर्व कार्य प्रपंच अविद्या जन्य है इस कार्य प्रपंच का विद्या द्वारा नाश करके एक अधिष्ठान स्वरूप एक इस आत्मा को जानो जैसे जब कोई कहता है कि जिस आसन पर देवदत्त बैठा है उस को लाओ तो ऐसा कहने से आसन लाया जाता है, देवदत्त नहीं लाया जाता इसी प्रकार अधिष्ठान स्वरूप तथा एक रसरूप आत्मा को जानने का उपदेश है ऐसा समझना चाहिये। और विकार रूप असत्य में जिसका अभिमान है उसकी श्रुति में निन्दा की है जैसे कि 'मृत्योः समृत्युमाप्नोतिय इह नानेवपश्यति' [काठ० २।४।११] (जो आत्मा को अनेक प्रकार का देखता है, वह वारंवार एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता रहता है।) 'सर्वं ब्रह्म' (सर्व ब्रह्म है) यह जो सामानाधिकरण्य है वह प्रपंच के नाश करने के लिये है, अनेक रसता–रूपता बताने के लिये नहीं है क्योंकि 'सयथा सैन्धवघनोनंतरोऽबाह्यःकृत्स्नो रसघन एवैव वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यःकृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' [बृह० ४।५।१३] (जैसे लवणपिंड के भीतर और बाहर नहीं किंतु सर्व लवण एक रस है इसी प्रकार अरे मैत्रेयि ! यह आत्मा भी भीतर तथा बाहर नहीं किन्तु सर्व रूप तथा एक रस ज्ञान स्वरूप है) इस प्रकार की एक रसता–रूपता बताने वाली श्रुति है इसलिये स्वर्ग, पृथिवी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म है।

और श्रुति में सेतु शब्द है, सेतु पार ले जाने वाला होना चाहिये इसलिये स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म से अन्य कोई और पदार्थ होना चाहिये ऐसा जो कहा है उसका समाधान यह है:—यहां पर सेतु शब्द जो कहा है, वह केवल आत्मा को समझने के लिये ही कहा है, पार जाने के लिये नहीं कहा है, जिस प्रकार लोक में मट्टी या लकड़ी का पुल बना हुआ देखने में आता है इस प्रकार यहां मट्टी या लकड़ी का बना हुआ पुल मानना योग्य नहीं है।

(अपूर्ण)

गीता की शंकाओं का समाधान

(गताङ्क से आगे)

(६) विराट सृष्टि का अर्थ और विराट ने अपने को परब्रह्म किस प्रकार कहा यह जो पूछा है उसका समाधान यह है कि विराट–हिरण्यगर्भ सृष्टि के जीव और ईश्वर दो अर्थ हैं जीवपना इस कारण है कि वृहदारण्यकोपनिषद में और पुराणों में इनकी क्षुधा पिपासा शोक मोहादि का वर्णन है और जीव ही उपासना से हिरण्यगर्भ भाव को तथा विराट भाव को प्राप्त होता है।

ईश्वरपना इस कारण है कि हिरण्यगर्भ, विराट, अव्याकृत नाम ईश्वर की तीन अवस्था विशेष हैं। जैसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ व्यष्टि जीव की तीन संज्ञा हैं तैसे विराट हिरण्यगर्भ अव्याकृत ये समष्टि ईश्वर की तीन संज्ञा हैं। सृष्टि रचना विधान भी ईश्वर से होता है जीव से नहीं हो सकता यथा—

अनीशोवाकुर्यात् भुवनजननेकः परिकरः।
यतोमंदास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे॥

इस में दृष्टांत भी मिलता है जैसे मंदिर के रचने वाला जो शिल्पी है सो सामान्य विशेष रूप सर्वज्ञता सहित होकर ही मंदिर की रचना करता है तैसे जगत् रचना में भी सामान्य विशेष दोनों ज्ञान होने चाहियें सो सर्वज्ञता जीव विषय बने नहीं अतः जीव सृष्टि का कारण नहीं हो सकता यदि आप इससे ईश्वर को ही कारण निर्णय करेंगे तो ईश्वर और ब्रह्म का परस्पर मुख्य समानाधिकरण है। जैसे दर्पण रूपी उपाधि से मुख विषय बिम्ब एक उपाधि संज्ञा पड़ जाती है। तैसे माया रूपी उपाधि करके ब्रह्म में ईश्वर रूपी संज्ञा पड़ जाती है इसलिये वह अपने को परब्रह्म क्यों न कहे।

(७) सप्तमाक्षेप में अर्जुन की मुमुक्षुता में संशयादि विकल्प जाल दिखलाया है। तिसका उत्तर यह है।

गुणवान उत्तम पुरुषों को तो ऐसे संशय फुरने ही नहीं चाहियें किंतु गुण ग्रहण करना चाहिये। मध्यम और कनिष्ट के प्रति उत्तर लिखते हैं कि कृष्णार्जुनादि नरनारायण का अवतार होने से भारतादि ग्रन्थों में केवल कारक कहे गये हैं क्योंकि इनकी स्वार्थ प्रवृत्ति नहीं है किंतु परार्थ प्रवृत्ति है अर्थात् यह ज्ञानादि साधन संपन्न होने पर भी जगत् की मर्यादा रखने के निमित्त उन की प्रवृत्ति है यथा सूत्रः—

"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारि कारणम्"

इसका अर्थ आप रत्न प्रभा टीका तथा आनन्दगिरि टीका सहित भाष्य में देखना। इसमें दृष्टांत जैसे लोक में राजा के जो मंत्री आदि कारक हैं वे स्वयं धनधान्यादि संपदा सम्पन्न होने पर भी प्रगल्भता पूर्वक राज कार्य को करते हैं यदि वे स्वयं कंगालतादि क्लेशों में मग्न हों तो राज्य कार्य कैसे करें तैसे ज्ञानामृत से तृप्त हुए २ कारक कृष्णार्जुनादि जगत् की मर्यादा को चला रहे हैं और व्यास जी ने स्वयं लिखा है कि "पार्थोवत्सः सुधीर्भोक्ता" इत्यादि यदि ऐसी शंकायें करें तो श्री रामचन्द्रादिकों तक भी शंका होवेगी और आप पर भी शंका होगी कि क्या आप जो ऐसे दृष्टांत नित्य नवीन अपनी पत्रिका में देते हो सो कहीं से देख कर देते हो अथवा स्वयं कल्प २ कर लिखते हो। परन्तु नहीं ऐसे प्रश्न करने ही न चाहियें किंच यह जानना चाहिए कि प्रसंग को सुखैनता से समझने के निमित्त ऐसे २ दृष्टांत होते हैं और भगवद्गीतादि शास्त्रों में भी लोकों के सुगमबोधार्थ गुरु शिष्य संवाद की रीति रक्खी है ऐसे कुतर्क करने वाले को ग्रन्थ कभी भी बुद्ध्यारूढ़ नहीं हो सकता यहां भगवद्गीतादि में तो साक्षात् गुरु शिष्य हुये ही हैं अन्यत्र विवेक चूड़ामणि आदि ग्रन्थों में तो कल्प करके ही गुरु शिष्य संवाद लिखा है तात्पर्य प्रसंग की सुबोधता में है।

(८) अष्टमाक्षेप में श्रीकृष्ण जी के अर्जुन के प्रति विश्वरूप दिखाने में संशय करके पूछा है कि वर्तमान समय में भी कोई किसी को विश्वरूप दिखा सकता है या नहीं, इसका उत्तर यह

है कि विश्व रूप ईश्वर के सिवाय और कोई नहीं दिखा सकता न तो कोई ऐसा लेख है और अनुभव मानता है कि ईश्वर के सिवाय जीव विश्वरूप दिखा सके। अन्य सिद्धियां तो जीव भी दिखा सकता है। यदि ईश्वर अपनी कला ही किसी जीव में आविष्कार करके दिखावे तो संभवाभिप्राय से मानेंगे अंगीकाराभिप्राय से नहीं क्योंकि आजकल इस वार्ता की न तो योग्यता है न किसी जीव में ऐसी भक्ति है क्योंकि ईश्वर कर्ताकर्तान्यथाकर्ता कहा गया है इस संभवाभिप्राय से हो सकता है जैसे दृष्टांत—एक ब्राह्मण परशुराम नामी ने त्रेतायुग के मध्य में प्रबल क्षत्रिय जाति को (जो कि देवताओं की भी सहायता करने में समर्थ थी) एक ही धनुष और परशु से मार कर भगाया था सो ईश्वर की दी हुई सामर्थ्य थी, जीव शक्ति का कार्य नहीं था इस प्रकार संभवाभिप्राय से हो जाता है अंगीकाराभिप्राय से नहीं बन सकता। यह सम्पूर्ण संक्षेपता से लिखा है विस्तार तो बहुत हो सकता था प्रमाण और युक्तियां भी बहुत थीं परन्तु संक्षेप से लिखने का कारण यह है कि उत्तम पुरुषों को दिङ्मात्र ही जनाया जाता है यह शास्त्र का लेख है कि—

"परोक्षप्रियाः ही देवाः प्रत्यक्षद्विट्"

विस्तार कनिष्टों के प्रति किया जाता है आप तो स्वयं विद्वान् हैं जैसे उत्तम यान जो अश्वादिक हैं वह यदि मार्ग में किसी समय तमोगुण के वश होकर विक्षेप दिखावें तो उनको तोत्र नामक चाबुक केवल दृष्टिगोचर ही किया जाता है किंतु स्पर्श नहीं कराया जाता क्योंकि स्पर्श को वह सहार नहीं कर सकते दूसरा स्पर्श कराने से उनकी उत्तमता नष्ट होती है ऐसे उत्तम पुरुषों को दिग्मात्र जनाने की शास्त्र की आज्ञा है इति। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भवदीय—

स्वामी पं० प्रीतमदास जी परमहंस।

——०——

मैत्रेयी उपनिषद्।

प्रथम अध्याय।

बृहद्रथ नाम के राजा ने अपने बड़े पुत्र को राज्य दिया। यह शरीर नाशवान् है ऐसा समझ वैराग्य वृत्ति से आरण्य में गया। वहां जा कर उसने परम तप का आरम्भ किया। वह ऊंचे हाथ करके सूर्य के सामने देखा करता था। अन्त में राजा के पास एक मुनि आया। यह मुनि बिना धुवें के अग्नि के समान तेज वाला था। और तेज से सब को जलाता हो ऐसा दीखता था। वह आत्म ज्ञानी था और उसका नाम शाकायन्य था। उसने राजा से कहा " हे राजन्! तू खड़ा हो, खड़ा हो, और जो बरदान चाहता हो सो मांग।" राजा प्रणाम कर के कहने लगा "हे भगवन्! मैं आत्म ज्ञानी नहीं हूं, और आप तो तत्त्व ज्ञानी हैं, मैं आप से श्रवण करने की इच्छा रखता हूं, आप मुझे उपदेश दीजिये।" तब मुनि ने कहा "समझने में न आवे, ऐसा यह परम प्रश्न तू मत पूछ जो कुछ दूसरा बरदान मांगना हो सो मांगले।" राजा शाकायन्य मुनि के चरण स्पर्श करके वदयमान कहने लगा॥ १॥ "कितनेक बड़े समुद्र सूख जाते हैं, ध्रुव पदार्थ चलायमान होते हैं, वृक्षों के स्थान पर स्थल हो जाता है, पृथ्वी डूब जाती है, देवता अपने स्थान से भ्रष्ट होते हैं, संसार में इस प्रकार का काम और भोग किस काम के हैं कि जिस के आश्रय से बार बार आवागमन हुआ करता है? इस से आप मेरा उद्धार करने योग्य हैं, जैसे कूप में जल से ढका हुआ मेंढ़क हो तैसे मैं इस संसार में पड़ा हूं, हे भगवन्! आप हमारा उद्धार करने वाले हैं॥ २॥ हे भगवन्! यह शरीर मैथुन से उत्पन्न हुआ है। ज्ञान से रहित है, नाशवान् है। मूत्र द्वार से निकला हुआ है, हड्डियों से बना है, मांस से मढ़ा हुआ है, चर्म से सिया गया है, विष्टा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, वसा और अनेक मल से व्याप्त है। इस प्रकार शरीर की स्थिति होने से आप हमारी गति रूप हैं॥३॥

अपूर्ण

ॐ

मासिक पत्र।

पुस्तक ३ } आश्विन सं० १९७८ अक्टूबर १९२१ { अंक १२

श्लोक— तावद्गर्जन्तिशास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी॥

अर्थ—जब तक महाबलवान् सिंह गर्जना नहीं करता तब तक बन में श्याल खूब गर्जना करते हैं। इसी प्रकार जब तक वेदान्त सिद्धान्त की गर्जना नहीं होती तभी तक अन्य लौकिक शास्त्रों की गर्जना हुआ करती है।

प्रकाशक—पं० शंकरलाल कौशल्य,
बेलनगंज—आगरा।

एक प्रति का मूल्य ।=)

वार्षिक मूल्य ३)

मुद्रक—सत्यव्रत शर्मा, शान्ति प्रेस, मोतीकटरा-आगरा।

विषयानुक्रमणिका।

वेदान्त केसरी के नियम।

(१) यह पत्र प्रत्येक अंग्रेजी महीने के आदि में निकलता है।
(२) वेदान्त विषय का विवेचन करना इसका मुख्य प्रयोजन है।
(३) वार्षिक मूल्य ३) अग्रिम लिया जायगा। बिना मूल्य पत्र किसी को नहीं भेजा जायगा।
(४) एक अङ्क का मूल्य ।–) लिया जायगा। नमूने का अङ्क पांच आने के टिकट आने पर भेजा जायगा।
(५) जिन ग्राहकों के पास समय पर पत्र न पहुंचे उनको १५ तारीख तक सूचना देनी चाहिये।

आवश्यक निवेदन।

इस अंक के साथ तीसरा वर्ष समाप्त हुआ है। आगामी वर्ष के रु० ३) मनीआर्डर द्वारा प्रथम अङ्क निकलने के पहिले भेजने की कृपा करें। जो महाशय वी० पी० से मंगवाना चाहें उनको सूचना देना चाहिये। वी० पी० मंगवाने से दो आने अधिक लगेंगे और भेजने में भी कुछ विलम्ब होगा।

जिनको आगामी वर्ष में ग्राहक बने रहने की इच्छा न हो उन्हें इस मास के अन्त तक मने लिख भेजना चाहिये। जिसकी मने या दाम नहीं आवेंगें उन सब चालू ग्राहकों को एक वर्ष के लिये प्रथम अंक वी० पी० से भेजा जायगा।

सूचना।

वेदान्त केसरी की तीन वर्ष की सजिल्द पुस्तकों में से प्रत्येक वर्ष का मूल्य ३।–), प्रत्येक वर्ष के खुले १२ अंकों का मूल्य ३), किसी भी एक अंक का मूल्य ।–)

वेदान्त केसरी के तीनों साल की पुस्तकों में आई हुई कविताओं का संग्रह "कौशल्य गीतावली" नामक पुस्तक छप रही है। एक प्रति का मूल्य ।–)

डाक खर्च खरीदार को देना होगा।

प्रकाशक—

पुस्तक ३ | आश्विन सं० १९७८। अक्तूबर १९२१ | अंक १२

अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता।

नाराच छन्द।

(१)

अनेक भांति शुक्ल कृष्ण कर्म नित्य कीजिये।
न होय शांति तीर्थ न्हाय द्रव्य दान दीजिये॥
न पाप बीज विप्र का जिमावना निवारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(२)

पचास यज्ञ कीजिये हजार कष्ट पाइये।
भले हि स्वर्ग लोक जाय इन्द्र होय जाइये॥
मिटे न कर्म पाश कृष्णचन्द्र यों पुकारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(३)

उपासना तथाहि कर्म शुद्धि हेतु धारिये।
मिटे अशुद्धि चित्त की निजात्म को विचारिये॥
निजात्म ज्ञान देह बुद्धि शीघ्र ही विसारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(४)

बिना विवेक क्या कभी विराग कोइ पाय है।
बिना विराग के नहीं प्रपंच राग जाय है॥
तजे न राग मूढ़ सो न ब्रह्म ज्ञान धारता॥
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(५)

असत्पदार्थ चाहि आत्म सत्य भी असत्य सा।
अनेक योनि आय जाय जन्म मृत्यु में फँसा॥
उठाय दुःख ज्यां सुधी न आत्म को विचारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(६)

करे अकर्म कर्म कौन, भोग होय है किसे।
विचार, कौन साक्षि, कौन तू प्रपंच में फँसे॥
यथार्थ ज्ञान है यही प्रपंच की असारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(७)

प्रसिद्ध है कि उष्णता न शीत के बिना हटे।
अबोध से बना जगत् स्वबोध से हि त्यों मिटे॥
न चन्द्र ही न अग्नि, एक सूर्य रात्रि टारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(८)

अबोध से पदार्थ ध्यान, ध्यान होत संग हो।
कराय संग काम आदि जीव बुद्धि भंग हो॥
प्रपंच मूल काम मोह कूप मांहि डारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(९)

न अन्य ज्ञान के समान ब्रह्म ज्ञान मानिये।
सुबुद्धि सूक्ष्म लक्ष से अलक्ष्य ब्रह्म जानिये॥
असत्य, सत्य, ज्ञान, ज्ञेय, शब्द ना सहारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

(१०)

सभी हि ब्रह्म, ब्रह्म मैं हिं, ब्रह्म तू पुकारना।
न होय ब्रह्म ज्ञान यों, निजात्म ब्रह्म धारना॥
टिकाव होय कोउ शल्य छेदता न मारता।
अनेक जन्म पाप पुंज ब्रह्म ज्ञान जारता॥

पुरुषार्थ ।

जो अनेक प्रकार की कामनाओं से घिरे हुयेहैं, कामनाओं के अंधेरे में जिनको कुछ नहीं सूझता, कामना की तीव्र शराब पीकर जो मस्त हो रहे हैं, वे अपनी कामनायें पूर्ण करने को पागल हाथी के समान घूमते हैं। लौकिक ऐश्वर्य की दृष्टि ने जिन को संसार चक्र में डाल रक्खा है, जो स्वयम् चक्र में घूमते हुये दूसरों को भी घुमा रहे हैं, जिन की स्वार्थ सिद्धि की अंधा धुन्धी अथवा अज्ञान का फल उनका और दूसरों का नाश है वे आसुरी सम्पत्ति वाले हैं। ऐसे लोग मनुष्य की आकृति में पूरे राक्षस हैं। कार्याकार्य के विचार रहित, योग्यता और शास्त्र विधि रहित जो कार्य होता है वह तामसी है। विचारवान् तथा सद्गुरुओं के युक्ति सहित वाक्यों का विचार न करके कार्य में प्रवर्त होना दुराग्रह है जो नीच गति को प्राप्त कराने वाली है। भगवान् का स्वयं वाक्य है:- "सब भूत प्राणियों के साथ और उन में आत्म रूप से रहा हुआ जो मैं हूं, उसके साथ जो द्वेष करते हैं ऐसे आसुरी सम्पत्ति वाले असुर जगत् के नाश करने के लिये उत्पन्न होते हैं, हे अर्जुन ! मैं उन को वारंवार भयंकर नरकों में डालता हूं !" इस प्रकार आसुरी भाव की प्रवृत्ति में जो स्वयं अंधे हो रहे हैं और दूसरों को भी अन्धा बनाने के लिये बहकाते हैं, वे जगत् के पूरे शत्रु हैं। विद्वान्, शास्त्र विधि जानने वाले और निर्मल अन्तःकरण वाले को उनकी परछाईं लेना भी दोष रूप है। उनके शब्दों का श्रवण करना महा पातक है ! उनको महान् पापिष्ट समझ कर त्यागना ही आवश्यक है। वे अपने कार्य को कर्तव्य या पुरुषार्थ के नाम से भले ही पुकारें किंतु वह कर्तव्य या पुरुषार्थ कभी भी नहीं है। कर्तव्य और पुरुषार्थ का फल लौकिक होते हुये भी नीच गति को प्राप्त कराने वाला नहीं है और जो नीच गति को प्राप्त कराने वाला साधन है वह कभी भी कर्तव्य या पुरुषार्थ नहीं हो सका। रूप में मोहित होने वाला पतंग दीपक को देखकर अपने प्राण खो देता है, उसको कर्तव्य या पुरुषार्थ किसी प्रकार भी नहीं कह सके। लौकिक पुरुषार्थ यद्यपि परम पुरुषार्थ से कनिष्ट है तो भी शास्त्रोक्त है । जो शास्त्रोक्त नहीं है, वह देश, काल, योग्यता रहित मोहावेश और पूर्ण अधोगति के अर्थ ही है। पुरुष और अर्थ मिलकर पुरुषार्थ होता है। पुरा हुआ-भरा हुआ पुरुष है. शरीर में भरा हुआ है ऐसा जो मनुष्य भाव है उसे पुरुष कहते हैं। अर्थ मतलब को कहते हैं। जिसमें पुरुष का मतलब, लाभ, उत्कर्ष, आनन्द, शान्ति आदिक रहते हैं उसे अर्थ कहते हैं और जिसमें इन सब बातों की परमता रहती है उसे परम पुरुषार्थ कहते हैं। लौकिक में पुरुषार्थ चार प्रकार का कहा जाता है; अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। धर्म को प्राप्त कराने वाला जो शास्त्रोक्त प्रयत्न है वह धर्म रूप, शास्त्रोक्त विधि से धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्यादिक प्राप्त कराने वाला जो प्रयत्न है वह अर्थ रूप, विषय सुख की प्राप्ति का हेतु रूप शास्त्रोक्त प्रयत्न काम रूप, और अखंडित अनाद्यन्त सुख की प्राप्ति का हेतु रूप शास्त्रोक्त प्रयत्न मोक्ष रूप पुरुषार्थ कहा जाता है। शास्त्र विधि अथवा योग्यता रहित किया हुआ कोई भी प्रयत्न पुरुषार्थ में शामिल नहीं है। धर्म, अर्थ और काम ये तीन लौकिक- मायिक पुरुषार्थ हैं, इन विधि युक्त पुरुषार्थों से जो फल होता है वह ब्रह्मांड के चौदह भुवनों में होता है। प्रथम धर्म का पुरुषार्थ है। धर्म के पुरुषार्थ रहित अर्थ का पुरुषार्थ नहीं होता इसलिये धर्म रहित ऐश्वर्य प्राप्ति रूप अर्थ का पुरुषार्थ शास्त्र विरुद्ध है और जो धर्म रहित ऐश्वर्य प्राप्ति का प्रयत्न करता है वह अपने नाश का प्रयत्न करता है। धर्म और अर्थ के बाद ही काम रूप पुरुषार्थ की सिद्धि है। इस प्रकार इन तीनों का क्रम है, क्रम होते हुये भी ये तीनों किंचित् अंश में एक दूसरे से सम्मिलित हैं। उन तीनोंमें से एक एक का नाश करके

दूसरे की प्राप्ति कराता है। धर्म का फल रूप धन की प्राप्ति है। जब फल प्राप्त होता है तब जिस का फल है उसको नाश करके उत्पन्न होता है इस प्रकार धर्म का नाश होकर उसका फल रूप धन प्राप्त होता है। जब तक जिस धर्म का फल प्राप्त नहीं होता तब तक वह धर्म रहता है और जब उसका फल प्राप्त हो जाता है तब उसका नाश हो जाता है। इसी प्रकार धन का व्यय-नाश करके कामना की सिद्धि होती है। कामना भोग स्वरूप है। धर्म और अधर्म दोनों ही धर्म कहलाते हैं उन में धर्म का फल धन है और अधर्म का फल पाप-दुःख है। धर्माधर्म का फल स्वरूप मनुष्य जन्म है। मनुष्य देह ही भोग सहित कर्म उत्पन्न करने वाली कर्म भूमि है। अन्य देह केवल भोग भूमि है। जब शास्त्र विधि से कर्म किये जाते हैं तब शुभ कर्मों की उत्पत्ति होती है और जब शास्त्र निषेध कर्म किये जाते हैं तब विरुद्ध धर्म वाले अधर्म की उत्पत्ति होती है। मोक्ष चौथा अंतिम पुरुषार्थ होने से परम पुरुषार्थ कहा जाता है. उसकी उत्पत्ति, क्रम से उत्पन्न किये हुये धर्म अर्थ और काम का नाश करके होती है, धर्म अर्थ और काम के प्रबल प्रभाव रहते हुये परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष की सिद्धि नहीं होती। धर्म अर्थ और काम जो मायिक पुरुषार्थ हैं, उनका फल समग्र दुःखों से रहित नहीं होता क्योंकि उन का फल क्रिया साध्य है यानी उनका फल क्रिया से उत्पन्न होता है। क्रिया व्यक्ति भाव से होती है और देश, काल, योग्यता अधिकारादिक की अपेक्षा रखती है इसलिये उससे जिस फल की उत्पत्ति होती है वह भावरूप होता है और भावरूप फल व्यक्ति को ही प्राप्त होता है, देश, काल आदि से परिच्छिन्न होता है, उससे पुरुष के लौकिक अर्थ की सिद्ध होती है, वह अपने आद्य स्थान से दूर भोग की प्राप्ति कराने वाला और नाशवंत है। मोक्ष रूप पुरुषार्थ इस से विलक्षण है। मोक्ष का फल दुःख रहित परम तत्व रूप है। यह फल क्रियाबाध्य है यानी सब क्रियाओं को समूल तोड़ने से प्राप्त होता है। मोक्ष व्यक्ति भाव, देश, काल, अधिकारादिक सब को तोड़ने वाला है, उस से होने वाला फल आत्म रूप है, व्यक्ति भाव रहित है। मोक्ष सुख अपरिच्छिन्न और अन्त रहित है। मोक्ष माया से बाहर होने से मोक्ष फल मायिक नहीं है। जिस का लक्ष मायिक होता है, उस का फल नाशवंत होता है क्योंकि उस की उत्पत्ति कर्म से है। जिस का लक्ष परम तत्व होता है उस का फल नाश रहित होता है क्योंकि उस की उत्पत्ति कर्म से नहीं है किंतु कर्मों के बन्धन को काट देने से स्वरूप की प्राप्ति है। जो प्रथम से ही प्राप्त था उसी की प्राप्ति है इसलिये अनन्त है। मायिक धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति संपूर्ण संतोष देने वाली नहीं है क्योंकि उस से बढ़ कर और फल भी है। मोक्ष प्राप्ति के पश्चात् कोई फल अवशेष नहीं रहता जिस की प्राप्ति के लिये आगे यत्न करना पड़े, इसलिये मोक्ष तृप्ति रूप है। धर्म, अर्थ और काम के समान मोक्ष व्यक्ति भाव वाला न होने से परम आनन्द स्वरूप है। व्यक्ति भाव का आनन्द परिच्छिन्न है इस से विरुद्ध मोक्ष अपरिच्छिन्न आनन्द स्वरूप है। जैसे किसी ने बगीचा बनाया, यह क्रिया साध्य फल है और किसी ने मलिन जंगल को काट कर साफ मैदान बनाया, यह फल क्रिया त्याग रूप है। मोक्ष अन्तिम पुरुषार्थ होने से परम पुरुषार्थ है। मोक्ष में सब पुरुषार्थों की समाप्ति हो जाती है।

एक मनुष्य को आतिशक की बीमारी हो गई थी इसलिये उस का नाम आतिशकलाल पड़ गया था। यह बीमारी उसके पूर्व कर्मों की निंद्य फल स्वरूप थी। बीमारी मिटाने को उसने अनेक प्रयत्न किये परन्तु बीमारी न घटी, बढ़ती ही चली गई। उसने अपनी विष रूप आग को शरीर के सब स्थानों में फैला दिया जिस से शरीर में दुर्गन्धि फैलने लगी। जब आतिशकलाल ने देखा कि दुर्गन्धि के कारण सब लोग मुझ से घृणा

करते हैं तब उस ने कस्तूरी आदिक मोहक सुगन्धियों का अपने शरीर में लेप करना आरंभ किया जिस से दुर्गन्धि के बदले बाहर से सुगन्धि आने लगी परन्तु भीतर दुर्गन्धि रही आई। जो लोग विवेक रहित, विचार हीन ऊपर की सुगन्धि के ही ग्राहक थे वे उससे प्रेम करने लगे परन्तु विवेकवान् जो जानते थे कि यह बनावटी क्षणिक सुगंधि है, और यह रोग उड़ने वाला और हवा के साथ फैलने वाला है, वे उस से अलग रहे। आतिशकलाल की बीमारी बढ़ती गई और कुछ दिनों में उस की नाक का आगे का हिस्सा सड़ कर गिर गया। इस प्रकार की नाक आतिशकलाल की ध्वजा थी। उसके छुपाने के लिये उसने यह युक्ति लगाई कि वह दूर देश में चला गया और वहां प्रगट किया कि मुझे ईश्वर के दर्शन हो गये हैं। ईश्वर के दर्शन करने में एक नाक ही बीच में आड़ थी, मेरे पूर्व पुण्य से नाक कट गई है और ईश्वर दीखने लगा है। मैंने ईश्वर से प्रार्थना की कि संसारी मनुष्य बहुत दुःखी हैं, परतन्त्रता से हीन दीन हो रहे हैं, किसी प्रकार ऐसी युक्ति मिले कि वे स्वतंत्र होजायँ, कृपा कर कोई ऐसा उपाय बताइये। तब ईश्वर ने इस उपाय के लिये अपनी किताब के बहुत से पन्ने उलट डाले परंतु कोई उपाय न मिला। जब वे विचारने लगे, तब उन्हें विचार करता देख कर मैंने उनसे कहा कि मुझे एक उपाय सूझ आया है कि आप सीधी साधी भक्ति करने से तो जल्दी प्रसन्न नहीं होते, आप से विरोध करने से ही मुक्ति होना संभव है। रावण, शिशुपाल, हिरण्यकशिपु आदिक ने विरोध करके ही मुक्ति प्राप्त की थी। ईश्वर ने मेरी बात स्वीकार करली और कहा कि मुक्ति के मार्ग में आने का चिन्ह नाक कटवाना है। जिस प्रकार नाथ लोग कान कटवाते हैं इसी प्रकार नाक कटवाने से नाककटा तेरा चलाया हुआ मार्ग प्रसिद्ध होगा। मेरा यह मार्ग ईश्वर के यहां से उतरा है जो कोई इस मार्ग में आकर नाक कटावेगा उसे ईश्वर से विरोध करना होगा। इस प्रकार विरोध करके नाक कटवाने से ईश्वर दीख जायगा। उसकी तरफ तिरस्कार करते रहना, उससे अपना संबंध तोड़ देना, ऐसा करने से एक वर्ष में ही निश्चित मुक्ति मिल जायगी। इस प्रकार का उपदेश सुन कर हिये की फूटे और अनुबंध आदिक आगे पीछे के भाव देखने से रहित मुक्ति के लालच से बहुत से मनुष्य उसकी जमाअत में शामिल होने लगे। होते २ पूरी जमाअत होगई। ग्राम २ शहर शहर में जमाअत के निर्वाह के निमित्त चंदा जमा होने लगा। जो कोई जमाअत में शामिल होना चाहे वह ही नाक कटवाले। इस युक्ति से अबुध मनुष्यों में आतिशकलाल की वाह, वाह हो गई। यह जमाअत एक राजा के यहां पहुंची। राजा था ईश्वर भक्त, जब उसने सुना कि नाक कटवाने और ईश्वर से विरोध करने से एक साल में ही मुक्ति हो जाती है, तब वह भी ऐसा करने को तैयार हुआ परन्तु उसका प्रधान बहुत चतुर था और बूढ़ा भी था। राजा जवान था। प्रधान ने राजा से कहा कि आप इस जमाअत में प्रथम न दाखिल हूजिये, मैं दाखिल होता हूं, यदि ठीक ईश्वर का दर्शन होता होगा तो आप भी नाक कटवा कर सम्मिलित हो जाना। प्रधान नाक कटवा कर जमाअत में दाखिल होगया और कई नाक कटों से पूछने लगा कि क्या तुमको ईश्वर दीखता है, मुझे तो कुछ भी नहीं दीखता तब वे बोले कि चुप, ऐसा मत बोल, हमको भी कुछ नहीं दीखता, कसम खा चुके हैं इसलिये ऐसा कहते हैं, तू भी खा चुका है, ऐसा ही तू भी कह कि ईश्वर दीखता है, अब नाक तो कटवा ही चुका है, यदि तू कहेगा तो फजीता होगा, अब तो हमारे समान ही तुझे कहना चाहिये। प्रधान बोला कि मूर्खो! तुमने धोखा खाया सो खाया, दूसरों का नाश क्यों करते हो? तब नाक कटी जमाअत का आचार्य आतिशकलाल बोला कि तू ऐसा विरुद्ध क्यों

कहता है, ईश्वर से विरोध करना यह हमारा मजहब है; जब सब ही नाक कटवा कर दूषित हो जायँगे तब ईश्वर किस २ को दंड देगा, दंड देने के योग्य उसके पास इतने नरक कहां से आये, अन्त में झख मार कर हम सबको मुक्ति ही दे देगा, समझ गया। प्रधान बोला कि हां, मैं समझ गया, तेरी नाक आतिशक की बीमारी से कट गई है उसको छुपाने और अज्ञानियों में अपनी प्रतिष्ठा जमाने को तूने छल किया है, तू स्वयं राक्षस है, और सबको राक्षस बना रहा है, नाम तो मजहब का दिखलाता है, स्वार्थ सामने रख कर सबको बहकाता है और सबको नरक में खींचे लिये जाता है, धिक्कार है तुझको! ऐसा कह कर प्रधान ने राजा के चपरासी को इशारा किया। राजा की पलटन आगई, सब नाक कटे गिरफतार कर लिये गये और एक साथ तोप से उड़ा दिये गये। प्रधान ने राजा और लालच में फँसने वाली प्रजा को इस प्रकार बचा लिया।

आतिशकलाल के इस कर्तव्य को पुरुषार्थ नहीं कह सकते और यह कर्तव्य भी नहीं कहा जाता, वह तो मात्र आसुरी आचार पापार्थ है। शास्त्र में जिसका विधान नहीं है बल्कि निषेध है, ऐसी आसुरी संप्रदाय नरक को भरने वाली है। इसी प्रकार अपना दोष न होते हुए दूसरें की बहकावट में आने वाले, नाक कटाने वाले भी शुद्ध बुद्धि से व्यवहार न करने के दोष से मुक्त नहीं हो सकते। ऐसे नर पिशाचों का कार्य किसी प्रकार लौकिक पुरुषार्थ में शामिल नहीं है। धर्म, अर्थ और काम के लिए शास्त्रानुकूल ही पुरुषार्थ होना चाहिए। वर्णाश्रम धर्म से रहित शंभु मेला ही शास्त्रविरुद्ध है तब उससे किया हुआ कार्य किस प्रकार शास्त्र सिद्ध होगा।

एक ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यंत धार्मिक और सत्यनिष्ठ था, सत्यासत्य, लाभ हानि का शास्त्रोक्त विचार करके वर्तने वाला था, नित्य नियम करने के पश्चात् व्यवहारिक कार्य किया करता था और इसी धर्म से नित्य वर्तता था। यद्यपि वह विशेष श्रीमान् न था तो भी संतोषी और कई प्रकार से सुखी था। उस ग्राम में एक कायस्थ भी रहा करता था वह अपवित्र रहने वाला और धर्म शास्त्र के अनुकूल चलने वाला न था। किसी प्रकार भी व्यवहारिक सुख प्राप्त करना चाहिए, यह उसका सिद्धांत था। उसके पास कुछ धन भी जमा होगया था! वह ब्राह्मण से वारंवार कहा करता "तू नित्य पवित्र कर्म करता है तो भी तुझे कोई विशेष लाभ होता हुआ मैं नहीं देखता, जैसे तैसे अपना गुजारा करता है। मेरी स्थिति को भी तू देखता है कि मैं नित्य शराब पिया करता हूं और अनेक प्रकार के अधर्माचरण भी मेरे हाथों से हुआ ही करते हैं, मैं न्याय अन्याय को नहीं देखता, ऐसा होते हुए भी तू देखता है कि मेरे घर में किसी वस्तु की कमी नहीं है, मैं एक प्रकार श्रीमान् हूं और मौज उड़ा रहा हूं!" ब्राह्मण इस प्रकार के शब्दों को बिना उत्तर दिये शांति से सहन किया करता था।

एक दिन ब्राह्मण गंगा स्नान करने गया और स्नान करने की तैयारी में ही था, इतने ही में एक भारी कांटा उसके पैर में घुस गया और पैरमें से लोहू निकलने लगा। बहुत रक्त निकलने से ब्राह्मण मूर्छित सा होगया। आस पास के लोगों ने कुछ पत्ते पीस कर घाव पर लगा दिये और एक वस्त्र फाड़ कर पट्टी बांध दी। थोड़ी देर में अत्यन्त दुःख होने पर भी ब्राह्मण ने स्नान किया और अपनी नित्य क्रिया भी की, पश्चात् दोपहरी में लंगड़ाते हुए पैर से अपने घर जाने लगा। मार्ग में उसे वही कायस्थ मिला। कायस्थ के पूछने पर ब्राह्मण ने पैर की व्यवस्था वर्णन की। यह सुनकर कायस्थ बोला "देखा! तेरा जीवन बहुत शुद्ध और पवित्र है, तू अत्यन्त ध्यान पूर्वक धार्मिक विधि के कर्म नित्य किया करता है तो

भी आज तुझे कितना कष्ट भोगना पड़ा है, मरण होना ही शेष रहा है, देख आज जिस दिन तेरी यह दुर्दशा हुई है, उसी दिन आज ही (छाती पर हाथ रखकर) इस छैल को-जिसको तू अधर्मी समझता है उसको यकायक सुवर्ण की अशरफियों से भरी हुई थैली मिल गई है! बोल, जिन्दगी का विशेष लाभ किसको है?" दोनों की बातें हो रहीं थीं, इतने में ही वहां एक ज्योतिषी पंडित आ गया। ब्राह्मण ने उसे सब वृत्तांत सुनाया और कहा "मुझे धर्म का आचरण करते हुए दुःख भोगना पड़ता है, और इसको पापाचरण करते हुए सुख प्राप्त होता है, इस प्रकार भाग्य की विलक्षणता का-कर्म के विरुद्ध फल होने का क्या कारण है?" ज्योतिष शास्त्रमें निपुण उस ज्योतिषी ने पंचांग देख, ग्रहों को विचार कर कहा "हे ब्राह्मण! तू अपने गत जन्म में एक पापी मनुष्य था, और तेरे हाथों से ब्रह्महत्या और गौहत्या के समान कई महापातक हुये थे, उन पापों के फल से आज शूली पर चढ़ कर तेरा मृत्यु होना चाहिये था परंतु तूने अपने वर्तमान जन्म में अनेक धर्म कार्य किये हैं और नित्य करता है इसलिये तेरा शूली का दुःख आज शूल (कांटा) लगने में ही निवृत्त होगया है। यह कायस्थ गत जन्म में एक अत्यन्त धर्मात्मा और पवित्र पुरुष था, उसके हाथों से अनेक धार्मिक कार्य हुए थे, उस पुण्य के प्रभाव से यह आज राजा होने वाला था परंतु वर्तमान जन्म में इसने अधर्माचरण किये हैं और नित्य कुकर्म करता जारहा है इसलिये उसका राजा होना रुक गया और थोड़ा सा सुवर्ण इसको प्राप्त हो गया।" इस प्रकार का कथन सुनकर दोनों अपने२ घर चले गये।

ब्राह्मण का शुभ वर्ताव लौकिक पुरुषार्थ था और कायस्थ का वर्ताव पापाचरण था। यदि लौकिक पुरुषार्थ तीव्र हो और पूर्व के किसी फल की रुकावट नहीं हो तो इस जन्म में भी फल दे सकता है। इसी प्रकार यदि शुभ कर्मों का फल देह, देश, कालादिक से अविरोधी हो तो पूर्व प्रारब्ध के न्यून फल को काटने में अथवा बदलने में समर्थ होता है। शास्त्रविहित शुभ कर्मों की भी लौकिक पुरुषार्थ में गिनती है। धर्म मुख्य है और धन और काम उसके बाद के हैं। कायस्थ का पूर्व पुण्य लौकिक पुरुषार्थ था, उसके वर्तमान पापाचरण में भी वह कुछ मदद देने वाला ही हुआ। शास्त्रोक्त, धर्म, अर्थ, और काम सकाम अथवा निष्काम भाव के अनुसार पुरुषार्थ में गिने जाते हैं।

मोक्ष जो परम पुरुषार्थ है, उसका क्रम यद्यपि लौकिक पुरुषार्थ से विलक्षण है तो भी उस का आरंभ शास्त्र से ही होता है। शास्त्रोक्त जितने विधि सकाम कर्म करने वाले को फल देने वाले होते हैं वे सब विधि से किये हुये निष्काम कर्म अन्तःकरण को शुद्ध करते हैं और शुद्ध अन्तःकरण में ज्ञान होता है। वृद्धि को प्राप्त हुये सब संस्कारों का नर्मूल कर देने वाला ज्ञान है। सकाम कर्म संसार की तरफ की चाल है और निष्काम कर्म चली हुई चाल से उलटा लौटना है इसलिये मोक्ष के निमित्त कायिक, वाचिक और मानसिक जितनी प्रवृत्ति है वह संसार की प्रवृत्ति के निवृत्त करने के निमित्त है। जैसे कोई मनुष्य जो अपने स्थान से दूर देश में चला गया हो तो उसका वह चलना उसके स्थान से उसे दूर करने वाला है, जब वह वहां से लौटता है तब मुख को फेर कर चलता है, चलना इस में भी है, परन्तु यह चलना उसे उसके स्थान के समीप लाने वाला है इसलिये इस प्रवृत्ति को निवृत्ति करते हैं क्योंकि अपने स्थान पर आ कर उस का चलना निवृत्त हो जायगा। अनेक कामनाओं का अन्तःकरण में बना रहना संसार और प्रवृत्ति है और उन सब कामनाओं का अन्तःकरण से निकल जाने का नाम निवृत्ति है। यद्यपि यह निवृत्ति परम पुरुषार्थ मोक्ष को उत्पन्न करने वाली नहीं है क्योंकि मोक्ष उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है किन्तु स्वयं सिद्ध है। इस स्वयं सिद्ध

मोक्ष की प्रतीति जिस अज्ञान के कारण नहीं होती उस अज्ञान को तोड़ देना और अपने आप में टिक जाना परम पुरुषार्थ कहा जाता है। जो परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है यानी अपने स्वरूप में टिक जाता है वह कृत कृत्य हो जाता है। पश्चात् उस के लिये इस जगत् में कुछ कर्तव्य नहीं रहता इसी प्रकार स्वर्गादिक परलोक के निमित्त भी उस के लिये कुछ करना अवशेष नहीं रहता। उस ने अपना जन्म सार्थक कर लिया ऐसा समझना चाहिये। वह ही धन्य है! धन्य है!!

नित्य प्रति अनुभव होता रहता है कि वे के वे कार्य ही हम नित्य किया करते हैं। पांचों इन्द्रियों के भोग नित्य भोगे जाते हैं। हमारी समान ही पशु पक्षी और जीव जन्तु कीटादिक भी इन्हीं पांच इन्द्रियों के भोगों को भोगते हैं। शास्त्र के अनुसार हमारे भी अनेक जन्म हुये होंगे और वे सब भोग हमने भोगे ही होंगे। इस प्रकार अनन्त काल से हम भोग भोग रहे हैं। इस जन्म में भी नित्य वे के वे ही भोग भोगते हैं परन्तु हमारी तृप्ति क्यों नहीं होती? नित्य वह का वह ही खाना पीना, पहिनना, ओढ़ना, देखना, सूंघना, छूना, लेना देना करते हैं, नवीनता कुछ भी नहीं है तब भी तृप्ति क्यों नहीं होती? पांच विषयों के सिवाय छः ठा विषय किसी को प्राप्त होता नहीं दीखता तब भी वारम्वार भोगे हुये उन्हीं विषयों में क्यों इच्छा होती है? रोज भोगे हुये भोग ही भोगते हैं, नया भोग प्राप्त नहीं होता! कितनी मूर्खता है कि चबाये हुये चनों को ही रोज़ चबाते हैं, उन्हीं की इच्छा करते हैं, उन्हीं में दुःख उठाते हैं, दुःख होता जाता है तो भी इच्छा नहीं छोड़ते! हाय! यह कौन सा भूत हमारे में घुस गया है कि मलिन पदार्थों की तरफ ही नित्य दौड़ा करता है। क्या विषयों की जाति में भिन्नता है? विषयों की भिन्नता कहीं भी नहीं है। आहार, निद्रा, भय और मैथुन का सुख सब योनियों में ही समान है! तब रात दिन उसी कर्म में लगे रहने से मनुष्य की क्या विशेषता रही। ये सब विषय आदि अन्त और मध्य में दुःख रूप ही हैं उन में चित्त लगना न चाहिये। हमेशा शान्ति बनी रहे ऐसा कोई मार्ग ढूंढना चाहिये। जब इस प्रकार की बुद्धि किसी एक पुण्य प्रभाव वाले मनुष्य में होती है तब वह अविचल सुख-शान्ति की खोज में लगता है! जब भौतिक ऐश्वर्य उसे अच्छा नहीं लगता तब वह अधिकारी के साधनों का वर्ताव करने लगता है और अधिकारी के लक्षण सहित मुमुक्षु बनता है। प्रपंच का जिस का जितना भाव उठता है वह उसी प्रकार मुमुक्षु होता है। जिसका प्रपंच का भाव विशेष हट जाता है और जो अधिकारी के विशेष लक्षण प्राप्त कर लेता है वह उत्तम अधिकारी होने से उसे गुरु समागम द्वारा तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के श्रद्धा पूर्वक श्रवण से ही लक्ष पहुंच कर बोध हो जाता है।

जिसका प्रपंच का भाव मध्यम रूप से छुटा है और जिसने अधिकारी के लक्षण भी मध्यम भावसे प्राप्त किये हैं वह मध्यम अधिकारी होनेसे उसे गुरु समागम और सत्संग से तत्वमसि आदि महावाक्यों की श्रद्धा पूर्वक भाग त्याग लक्षणा से बोध हो जाता है परंतु टिकता नहीं है, उत्तम अधिकारी के समान दृढ़ बोध नहीं होता इसलिये उसे वारंवार श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये। ऐसा करने से अधिकारी के लक्षणों और त्याग में जो न्यूनता होती है, और विपरीत भावना और असंभावना का जो स्फुरण होता है उन दोनों की निवृत्ति हो जाती है और दृढ़ अपरोक्ष बोध हो जाता है। जिसको प्रपंच की तरफ कुछ तिरस्कार है और जिसने अधिकारी के थोड़े से लक्षण प्राप्त किये हैं वह मंद अधिकारी है। उसे सत्संग ही बहुत आवश्यक है, महावाक्यों से उसे बोध नहीं होता क्योंकि अभी वह इस योग्य नहीं है तो भी उसे श्रवण मनन करना चाहिये और अंतःकरण की शुद्धि के निमित्त, चंचलता की निवृत्ति के लिये उपासना

भी करनी चाहिये अथवा योग की क्रियाओं से अंतःकरण की शुद्धि करनी चाहिये। ज्यों २ शुद्धि होती जाती है त्यों त्यों श्रद्धा, त्याग बढ़ता जाता है और वह आत्मा के समझने की युक्तियों को समझने लगता है और उनका वारंवार अभ्यास करने से श्रवण, मनन और निदिध्यासन तक पहुंच जाता है तब उसको महा वाक्यों से बोध प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार तीनों प्रकार के अधिकारी पुरुषार्थ करके परम पद प्राप्त करते हैं। यदि वे अपने करने के पुरुषार्थ में न चूकें तो अवश्य मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यदि प्रयत्न करते हुये दृढ़ बोध हुये बिना शरीरांत हो जाय तो भी वे जगत् में फिर नहीं आते, क्रम मोक्ष से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। इस से भी कम प्रयत्न करने वाले शरीरांत के बाद स्वर्गादिक लोकों में जाकर, वहां के भोग भोग कर फिर मनुष्य शरीर धारण करते हैं और पूर्व के अपूर्ण रहे अभ्यास को पूर्ण करते हैं। ऐसे पुरुष योग भ्रष्ट कहे जाते हैं। मोक्ष के मार्ग में जो किंचित् भी चलता है, उस के उत्पन्न हुये संस्कारों का नाश नहीं होता और वह क्रमशः मोक्ष को ही प्राप्त होता है।

शिष्य, अशिष्य और शिष्य की योग्यता सद्गुरु समझते हैं। शिष्य किस प्रकार का अधिकारी है यह भी वे जानते हैं, जो जैसा अधिकारी समझा जाता है, उसे वैसा ही उपदेश देकर बोध कराते हैं, यदि शिष्य इच्छा वाला, शिष्य-भाव और मुमुक्षुता रहित होता है तो उस से कहते हैं कि अभी तू मुमुक्षु नहीं है, जो तुझे मुझ में श्रद्धा हो तो शुद्धि के हेतु रूप जो उपासना दान आदिक मैं तुझे बताऊं उस प्रकार करने से तू शुद्ध हो कर मुमुक्षु हो जायगा तब मैं तुझे उपदेश दे सकता हूं।

एक योग्य शिष्य एक ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के पास पहुंचा। वह उत्तम अधिकारी के लक्षणों से युक्त था, उसने गुरु के समीप विधिवत् निवास किया और एक दिन गुरुको प्रसन्न देख कर कहा "हे गुरुदेव! मैं मोक्ष चाहता हूं, आप मुझे उपदेश दीजिये!" गुरु बोले "हे शिष्य! तू चाहना क्यों करता है? तू तो स्वयं मोक्ष स्वरूप है।" शिष्य बोला "महाराज! किस प्रकार? मैं तो बंधन में हूं, जन्मने मरने वाला जीव हूं!" गुरु बोले "नहीं! तू भूलता है! तेरा जन्म-मरण कहां है? क्या तुझे अपने जन्म होने की खबर है?" शिष्य बोला "महाराज! मुझे खबर कहां से हो? मैं ही जन्मा, माता पिता कहते हैं कि अमुक साल, अमुक मास, अमुक दिन तेरा जन्म हुआ था, इससे मैं जानता हूं।" गुरु बोले "नहीं! वे लोग तेरे जन्म का कथन नहीं करते, तेरे शरीर का जन्म बताते हैं, बोल, तुझे अपने मरण की खबर है या नहीं?" शिष्य बोला "नहीं! मैं ही मरूंगा, तब खबर कौन रक्खेगा?" गुरु बोले "यह भी तेरा कथन ठीक नहीं है, तेरा शरीर ही मरेगा, तू नहीं मरेगा बात तो यह है कि तू मरता या जन्मता नहीं है इसलिये मरने जन्मने की तुझे खबर नहीं है!" शिष्य बोला "ठीक! जब ऐसा ही है कि शरीर ही मरता और जन्मता है तब शरीरका मरना जन्मना मुझे मालूम होना चाहिये! परन्तु मालूम नहीं होता! इसलिये शरीर से भिन्न मैं कोई और हूं, ऐसा नहीं होगा!" गुरु ने कहा "नहीं! तू शरीर से भिन्न है, परन्तु अपने स्वरूप का तुझे भान नहीं है, तू शरीर को 'मैं' मानता है, शरीर का जन्म मरण तेरे जानने का विषय नहीं है, जगत् में जितना ज्ञान होता है वह अन्तःकरण से होता है और होने वाले स्थूल शरीर के अनुसार अन्तःकरण में परिवर्तन होता है इसलिये अन्तःकरण भी नहीं जानता, यदि तू कहे कि शरीर के सिवाय और मैं नहीं हूं, तो ऐसा तू वर्तता नहीं है क्योंकि तू शरीरको अपना कहता है, और अपना कहने वाला अपनी वस्तु से भिन्न होता है इसलिये तू शरीर नहीं है। इसके सिवाय यदि तू शरीर को ही आत्मा माने तो धर्म, कर्म की व्यवस्था नहीं रहेगी क्योंकि जिस शरीर ने शुभ कर्म किये

है, जब वह नाश हो गया तो शुभ कर्मों का फल कौन भोगेगा। वास्तविक तो शरीर के संग से प्राप्त हुआ जीव भाव भी तेरा स्वरूप नहीं है, वह सब अज्ञान का कार्य है और तू अखण्डित अविचल तत्व है। अविद्या और अविद्या की उपाधियों को छोड़ कर जो शुद्ध रहता है वह तू है और माया और माया की उपाधियों को त्याग कर जो शुद्ध रहता है वह ईश्वर है, वस्तु रूप से वे दोनों तत्व भिन्न २ नहीं हैं, दोनों ही परब्रह्म स्वरूप हैं। अपने को वह ही स्वरूप जानना मोक्ष है। तू अपने स्वरूप में विक्रिया को प्राप्त हो कर जीव नहीं बना है, तू तो जैसे का तैसा ही है, एक भूल के कारण तू अपने को जीव मानता है और शरीर वाला बनता है, और अपने को अविद्या के कार्यों का कर्ता भोगता समझता है, इस अविद्या को छोड़ दे। जिस प्रकार जाग्रत् में तू रहता है इसी प्रकार स्वप्न और सुषुप्ति में रहता है। जाग्रत् की उपाधि से भिन्न तुझे अपना स्वरूप नहीं दीखता परन्तु स्वप्न में जाग्रत् की उपाधियों का अभाव होता है इसलिये तू जाग्रत् की उपाधि से रहित सिद्ध होता है। स्वप्न में स्वप्न उपाधि से भिन्न तू अपने को नहीं जानता, परन्तु सुषुप्ति में जाग्रत् स्वप्न दोनों की उपाधियों से रहित तू होता है तो भी शरीर के भाव वाला तू अपने को इस प्रकार शरीर से भिन्न नहीं जानता। तू शरीर के भाव को छोड़ दे फिर देख कि तू सर्व व्यापक है या नहीं! बन्धन के अभिमान से तू बन्धन में है। यदि यह अभिमान निवृत्त हो जाय तो तेरे स्वरूप में कोई भी बन्धन नहीं है। तू स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का अभाव कर और जिस अविद्या के ये तीनों शरीर कार्य हैं उस अविद्या का भी अभाव कर फिर देख कि तू सब का अवशेष रहा हुआ ब्रह्म स्वरूप है या नहीं।" शिष्य उत्तम अधिकारी था ही, जब उसने गुरु के उपदेश के अनुसार सब प्रपंच भाव को हठा कर देखा तब उसे दृढ़ बोध हुआ और परम शान्ति प्राप्त हुई। पश्चात् वह शेष प्रारब्धानुसार जीवन्मुक्त हो कर विचरने लगा।

अज्ञान का निवृत्त होना और स्वरूप की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है। महान् तृप्ति, महान् अभय, परम शान्ति, और जन्म मरण रूप महान् व्याधि का छूटना परम पुरुषार्थ बिना सिद्ध नहीं हो सकता। जिसने यह किया है उसने सारे ब्रह्माण्ड को जीत लिया है। वह ही महान् स्वतन्त्र और सब देवों का महान् देव है!

---*---

तत्त्वमसि।

(गतांक से आगे)

तीन प्रकार की लक्षणा पूर्व बतलाई हैं। उनमें से जहत् लक्षणा महा वाक्यों में नहीं लग सकती क्योंकि जहत् लक्षणा में वाच्यार्थ का समग्र त्याग होता है, मात्र उसके सम्बन्धी का ही ग्रहण होता है। जहत् लक्षणा लगाने से तत्त्वमसि में रहे हुये ईश्वर और जीव की उपाधि और चेतन सब का ही त्याग हो जायगा और है में जो उन दोनों की एकता होती है सो न होगी। इसी प्रकार अजहत् लक्षणा का लगना भी तत्त्वमसि में संभव नहीं है क्योंकि अजहत् लक्षणा में संपूर्ण वाच्यार्थ के ग्रहण सहित उसके संबंधी का भी ग्रहण होता है। यदि ईश्वर और जीव दोनों की उपाधियों का ग्रहण होगा तो दोनों की एकता बन न सकेगी। तीसरी जहदाजहत् लक्षणा जिसको भाग त्याग लक्षणा कहते हैं, वह ही महावाक्यों में लग सकती है। उसमें वाच्यार्थ के कुछ अंश का त्याग और कुछ अंश का ग्रहण होता है। तत्त्वमसि ईश्वर और जीव की एकता का कथन करता है, दोनों विरुद्ध लक्षण वाले होने से उनकी एकता नहीं हो सकी इसलिये लक्षणा पहुंचानी पड़ती है। जहदाजहत् लक्षणा से उपाधियों को त्याग कर चेतन में एकता होती है। उसे समझने को नीचे कोष्ठक देते हैं।

तत्त्वमसि महावाक्य का भाग त्याग लक्षणा से निश्चितार्थ।

पद	तत्	त्वं	असि
शब्द	वह	तू	है
वाच्यार्थ	ईश्वर	जीव	होना
वाच्यार्थ का स्वरूप	माया, आभास और चेतन	अविद्या, आभास और चेतन	उपाधि सहित होना
भाग त्याग	माया और आभास	अविद्या और आभास	उपाधि
ग्रहण अंश	चेतन	चेतन	है
निश्चितार्थ	ईश्वर और जीव की उपाधियों को छोड़ कर जीव चेतन और ईश्वर चेतन एक ही है।		

जीव चेतन जीव की और ईश्वर चेतन ईश्वर की उपाधियों से संयुक्त है। जब जीव और ईश्वर को उन की उपाधियों का त्याग करके समझते हैं तब चेतन अंश में दोनों की भिन्नता नहीं है। चेतन अंश दोनों में समान है इतना ही नहीं परन्तु एक ही है क्योंकि चेतन सर्व व्यापक है और जीव की परिच्छिन्नता तो उपाधि से और ईश्वर की अपेक्षा से है। इसी प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा और माया की उपाधि से ईश्वर की परिच्छिन्नता है। जीव और ईश्वर की पृथक्ता चेतन से नहीं है इसलिये उपाधियों का त्याग करने से नाम रूप वाला जीव और नाम रूप वाला ईश्वर नहीं रहता किंतु एक अखंडित ब्रह्म रहता है। वह ही मेरा आद्यस्वरूप शुद्ध आत्मा है। इस प्रकार का बोध तत्त्वमसि महावाक्य से प्राप्त होने से जगत् के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होती है। जब तक जीव को अपना विवेक नहीं होता तब तक जन्म मरण के अनेक कष्टों को भोगता है। विवेक होने से सब कष्टों सहित संसार की निवृत्ति होजाती है। जैसे सब नदियां एक ही समान जल होने पर भी देश, स्थान, प्रवाह, आदिक की उपाधियों से भिन्न २ नाम और रूप वाली होती हैं। किसी का जल निर्मल, किसी का गदला, किसी का हरा, किसी का सफेद, किसी का पाचक और किसी का बादी होता है। जिन देश, वनस्पति आदि का संग नदी करती है उन का गुण नदी के जल में होता है। नदियां छोटी, बड़ी, सूखने वाली, न सूखने वाली, पूर्व वाहिनी, पश्चिम वाहिनी होती हैं, यह सब भेद उपाधि का है। जब नदी सब प्रकार की उपाधियों को छोड़ कर समुद्र में मिल जाती है तब नदी की पृथक्ता नहीं रहती, नदी का जल और उसका गुण भी नहीं रहता। नदी जब अपने नाम रूप को छोड़ कर अखंडित भरपूर, अमर्यादा वाले समुद्र में एकता को प्राप्त होती है, तब वहां गंगा, जमुना आदिक का भेद नहीं रहता। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य से उत्पन्न हुआ बोध सब उपाधियों का त्याग कराने वाला है। उपाधियों का त्याग होने से जीव अपने जीवत्व-प्रपञ्च को छोड़ कर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। वहां जीव की पृथक्ता नहीं रहती। उपाधियों का स्वरूप से त्याग करना देहधारी को अशक्य है क्योंकि प्रारब्ध प्रवाह से देह बनी रहती है, जब तक प्रारब्ध समाप्त न हो तब तक देह की समाप्ति नहीं होती। स्थूल, सूक्ष्म सब उपाधियां अज्ञान जनित कल्पित हैं। जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है तब सब उपाधियों के भाव का क्षय हो जाता है। ऐसी हालत में जगत् के मनुष्यों को उपाधि दीखती भी रहे, तो भी वह ज्ञानाग्नि से दग्ध होने के कारण ज्ञानी को उपाधि रहित का ही फल होता है। बन्धन में सब भिन्न २ हैं परन्तु बन्धन की वास्तविक निवृत्ति से अपने आद्य स्वरूप में सब एक ही हैं और उपाधि होते हुये भी सत् स्वरूप

में कुछ भी भिन्नता नहीं हुई है तो भी पूर्ण विवेक बिना-आत्म बोध बिना सत् स्वरूप जानना अशक्य है।

किसी २ जङ्गल में मं नाम का जानवर होता है जो रीछ और मनुष्य की आकृति से मिलता झुलता होता है। उसके शरीर पर रीछ के समान बाल होते हैं। उन जानवरों में नर से मादा अधिक होती हैं। कोई २ उसे एक प्रकार का रीछ ही कहते हैं। उसके शरीर में गरमी विशेष होती है। नर की न्यूनता से विषय की प्रबलता के कारण उसकी मादा जँगल में से कभी २ जिस किसी मनुष्य को अकेला पाती है, पकड़ कर पीठ पर लाद कर अपनी गुफा में ले आती है और गहराई वाली गुफा के भीतर रखकर, गुफा के दरवाजे पर भारी पत्थर लगा कर बाहर चली जाया करती है। पत्थर इतना भारी होता है कि गुफा में बंद किया हुआ मनुष्य उसे उठा नहीं सकता। गुफा में बंद किये हुये मनुष्य को मं की मादा मारती नहीं है किंतु उससे प्यार करती है, कच्चा मांस खाने को और जल पीने को देती है। इस प्रकार रक्खे हुये मनुष्य से वह अपने विषय भोग की तृप्ति करती है। दो चार मास में जब मनुष्य शक्तिहीन और उसके काम का नहीं रहता तब उसे उठाकर गुफा के बाहर डाल देती है। इस प्रकार सब शक्ति चूस कर निर्माल्य करके छोड़ा हुआ मनुष्य बाहर की हवा लगते ही मर जाता है।

ऐसी एक गुफा में एक मनुष्य बोल रहा है "हाय! अब मैं क्या करूं? बुरा फँसा! मैंने अपनी सैन्य का साथ छोड़ कर यह आपत्ति ग्रहण की है! मैं सब अपराधियों को दंड देने वाला होकर भी आज बिना अपराध इस अन्धेरी गुफा में बंद पड़ा हूं! हाय! मेरे एक शब्द के साथ हजारों मनुष्य तैयार हो जाते थे! आज मेरी आवाज सुनने वाला मेरी मदद को आने वाला कोई भी नहीं है! हाय दैव! तेरी विचित्र गति ने आज मुझको दीन किया है! तूने बड़े २ सिद्ध और मुनीश्वरों को भी अपने वश करके वारंवार दीन किया है। तब राजा कहलाता हुआ भी मैं एक सामान्य मनुष्य दैव कोप से किस प्रकार बच सकता हूं!" राजा कुछ और बोलना चाहता था कि "ऊंह ऊंह" ऐसा शब्द उसके कान में पड़ा! राजा, यह समझ कर कि यह शब्द मेरे समान विपत्ति में पड़े हुये किसी मनुष्य का है, बोला "क्या यहां मेरे समान दुर्भागी और भी कोई है?" एक बहुत धीमी आवाज आई "हां! राजा! तू धीरे २ मेरे पास आ! तू जहां है वहां से दहनी तरफ टटोलता हुआ आ! मैं भी तेरे समान एक अभागी मनुष्य हूं!" राजा उसके कहे अनुसार गया, वहां उसने एक मनुष्य पड़ा पाया। उसमें का सब तेज चला गया था, वह उठने बैठने की शक्ति से रहित था आवाज भी बैठ गई थी परन्तु थोड़ा २ बोल सकता था। राजा ने कहा "हे मनुष्य। तू कौन है?" वह मनुष्य बोला "हे राजा! मैं एक गरीब मनुष्य हूं, पास के ग्राम में रहता हूं नित्य जंगल में लकड़ी काटने आया करता था, और उन्हें बेच कर गुजारा किया करता था। मेरे एक छोटा लड़का और स्त्री है, आज से डेढ़ मास पहिले एक दिन जंगल में से लकड़ियां काट कर शिर पर रखने को ही था कि मं की मादा अचानक आ पहुंची और मुझे उठा कर इस गुफा में लाकर बंद कर दिया। वह मुझे कच्चा मांस खाने को, और पानी पीने को देती है और मुझसे विषय भोग कराती है। मैं दिन पर दिन कमजोर होता चला जा रहा हूं। जब उसने मुझे कमजोर देखा तब वह तुझको ले आई है। अब वह तेरे साथ भी ऐसा ही व्यवहार करेगी। हाय। मैं तो भूलता हूं, आप तो राजा हैं, आप अपनी सामर्थ्य से बाहर निकल सकते हैं।" राजा बोला "हे मित्र। अब तू मुझे राजा मत कह, इस स्थान पर न तो तू लकड़िहारा है और न मैं राजा हूं। इस जेलखाने में मेरा राजापन कुछ

काम नहीं आ सकता। राजा के साथ राज्य की उपाधि होती है, यहां पर तो जैसा तू है ऐसा ही मैं हूं। देख तो सही! हम कैसी दुर्गन्धि में पड़े हुये हैं।" कठियारा बोला "राजा! दुर्गन्धि तो टट्टी, पेशाब और सड़े हुये मांस की है। आप कहां के राजा हैं और मुझ दुर्भागी के साथी किस प्रकार हुये हैं?" राजा बोला "मित्र। यहां से पच्चीस कोश पर एक पहाड़ है, मैं वहां का राजा हूं, मेरे दो पुत्र और कई रानियां हैं। धन, सैन्य, नोकर, चाकर, आदिक सब वैभव बड़े राजा की शोभा के समान हैं परन्तु हाय! इस समय कोई भी किसी काम का नहीं है। मैं जंगल में शिकार खेलता हुआ अकेला रह गया था, मेरे साथी और सैन्य दूर रह गये थे। जब मैं बहुत थक गया तब विश्रांति लेने को घोड़ा एक पेड़ से बांधने लगा इतने ही में मुझे पीछे से किसी ने पकड़ लिया, मैं बहुत चिल्लाया, हथियार मैंने प्रथम ही जमीन पर रख दिये थे। मेरी चिल्लाहट सुनने वाला वहां कोई न था, मैं चिल्लाता ही रहा, मं जानवर मुझे इस गुफा के पास लाया होगा कि मैं देखते २ बेहोश होगया। फिर मुझे खबर नहीं कि वह मुझे यहां कैसे लाया।" कठियारा बोला "वह पत्थर खोल कर यहां चली आई और तुझे रख कर फिर पत्थर बंद करके बाहर चली गई है। मैंने जान लिया था कि मेरे समान कोई और आगया है, तू घंटे भर बेहोश रहा, फिर होश में आकर विचारने लगा" राजा बोला "अब वह कब आवेगी?" कठियारे ने कहा "दिन भर वह जंगल में रहेगी, रात्रि के समय आवेगी, मुख में थोड़ा जल भर लावेगी, और मांस का टुकड़ा हाथ में लेती आवेगी, जो तुझे खिलावेगी!" राजा घृणा करता हुआ बोला "हाय! कच्चा मांस मुझसे कैसे खाया जायगा! इससे तो वह मुझे मार दे तो अच्छा!" कठियारा बोला "राजा! वह तुझे मारेगी नहीं, उलटा प्यार करेगी! अच्छा न लगते हुए भी प्राण बचाने के लिये सब कुछ खाना पड़ता है। राजाजी! आप समर्थ हैं! अपने सामर्थ्य को अजमाइये!" राजा बोला "मित्र! मेरी हंसी क्यों करता है? अब मैं राजा कहां हूं! जैसा तू मनुष्य है ऐसा ही मैं हूं! न तेरी उपाधि कठियारे की रही न मेरी राजा की! मैंने सुना है कि मोक्ष में सब एक हो जाते हैं, किसी की कोई उपाधि नहीं रहती! इस समय तो मं ने अपने कैदियों को एक कर रक्खा है! हाय! देव! भाई कठियारे! इस स्थान पर तू ही मेरी माता है, तू ही पिता है! तू ही विशेष समय का यहां का निवासी है! मेरे बचने की मुझे कोई युक्ति बता!" कठियारा बोला "हाय! मुझे युक्ति मालूम होती तो मैं क्यों पड़ा रहता!" राजा बोला "भाई! तू मं जानवरी को जानता है और इस गुफा का भी भेदी है!" कठियारा बोला "भाई! मैं एक युक्ति बताता हूं। इस गुफा में से बाहर जाने का मार्ग नहीं है, गुफा पत्थर की बनी हुई है, मैंने गुफा के बांई तरफ दश कदम पर कुछ मट्टी सी देखी है, यदि तू उसे खोद सके तो खोद, तीन चार दिन में छिद्र बाहर फूट आवेगा, तब तू निकल जाइओ और कई मनुष्यों को लाकर मेरे निकालने का भी यत्न कीजिओ!"

राजाने वह स्थान देखा तो कठियारे का कहना सच्च मालूम दिया। नोकीला पत्थर लेकर वह उस स्थान को खोदने लगा। चौथे दिन छेद होगया और राजा बाहर निकल गया। उसकी सैन्य के मनुष्य उसे खोज रहे थे। राजा उनसे मिला और कई मनुष्यों को साथ लेकर गुफा के पत्थर को खिसकवा कर कठियारे को बाहर निकाला और पालकी में बैठा कर सार संभार करने के लिये अपने साथ लेगया।

मं की गुफा में राजा और कठियारा दोनों की उपाधि का त्याग हुआ था। दोनों का एक मनुष्यत्व ही रह गया था। इसी प्रकार तत्त्वमसि महावाक्य से जीव ईश्वर दोनों की उपाधियों का

त्याग करने से एक चेतन ही रहता है। मनुष्यत्व व्यक्ति वाला होने से मं की गुफा में दो मनुष्य रहे थे परन्तु चेतन व्यक्ति वाला न होने से और व्यक्ति वाला चेतन जो उपाधि रूप है उसका त्याग होने से चेतन एक ही रहता है। वह ही परम पद है। वह ही ब्रह्म है।

एक दिन एक राजा जंगल में शिकार खेलने गया। वहां से लौटते हुये उसने एक वृक्ष के नीचे पड़ा हुआ एक विचित्र प्राणी देखा। उसे देख कर राजा और उसके साथियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। राजा विचारने लगा "यह कौन सी जाति का प्राणी है? यह नवीन जाति का प्राणी है! इस को अजायबघर में रक्खेंगे! यह कोई अद्भुत प्रकार का बन्दर की जाति का प्राणी है! यह मनुष्य से बहुत कुछ मिलता भुलता है! इस का मुख और हाथ लंगूर के समान काले हैं परंतु शरीर पर लंगूर के समान बाल नहीं हैं! इसकी चित्र विचित्र रंग की चमड़ी मुलायम है। इस को देख कर सब आश्चर्य करेंगे।" ऐसा विचार कर राजा ने नोकरों को आज्ञा दी कि इसे पिंजरे में बन्द करके साथ लेलो। पशु साथ ले लिया गया और शहर में जाकर अजायबघर में भेज दिया गया और उसकी संभाल और खिलाने पिलाने का काम एक लड़की को सोंपा गया। उस लड़की की उमर दश वर्ष की थी वह उस प्राणी के साथ खेला करती थी। दोनों में प्रीति बढ़ गई, वे एक दूसरे को सगी बहिन समझने लगीं। यद्यपि प्राणी पिंजरे में बन्द रक्खा जाता था तो भी लड़की के साथ प्रेम होने से वह दुखी न था। उस प्राणी ने अपनी गुप्त बात लड़की से कह दी थी।

एक दिन राजा के यहां भारी उत्सव हुआ। राजधानी में रहने वाले सब मनुष्यों को उत्सव में भाग लेने का निमन्त्रण दिया गया। लड़की के कहने से यह बात उस प्राणी को मालूम हुई तुरंत ही उसने अपने हाथ और मुख को धो डाला और सुवर्ण की पोशाक पहिन कर वह राजा के अन्तःपुर में पहुंच गई। राजा पूर्ण आनन्द में आसन पर बैठा था। जहां वह बैठा था वहां वह सुंदरी (जो पूर्व में एक अजायब प्राणी था) दो वार आई और गई। राजा की दृष्टि उस पर पड़ी, उस भुवन मोहिनी सुन्दरी को देखकर राजा ने एक दासी उसके पास भेजी। दासी उसके पास पहुंचने ही को थी कि इतने में वह सुन्दरी तेजी से चली और न मालूम कहां चली गई! सुन्दरी ने अजायबघर में पहुंच कर अपने हाथ और मुख पर काला लेप किया और पत्थर की पोशाक पहिन ली! राजा भुवन मोहिनी सुन्दरी को देख कर मोहित हो गया था। बिना खबर लिये दासी को लौटी हुई देख कर उसके दिल में आघात हुआ। रात्रि दिन उसका चित्त सुंदरी के ध्यान में रहने लगा। अंत में जब पता न चला तब राजा ने इस प्रकार डोंडी पिटवाई:—"सुवर्ण वस्त्र परिधान की हुई सुन्दरी का जो पता लगावेगा उसे एक हजार सुवर्ण मोहर पुरस्कार मिलेगा।"

कितनेक दिन बीत गये परन्तु सुंदरी का कहीं पता नहीं चला तब राजा ने दूसरी बार अपने शहर भर का निमन्त्रण किया। विचित्र प्राणी ने अपने हाथ मुख धोकर चांदी के वस्त्र परिधान किये और वह राजमहल में पहुंच गई। राजा ने उसे देखकर दासी भेजी। दासी को उसने कुछ उत्तर न दिया। जब राजा ने उससे जाकर पूछा तो उसने 'मैं राजकन्या हूं' इस प्रकार अपना परिचय दिया। राजा ने उसके साथ विवाह करने की इच्छा प्रगट की। सुंदरी ने यह बात मानली। दूसरे दिन विवाह की रचना की गई और दासी नई रानी को बुलाने गई। सुंदरी एक एकांत कमरे में बैठी हुई थी और उसने पत्थर की पोशाक पहिन रक्खी थी। पत्थर की पोशाक सहित वह राजमंडप में गई। उसका स्वरूप देखकर राजा बोल उठाः—"अरे! इस सुसमय में इस पशु को

लाने की किसने हिम्मत की है ? इस समय में इस अपशकुनकारक पशु को लाने वाले को मैं भयंकर दंड दूंगा।" प्राणी कुछ न बोला परन्तु मुस्कराने लगा ! राजा बहुत क्रोधित हुआ और भरी सभा में ढीठता करने वाले पशु के अंग पर एक हाथ लगाते ही पत्थर की पोशाक खिसक गई और सुवर्ण की पोशाक दीखने लगी ! यह देखकर राजा बहुत लज्जित हुआ और कहने लगा "प्रिये! तू ऐसी ठगनी है ? ऐसा मुझे स्वप्न में भी ख्याल न था ! यह सब क्या गड़बड़ है ?" सुंदरी कुछ न बोली। शुभ मुहूर्त में विवाह की सब विधि हो गई। दूसरे दिन राजा के पूछने से सुंदरीने अपना वृत्तांत इस प्रकार सुनायाः--

मध्य प्रांत में अजयपाल नाम का एक राजा है। मैं उसके छोटे भाई की लड़की हूं, मैं विवाह के योग्य हुई थी। एक दिन मेरे ताऊ ने वस्त्रों से सजी हुई मुझको देखा। वह मुझ पर मोहित हो गया, और लोक लज्जा, धर्म मर्यादा आदिक छोड़ कर मेरे साथ विवाह करने को तैयार हुआ। मैंने विनति करते हुये कहा "पिताश्री ! यह आप क्या करते हो ? मैं आपके छोटे भाई की पुत्री, आपकी ही पुत्री हूं, पुत्री की तरफ कुदृष्टि से देखने वाले नरक गामी होते हैं, आपने मात्र इच्छा की है इससे भी आपको भयंकर पाप लगा है, इस अघटित पापाचरण से आप कलंकित मत हो, आज तक आपकी जो कीर्ति फैल रही है, ऐसा करने से उसका नाश हो जायगा !" राजा ने मेरी एक बात न मानी ! मेरा पिता और दरबार के लोग राजा के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकते थे। बात सब स्थानों पर फैलती गई। "ताऊ के साथ मुझे अबरन लग्न करना पड़ेगा, उसके साथ विवाह होने से मेरा जीवन मिट्टी में मिल जायगा, महान् पाप लगेगा, मैं जगत् में क्या मुख दिखलाऊंगी और राज्य पर भी कोई महान् संकट ही आवेगा !" ऐसा विचार कर मैं अत्यंत दुखी होती थी। मेरे जी में ऐसा विचार वारंवार उत्पन्न हुआ करता था। इस आपत्ति से मुक्त होने की युक्तियां ढूंढ़ा करती थी। अंत में मैंने ताऊ से कहला भेजा कि यदि तीन दिन में जैसी पोशाक मैं आप से कहूं वैसी ला दोगे तो मैं आप से हँसी खुशी विवाह कर लूंगी। राजा मेरे पास आया और मुझ से पूछा कि तुझे कैसी पोशाक चाहिये है। तब मैंने कहा कि एक सुवर्ण की, दूसरी चांदी की और तीसरी भिन्न २ रंग के पत्थरों की पोशाक मुझे चाहिये, ये तीनों पोशाकें ऐसी हों कि मुट्ठी में रह सकें और तीन दिन में ही तैयार हो जानी चाहियें। राजा ने तीनों प्रकार की पोशाकें तीन दिन में तैयार करा कर मेरे सामने रखदीं और कहा कि तेरे कहे अनुसार तीनों पोशाकें आगईं, अब मैं तेरे साथ विवाह करके तुझे अपनी धर्म पत्नी बनाऊंगा। मैंने विचार कर कहा कि अब मैं प्रसन्न हुई हूं, कल शुभ मुहूर्त्त में अवश्य विवाह कर लेना। इतना सुन कर राजा चला गया। उसके चले जाने के बाद आधी रात को मैंने सोने चांदी की पोशाकें तो अपने साथ छुपा कर रखलीं और पत्थर की पोशाक पहिन कर राज महलको अंतिम प्रणाम करके मैं वहां से निकल पड़ी। जब तक सवेरा हुआ तब तक मैं चलती ही रही। यद्यपि मैं थक गई थी तो भी जल्दी २ चलती थी। सुबह होते ही मैं एक जंगल में पहुंच गई। जब मुझे भूख लगी तो मैंने वन के फल खा कर झरने का पानी पी लिया। दोपहरी में मैं एक वृक्ष के नीचे सो रही और गहरी नींद में पड़गई। उसी समय आप वहां पहुंचे और मुझे पत्थर की पोशाक पहिने हुये देख कर आपने मुझे विचित्र प्राणी समझा और यहां लाकर अजायब घर में रख दिया। ताऊ के अत्याचार के भय से मैं भागी थी, मेरा संस्कार आपके साथ था। दैव ने सब संयोग प्राप्त कर दिया।

राजा यह सुन कर प्रसन्न हुआ और राजा रानी दोनों आनन्दपूर्वक रहने लगे।

सुन्दरी में दो अंश देखने में आते थे, एक

स्त्रीपना और दूसरा वस्त्रपना। जब वह वस्त्र पहिन लेती थी तब स्त्रीपना दब जाने से सामान्य मनुष्य के समझने में नहीं आता था कि यह स्त्री है, राजा भी भूम में पड़ कर उसे कोई विचित्र प्राणी समझने लगा था। जब उसने पत्थर वाले वस्त्र छोड़ कर सुवर्ण के वस्त्र धारण किये तब वह भुवन मोहिनी सुन्दरी दीख पड़ी और चांदी के वस्त्र पहिनने से रानी दिखाई दी। इसी प्रकार तत् और त्वं में भी तीन२ वस्त्र हैं। तीन अवस्थायें तीनों वस्त्र हैं। उपाधि रूप वस्त्रों के भाग को त्याग करने से जिसमें उपाधि का आरोप किया गया है, वह शुद्ध पदार्थ रह जाता है। तत् की महान् और त्वं की क्षुद्र उपाधियों को त्याग करने से एक चेतन शेष रहता है। उपाधि के त्याग और जिस में लगाई है, उसके ग्रहण से इन दोनों में एक ही वस्तु रहती है। यह महावाक्य का वास्तविक बोध है। वस्त्र-उपाधि भिन्न २ होने से उपाधि सहित में एकता नहीं हो सकती इसलिये उपाधि का त्याग करके ही लक्ष्यार्थ से एकता करनी चाहिये।

सुन्दरी के दृष्टांत का अध्यात्म भाव इस प्रकार है:—सुन्दरी बुद्धि है। तीन प्रकार के वस्त्र बुद्धि की सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् तीन अवस्थायें हैं। बुद्धि की उत्पत्ति ब्रह्मा से है इसलिये ब्रह्मा बुद्धि का पिता है। ब्रह्मा ब्रह्म से किंचित् न्यून होने से ब्रह्म ब्रह्मा का बड़ा-भाई है। ब्रह्म राजा है, बुद्धि उसकी भतीजी है। ब्रह्म के साथ बुद्धि का मिलना ठीक ही है परंतु बुद्धि ब्रह्म से मिलना अयुक्त मानती है क्योंकि ब्रह्म के साथ मिलने से बुद्धि का महा-पाप रूप मरण है। ऐसा करने से दुनियां बुद्धि का मुख नहीं देख सकती—ब्रह्म के साथ मिलने से उसकी पृथक्ता नहीं रह सकती इसलिये बुद्धि ताऊ रूप ब्रह्म से तीन अवस्था रूप तीन वस्त्र मांगती है और वस्त्र प्राप्त होते ही अज्ञान रूप रात्रि में भाग निकलती है। चिदाभासरूप दूसरा राजा संसार रूपी अरण्य में उसे मिलता है और प्रपंच रूप वाली—तीन अवस्थाओं वाली, ब्रह्म से भागी हुई बुद्धि के साथ चिदाभास का विवाह होता है और सब जगत् की प्रवृत्ति चलती है, उपाधि को भिन्न करने से बुद्धि भी ब्रह्म से अन्य कोई तत्व नहीं है। इस प्रकार ईश्वर चैतन्य और जीव चैतन्य एक ही हैं।

एक स्थान पर एक शूर वीर पुरुष की प्रतिमा खड़ी थी। उसके हाथ में ढाल और तलवार दी गई थी। ढाल गोलाकृति की थी, भीतर से गह-राई में बड़ी दीखती थी और ऊपर से छोटी दि-खाई देती थी। ढाल ऊपर से सुवर्ण के रंग वाली और भीतर चांदी के रंग की थी। उत्तर से आने वाले मनुष्य को वह सुवर्ण की और दक्षिण से आने वाले को चांदी के रंग की दीखती थी। एक दिन एक सवार उत्तर से और दूसरा दक्षिण की तरफ से आया। दोनों में ढाल के रंग के बारे में झगड़ा हुआ। उत्तर से आने वाला उसे छोटी और सुवर्ण की और दक्षिण से आने वाला बड़ी और चांदी की बताता था। दोनों लड़ते लड़ते मर गये, एक ने भी ढाल को यथार्थ रीति से न जान पाया। इसी प्रकार तत् और त्वं एक ही ढाल के दो बाजू हैं, तत् भीतर की बाजू महान् है, त्वं बाहर की बाजू जीव है, यदि भीतर बाहर, बड़ी, छोटी और सुवर्ण चांदी की उपा-धियों का त्याग किया जाय तो वस्तु रूप ढाल एक ही है। इस प्रकार ढाल के ग्रहण और ढाल की उपाधियों के त्याग से स्वस्वरूप जाना जाता है, जो एक ही है, इस प्रकार तत्वमसि द्वारा अ-पने आद्य, चैतन्य, अपरिच्छिन्न, अखंड और अव्यक्त स्वरूप को जान कर, असंभावना और विपरीत भावना से रहित होकर स्वस्वरूप में टिकना परमपद है। इसी युक्ति से कैवल्य पद की प्राप्ति होती है।

——::*::——

मणि रत्न माला।

उपजाति छन्द।

शूरान्महा शूरतमोस्ति को वा,
मनोज बाणैर्व्यथितो न यस्तु।
प्राज्ञोति धीरश्च समोस्ति को वा,
प्राप्तो न मोहं ललना कटाक्षैः ॥१२॥

अर्थः—प्रश्नः—शूरवीरों में महान् शूरवीर कौन है ? उत्तरः—जो कामदेव के बाणों से पीड़ित न हो सो। प्रश्नः—प्राज्ञ, धीर और समदर्शी कौन है ? उत्तरः—जो स्त्री के कटाक्ष से मोह को प्राप्त न हो सो।

भाषा छुप्पय।

शूरवीर नर कौन ? महा शूरन के माहीं,
काम देव के बाण, जिसे पीड़ा दें नाहीं,
कौन कहावे प्राज्ञ, धीर इस जग में को है ?
समदर्शी है कौन, नित्य ही इकरस जो है,
सो ही नर है शूर जो नारि कटाक्ष न मोहता
वहि प्राज्ञ, वहि धीरनर, समदर्शी वहि सोहता॥१२

विवेचन

जिसमें शौर्य अथवा वीरत्व होता है, वह शूर है। शूर बहुतों के पराजय करने में समर्थ होता है। जिस समय शूर युद्ध में चढ़ता है, उस समय किसी की भी परवाह नहीं करता, अपने शरीरको तृण समान समझता है। ऐसे बलिष्टों से भी एक और बलिष्ट है जो सबसे विशेष है वह कौन है? उसके उत्तर में कहा है कि मनसे ही जिसकी उत्पत्ति है ऐसा मनोज यानी कामदेव के बाणों से जो पीड़ा को न प्राप्त हो वह महाशूर वीर है। उत्पादन, स्तापन, शोषण, स्तम्भन और सम्मोहन ये पांच काम देव का बाण हैं। ये बाण जिसके न लगें, जिसको दुःख देने में निष्फल हों, वह महा शूरवीर है। कोई पुरुष महा बलवान् हो. बड़े २ युद्धों में सन्मुख युद्ध कर के कीर्ति फैलाने वाला हो, बन्दूक, तोप, भाला, किसी की भी परवाह न करके शत्रु के सन्मुख लड़ता हो, ऐसा पुरुष भी काम देव के बाणों से क्षोभित होकर स्त्री के आधीन हो जाता है। मदोन्मत्त हाथी के गंडस्थल का विदारण करने वाले, अनेक प्रचंड सिंहों के वध करने वाले अनेक होते हैं परन्तु मैं सत्य कहता हूं कि काम देव का घमण्ड तोड़ने वाला कोई विरला ही होता है। स्त्री के मन्द हास्य, हाव, भाव, लज्जा, भय, बांकी दृष्टि, अर्ध मुंदे हुये नेत्र, ईर्षा, क्लेश और विलास इन भावों से पुरुष स्त्री के वश हो जाता है।

एक पुरुष की नई विवाहिता स्त्री को आये हुये थोड़ा ही समय हुआ था। वह श्रीमान् था, उसके कई दास दासियां थीं और बड़ा मकान था। उस की कई कोठियां चल रही थीं। व्यापार के निमित्त उसे देशान्तर जाने का काम पड़ा। यद्यपि वह जाना नहीं चाहता था परन्तु उस के जाये बिना व्यापार का काम चल नहीं सकता था। वह देश बहुत दूर था। तीन चार वर्ष बिना वहां से लौट कर आना कठिन था। समुद्र में मुसाफिरी करनी थी। अपनी गैर हाजिरी में किस प्रकार रहना चाहिये यह बात उसने अपनी स्त्रीको सब प्रकारसे सिखाई थी तो भी उसके चित्त में शंका रही आई कि युवावस्था में मेरे बिना उसका निर्दोष रहना कठिन है। घर में कोई है नहीं, युवावस्था में काम विकारों को सम्भालना उसके लिये कठिन होगा। ऐसी शंका कर चलते समय स्त्री को समझाते हुये वह कहने लगा "स्त्री के लिये उसका पति ही परमेश्वर है, उस के सिवाय किसी और पर चित्तवृत्ति न जाने देना चाहिये। अपने पतिको ही भजना स्त्रियों का भूषण है। प्रसंग वशात् मुझको परदेश जाना है, जब तक मैं लौट कर न आऊं तब तक तुझे ब्रह्मचर्य अवस्था में रहना उचित है फिर भी मैं तुझे एक बात की आज्ञा देता हूं कि जवानी के मद से मस्त होने के कारण यदि तुझ से रहा न जाय तो अपनी छत बहुत ऊंची है उस के ऊपर चढ़ कर देख लेना, जो पुरुष तुझे सबसे

विशेष दूर टट्टी फिरने जाता दीखे उसे बुला लेना, यह भी तुझे तब करना चाहिये जब तुझ से रहा ही न जाय। इस प्रकार के पुरुष सिवाय अन्य को भाई पिता ही समझना। तेरी पूर्ण युवावस्था देख कर मैं ने तुझे इतनी छुट्टी देदी है। मेरी आज्ञानुसार वर्तन से परसंग करने पर भी तुझे दोष नहीं लगेगा!" स्त्री बोली "वाह! यह क्या कहते हो? मैं ऐसी नहीं हूं! मैं अपने मन को सम्भाले रहूंगी!" पति बोला "ठीक है! तू ऐसी ही है, मुझे तेरा पूरा भरोसा है परन्तु यह छूट जो दी है वह आपत्ति के निमित्त है, मुझे विश्वास है कि इस प्रकार के पुरुष को बुलाने का अवसर तुझे मिलना ही नहीं है। जहां तक बन सकेगा वहां तक मैं बहुत जल्दी लौट कर आऊंगा।"

पुरुष देशान्तर को चला गया, स्त्री मकान पर अकेली रहने लगी। कितनेक मास तक उसका मन विकार को प्राप्त न हुआ। अच्छा २ खाना पीना, युवा अवस्था, घर में दास दासी होने से काम काज कुछ नहीं, खाली बैठे २ करना क्या! विषय वासना की तरफ उसका चित्त जाने लगा, दिन रात उस का ही विचार, उसका ही संकल्प करते २ मन बहुत विकार वाला हो गया, रात में नींद न आवे, दिन रात वह का वह ही ख्याल बना रहे। ऐसा ख्याल करते २ उस की नीति, रीति आदिक चली गई और उस के शरीर के रोम २ में विकार फैल गया।

अभी तक सेठानी, ये विचार मन में ही किया करती थी। अब उस ने अपने इन सब विचारों को अपनी एक दासी से प्रगट किया और कहा "गौरा! अब मुझसे रहा नहीं जाता, किसी पुरुष से मेल किये बिना मुझे चैन नहीं पड़ेगा!" गौरा बोली "बाई जी! यह विचार आपको योग्य नहीं है, समय निकल जाता है, कलंक बना रहता है, इतने दिन धैर्य्य रक्खा है तब थोड़े दिन और धैर्य्य रक्खो, इतने में सेठ जी आ जायंगे।" सेठानी बोली "सेठ के आने का कोई भरोसा नहीं है। यदि जल्दी से जल्दी आवें तो भी दो वर्ष तक नहीं आ सकते! जाते समय वे मुझे आज्ञा दे गये थे, उनकी आज्ञा के अनुसार ही मैं वर्तना चाहती हूं, इसलिये पति की आज्ञानुसार वर्तने से मुझे दोष न लगेगा!" गौरा बोली "अजी! यह क्या कहती हो? ऐसा कौन सा पुरुष होगा जो अपनी पत्नी को अपनी गैर हाजिरी में दूसरे पुरुष से संग करने की आज्ञा दे!" सेठानी बोली "हे सखी! मैं ठीक ही कहती हूं, मुझे आज्ञा मिली है, मुझ से उन्होंने एकान्त में ऐसा कहा था, तुझे मेरे इस मनोर्थ के पूर्ण होने में मदद करना चाहिये, तू मेरी दासी है, मेरे कहे अनुसार करना तेरा कर्तव्य है!" ऐसे शब्द सुन कर दासी शान्त हो गई। पश्चात् सेठानी दासी को लेकर मकान की जो छत सब से ऊंची थी उस पर चढ़ी। सुबह का समय होने से बहुत मनुष्य जल पात्र लेकर शहर के बाहर दिशा जङ्गल जारहे थे। सेठानी ने दूरबीन लगाकर देखा तो सब से दूर टट्टी जाने वाला एक ब्रह्मचारी उसे दिखाई पड़ा। युवा अवस्था वाला और वीर्य रक्षा के कारण वह ब्रह्मचारी अति सुन्दरता वाला था। उसे देख कर सेठानी बोली "गौरा! मेरे पति की आज्ञानुसार यह पुरुष संग योग्य है, तू उसे मेरे पास बुला ला!" दासी को इच्छा न होते हुये भी सेठानी की आज्ञा माननी पड़ी! सेठानी ने कहा "यह पुरुष साधु मालूम होता है, साधु को अपने मकान में आने से किसी को शक न होगा, साधु को भोजन के निमित्त मेरे पास बुला लाना भी सुलभ है! तू जा, उसके पीछे पीछे उसके मकान पर पहुंच जा, और भोजन के लिये नौता दे आ। जिस समय वह आने को कहे उस समय जा कर उसे बुला लाइयो।" सेठानी की आज्ञानुसार दासी ब्रह्मचारी के पास गई, भोजनों का निमन्त्रण देकर बारह बजे उसे सेठानी के मकान पर ले आई। सेठानी ने ब्रह्मचारी के लिये अनेक प्रकार के व्यंजन तैयार किये थे। ब्रह्मचारी का पूजन करके सेठानी ने उसे भोजन करने को बैठा

दिया, आप सामने बैठ गई और हाव भाव वाली कई चेष्टा करने लगी। ब्रह्मचारी मात्र नामधारी ब्रह्मचारी नहीं था! उसने सेठानी के चहरे और चेष्टाओं की तरफ निगाह भी नहीं की? भोजन करा कर सेठानी उसे अपने रंग महल में ले गई और वहां जा कर ताम्बूल देने लगी। ब्रह्मचारी ने पान न लिया। सेठानी ने पलंग पर बैठने को कहा, ब्रह्मचारी न बैठा!

दास दासी हटा दिये गये। जब ब्रह्मचारी ने संज्ञा द्वारा कुछ न माना तब सेठानी निर्लज्ज हो कर बोली "हे परोपकारी पुरुष! मैं काम करके व्याकुल हूं, मेरी संतुष्टि कीजिये! जो पुरुष समर्थ होते हुए भी योग्य स्त्री की विषय वासना की याचना पूर्ण नहीं करता उसे दोष लगता है! मेरा यह व्यवहार मेरे पति की आज्ञानुसार होने से शास्त्रविरुद्ध नहीं है!" इस बात को सुनते ही ब्रह्मचारी वहां से जाने को सीढ़ी की तरफ चलने लगा। सेठानी ने उसका हाथ पकड़ लिया। ब्रह्मचारी हाथ छुटाने लगा। दोनों की खेंचातान में बहुत पुरानी तूंबी जो ब्रह्मचारी के हाथ में थी गिर गई और संगमरमर की सीढ़ी से टकरा कर टूट गई। ब्रह्मचारी अपनी टूटी हुई तूंबी के पास बैठ गया और रो रो कर कहने लगा "हाय मेरी प्रेमपात्र तूंबी! तू मुझे छोड़ कर कहां चली गई? हायरी तूंबी! अब तेरे बिना मेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत होगा? हायरी तूंबी! तू मेरे बहुत काम की थी! तेरा मेरा संग बहुत रहा है! हाय री मेरी तूंबी!" सेठानी ब्रह्मचारी को पैसे दो पैसे की तूंबी के लिये रोता हुआ, विलाप करता हुआ देख कर बोली "अजी! इतनी तुच्छ तूंबी के लिये तुम क्यों रुदन करते हो? ऐसी अनेक तूंबियां मैं तुमको दिलवा दूंगी! यदि जवाहर से मढ़ी हुई तूंबी कहोगे तो मैं तुमको बनवा दूंगी!" ब्रह्मचारी बोला "नहीं! नहीं! जवाहरात की, चांदी सोने की अथवा ऐसी अनेक तूंबियों से मुझे क्या काम है! मैं तो अपनी पुरानी तूंबी के लिये रो रहा हूँ! मैं दूसरी तूंबी नहीं चाहता!" सेठानी बोली 'यतीजी! इस तूंबी में ऐसी क्या विशेषता थी?" ब्रह्मचारी बोला "हाय री मेरी तूंबी! मेरे सब दोष तूने ही देखे थे! दूसरे किसी ने नहीं देखे थे! अब मेरी नग्न अवस्था दूसरी तूंबी देखेगी! (सेठानी से) यह तूंबी मेरे सब अवगुणों को जानती थी, मैं उसे जानता था इसलिये मैं रो रहा हूं! हाय री मेरी तूंबी!" सेठानी सोचने लगी "बात ठीक ही है! जब वह टट्टी जाता था तब उसे ले जाता था; उस से अपना काम लेता था, तूंबी ही उसकी नग्नावस्था को देखती थी! यह पुरुष हो कर भी अपनी नग्नावस्था दूसरे को दिखाना नहीं चाहता! मैं कैसी मूर्ख हूं! स्त्री जाति होते हुये भी अपनी नग्नावस्था का पर पुरुष को भान कराने को तैयार हूं! मुझको धिक्कार है!" सेठानी को सोच करती हुई देख कर ब्रह्मचारी बोला "हाय! तूने मेरी तूंबी का नाश किया है! बहुत अनुचित किया है! अब मैं अपने अवगुण दूसरे को दिखाना नहीं चाहता! तूंबी के पीछे मैं आपघात करूंगा! हाय मेरी प्यारी तूंबी!" सेठानी लज्जित होकर बोली "हे साधो! मेरा अपराध क्षमा कीजिये! आपघात कर के मुझ पर अपराध न चढ़ाइये! तुम्हारी तूंबी परोपकारी थी, आप तो नाश को प्राप्त हुई परंतु उसने मुझे बचा लिया है, मुझे अपने कर्त्तव्य का पश्चात्ताप होता है! मैं पर पुरुष की इच्छा वाली हुई थी। तुम्हारी तूंबी के टूटने और तुम्हारे विलाप ने मेरी दुष्ट इच्छा का नाश किया है! आप का मुझ पर महान् उपकार हुआ है!" सेठानी को ठिकाने आई हुई देख कर ब्रह्मचारी बोला "हे सेठानी! जिस प्रकार मैं अपनी तूंबी का सोच कर रहा हूं, इसी प्रकार तेरी भ्रष्टता से तेरा पति भी सोच करेगा! इस तूंबी ने मरने तक किसी के अवगुण नहीं देखे, भला! यह तो तूंबी थी, तू तो स्त्री है, थोड़े समय का आनन्द जिंदगी भर कलंकित रक्खेगा, मेरी तूंबी के नाश

से तुझे उपदेश मिला इस से मैं प्रसन्न हूं. अब तू मेरे सामने प्रतिज्ञा कर कि अपने पति सिवाय अन्य में तेरा चित्त कभी न जायगा।" सेठानी ने लज्जित होती हुई जिस २ प्रकार ब्रह्मचारी ने शपथ दी, स्वीकार की। यह कह कर ब्रह्मचारी चला गया और सेठानी सेठ के आने तक सदाचारिणी रही। सेठ के आने पर सेठानी ने सब वृत्तांत उसे सुनाया। सेठ प्रसन्न हो कर बोला "प्रिये। मैंने सोच कर ही तुझे आज्ञा दी थी, जिसको बहुत ही लज्जा होती है वह ही बहुत दूर टट्टी जाता है, ऐसे पुरुष से परस्त्री संग होना अशक्य समझ कर ही मैंने तुझे आज्ञा दी थी।"

इस ब्रह्मचारी को धन्य है! एकांत कामोद्दीपक स्थान, कुलीन युवावस्था वाली स्त्री, और उसकी इच्छा होते हुये, अनेक हाव-भाव करते हुये भी कामदेव के बाण से पीड़ित न हुआ। वह ही शूरवीरों में महान् शूरवीर था। दुष्ट वासना से भी सत्पुरुष का संग सेठानी को दोष से बचाने वाला हुआ।

जो पुरुष स्त्री के कटाक्ष यानी प्रेम भरी तिरछी चितवन से मोह को प्राप्त नहीं होता वह पुरुष प्राज्ञ यानी ज्ञानी, धीर–धैर्य वाला और समदर्शी यानी समान चित्त वाला है। यदि स्त्री के कटाक्ष से मोह को प्राप्त होजाय तो प्राज्ञ हो तो भी प्राज्ञ नहीं है क्योंकि वह प्रज्ञा की कसोटी में टिक न सका। इस प्रकार पूर्ण धीर और समदर्शी की कसोटी स्त्री का कटाक्ष ही है।

धीरता, वीरता, गंभीरता और विद्वानों की विद्वत्ता का दर्शन तभी तक होता है जब तक स्त्री की प्रेम भरी चितवन की दृष्टि नहीं पड़ती! स्त्री के कटाक्ष से महाप्रतापियों का विवेक भी न मालूम कहां चला जाता है, कुछ पता नहीं लगता! स्त्री के कटाक्ष ने महाप्रतापी, योगी, यती, सिद्ध और मुनीश्वरों को भी कलंकित कर डाला है! इसलिये उससे सचेत रहना चाहिये।

युवा स्त्री मन को मलिन कर डालती है, एकान्तता उसमें मदद देती है और जब दोनों ही पदार्थ मिल जाते हैं तब पुरुष को विह्वल कर डालते हैं और विह्वलता होने से अधर्म होता है, उस समय हृदय चक्षु काम के बाणों से पीड़ित होकर अन्धे बन जाते हैं, सत्यासत्य, ग्राह्याग्राह्य और विधि निषेध का कुछ भी भान नहीं रहता! पुत्री बहिनादिक का विचार भी चला जाता है इसलिये मुमुक्षुओं को–अपक्व मन वालों को कामोत्तेजक सब पदार्थों से बचते रहना चाहिये।

एक समय राजा भोज ने महाकवि कालिदास से प्रश्न किया कि मन युक्त शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये पांच विषय काम वृत्ति को उत्तेजन करने वाले हैं, इनके सिवाय काम को तुरंत ही प्रगट करने वाला उनका पिता कौन है। पंडित कालिदास ने इसका उत्तर ढूंढ़ा परंतु न मिला तब उस ने राजा से कहा कि इसका उत्तर एकान्त में विचार कर कल ही मैं आप को दूंगा। इस प्रकार कहकर कालिदास घर आकर अपने विचार भवन में राजा के प्रश्न का उत्तर खोजने लगा परंतु युक्ति पूर्वक किसी उत्तर का स्फुरण न हुआ। उस उत्तर की खोज करने में वह ऐसा एकाग्रचित्त होगया था कि भोजन का समय व्यतीत होगया, इसकी भी उसे खबर न रही। जब भोजन का समय व्यतीत होने पर भी वह भोजन करने न गया तब उसकी पुत्री प्रभावती उसे बुलाने को उसके पास आई और थोड़ी देर तक उसके सामने खड़ी होकर देखती रही परन्तु कालिदास की दृष्टि पुत्री की तरफ न हुई। पिता का चित्त भारी विचार में ग्रथित और चिन्तातुर देखकर प्रभावती ने जोर से आवाज देकर भोजन करने को कहा तब भी कालिदास ने कुछ उत्तर न दिया। तब प्रभावती पिता को शून्य मन वाला देखकर उसके पास गई और बहुत विनति करके चिंता का कारण जानने को कहा। तब कालिदास ने भोज का प्रश्न कहा। प्रभावती बोली

"वाह ! यह कोई बड़ा भारी प्रश्न थोड़ा ही है, आप भोजन कर लीजिये, मैं विचार कर सुबह होते ही आपको उसका उत्तर बताऊंगी।" प्रभावती विदुषा थी, 'वह भी उत्तर दे सकती है' ऐसा कालिदास जानता था इसलिये भोजन करने को बैठ बैठा। भोजन करने के बाद भी उसका चित्त उत्तर ढूंढ़ने में लगा रहा इस कारण उसके शरीर में पीड़ा होने लगी। किसी प्रकार भी उसे चैन न आया।

रात होते ही प्रभावती जो भर युवावस्था में और सौन्दर्यता की मूर्ति थी नित्य नियम के अनुसार सोलह शृंगार धारण करके ससुरार जाने को तैयार हुई। वह आभूषणों से शोभा देती हुई, हाव भाव करती हुई कालिदास के शयन गृह में ससुरार जाने को आज्ञा मांगने आई और पिता से विदा मांगने लगी। प्रभावती को देखते ही कालिदास के चित्त को काम ने अपनी तरफ खेंच लिया। वह बोला कि रात बहुत होगई है, अब ससुरार जाने का समय नहीं रहा, तूने मेरे प्रश्न का उत्तर सुबह देने को कहा है इसलिये आज तू मत जा, मेरा चित्त भ्रमित है, चल मेरे साथ शतरंज खेलने को बैठ। इस प्रकार शतरंज खेलने में कालिदास का हेतु विकार ही था। प्रभावती का शृंगार से सज कर पिता के शयन गृह में जाना इस विकार का हेतु था। कालिदास का मांगा हुआ उत्तर इस युक्ति से देने का विचार प्रभावती का था। उसने प्रथम से ही विचार रक्खा था कि मेरे पिता कालिदास के मन में विकार अवश्य उत्पन्न होगा इस लिये कपड़े लत्ते पहिना कर एक दासी उसने तैयार कर रक्खी थी और इशारे के साथ शयन गृह में आने को और प्रसंग आने पर कालिदास के साथ योग्य बर्ताव करने को कह रक्खा था। पिता का विकारी हेतु देख कर शतरंज की बाजी चालू की गई। खेलते २ प्रभावती अपनी मोहक चेष्टा और काम कटाक्ष कालिदास के ऊपर फेंकती रही। बाजी खेलते २ कालिदास का विकार बढ़ता गया और वह उन्मत्त होता गया। जब प्रभावती ने देखा कि अब वह पूरे रंग में रंग गया है और मुझको आलिंगन करने की तैयारी में है त्यों ही उसने दीपक गुल कर दिया और वह चालाकी से शयन मंदिर में से चली गई। उसी समय दासी जो कपड़े पहिने तैयार खड़ी थी शयन मंदिर में दाखिल हो गई। मोहान्धता में कालिदास को योग्य अयोग्य का कुछ विचार न रहा। जब सुबह हुई तब अपने अनुचित बर्ताव का उसे पश्चात्ताप होने लगा परंतु जब उसने अपनी शैया पर से दासी को उठते देखा तब उसके मनमें कुछ शांति आई और उसी समय भोज के प्रश्न का उत्तर उसे मालूम हो गया. कि एकांत ही कामवृत्ति का पिता है इसके सिवाय सब साधन निष्फल हैं।

कालिदास शृंगार रसिक कवि था इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं है परंतु यह घटना वास्तविक है कि नहीं यह देखने का अपना काम है। मदांध पुरुष का ऐसा वर्ताव होना असंभवित नहीं है। मदांधता में पुत्री, बहिन आदिक का भान ही नहीं रहता। जब कालिदास समान पंडितों का भी यह हाल है तब सामान्य मनुष्य का कहना ही क्या है। अनेक दृष्टान्तों से मालूम होता है कि महान् महान् तपस्वी पंडित होकर भी स्त्री के कटाक्ष से अपनी वर्षों की कमाई को पलभर में खो देते हैं।

प्राज्ञ यानी ज्ञानियों को भी घमंड करना उचित नहीं है। कटाक्ष ऐसी प्रबल चीज है कि जिस से शंकर जैसे भी परास्त हो गये हैं। जो इसे सह लेता है, इस से पीड़ित नहीं होता, अपने भान को नहीं खोता वह ही ज्ञानी होने के और कहने के योग्य है, धीर भी वही होता है। जिसको स्त्री पुरुष की दृष्टि है, जो अपने को पुरुष मान कर स्त्री के कटाक्ष से पीड़ित होता है, भला वह समदर्शी किस प्रकार कहा जाय! समदर्शी को किसी काल में किसी प्रकार भी विकार होना संभवित नहीं है।

साधन पञ्चक।

शार्दूल विक्रीडित छन्द।

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं
कर्म स्वनुष्ठीयतां।
तेनेशस्य विधीयता मपचितिः
काम्ये मतिस्त्यज्यताम् ॥
पापौघः परिधूयतां भव सुखे
दोषोनु संधीयता-
मात्मेच्छाव्यवसीयतां निज गृहात्
तूर्णं विनिर्गम्यतां ॥ १ ॥

अर्थः-मनुष्यों को वेद का नित्य अध्ययन करना चाहिये, वेद में कहे हुये कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, कर्म से ईश्वर की उपासना करनी चाहिये और कामना की बुद्धि न रखनी चाहिये। पाप के समूह का नाश करना, संसार के सुखों में दोष दृष्टि करना, अपनी इच्छाओं का नाश करना चाहिये, (इस प्रकार की वृत्ति होने के पश्चात्) शीघ्र घर के बाहर जाना-संन्यास लेना चाहिये ॥१॥

संगः सत्सु विधीयतां भगवतो
भक्तिर्दृढाधीयतां।
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं
कर्माशु संत्यज्यतां ॥
सद्विद्वानुपसर्प्यतां प्रतिदिनं
तत्पादुके सेव्यतां।
ब्रह्मैकाक्षर मर्थ्यतां श्रुतिशिरो
वाक्यं समाकर्ण्यतां ॥ २ ॥

अर्थः-सत् पुरुषों का संग करना, भगवान् में दृढ़ भक्ति धारण करना, शान्ति आदिक गुणों का सेवन करना और अत्यन्त दृढ़ ऐसे कर्मों का शीघ्र त्याग करना चाहिये। उत्तम-ब्रह्मनिष्ठ के पास जाकर उसकी पादुका का सेवन करना चाहिये। एकाक्षर रूप ॐकार का ध्यान करना और श्रुति मुख वाक्यों का श्रवण करना चाहिये ॥२॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरः
पक्षः समाश्रीयतां।
दुस्तर्कात्सु विरम्यतां श्रुतिमतस्
तर्कोनुसंधीयतां ॥
ब्रह्मैवास्मि विभाव्यता महरहो
गर्वः परित्यज्यतां।
देहे हं मति रुज्झतां बुध जनै-
र्वादः परित्यज्यताम् ॥ ३ ॥

अर्थः—वाक्यार्थ का समर्थन करना, श्रुति प्रमुख वाक्यों के पक्ष का आश्रय करना, झूंठी तर्कों का छेदन करना, और श्रुति युक्त तर्कों का अनुसंधान करना चाहिये। मैं ब्रह्म हूं, इस प्रकार की नित्य भावना रखना, और गर्व को छोड़ देना चाहिये। अपनी देह की अहं बुद्धि का त्याग करना और विद्वानों के साथ मिथ्या वाद विवाद न करना चाहिये ॥ ३ ॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं
भिक्षौषधं भुज्यतां।
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्
प्राप्तेन संतुष्यतां ॥
शीतोष्णादिविसह्यतां न तु वृथा
वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपा
नैष्ठुर्य मुत्सृज्यताम् ॥ ४ ॥

अर्थः—क्षुधा रूपी पीड़ा का निवारण करना, प्रति दिन भिक्षा रूपी औषधि का भक्षण करना, स्वादिष्ट अन्न की याचना न करना, यथा प्राप्त में संतुष्ट रहना, शीत और उष्ण का सहन करना, कभी वृथा न बोलना, उदासीन रहना और मनुष्यों की तरफ रागद्वेष का त्याग करना चाहिये ॥४॥

एकांते सुखमास्यतां परतरे
चेतः समाधीयतां ।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं
तद्बाधितं दृश्यतां ॥
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबला-
न्नाप्युत्तरैश्लिष्यतां ।
प्रारब्धंत्विह भुज्यता मथपर-
ब्रह्मात्मना स्थीयतां ॥ ५ ॥

अर्थः—एकांत स्थान में सुख पूर्वक बैठना, परमात्मा में चित्त को स्थिर करना, इस सब जगत् को मिथ्या समझ कर ब्रह्ममय देखना, पूर्व कर्म का भोग करके बलपूर्वक चित्त को लय करना, जिस करके कर्म का बंधन न हो इस प्रकार वर्तना चाहिये। ऐसे प्रारब्ध को भोग कर पर-ब्रह्म के विषे स्थिति करना चाहिये ॥५॥

बसंत तिलका छंद ।

यःश्लोक पंचकमिदं पठते मनुष्यः
संचिंतयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य ।
तस्याशु संसृति दवानल तीव्रघोर
तापः प्रशांतमुपयाति चितिप्रसादात् ॥६॥

अर्थः—जो कोई इन पांच श्लोकों का पाठ करता है, और प्रतिदिन चित्त को स्थिर करके चिंतवन करता है तो शुद्ध चैतन्य—परब्रह्म की कृपा से संसाररूपी दावानल में रहने वाले उसके तीव्र तर तापों का शमन होता है ॥६॥

——:०:——

ब्रह्मसूत्र भाषा दीपिका।

(गताङ्क से आगे)

सेतु शब्द का अर्थ विधारण-समझना इतना ही है, जिस का पार हो ऐसा नहीं है क्योंकि 'षिञ्' इस बंधन अर्थ वाली धातु से सेतु शब्द बना है इसलिये कर्मरूपी बंधन का पार, यह ही उसका अर्थ है। किसी किसी का यह मत है कि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (इस एक को ही आत्मा जान) ऐसा जो कहा है वह आत्म ज्ञान की स्तुति के लिये कहा है और इसी प्रकार 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' (दूसरी बातों का त्याग कर) इसमें वाणी का त्याग अमृतपने का साधन बताया है इसीलिये श्रुति में कहा है कि 'अमृतस्यैष सेतुः' (अमृत का यह सेतु है।) इस प्रकार सेतु संबन्धी श्रुति का निरूपण है किन्तु साधन रूप से स्वर्ग पृथिवी आदि के अधिष्ठान रूप से नहीं है। सेतु संबन्धी श्रुति से यह न समझना चाहिये कि ब्रह्म के सिवाय कोई अन्य वस्तु स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान है, ऐसा समझना ठीक नहीं है ॥१॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः—मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् मुक्त पुरुषों को [ब्रह्म] प्राप्य [है ऐसे] कथन से [स्वर्ग और पृथ्वी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म है]

टीकाः—परब्रह्म इस कारण से भी स्वर्ग पृथ्वी आदि का अधिष्ठान है कि श्रुति में ऐसा उपदेश देखने में आता है कि मुक्त पुरुष परब्रह्म को प्राप्त होता है। देहादि अनात्म पदार्थों में 'देहादि मैं हूं' ऐसी आत्म बुद्धि का नाम अविद्या है। अविद्या के कारण देहादि अनात्म पदार्थों का जो कोई पूजन-सत्कार करता है, उससे राग होता है, जो कोई देहादि का निरादर करता है, उससे द्वेष होता है और देहादि का नाश देखने से भय और मोह होता है। इस प्रकार अविद्या के अनेक भेद हैं, जो अनर्थ का समूह रूप हैं। सामान्य मनुष्यों को इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव होता है परन्तु इससे विरुद्ध मुक्त पुरुष जो राग द्वेषादि दोषों से रहित हो गया है, उसके प्राप्त होने का जो स्थान, है वह स्वर्ग तथा पृथ्वी आदि का अधिष्ठान है, इस प्रकार का उपदेश दिया

भ...
(जो कामना...
समूल नाश हो जात...
है और इस शरीर के रहते हुए...
होता है।) इस प्रकार के अनेक प्रमा...
परंतु ऐसा प्रमाण कोई नहीं मिलता कि सु...
प्रधानादि को प्राप्त होते हैं किंतु इससे ...
प्रमाण मिलते हैं जैसा कि इस श्रुति में कहा है:—
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथा
मृतस्यैष सेतुः' [मुण्ड० २।२।५] (उस अकेले
को ही आत्मा रूप जान, अन्य वाणियों को त्याग,
यह अमृत का सेतु है) यहां पर वाणी के त्याग
पूर्वक स्वर्ग पृथ्वी आदि का अधिष्ठान ब्रह्म ही
जानने योग्य है, ऐसा कहा है। और 'तमेव धीरो
विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्
वाचो वाग्लपनं हितत् ॥' [बृह०४।४।२१]
(विवेकी ब्राह्मण को उस परब्रह्म को जान कर,
उसकी ही प्रज्ञा करनी चाहिये, बहुत शब्दों का
ध्यान नहीं करना चाहिये क्योंकि वे वाणी को
श्रम देने वाले हैं) इस श्रुति में भी ब्रह्म ही जानने
योग्य है, ऐसा कहा है इसलिए स्वर्ग पृथिवी
आदि का अधिष्ठान परब्रह्म ही है ॥ २ ॥

प्रधान अचेतन होने से स्वर्ग पथिवी आदि

ध...
प्रधान ...
किन्तु अचे... ...र्वज्ञः
करने वाले शब्द... (जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है)
सर्ववित्' [मुण्ड० १।१।६] (जो सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता है)
इत्यादि। इसलिये अचेतन प्रधान स्वर्ग तथा पृथिवी
आदि का अधिष्ठान नहीं है, किंतु ब्रह्म ही स्वर्ग
पृथिवी आदि का अधिष्ठान है ॥३॥

उपाधि विशिष्ठ होने से जीवात्मा भी स्वर्ग
पृथिवी आदि का अधिष्ठान नहीं है, यह बात आगे
के सूत्र से सिद्ध करते हैं:—

प्राण भृच्च ॥४॥

अन्वय और अन्वय का अर्थ:—च और
प्राणभृत् जीवात्मा [भी अधिष्ठान न नहीं है]

टीका—यद्यपि प्राण धारण करने वाले जीव
में आत्मत्व और चेतनत्व आदि धर्म हो सकते हैं

एकांते सुखमास्यतां परतरे
चेतः समाधीयतां ।
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं
तद्बाधितं दृश्यतां ॥
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबला-
न्नाप्युत्तरेश्लिष्यतां ।
प्रारब्धंत्विह भुज्यता मथपर-
ब्रह्मात्मना स्थीयतां ॥ ५ ॥

अर्थः—एकांत स्थान में सुख पूर्वक बैठना, परमात्मा में चित्त को स्थिर करना, इस सब जगत् को मिथ्या समझ कर ब्रह्ममय देखना, पूर्व कर्म का भोग करके बलपूर्वक चित्त को लय करना, जिस करके कर्म का बंधन न हो इस प्रकार वर्तना चाहिये। ऐसे प्रारब्ध को भोग कर परब्रह्म के विषे स्थिति करना चाहिये ॥५॥

वसंत तिलका छंद ।

यःश्लोक पंचकमिदं पठते मनुष्यः
संचिंतयत्यनुदिनं स्थिरतामुपेत्य
श्याशु संसृति दवानल तीव्र ...

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

अन्वय और अन्वय का अर्थः-प्रकरणात् [ब्रह्म सम्बन्धी] प्रकरण होने से [ब्रह्म ही अधिष्ठान है] ।

टीका—यह प्रकरण भी परमात्मा का है क्योंकि 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' [मुण्ड० १ । १ । ३] (हे भगवन् ! किस के जानने से यह सब जाना हुआ हो जाता है) इस श्रुति में एक के ज्ञान से सर्व के ज्ञान की अपेक्षा है । एक ब्रह्म के ज्ञान से ही सब का ज्ञान हो सकता है, केवल जीव के ज्ञान से सब का ज्ञान पार, यह ही उसका अर्थ है। किसी किसी का यह मत है कि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (उस एक को ही आत्मा जान) ऐसा जो कहा है वह आत्म ज्ञान की स्तुति के लिये कहा है और इसी प्रकार 'अन्या वाचो विमुञ्चथ' (दूसरी बातों का त्याग कर) इसमें वाणी का त्याग अमृतपने का साधन बताया है इसीलिये श्रुति में कहा है कि 'अमृतस्यैष सेतुः' (अमृत का यह सेतु है।) इस प्रकार सेतु संबन्धी श्रुति का निरूपण है किन्तु साधन रूप से स्वर्ग पृथिवी आदि के अधिष्ठान रूप से नहीं है। सेतु संबन्धी श्रुति से यह न समझना चाहिये कि ब्रह्म के सिवाय कोई अन्य वस्तु स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान है ... समझना ठीक नहीं है ॥१॥ ... कहा है और

मुक्तोपसृप्यरूप... (दूसरा [ईश्वर] अन्वय ...ता है) इसमें उदासीन स्थिति का ...ा है । इस उदासीन स्थिति और उपप्यण ईश्वर और क्षेत्रज्ञ (जीव) का क्रम से ग्रहण किया जाता है । जो ईश्वर स्वर्ग पृथिवी आदि का अधिष्ठान निरूपण किया जाय तो इस प्रकृत ईश्वर का क्षेत्रज्ञ से भिन्नपना होना संभव हो और यदि ऐसा न हो तो अप्रकृत वचन क्रम बिना तथा सम्बन्ध रहित होवे। 'ईश्वर क्षेत्रज्ञ से भिन्न है' इस प्रकार का तेरा कहना अयथार्थ ही होना चाहिये ।

शंकाः—नहीं ! इस प्रकार तो सूचन नहीं किया है !

समाधानः—क्षेत्रज्ञ तो कर्ता भोक्ता तथा प्रत्येक शरीर में बुद्धि आदि उपाधियों के संबन्ध वाला है, ऐसा लोक में प्रसिद्ध है इसलिये श्रुति ने ऐसा निरूपण नहीं किया है और ईश्वर लोक में अप्रसिद्ध होने से उस के निरूपण करने में श्रुति का तात्पर्य है, इसलिये उस के लिये क्रम रहित वचन कहना ठीक नहीं है । अपूर्ण